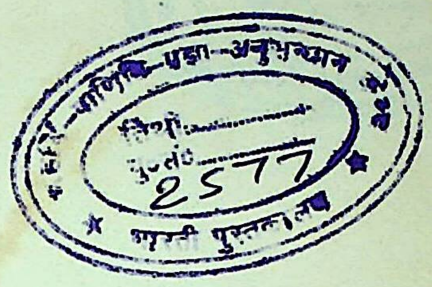
વેદાન્ત દર્શન

84



920





ओ३म्

वेदान्तार्य्यभाष्य

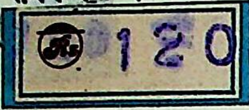


भाष्यकार

महामहोपाध्याय पण्डित आर्यमुनि

प्रकाशक

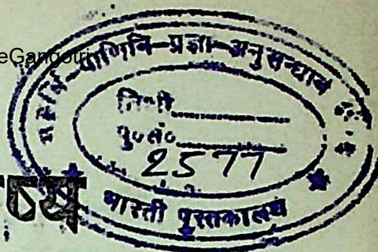
हरयाणा साहित्य संस्थान
गुरुकुल झज्जर, रोहतक

प्रथम संस्करण २०००
मूल्य


सृष्टिसंवत् १९६०८५३०८२
कलिसंवत् ५०८२
विक्रमसंवत् २०३९
दयानन्दाब्द १५८

मुद्रक :
जैयद प्रेस
बल्लीमारान, दिल्ली-६

प्रथम चार प्रष्ठ, भाटिया प्रेस, रघुवरपुरा, दिल्ली में मुद्रित ।



ओ३म्

वेदान्तार्य्यभाष्य

प्रकाशकीय

हमने पण्डित आर्यमुनि जी महामहोपाध्याय द्वारा विरचित सभी दर्शनों के पुनः प्रकाशन का संकल्प लिया था, उसी प्रकाशन माला में अब पाठकों की सेवा में वेदान्तदर्शन का वेदान्तार्य्यभाष्य प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण पं० देवदत्त शर्मा ने ऐंग्लो-संस्कृत-यन्त्रालय लाहौर से विक्रमसम्वत् १९६० (सन् १९०४) में प्रकाशित कराया था। पुनः द्वितीय संस्करण भी पं० देवदत्त शर्मा ने ही वाम्बे यन्त्रालय लाहौर से बिक्रमसंवत् १९६७ (१९११ ईसवी सन्) में प्रकाशित करवाया। यह द्वितीय संस्करण पूर्व संस्करण की अपेक्षा बृहदाकार है। इसकी भूमिका अति विस्तृत रूप में लिखी गई थी। हमने इसी द्वितीय संस्करण का पुनः प्रकाशन किया है।

यह वेदान्तदर्शन महाभारत के रचयिता महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास वादरायण का वनाया हुवा है। इसका अपर नाम ब्रह्मसूत्र शारीरक दर्शन भी है। इसमें चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में वेद और उपनिषदों के वाक्यों का ब्रह्म से सम्वन्ध सिद्ध किया है। द्वितीय अध्याय में वेदानुकूल सिद्धान्तों का मण्डन किया है। इसी अध्याय के स्मृतिपाद और तर्कपाद में वेद विरुद्ध मतों का विस्तार से निराकरण किया गया है। यही स्थल इस दर्शन का मर्म है। यह अविरोधाध्याय नाम से भी जाना जाता है। तृतीय अध्याय में मुक्ति के मुख्य साधनों का वर्णन है। प्रसंगोपात्त निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन भी किया है। इसे साधनाध्याय भी कहा गया है। चतुर्थ अध्याय फलाध्याय कहलाता है, इसमें मुक्तिरूपी फल का वर्णन किया है। इस वेदान्तदर्शन में १५६ अधिकरण हैं। जितने भाग में पक्ष विपक्ष स्थापना-पूर्वक एक विषय का सिद्धान्त निश्चित किया जाता है, वह अधिकरण कहलाता है।

श्री शंकराचार्य और उनके परवर्ती भाष्यकारों ने वेदान्त सूत्रों के आधार पर जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करने का यत्न किया है। किन्तु स्वयं वेदान्त के अन्तः प्रमाणों से यह मत निरस्त हो जाता है।

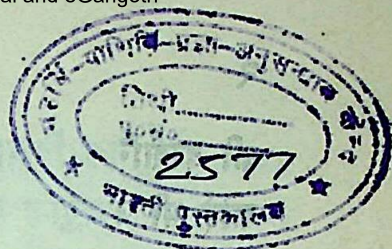
इस वेदान्तशास्त्र में ४५४ सूत्र हैं। पण्डित उदयवीर जी शास्त्री ने आचार्य शंकर द्वारा अभिमत ५५५ सूत्रों पर भाष्य लिखा है। इन्होंने २-२-३-१ पर क्षणिकत्वाच्च सूत्र अधिक व्याख्यान किया है। प्रायः सभी प्रकाशित वेदान्तभाष्यों में सूत्र पाठ और सूत्र संख्या असमान है। प्राचीन

हस्तलेखों सें मिलान करके सभी दर्शनों के शुद्ध पाठ मूलरूप में प्रकाशित करने की आवश्यकता है।

यद्यपि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थप्रकाश, संस्कार-विधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में व्यासमुनिकृत शारीरक सूत्र (वेदान्तशास्त्र) को वात्स्यायन, जैमिनि वा बौधायन आदि मुनिकृत व्याख्या सहित पढ़ने-पढ़ाने का विधान किया है। परन्तु आर्यावर्त्त के अभाग्योदय से महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा दृष्ट और निर्दिष्ट सभी ग्रन्थ-रत्न शतवर्ष में ही दुर्लभ हो गये अथवा नष्ट हो गये। यदि गवेषक लोग यत्न करें तो अनेक दुर्लभ ग्रन्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। उनके अभाव में वेदानुकूल आर्य विद्वानों के बनाये हुये भाष्यों को ही सर्वाधिक उपयोगी मानकर हम यह दर्शन भाष्य सामान्य जनता तक पहुंचा रहे हैं। आजकल पण्डित उदयवीर जी शास्त्री द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्र विद्योदयभाष्य (आर्य-भाषाभाष्य) उपलब्ध है। यह भाष्य भी अत्युत्तम और अतिविस्तृत है। इसी प्रकार स्वामी हरिप्रसाद जी वैदिकमुनि ने भी संस्कृतभाष्य किया था, वह भी उत्तम था। यद्यपि इस वेदान्तदर्शन पर मुनि बोधायन, उपवर्ष, स्वामी शंकराचार्य, रामानुज, विज्ञानभिक्षु, द्रमिडाचार्य, टंक, सहदेव, भारुचि, कपर्दी, भर्तृहरि और भर्तृप्रपंच आदि विद्वानों ने भाष्य रचे थे, परन्तु आज उनके अनुपलब्ध होने तथा अधिकतर में जीव ब्रह्म की एकता, ब्रह्म का माया में लिप्त होना, जीव का ब्रह्म में लय होना, केवल एक ब्रह्म को मानकर जगत् को मिथ्या बताना आदि वेद विरुद्ध जगड्वाल फैलाया हुवा होने से हम उनका प्रकाशन नहीं कर रहे। इसी प्रकार संक्षेप शारीरककार सर्वज्ञ मुनि ने भी अवैदिक भावों की पुष्टि की है। ऐसे कुग्रन्थों के पढ़ने में समय नष्ट नहीं करना चाहिये। महर्षि दयानन्द ने वेदान्त विषयक योगवासिष्ठ और पञ्चदश्यादि ग्रन्थों के पढ़ने का निषेध किया है। इनके पढ़ने से शब्द-जाल में फसकर ज्ञानविज्ञान से वंचित रह जाना पड़ता है। अतः ऋषि महर्षियों के लेखानुसार चलकर सभी को लाभ उठाना चाहिये।

हम हरयाणा साहित्य संस्थान के माध्यम से साधनों के न होते हुये भी पाठकों की सेवा में सामान्य और विशेष ग्रन्थों का समय-समय पर प्रकाशन करते ही रहते हैं। अभी तक हम लगभग १२५ ग्रन्थ प्रकाशित कर चुके हैं। जनता हमारे प्रकाशनों का सदा स्वागत करती है। आशा है जनता इन दर्शनों को भी अन्य साहित्य की भांति अपनाकर हमारा उत्साह वर्धन करेगी, जिससे हम पाठकों की अजस्र सेवा करते रहें।

गुरुकुलझज्जर — **निवेदक**
२०३९ विक्रमसंवत् — **ओमानन्द सरस्वती**



ओ३म्

॥ वेदान्तार्य्यभाष्य की भूमिका ॥

इकमुनिबिनकिनहुनलिखी, भाषामेंयहचाल ।
शारीरक से काटना, शङ्करमत को जाल ॥

यहां यह सन्देह उत्पन्न होगा कि श्री स्वामी शङ्कराचार्य्य जी जिन्हों ने बौद्धधर्म से आक्रान्त आर्य्यधर्म की काया पलट दी, और जिन्हों ने एक ईश्वरवाद से विमुख आर्य्यों को फिर वैदिक धर्म पर आरूढ़ करने के लिये एक ब्रह्मवाद के उच्चनाद से आरत भारत को अविद्यानिद्रा से उद्बोधन करदिया, न केवल इतना ही अपितु अवैदिक बौद्धधर्म को आर्य्यवर्त्त से बाहर करदिया, यह महान् काम स्वामी शङ्कराचार्य्य जैसे उच्चात्मा का ही था, कि जिन्हों ने वैदिक विद्याबल से ३२ वर्ष की आयु में राजधर्म बौद्ध धर्म को मिटाकर वैदिकधर्म को राजधर्म बनादिया, फिर शङ्करमत को जाल कैसे कहा जाता है ?

उत्तर–ग्रन्थकर्त्ता शमादि सम्पत् सम्पन्न स्वा० शं० चा० जी के उक्त भावों को स्वीकार करता है, पर विचारणीय बात यह है कि उक्त भावों वाले स्वामी का मत आर्य्यावर्त्त का भ्रम भूषण क्यों बना ? और विज्ञानवादी तथा शून्यवादी योगाचार और माध्यमिकादि बौद्धों का अनुसारी क्यों बना ?

इस विचार का सार यह है कि जिस समय स्वा० शं० चा० ने काशी में बीड़ा उठाकर बौद्धमत पराजित किया उस समय बौद्धों

की दार्शनिक विद्या दशोदिशाओं में मानी जाती थी, उस समय कोई भी उच्चबुद्धि का पुरुष उनकी फ़िलासफ़ी के चक्र से बाहर नहीं ज़ा सकता था, इस भाव को लक्ष्य रखकर स्वा० शं० चा० ने विज्ञानवाद और शून्यवाद का कलेवर यों बदला कि विज्ञान क्षण २ में नहीं बदलता, यदि विज्ञान क्षणिक है तो पूर्वोत्तर क्षण का एक ही अनुसन्धाता कैसे हो सकता है, और यदि सब शून्य है तो उस शून्य का ज्ञाता कौन है ? इत्यादि अनेक तर्कों से बौद्धों की फ़िलासफ़ी को जर्जरी करके उसमें यह भाव भरा, कि विज्ञान क्षणिक नहीं किन्तु एकरस सदा स्थायी है, उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं, वह विज्ञान सर्वानुगत है, वही सर्वका आत्मा है, और यह सब संसार अनात्मा है । इस भाव को स्वामीजी ने ब्र० सू० १।१।१ की भूमिका में इस बलसे भरा है कि एक विज्ञानमात्र से भिन्न सबको भ्रम माना है, यहां तक कि वेदशास्त्र को भी स्वामी मिथ्याही मानते हैं, उसी अस्मत्प्रत्ययगोचर एकमात्र विज्ञान में सम्पूर्ण बाह्य वस्तुओं को मिथ्या मानते हैं, इस मिथ्यावाद के मार्ग को स्वामी ने यहां तक मण्डन किया कि जिससे सब वर्णाश्रमों के धर्मों को खण्डन कर दिया । जैसेकि :—

न वर्णा, नवर्णाश्रमाचारधर्मा, नमेधारणाध्यानयोगादयोऽपि । अनात्माश्रयाहं ममाध्यासहानात्तदेकोऽविशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥
न मातापिता वा, न देवा न लोका, न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति । सुषुप्तौनिरस्तातिशून्यात्मकत्वात्तदेकोऽविशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ सि० बि०

अर्थ—न वर्ण हैं न आश्रम हैं न वर्णाश्रमों के आचार रूप धर्म हैं, न मुझ में धारणा, ध्यान, योगादिक हैं, अनात्मारूप जो अहङ्कारादिक हैं उनके आश्रित यह अहं और अध्यास होता है, इस अध्यास के मिटजाने से मैं केवल शिव हूं अर्थात् मेरे में अज्ञान से ही वर्णाश्रमों के धर्म हैं वास्तव में नहीं। एवं माता, पिता, देव, लोक, वेद, तीर्थ, यह भी मिथ्या ही हैं, केवल एक विज्ञान ही सत्य है और सब भ्रम है। इस प्रकार उक्त स्वामीजी ने सब धर्मों का खण्डन करके एकमात्र विज्ञान ही तत्व माना है और वह भी ऐसा कि जिसमें कोई प्रत्यय नहीं, इस अंश में यह एकत्ववाद शून्यवादी के साथ मिलजाता है, इसका प्रमाण यह है कि शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध के मत में सब शून्य ही शून्य है अर्थात् उसका कोई ज्ञाता नहीं, एवं अद्वैतवाद में भी उस अद्वैत का कोई ज्ञाता नहीं, और वह स्वयं भी अपने आपका ज्ञाता नहीं, इस बात को स्वामी ने ज्ञाधिकरण में स्पष्ट किया है कि वह जाननेवाला नहीं किन्तु ज्ञानमात्र है, और जब उनसे यह पूछा जाता है कि उस ज्ञानमात्र को "मैं हूं" यह ज्ञान है वा नहीं? तो उत्तर यह मिलता है कि वह यह नहीं जानता कि "मैं हूं" क्योंकि यह जानना अद्वैतवादियों के मत में माया से आता है "मैं हूं" यह प्रत्यय शुद्ध में नहीं होता, फिर शून्यवाद से क्या भेद रहा? यदि दुर्जनतोष न्याय से यह मान भी लियाजाय कि शून्यवाद से स्वामी के मत का भेद है क्योंकि स्वामी एक विज्ञानमात्र ही तत्व मानते हैं तो विज्ञानवादी बौद्ध से स्वामी के मत का कोई भेद नहीं प्रतीत होता, क्योंकि स्वामी एक विज्ञान मे सम्पूर्ण विश्व को भ्रम मात्र मानते हैं, इस बात को स्वामी के शिष्य विद्यारण्य ने पञ्चदशी वि० १ श्लो० ३ से ७ तक में वर्णन किया है कि विज्ञानमात्र ही तत्व है अन्य सब मिथ्या है, इससे सिद्ध है कि यह तत्व स्वामी ने विज्ञानवादी बौद्ध से लिया है।

और प्रमाण यह है कि विज्ञानवादी बौद्ध की "आत्मख्याती" है अर्थात् यह सब पदार्थ आत्मा में ही हैं बाहर मिथ्या प्रतीत होते हैं एकमात्र विज्ञान ही सत्य है और वह बाह्यपदार्थ विज्ञान से अतिरिक्त नहीं, वही पदार्थाकार बनगया है, यह मत बाह्य पदार्थों के विषय में विज्ञानवादी बौद्ध का है, यहां यह दर्शाना है कि स्वामी के मत का इससे क्या भेद है, स्वामी के मत में सीपी में जो चांदी का भ्रम है वहां अनिर्वचनीय रजत है, जो न सत् हो और न असत् अर्थात् जो सत्य झूठ दोनों से विलक्षण हो उसका नाम 'अनिर्वचनीय' है, इस प्रकार इनके मत में शुक्ति रजतादि भ्रम स्थलों में रजतादि भावपदार्थ हैं, एवं उनके मत में आत्मा से भिन्न सभी भावपदार्थ भ्रममात्र हैं, इस अर्थ में विज्ञानवादी बौद्ध से मायावाद का किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं रहता, क्योंकि विज्ञानवादियों के मत में भी विज्ञान से भिन्न सब पदार्थ मिथ्या हैं एवं स्वामी के मत में भी विज्ञान से भिन्न सब पदार्थ मिथ्या हैं, इस अंश में इन के मत का विज्ञानवादी बौद्ध से कोई भेद नहीं॥

और शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध "असत्ख्याति" मानता है अर्थात् सीपी आदि स्थलों में असत् रजत ही प्रतीत होती है सत् नहीं, इस अर्थ से भी स्वामी के मत में बाह्य पदार्थों में कोई भेद नहीं, शून्यवादी के समान सब बाह्य पदार्थ शून्य ही हैं वास्तव सत् नहीं, एवं ख्यातिवाद के मिलाने से यह सिद्ध है कि यह मत बौद्धों से लिया गया है॥

यहां प्रसङ्ग सङ्गति से यह भी निरूपण करना अनुपयुक्त न होगा कि वैदिकमत में सीपी रजत में कौनसी ख्याती है अर्थात् शुक्ति रजतादिक भ्रम स्थलों में वैदिकों का क्या मन्तव्य है? हमारे मत में उक्त भ्रम स्थल में "अन्यथाख्याती" है अर्थात् दोषवश से वह वस्तु ही

अन्यथा होकर प्रतीत होती है और अन्यथा प्रतीति को ही "अन्यथा ख्याति" कहते हैं, अन्य स्थल के पदार्थ की अन्य स्थल में प्रतीति अन्यथाख्याति नहीं, एवं स्वप्नादि भ्रमस्थलों में निद्रादि दोषों से अन्यथा प्रतीत का नाम अन्यथाख्याति है, कई एक लोग अख्यातिवाद मानते हैं, उनका यह अभिप्राय है कि भ्रमस्थल में भेदाऽग्रह है अर्थात् स्मृतिज्ञान और पुरोवर्त्ती वस्तु का इदमाकार ज्ञान इन दोनों का भेद प्रतीत नहीं होता इसलिये भ्रम कहा जाता है, और एक सम्प्रदाय ऐसा है जो "सत्ख्याति" मानता है, उसका यह आशय है कि सीपी में चांदी के अंश भी हैं वही इकट्ठे होकर प्रतीत होते हैं इसलिये वह ज्ञान सच्चा है झूठ नहीं, इस प्रकार भ्रम स्थल में (१) आत्मख्याति (२) असत्ख्याति (३) अख्याति (४) अन्यथाख्याति (५) सत्ख्याति (६) अनिर्वचनीयख्याति" यह षट् ख्याति हैं, ख्याति नाम प्रतीति का है, उक्त ख्याति विषय में यह विवेक है कि आत्मख्याति—विज्ञानवादी बौद्ध की, असत्ख्याति-शून्यवादी की, अख्याति—प्रभाकरादि मीमांसकों की, अन्यथाख्याति—वैदिक वेदान्ति तथा नैयायिकों की और अनिर्वचनीयख्याति—मायावादियों की है, इनका यह भी कथन है कि "न सदासीन्नोसदासीत्तदानीम्" ऋ०८।७।१७।१ यह मन्त्र अनिर्वचनीयवाद को सिद्ध करता है कि इस रचना से प्रथम न सत् था, न असत् और सत् असत् से विलक्षण को ही अनिर्वचनीय कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि उक्त मन्त्र अव्यक्त प्रकृति को वर्णन करता है कि इस कार्य्य रूप जगत् से प्रथम वह अव्याकृत सत् इसलिये नहीं था कि वह कार्य्यरूप न था और असत् इसलिये नहीं था कि वह प्रकृति भावरूप थी अभावरूप नहीं और

यदि सत् असत् कथन से अनिर्वचनीयवाद अभिप्रेत होता तो "न सत्तन्न सदुच्यते" गी० ११।१२ यहां ब्रह्म को सदसद्विलक्षण न कहा जाता, क्योंकि ब्रह्म मायावादियों को अनिर्वचनीय इष्ट नहीं, इस अनिर्वचनीयवाद का आश्रयण करने से सिद्ध होता है कि बौद्धों की फ़िलासफ़ी की झलक मायावाद में है, यदि यह झलक इनके मत में न होती तो स्वामी शं० चा० जैसे उच्च उद्देश्य के आचार्य्य के मन का हास कदापि इस प्रकार न होता जैसाकि हुआ और बौद्धों को अनीश्वरवाद की फ़िलासफ़ी तथा बाह्य अर्थ को मिथ्या मानने की फ़िलासफ़ी ने गिराया, अधिक क्या वही मिथ्यावाद के भाव और अहंब्रह्म बनकर ईश्वर को जलाञ्जली देने के भावों ने स्वामी के सम्प्रदाय को अत्युच्च वैदिकभाव से गिरा दिया।

अन्यथा "ऋतञ्चसत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" ऋ०८।८।४८।१ और "याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" यजु०४०।८ इत्यादि मंत्रों में वर्णित जगत् के सत्यभाव को मिटाकर भारत को मिथ्यावाद का भूषण न पहनाया जाता और "न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा" इत्यादि लेख लिखकर सब वर्णाश्रमादिकों को समाप्त न कियाजाता, यह सब मिथ्यावाद का ही महत्व है जो "शुद्धोऽसिबुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमाया परिवर्जितोऽसि संसारस्वप्नंत्यजमोहनिद्रां मन्दालसा वाक्यमुवाचपुत्रम्"=तू नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है और संसार की माया से वर्जित है यह संसार स्वप्न है, तू इस मोह निद्रा को छोड़कर उठ, यह मन्दालसा ने अपने पुत्र को लोरी दी है, कथा इस प्रकार है कि एक राजा के सात पुत्र थे

उनकी माता मायावाद वेदान्तानुकूल ब्रह्मवादिनी थी वह सब पुत्रों को उक्त लोरी दिया करती थी जिसका फल यह हुआ कि उसके छ पुत्र तो बनवासी होगये और सातवें को उसने उक्त लोरी न दी वह राज्य करता रहा, पर उसने पूर्वोक्त मिथ्यावाद के श्लोक को ताम्रपात्र में मढ़कर उसके गले में डाल दिया था कि जब तुम को कोई विपत्ति पड़े तो इसको खोलकर पढ़ना, जब उसके बनवासी मायावादी भ्राताओं को ममता आई तो उन्होंने उससे घोर युद्ध करके राज्य छुड़ालिया, उस समय उसने उस श्लोक को ताम्रपात्र से निकालकर पढ़ा तो राज्य के चले जाने का सब शोक भूलकर अपने भाइयों के साथ होलिया, वाहरे मायावाद तेरी महिमा जो तू ने परम्परा से प्राप्त धर्मराज्य को छुड़ाकर गली गली में भीख मंगवाने को ही धर्म अर्थ काम मोक्षरूपी फलचतुष्टय का साधन समझा, अधिक क्या उक्त मनुष्यजन्म के फलचतुष्टय को इस मायावाद के भाव ने ऐसा नाश किया कि सारी मर्य्यादा ही भुलादी ॥

ननु--सर्वोपरि मनुष्यजन्म के फल मोक्ष को मायावादियों ने मुख्य रखा है फिर कैसे कहाजाता है कि फलचतुष्टय को नाश कर दिया? इसका उत्तर यह है कि चतुर्थ फल भी धर्मादि कर्मसमुच्चय से ही मिलता है अन्यथा नहीं और मायावाद कर्मसमुच्चय का नाशक होने से फलचतुष्टय का भी नाशक है, अधिक क्या इसने सब वेद शास्त्र और कर्मादिकों को मिथ्या बना दिया है इस मिथ्यावाद की निवृत्ति और धर्मादि फलचतुष्टय की सिद्धि के लिये या यों कहो कि वैदिक द्वैतवाद के मण्डनार्थ हमने "वेदान्तार्य्यभाष्य" बनाकर शारीरक से शङ्करमत के मायाजाल को काटा है ॥

शङ्करमत को जाल इसलिये कहा गया है कि इनके मत में कहीं जीव की माया उपाधि है कहीं अविद्या उपाधि है कहीं एक जीववाद है कहीं अनेक जीववाद हैं कहीं बिम्बरूप ईश्वर है उसीका प्रतिबिम्ब जीव है, कहीं अन्तःकरणावच्छिन्न जीव है, कहीं अन्तःकरणोपहित जीव है, एवं अनन्त घाटियें हैं जिनको इनकी अघटन घटनापटीयसी माया ही मण्डन करसक्ती है।

इस मायावाद के मर्मों को जानने के लिये हम यहां यत्किञ्चित् मायावाद की प्रक्रिया दिखलाते हैं जिसमे ज्ञात होगा कि इनके मायावाद में कहांतक सच्चाई है, इनका कथन है कि इस सृष्टि से प्रथम एकमात्र ब्रह्म ही था जो सर्वथा निर्विशेष था, जिसमें धर्मधर्मीभाव भी कल्पना किया गया है, वास्तव में उसमें कोई धर्म नहीं, इस स्वतःप्रकाश ब्रह्म में अनादि काल से माया मोहिनी निवास करती है, ब्रह्म ही उसका आश्रय और विषय है अर्थात् ब्रह्म के सहारे रहकर ब्रह्म कोही अज्ञानी बनादेती है, उस माया के साथ मिला हुआ ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, जब उस ब्रह्म ने माया के वशीभूत होकर जगत् रचने की इच्छा की तो वह ईश्वर कहलाया और उसी ब्रह्म का जो भाग अविद्याकृत उपाधि से घटाकाश के समान ब्रह्म से भिन्न हुआ वह जीव कहलाया, जीवों के अनादि कर्मों का फल देने के लिये उस ईश्वर ने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पञ्चतन्मात्र रूप अपञ्चीकृत भूतों को उत्पन्न किया, फिर उनसे पांच स्थूल भूत हुए, इन स्थूल भूतों से श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसना, घ्राण, यह पांच इन्द्रिय उत्पन्न हुए, पञ्च तत्वों के सात्विक अंशों से मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, यह चतुष्टय अन्तःकरण उत्पन्न हुए, रजोगुण से पांच प्राण, रजोगुण

विशिष्ट स्थूल भूतों से वागादि पांच कर्मेन्द्रिय उत्पन्न हुए, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन, बुद्धि, इन १७ तत्त्वों का लिङ्गशरीर मुक्ति पर्य्यन्त स्थिर रहने वाला उत्पन्न हुआ और वह लिङ्गशरीर दो प्रकार का है, एक हिरण्यगर्भ का लिङ्गशरीर माना गया है और दूसरा जीवात्मा का, हिरण्यगर्भ इनके मत में छोटे ईश्वर का नाम है ॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण, यह तीन शरीर जीवात्मा के हैं, स्थूल=पाञ्चभौतिकशरीर, सूक्ष्म=लिङ्ग शरीर, कारण=अज्ञान शरीर, एवं हिरण्यगर्भ के भी तीन शरीर हैं, महत्तत्व=लिङ्गशरीर, माया=कारण शरीर और विराट्=स्थूल शरीर,* यह संक्षेप से मायावादियों की प्रक्रिया है ॥

प्रथम यहां विचारणीय बात यह है कि क्या स्वामी शं०चा० के मत में भी यह बात स्पष्ट है कि माया उपाधि से ईश्वर बनता है ? यद्यपि स्वामी शं० चा० की फ़िलासफ़ी का प्रवाह इस ओर अत्यन्त बल से बह रहा था कि ईश्वर को भी औपाधिक ही बना दिया जाय पर उपनिषदों के इस भाव ने कि ईश्वर और ब्रह्म एक ही हैं नाना ईश्वर मानने वाला घोर नरक में पड़ता है, स्वामी को ईश्वर के तीन भेद नहीं बनाने दिये, इसलिये आधुनिक मायावादियों के समान एक ही ब्रह्म के खण्ड २ करके स्वामी ने

---

* इनके मत में उक्त तीनो शरीरों के भेद से एक ही परमात्मा के हिरण्यगर्भ, ईश्वर और वैश्वानर, यह तीन नाम हैं, एवं उक्त तीनो शरीरों के भेद से विश्व, तैजस और प्राज्ञ यह तीन नाम जीव के हैं।

चार भेदों में विभक्त नहीं किया, पर यह यहां याद रखने योग्य बात है कि अज्ञान को स्वामी ने भी स्वाश्रय और स्वविषय माना है अर्थात् ब्रह्म में ही अज्ञान है और उसी को अपनी शक्ति से अज्ञानी बना देता है, इस भाव से स्वामी ही आधुनिक वेदान्तियों के नाना मतों की नीव डाल गये हैं, इसीलिये पञ्चदशी के चित्र दीप में विद्यारण्य ने लिखा है कि जिसप्रकार उपाधिभेद से आकाश के (१) घटाकाश (२) जलाकाश (३) मेघाकाश (४) महाकाश यह चार भेद हैं अर्थात् उक्त उपाधियों से आकाश चार प्रकार का होजाता है, जैसाकि घटरूप उपाधि से घिरे हुए आकाश का नाम "घटाकाश" घट के जल में जो प्रतिबिम्बित आकाश उसका नाम "जलाकाश" मेघ=बादलों के जल में प्रतिबिम्बित आकाश का नाम "मेघाकाश" और उक्त तीनों उपाधियों से बचे हुए आकाश का नाम "महाकाश" है. इसी प्रकार इनके मत में सर्व उपाधियों से विनिर्मुक्त चेतन का नाम "ब्रह्म" स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर के अधिष्ठान चेतन का नाम "कूटस्थ" घट स्थानिय जो शरीर उसमें जल स्थानीय बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्ब "जीव" और मायारूप मेघ में स्थित जो जलकण के समान बुद्धिवासनायें उनमें प्रतिबिम्ब का नाम "ईश्वर" है,इस प्रकार यह एक ब्रह्म से चेतन के चार भेद बनाते हैं परन्तु यह भेद अन्य वेदान्त ग्रन्थों में नहीं मिलते,संक्षेपशारीरक में चेतन के तीन ही भेद माने हैं, एक ब्रह्म दूसरा ईश्वर और तीसरा जीव, वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य्य भी षट् अनादि माननेसे इस बात को

स्फुट कर दिया है कि चेतन के तीन ही भेद हैं (१) शुद्ध चेतन (२) ईश्वर चेतन (३) जीवचेतन (४) अविद्या (५) अविद्या चेतन का परस्पर सम्बन्ध (६) इन पाचों का परस्पर भेद, यह षट् पदार्थ मायावादियों के मत में अनादि हैं, वार्तिककार का यह कथन शं० भा० के विरुद्ध है, क्योंकि स्वामी शं० चा० ने प्रयोजनवत्त्वाधिकरण में जीव ईश्वर और जीवों के कर्म, यह तीन पदार्थ ही अनादि माने हैं ॥

यदि यहां उक्त विरोध परिहार करने के लिये यह समाधान कियाजाय कि जीव ईश्वर का भेद अविद्या ने बनाया है इसलिये अविद्या भी अनादि है, उस अविद्या का ब्रह्म चेतन से अनादि काल से सम्बन्ध है, इसलिये सम्बन्ध भी अनादि है और ब्रह्म, अविद्या, जीव, ईश्वर, सम्बन्ध और इन पांचों का भेद, इस मानने से विरोध परिहार नहीं होता, क्योंकि यह हम पूर्व ही लिख आये हैं कि अविद्याबल से ब्रह्म ईश्वर बन गया ऐसा लेख स्वामी शं०चा० जी का कहीं भी नहीं, यदि होता तो ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रकरण चलाकर ईश्वर का लक्षण कदापि न करते,जैसाकि ब्र० सू० १।१।२ में प्रसिद्ध है और उक्त दोष के परिहार में परिणाम यह निकलता है कि अविद्या औरचेतन का परस्पर सम्बन्ध मानने से उलटे तीन अनादि भी उड़जाते हैं,क्योंकि अविद्या और चेतन का सम्बन्ध होगा तो जीव ईश्वर की उत्पत्ति होगी अन्यथा नहीं और उस प्रयोजनवत्त्वाधिकरण में इन्होंने जीव ब्रह्म में अविद्याकृत भेद नहीं माना, अस्तु

विद्यारण्य और सुरेश्वराचार्य्य का शं० भा० से विरोध का विचार छोड़कर यदि इनके लेख पर ध्यान दिया जाय तो भी इनका लेख अद्वैतवाद के सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होता है, एक ओर ब्रह्म को वस्तु मात्र की प्रकृति मानना अर्थात् ब्रह्म ही सर्वोपादान है; अन्यथा एक वस्तु से सर्व का ज्ञान और मृदादि एक वस्तु ही स्व कार्य्यों में उपादान का दृष्टान्त, इसप्रकार प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का विरोध आता है, एवं षट् अनादि और ब्रह्मवाद परस्पर विरुद्ध हैं, क्योंकि जिनके मत में अज्ञान भी अधिष्ठान से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं उनके मत में उस अज्ञान से जीव ईश्वर हुए, उसी से जीव ईश्वर का भेद हुआ और "अधिष्ठानाविशेषो हि नाशः कल्पितवस्तूनाम्"= उसी एकमात्र ब्रह्म में उस कल्पित वस्तु अविद्या का नाश हुआ, एवं एक ब्रह्म ही अनादि ठहरता है।

और जो अद्वैतवादियों ने अज्ञान का आश्रय ब्रह्म माना है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि "मैं अज्ञानी हूं" यह प्रतीति जीव को होती है नकि ब्रह्म को, इसलिये अज्ञान का आश्रय ब्रह्म नहीं होसक्ता, और बात यह है कि ब्रह्म स्वप्रकाश है इसलिये भी अज्ञान का आश्रय नहीं होसक्ता, यदि स्वप्रकाश ब्रह्म भी उस अज्ञान को निवृत्त नहीं करसकेगा तो ब्रह्म से प्रबल और कौन प्रकाश उस अज्ञानान्धतम का निवर्तक होगा? यदि यह कहें कि उसका निवर्तक वृत्तिज्ञान है स्वरूपभूत ज्ञान नहीं, यह कथन ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि जिस अन्धकार को सूर्य्य नहीं निवृत्त कर सक्ता उसको खद्योत निवृत्त कर देता है॥

और जो अद्वैतवादी यह कहते हैं कि अज्ञान ब्रह्म के स्वरूप को तिरोहित करके जीव और ईश्वर बना देता है यह भी ठीक नहीं, यहां तिरोधान से तात्पर्य्य ब्रह्म के स्वरूप को हटा देना अथवा अज्ञान से ढके हुए स्वरूप की प्रतीति करा देना है ? प्रथम पक्ष में दोष यह है कि उसके स्वरूप का तिरोहित होजाना उसको विकारी बनाता है और दूसरे पक्ष में दोष यह है कि जब दूसरी वस्तु के प्रभाव से उसका स्वरूप दब गया तो उसके स्वरूप का तिरस्कृत होजाना स्वरूपनाश ही हुआ, हम आपसे यह पूछते हैं कि जिस अज्ञान को आपने ब्रह्म के स्वरूप को ढकने वाला माना है वह अज्ञान स्वयं किसी के अनुभव का विषय हुआ २ ब्रह्म को ढकता है वा नहीं ? यदि किसी अनुभव का विषय होकर ब्रह्म के स्वरूप को ढकता है तो अन्योऽन्याश्रय दोष आता है अर्थात् प्रथम ब्रह्म उसको प्रकाश करे तो वह ब्रह्म को ढके, जब ब्रह्म को ढके तब ब्रह्म उसका प्रकाश करे, और यदि अज्ञान अनुभव का विषय होकर ब्रह्म को ढक लेता है तो जब अनाच्छादित ब्रह्म अज्ञान को अनुभव कर सक्ता है फिर अज्ञान से ब्रह्म के तिरोधान मानने की क्या आवश्यकता ? और प्रष्टव्य यह है कि ब्रह्म में अज्ञान को अनुभव करना स्वभाव से है अथवा किसी अन्य की ओर से ? यदि स्वतः ब्रह्म अज्ञान को अनुभव करता है तो स्वाभाविक अज्ञानानुभवी ब्रह्म कदापि मुक्त नहीं होसक्ता, और यदि ब्रह्म परतः अज्ञान को अनुभव करता है तो शुद्ध ब्रह्म में अज्ञान का आश्रयपन क्या ? और जिस अन्य अज्ञान से ब्रह्म

अज्ञान को अनुभव करता है वह अज्ञान भी अन्य अज्ञान से अनुभव का विषय होगा, एवं अन्य, अन्य से, इस प्रकार अनवस्था दोष आता है, इत्यादि अनेक दोष अज्ञानाश्रयोपपत्ति अर्थात् ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय होने में आते हैं, इस विषय को अधिक तर्कों द्वारा बढ़ाने से ग्रंथ सूक्ष्म होता है, इसलिये इसके अधिकारी श्रीभाष्य की अज्ञानाश्रयाऽनुपपत्ति को पढ़ लें, यहां इतना ही उपयुक्त था कि किसी प्रकार भी ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं बन सक्ता ॥

शङ्करशारीरकभाष्यादि वेदान्त के सब ग्रन्थों में माया, अविद्या, अज्ञान एकही वस्तु को मानकर उसको अनिर्वचनीय माना है, अनिर्वचनीय के अर्थ इनके मत में जिसका निर्वचन=लक्षण न होसके उसके नहीं किन्तु जो न सत् हो, न असत्, न ब्रह्म से भिन्न हो न अभिन्न, इत्यादि विकल्पों के अयोग्य होकर भी जो भावरूप है वही अनिर्वचनीय माया मानी गई है, वस्तुतः वह माया ऐसी शक्तिमती है कि इस निखिल प्रपञ्च की इनके मत में एकमात्र वही जड़ है. सांख्य और योग के समान इनके मत में वह अनादि अनन्त नहीं किन्तु ज्ञान से रज्जुसर्प के समान नाश होजाती है इसीलिये वह अज्ञानमात्र कथन कीगई है और ब्रह्म के साथ तादात्म्यरूप से मिली हुई वह अविद्या जगत् का उपादान कारण है, तादात्म्यरूप के अर्थ एक आत्मारूप के हैं, इसी भाव से अद्वैतवादी ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कहते हैं अर्थात् आप ही निमित्त और आप ही उपादान है, जिसका अपना स्वरूप ही

कार्य्याकार हो उसको " उपादान " कारण कहते हैं, जैसे घट का उपादान कारण मिट्टी है, न्यायशास्त्र की परिभाषा में इसी को "समवायि" कारण कहते हैं, यह उपादान कारण दो प्रकार का है, एक आरम्भक उपादान, दूसरा परिणामि उपादान, बहुत से पदार्थ मिलेहुए अवयवपुञ्ज से एक कार्य्य बन जाने का नाम " आरम्भक " और उस कारणरूप पदार्थ का परिणाम= स्वरूप बदलकर कार्य्याकार होजाना "परिणामी" उपादान कहाता है, जैसे दूध से दधि आदि, मायावादी तीसरा विवर्त्त उपादान भी मानते हैं,अन्य में अन्य की प्रतीति का नाम"विवर्त्ति" है, जैसे रज्जू में सर्प की प्रतीति आदि, और यह अविद्या का परिणाम तथा चेतन का विवर्त्त है " विवर्त्त " वास्तव में स्वस्वरूप न त्यागने को कहते हैं और " निमित्तकारण " उसको कहते हैं जो कार्य्याकार न होकर और ज्ञान, इच्छा, यत्नवाला होकर कार्य्य को बनाये, जैसे जीवात्मा अपने शरीर के बाहर भीतर के यथाशक्ति कार्य्यों का कर्त्ता है, निमित्तकारण में यह नियम नहीं कि वह कार्य्य से पृथक् होकर ही उसको उत्पन्न करे जैसाकि एकदेशी कुलाल आदिक करते हैं किन्तु वह कार्य्यके बाहर भीतर सर्वदेशी होकर कार्य्य को बनात है जैसाकि मकड़ी कीटका जीव अपने स्वदेश में स्थित तन्तुओंका निमित्त-कारण है, और ईश्वर बाहर भीतर सर्वदेशी होकर निमित्तकारण है, और जो उपादान कारण में सम्बन्धी होकर कार्य्य का जनक हो उसको " असमवायि " कारण कहते हैं, जैसे तन्तुओं का संयोग पट

का असमवायि कारण है और जो उक्त तीन प्रकार के कारण से भिन्न हो वह "साधारण" कारण कहलाता है, जैसेकि घटादिकों की उत्पत्ति में देश, काल, आकाशादि साधारण कारण हैं, जिस उपयोग से यहां कारण का विचार किया गया है वह प्रकृत यह है कि ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नहीं होसक्ता, यदि इसके यह अर्थ हैं कि आपही निमित्तकारण और आप ही उपादान है तो उक्त तीन प्रकार की उपादानता में से कौनसी उपादानता ब्रह्म में इष्ट है ? आरम्भक और परिणामी उपादानता तो ब्रह्म के निरवयव होने से ही नहीं मानी जासक्ती, शेष रहा विवर्त्तरूपी उपादानता वह अज्ञान से बिना नहीं होसक्ती, और अज्ञान का आश्रयण ब्रह्म में हम प्रथम ही खण्डन कर आये हैं, और जो मायावादी माया को उपादान और ब्रह्म को निमित्तकारण मानते हैं, यह तो घट्टकुटीप्रभात न्याय से द्वैतवाद का दण्ड इनको सहारना ही पड़ता है; वह इस प्रकार कि प्रकृतिरूपी उपादानता माया में मानी और माया के अर्थ इनके मत में प्रकृति के भी हैं और निमित्त कारणता चेतन ब्रह्म में मानते हैं इस अंश में वैदिक द्वैत से क्या, भेद रहा ॥

यदि यह कहाजाय कि प्रकृति तो मायावाद में अज्ञानमात्र है फिर उसमें उपादानता क्या, एकमात्र ब्रह्म ही उपादान रहा, यह सिद्धान्त ब्रह्म की कूटस्थ नित्यता का विरोधी होने से असङ्गत है, इसलिये अज्ञानोपहित ब्रह्म कारण नहीं कहा जासक्ता, वैदिक द्वैतवाद में प्रकृति परिणामी उपादानकारण और कूटस्थ नित्य ब्रह्म निमित्तकारण है, इसलिये कोई दोष नहीं, और जो उक्त

अज्ञानमात्र से माया के कई एक लच्छेदार लक्षण करके मायावादी उससे इस प्रकार जीव ईश्वर की रचना बना लेते हैं कि शुद्ध चेतन के आश्रित मूलप्रकृति में चेतन का प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अवर्ण-शक्तिविशिष्टमूलप्रकृति के अंशों में चेतन का प्रतिबिम्ब जीव है, जब वह प्रकृति इनके मत में अज्ञानमात्र है फिर उसमें मूलप्रकृति और अवर्णशक्तिविशिष्टमूलप्रकृति यह भेद क्या ? यदि यह कहा जाय कि शुद्धसत्वप्रधान प्रकृति माया कहलाती है और मलिनसत्वप्रधान अविद्या, इस भेद से दो प्रकार की अज्ञानरूपी प्रकृति ही कही जासक्ती है ? इसका उत्तर यह है कि सत्वादि गुण उस ब्रह्म के विवर्त्तरूप अज्ञान में कहां से आये क्योंकि विवर्त्त तो उनके मत में अतत्त्वतोऽन्यथाभाव=प्रतीतिमात्र है, इनके स्वरचित जीव तथा ईश्वरवाद के कई एक पक्ष हैं, कोई जीव ईश्वर दोनों को प्रतिबिम्ब मानता है, कोई जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानता है, कोई ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानता है, इत्यादि मायावाद के इस झगड़े को छोड़कर हम इनके मुख्यसिद्धान्त (१) प्रतिबिम्बवाद (२) अवच्छेदवाद (३) आभासवाद, इन तीनों वादों की मीमांसा करके इनको अवैदिक सिद्ध करते हैं जिससे ज्ञात होगा कि इनका मत कहांतक दृढ़ है, कूटस्थ नित्य सर्वदेशी ब्रह्मका अज्ञानमात्र=मनोरथ मात्र की माया में कदापि प्रतिबिम्ब नहीं पड़सक्ता, क्योंकि प्रति-बिम्ब तब पड़ता है जब दोनों में से एक आकार वाला आवश्य हो सो उक्त नियम ब्रह्म और अज्ञान दोनों में नहीं, अज्ञान को अनि-र्वचनीय बनाकर साकार मानना यह अद्वैतवादियों का साहसमात्र है, और अवच्छेदवाद उसको कहते हैं कि जिस २ उपाधि के साथ ब्रह्म मिलता है उसीसे घटाकाश के समान भिन्न होजाता है, एवं अन्तःकरणावच्छिन्न जीव का स्वरूप मानने पर जिस २ देश में

अन्तःकरण जायगा वहां २ का नित्य मुक्त ब्रह्म बन्धन में आता जायगा और जिसको छोड़ता जायगा वह मुक्त होता जायगा, फिर पाप पुण्य की व्यवस्था क्या ? और पाप पुण्य की व्यवस्था को स्वामी ने बड़े बलपूर्वक प्रयोजनवत्वाधिकरण में निरूपण किया है इसलिये यह अवच्छेदवाद अद्वैतविद्याचार्य्य स्वामी के सिद्धान्त से विरुद्ध है ॥

और "आभास एव च" ब्र०सू० २ । ३ । ५० इस सूत्र में जो स्वामी शं० चा० ने आभासवाद को वर्णन किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि अद्वैतमत में चेतन की छाया का नाम " आभासवाद " है, वह छाया भी निराकार में नहीं होसक्ती, और उस छाया को किसी ने बिम्ब का स्वरूप भी नहीं माना किन्तु भ्रमरूप माना है, इसलिये इसके मिथ्या होने से बन्ध मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सक्ती, अतएव इनके उक्त तीनो वादों से जीव ईश्वर का स्वरूप निरूपण नहीं किया जासक्ता ॥

वैदिकसिद्धान्त में जीव ईश्वर का स्वरूप कूटस्थ नित्य है अर्थात् किसी उपाधि से बना हुआ नहीं, जीव सत्चित्स्वरूप और ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है, माया और प्रकृति एक ही पदार्थ के नाम हैं और वह परिणामी नित्य है, कहीं २ माया शब्द का प्रयोग अन्यथाज्ञान में भी आता है, जैसाकि "मायामात्रं कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" ब्र० सू० ३ । २ । ३ इत्यादि स्थलों में अन्यथाज्ञान के अभिप्राय से आया है और छल कपटादिकों में भी माया का प्रयोग किया जाता है पर वह मुख्य नहीं मुख्य प्रकृति ही का नाम माया है, वैदिक मत में विपरीत ज्ञान का नाम अज्ञान और इसी अर्थ में कहीं २

अविद्या शब्द भी आया है, और अविद्या शब्द विद्या=ज्ञान से भिन्न अर्थ में भी आया है, जैसाकि "विद्याञ्चाऽविद्याञ्चयस्तद्वेदोभयꣳसह" यजु० ४० । १४ इत्यादिकों में कर्म का नाम अविद्या है, पर अविद्या शब्द ब्रह्म को अज्ञानी बना देने वाले अज्ञान में कहीं भी वेद और वैदिक ग्रन्थों में नहीं आया, इसलिये अविद्या शब्द के अर्थ ब्रह्मनिष्ठ अज्ञान के अविद्यावादियों ने अविद्या से ही किये हैं ॥

ननु–"नीहारेणप्रावृत्ताः" ऋ०८।३।१७ "अनृतेनप्रत्यूढाः" छा०८।४।२ "तम आसीत्तमसागूढ़मग्रे" ऋ० ८।७।१७ "मायान्तुप्रकृतिंविद्यात्" श्वे० ४ । १० "अजामेकांलोहितशुक्लकृष्णां" श्वे० ३ । ५ "अविद्यायामन्तरेवर्त्तमानाः" मुण्ड० २ । ८ "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" श्वे० इत्यादि अनेक वेदोपनिषदों के वचनों में अज्ञान को ब्रह्मनिष्ठ सिद्ध किया है फिर कैसे कहा जाता है कि अज्ञान के स्वाश्रय स्वविषयरूप ब्रह्मविषयक कोई प्रमाण नहीं ?

उत्तर–यह हमने "आर्य्यभाष्य" के अनेक स्थलों में स्पष्ट किया है कि मायावादी लोग साहसमात्र से स्वार्थसिद्धि के लिये वेदोपनिषदों के वाक्यों की माला पुरोदेते हैं पर पूर्वोत्तर विचार करने से उनके मायावाद का गन्धमात्र भी उन वाक्यों में नहीं होता, यही भाव मधुसूदनसरस्वती ने अद्वैतसिद्धि के द्वितीय परिच्छेद अविद्याप्रतिपादकश्रुत्युपपत्ति वाद० ३४ में भरदिया है, देखो उक्त "नीहारेणप्रावृत्ताः" यह सारा मन्त्र वेद में इस प्रकार है :—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेणप्रावृत्ता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
ऋ० ८ । ३ । १७ । ७

अर्थ—नीहार=धुन्ध के समान अविद्यारूपी दोषों से आच्छन्न नयनों वाली प्रजा उस जगज्जन्मादि कारण ब्रह्म को नहीं जानती, वह प्रजा कैसी है जल्प्या=नानाप्रकार के प्रलाप करतीहै,कोई कहता है कि मैं ब्रह्म हूं,कोई कहता है कि ईश्वर ही नहीं यह सब सृष्टि स्वभाव सिद्ध है, इत्यादि अनेक प्रलाप करने वाले लोगों को प्रलापी कह कर फिर यह कहा है कि असुतृपः= पेट भरकर सो रहने वाले मनुष्य जन्म के फल से सर्वथा वञ्चित हैं, एवं उस महा प्रभु परमात्मा के महत्व विषयक यह मन्त्र था जिसकी एक प्रतीक को लेकर मायावादियों ने ऐसी माया फैलाई है कि उस सर्वज्ञाता को अज्ञानी ही बना दिया है, इससे पूर्व का मन्त्र यह है जिसमें परमात्मा का प्रभाव इस प्रकार वर्णन किया गया है कि :—

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त
विश्वे । अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्
विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥ ऋ० ८ । ३ । १७ । ६

अर्थ—उस परमात्मा ने प्रथम इस सूक्ष्म सृष्टि को धारण किया जिसमें सम्पूर्ण सूर्य्य चन्द्रमादि देव बीजरूप से सङ्गत थे अर्थात् उस सर्वाधार परमात्मा में एक प्रकृतिरूप बीज था जिसमें कार्य्य रूप से सम्पूर्ण भुवन स्थिर थे, यह उस परमात्मा का महत्व है जिस के आगे अज्ञानी जीवों का तुच्छत्व निरूपण किया गया है, यहां ब्रह्म के अज्ञानी होने की क्या कथा, यह वह भाव है जिसमें

आकर जीव उसकी अनन्तता का अनुसन्धान करके ब्रह्माम्बुधि में निमग्न होता है, या यों कहो कि स्व अज्ञानाग्नि से सन्तप्त जीव इसी असीमाम्बुधि रूप ज्ञानसागर में गोता लगाकर शीतल होता है, इसी प्रकार " अनृतेन प्रत्यूढाः " यह वचन भी जीव को अज्ञानी बोधन करता है, वहां यह प्रकरणहै कि :—

"हिरण्यनिधिंनिहतंक्षेत्रज्ञा उपरि उपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः"

छा० ८। ३। २

अर्थ–जिसप्रकार क्षेत्र में गढ़े हुए धन को अज्ञानी लोग न जानते हुए ऊपर २ फिरते हैं इसीप्रकार परमात्मा को न जानती हुई प्रजा ऊपर २ फिरती है अर्थात् समाधि, सुषुप्ति, मूर्च्छादिकों में औपाधिक चित्तवृत्तिनिरोध से उस परमात्मा के सामान्य आनन्द को जानती हुई भी अज्ञानवश ब्रह्मानन्द से वञ्चित है, इसमें स्पष्टतया जीव के अज्ञान का वर्णन है, और " तम आसीत्तमसागूढ़मग्रे " ऋ० ८। ७। १७। ६ इस मन्त्र का आशय यह है कि प्रलयकाल में तमोगुण का आधिक्य होने से यह कार्य्य जगत् मानो तम से आच्छादित था, इससे ब्रह्म अज्ञानी कैसे सिद्ध हुआ, प्रत्युत आगे के मं० ७ में यह भाव स्पष्ट कर दिया है कि एकमात्र परमात्मा ही अपनी सृष्टि को सम्पूर्ण रूप से जानता है अज्ञानी जीव उसके महत्व को ठीक २ नहीं जानसक्ता।

" मायान्तुप्रकृतिंविद्यात् " इस वाक्य में माया प्रकृति का नाम है इसमें ईश्वर की अज्ञानता कैसे ? और

" अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां " यह वाक्य प्रकृति को वर्णन करता है, यह हमने समन्वयाध्याय में स्पष्ट रीति से वर्णन किया है " अविद्यायामन्तरेवर्त्तमाना " यह जीव के अज्ञान को वर्णन करता है, यह वाक्य मुण्डक में उस प्रकरण में आया है जिसमें अज्ञान से एक दूसरे के पीछे चलने का निषेध किया गया है कि अन्धपरम्परा से चलना अज्ञानी जीवों का काम है, एवं " भूयश्चान्तेविश्व मायानिवृत्तिः " यह भी जीव के अज्ञान की निवृत्ति ब्रह्मज्ञान से कथन करता है, इत्यादि अनेक वाक्याभासों से मायावादियों ने ब्रह्म को अज्ञानी बनाने का कोटि २ यत्न किया है और इससे यह फल समझा है कि अज्ञान से ब्रह्म भूलकर जीव बने तभी उसको " तत्त्वमसि " का उपदेश करके ब्रह्म बनावें, यदि ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्तस्वभाव रहा और जीव अज्ञानी उससे भिन्न हुआ तो " तत्त्वमसि " किस काम आयेगा, " तत्त्वमसि " " अहंब्रह्मास्मि " इन वाक्यों को हमने भाष्य में सङ्गत किया है, यहां प्रसङ्ग सङ्गति से इतना और दिखला देते हैं कि " प्रज्ञानंब्रह्म " ऐ० ५ । ३ " अयमात्माब्रह्म " बृह० २ । ५ । १९ इन वाक्यों का भी ऐसे ही अर्थ बिगाड़ा है, " प्रज्ञानंब्रह्म " यह ईश्वर प्रकरण का वाक्य है इसमें प्रज्ञान को ब्रह्म कथन किया गया है अर्थात् जिससे सब कुछ जाना जाता है वह ब्रह्म है और इससे आगे के श्लोक में यह कथन किया है कि जो इस प्रज्ञान रूप परमात्मा के ज्ञान द्वारा इस लोक से उत्क्रमण करता है वह सब कामनाओं को प्राप्त होता है, इससे सिद्ध है कि जिसको यहां " प्रज्ञानंब्रह्म " कथन किया गया है वह जीव से भिन्न है, दूसरा

"अयमात्माब्रह्म" यह भी ब्रह्म प्रकरण का वाक्य है, सारा इस प्रकार है कि :—

" तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्माब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्" बृह० २।५।१९

अर्थ—यह वह ब्रह्म है जिसका कोई कारण नहीं, नाहीं उसका मिट्टी के घट समान कोई कार्य्य और न उससे कोई बाहर है अर्थात् वह सर्वगत है, सर्व का ज्ञाता है, इस वाक्य में जीव का कोई प्रकरण नहीं, फिर इन वाक्यों से जीव ब्रह्म कैसे बनसक्ता है।

मायावादी सब लेखकों का यह आशय रहा है कि अर्थाभास बनाकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लियाजाय कौन देखता है कि पूर्वोत्तर क्या है, इसीप्रकार इन्होंने तर्काभास से यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म के आश्रित अज्ञान रहता है और वह उसको जीव बना देता है जैसाकि " आच्छाद्यविक्षिपतिसंस्फुरदात्मरूपं " सं० शा० १।२० इस वाक्य में संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञमुनि ने शुद्ध ब्रह्म को अज्ञान से ढकाजाना माना है, हम इनके तर्क का प्रभाव दिखलाने से प्रथम यह दिखलाते हैं कि ब्रह्म के जीवबनने रूप भाव को इन्होंने किस निर्भयता के साथ वर्णन किया है :—

दीनता को त्याग नर आपनो स्वरूप देख ततो शुद्ध ब्रह्म अज दृश्य को प्रकाशी है । आपने अज्ञान से जगत् सब तूही रचे सबको संहार करे आप अविनाशी है। मिथ्या परपंच देख दुख जिन आन जिय देवन को देव तूंतो सब सुखरासी है ।जीव जग ईश होय माया

से प्रभासे तूही जैसे रज्जू सांप सीपरूप ह्वै प्रभासी है ॥
वि० सा० ६।१२

इस कवित्त में इस भाव को स्पष्ट किया है कि रज्जू सर्प के समान यह सब मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सर्वाकार होरहा है, इतर व्यपदेशाधिकरण ब्र० सू० २।१.-२१.-२२ में इस भाव को स्पष्ट रीति से निषेध किया गया है कि ब्रह्म अपने आप दुःख में नहीं पड़ सक्ता, फिर भी शङ्करमत के श्रद्धालु इस ब्रह्म विकारवाद को अनेक प्रकार के वर्णन करते हैं, जैसाकि :—

ज्यों कोई कूप में झाक अलापत ऐसे ही भ्रान्ति सो कूप अलापे । ज्यों जल हालत है लग पौन सुलोग कहें प्रतिविम्ब ही कांपे । देह के प्राण के औ मन के कृत मानत है सब मोहि कों व्यापे । सुन्दर पेच परयो अतिशयकर भूल गयो भ्रमते ब्रह्म आपे ॥ सु० बि०

एवंविधि अनेक शङ्करसम्प्रदायी लोगों के ग्रन्थ भाषा और संस्कृत में प्रचलित हैं जो अहर्निश यही उपदेश करते हैं कि ब्रह्म ही भूलकर जीव बना हुआ है और तू ब्रह्म है, इस उपदेश से ज्यों का त्यों ब्रह्म होजायगा ।

हम इसका उत्तर यही देते हैं कि ब्रह्म बनना तो जो है सो है पर "असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेतिवेदचेत्" तै० ६।१ इस वाक्यानुकूल ब्रह्मविकार मानने वाले स्वयं विकृत होजाते हैं, अस्तु, प्रकृत यह है कि हम इन भाषा छन्दों का एक भाषाछन्द में ही उत्तर देते हैं जो मायावादियों ने पूर्वपक्ष रूप से लिखा है :—

सुन आर्य्य जो तम होय बड़ो रवि को नाहि

छाद सके पुन सोई । तिम आत्म नित्य प्रकाश महां जिनके सम दूसर और न कोई ॥ सुख सागर नीत उजागर है फिर भूल कहो किहिं भांति सु होई । अब दूर करो करुणा करके यह शङ्क बड़ी उर अन्तर मोही ॥

यह प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के उस स्थल का छन्द है जहां ब्रह्माश्रित अज्ञान मानकर सब विश्ववर्ग की उत्पत्ति उससे मानीगई है, यहां यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि स्वतःप्रकाश ब्रह्म में अज्ञान कैसे ? क्योंकि वह तो सबका प्रकाशक है ? इसका उत्तर उस स्थल में इससे भिन्न और कुछ नहीं कि उपाधि के बल से वह अज्ञानी बना और वह उपाधि मायावाद में कल्पित है अस्तु, इस मायावाद के नवीन वेदान्त की कल्पना में पड़कर यदि सहस्रों वर्ष भी यत्न कियाजाय तब भी इसका पार कोई नहीं पासकता, इसलिये हम इनके मुख्य तार्किकों की कुछ तर्कों के तर्काभास दिखलाकर प्राचीन वेदान्त की ओर दृष्टि दिलाते हैं, जीव ब्रह्म को एक सिद्ध करने के लिये अद्वैतकौस्तुभ में यह तर्क दिया है कि (१) "जीवः परस्मान्नभिद्यते" (२) "सच्चिदानन्दलक्षणत्वात्" (३) "यःसच्चिदानन्दलक्षणः स परस्मान्नभिद्यते यथा परमात्मा"=जीव परमात्मा से भिन्न नहीं, सच्चिदानन्द लक्षण वाला होने से, जैसाकि परमात्मा सच्चिदानन्द लक्षण वाला है, इसलिये अपने से भिन्न नहीं, एवं जीव भी परमात्मा ही है ।

इस अनुमान में हेत्वसिद्धि है अर्थात् हम जीव को आनन्दस्वरूप नहीं मानते फिर आनन्दस्वरूप हेतु से जीव ब्रह्म कैसे ? और आधुनिक वेदान्त के सर्वोपरि पण्डित निश्चलदासजी ने जीव

ब्रह्म के ऐक्य का साधक यह अनुमान लिखा है कि (१) "जीवो ब्रह्माऽभिन्नः" (२) "चेतनत्वात्" (३) "ब्रह्मवत्"= जीव ब्रह्म है क्योंकि चेतन है, जो चेतन होता है वह ब्रह्म से भिन्न नहीं होता, जैसाकि ब्रह्म चेतन है और ब्रह्म से भिन्न नहीं।

इस अनुमान में हम चेतनत्व की विवेचना पूछते हैं कि चेतनत्व क्या? क्या विषयप्रकाशकत्व का नाम चेतनत्व है वा विषय का प्रकाशक न होने पर भी चेतनत्व धर्म रहता है? यदि पूर्व विकल्प मानें तो ऐसा चेतनत्व मायावादियों को ब्रह्म में स्वीकार नहीं, क्योंकि किसी वस्तु का प्रकाश करना उसमें उपाधि से आता है स्वतः नहीं और इसीलिये वह शुद्ध ब्रह्म को सर्वज्ञ नहीं मानते, सर्वज्ञादिधर्म उनके मत में ईश्वर में हैं, फिर चेतन हेतु से जीव को ब्रह्म सिद्ध करना कैसे? और दूसरा पक्ष जिसमें बिना विषय प्रकाश के चेतनत्वधर्म है वह अनुभव विरुद्ध है तथा यहां दुःखप्रागभावानधिकरणत्व उपाधि भी है अर्थात् दुःखप्रागभावानधिकरणत्व ब्रह्म में है जीव में नहीं, एवं चेतनत्व हेतु जीव में है पर उसमें दुःखप्रागभावानधिकरणत्व नहीं, इस प्रकार साधन की अव्यापक उपाधि है, और अद्वैतसिद्धि में प्रपञ्च के मिथ्यात्व में यह अनुमान है कि (१) "प्रपञ्चोमिथ्या" (२) "दृश्यत्वात्" (३) "शुक्तिरजतवत्"=यह संसार मिथ्या है अर्थात् भ्रमरूप है दृश्य होने से, जैसे सीप में चांदी भ्रम है, इससे सिद्ध है कि जो दर्शन का विषय होता है वह सब भ्रम होता है, प्रथम तो यह हेतु ही व्यभिचारी है क्योंकि "दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्यासूक्ष्मयासूक्ष्मदर्शिभिः" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म में दृश्यत्व=ज्ञानविषयत्व है पर मिथ्यात्व नहीं और यह बात भी विवेचनार्ह है कि दृश्यत्व क्या? दृत्तिव्या-

प्तिरूप है वा फलव्याप्तिरूप? यदि दृश्यत्व से तात्पर्य्य फलव्याप्ति का है अर्थात् जहां २ फलव्याप्यत्व है वहां २ ही मिथ्यात्व है तो इस अवस्था में परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थों में मिथ्यात्व नहीं आयेगा, क्योंकि उनमें वृत्तिव्याप्ति के होने पर भी फलव्याप्ति नहीं, और दूसरा पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि ब्रह्म में वृत्तिव्याप्ति तो है पर मिथ्यात्व नहीं, इसलिये हेतु व्यभिचारी हुआ और यदि ज्ञान विषयत्व हेतु ही मिथ्यात्व का साधक है तो निम्नलिखित अनुमान ठीक क्यों नहीं? :—

(१) "ब्रह्ममिथ्या" (२) "अविद्यावदुत्पन्नज्ञानविषयत्वात्" (३) "प्रपञ्चवत्" (१) "ब्रह्ममिथ्या" (२) "ज्ञानविषयत्वात्" (३) "प्रपञ्चवत्" (१) "ब्रह्ममिथ्या" (२) "असत्य हेतुजन्मज्ञानविषयत्वात्" (३) "प्रपञ्चवत्"

अर्थ—(१) मायावादियों का ब्रह्म मिथ्या है, (२) अविद्यावाला जो जीव उसके ज्ञान का विषय होने से (३) प्रपञ्च के समान, इस बात को स्वामी शं० चा० जी ने प्रथम सूत्र की भूमिका में स्वीकार भी किया है कि जो अविद्यावाले के ज्ञान का विषय होता है वह सब मिथ्या होता है (१) ब्रह्म मिथ्या है (२) ज्ञान का विषय होने से (३) प्रपञ्च के समान (१) ब्रह्म मिथ्या है (२) असत्य हेतु से है जन्म जिसका, ऐसे ज्ञान का विषय होने से अर्थात् असत्य से जो ज्ञान होता है उसका फल भी मिथ्या ही होता है, और मायावादी लोग सब ज्ञानों को असत् से ही मानते हैं वेद शास्त्र आदि सब उनके मत में भ्रममात्र हैं, एवंविध तर्काभास और अर्थाभास के देखे जाने से ज्ञात होता है कि इन्होंने उपक्रमादि

षट्लिङ्ग अज्ञानी जनों के मनों को मोहनार्थ ही माने हैं अन्यथा क्या कारण कि उपक्रमादि षट्लिङ्गों को मानकर भी यह अपने मत को तदनुकूल सिद्ध नहीं करते, वह लिङ्ग यह हैं (१) "उपक्रमोपसंहार" (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद (६) उपपत्ति"=जहां प्रारम्भ और अन्त एक अर्थ में सङ्गत हों उसको "उपक्रमोपसंहार" कहते हैं, जैसाकि छान्दोग्य में उपासना से उठाकर "यावदायुषमेवंवर्त्तयन्" यहां तक कर्म में ही उपसंहार किया है (२) बार २ एक अर्थ की दृढ़ता करने का नाम "अभ्यास" है, जैसाकि उद्दालक ने श्वेतकेतु को जीवात्मा का तत्व नोवार दृढ़ता से बतलाया है (३) "अपूर्वता" उस अर्थ में होती है जो प्रथम प्राप्त न हों, जैसाकि ब्रह्म के अपहतपाप्मादि धर्म जीव को प्रथम प्राप्त नहीं मुक्ति के साधनों से ही प्राप्त होते हैं, (४) तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति "फल" है (५) मुक्त पुरुष का जो सब लोकलोकान्तरों में स्वेच्छा से विचरना छान्दोग्य में कथन किया गया है वह "अर्थवाद" है अर्थात् सर्व में पूर्ण होना ईश्वर का ही सामर्थ्य है मुक्त पुरुष का नहीं (६) "उपपत्ति" नाम युक्ति का है, जैसाकि छान्दोग्य में एक पुरुष की आंखें बांधकर जङ्गल में छोड़ देने का दृष्टान्त देकर यह युक्ति बतलाई है कि जैसे वह पूछता पूछता स्वदेश को प्राप्त होजाता है एवं आचार्य्यवान् पुरुष ही परमार्थ को लाभ करसक्ता है अन्य नहीं, उक्त षट्लिङ्ग नाममात्र से भी मायावाद में सङ्गत नहीं होसक्ते।

और जो मायावादी यह कहते हैं कि "सदेवसोम्येदमग्र

आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्" छां० ६।२।१ यह उपक्रम है और "एतदात्म्यमिदंसर्वं" छा०८।२।७ यह उपसंहार है अर्थात् एक का प्रारम्भ करके एक में समाप्ति कीगई है, इसलिये उपक्रम उपसंहार अद्वैतवाद में घट सकते है ? उत्तर—प्रथम तो इस उपक्रमोपसंहार में यह बात सत्य नहीं कि एक ब्रह्म का उपक्रम और उसी का उपसंहार है, क्योंकि इस छवें प्रपाठक में सत्य का प्रकरण चलाकर सत्य ही में उपसंहार देखा जाता है, और दूसरी बात यह है कि अद्वितीय से तात्पर्य्य यहां मायावादियों के अद्वैत का नहीं, क्योंकि वह अद्वैत के यह अर्थ करते हैं कि जिसका कोई सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद नहीं अर्थात् उससे भिन्न कोई वस्त्वन्तर न हो वह अद्वैत है, यह तात्पर्य्य यदि यहां एकमेवाद्वितीयम् का होता तो इससे प्रथम यह न कहा जाता कि "असतः सदजायत" छा० ६।२।१= असत् से सत् उत्पन्न हुआ, यहां असत् से तात्पर्य्य सूक्ष्म प्रकृति का है और यदि एकमेवाद्वितीयम् का अर्थ भेदत्रयशून्य है तो मायावादियों के विचारे (१) ईश्वर (२) जीव (३) अविद्या (४) अविद्या चेतन का परस्पर सम्बन्ध (५) ब्रह्म अनादि को मिलाकर पांचो का परस्पर भेद, यह पांचो अनादि कट जावेंगे और जो मायावादी यह बल दिखाया करते हैं कि एकं, एव, अद्वितीयं, इन तीन पदों से तीनो भेदों के निषेध का तात्पर्य्य है तो "असदेवसोम्येदमग्रआसीत" इस वाक्य में "एव" पद कौन से विजातीय भेद का निषेध करता है ? हमारे वैदिक मत में तो "असदेवेदमग्रआसीदेकमेवाद्वि-

तीयम्" छा० ६।२।१ में जैसे सूक्ष्मरूप प्रकृति उपादान कारण की दृढ़ता के लिये एकं, एव, अद्वितीयं यह तीनों शब्द आये हैं एवं एकार्थ की दृढ़ता के लिये उक्त तीनों शब्द आते हैं इस से सिद्ध हुआ कि उपक्रम उपसंहार से मायावादियों का अद्वैत-वाद सिद्ध नहीं होता (२) "तत्त्वमसि" का अभ्यास अर्थात् नोवार पढ़ा जाना "जीवापेतं किलेदंम्रियते, न जीवोम्रियते" इत्यादि लिङ्गों से जीवात्मा के अविनाशी होने की दृढ़ता सिद्ध करता है नकि मायावाद की (३) अर्थवाद-इनके मत में एक विज्ञान से सर्वविज्ञान है अर्थात् एक के जानने से सर्व का जानलेना, यदि यह भी अर्थवाद ही है तो मायावादियों का सब अर्थ अनर्थ होगया, क्योंकि ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानने में यही तो एक मुख्य तर्क था कि एक के जानने से सब जाना जाता है और एक के जानने से तभी सब जानाजाता है जब उपादानकारण एक हो, जब सर्वज्ञान अर्थवाद है तो प्रतिज्ञा दृष्टान्त से अभिन्ननिमित्तो-पादानकारण की सिद्धि कैसे ? (४) जो उक्त छ लिङ्गों से तात्पर्य्य का निर्णायक अर्थ हो उसका नाम "उपपत्ति" है, सो वह तो इनके मत में मनोरथमात्र ही है जैसाकि हम वेदोपनिषदों के अनेक मन्त्रों से सिद्ध कर आये हैं कि अन्धपरस्परा से मायावादसागर का सेतु माया-वादी वेदोपनिषदों को मान रहे हैं वास्तव में इनमें मायावाद का गन्ध-मात्र भी नहीं "अपूर्वता" और "फल" इनके मत में इसलिये सङ्गत नहीं कि नित्यप्राप्त की प्राप्ति में क्या अपूर्वता, वह तो पूर्व ही प्राप्त थी प्रायः अद्वैतवादी यह आक्षेप किया करते हैं कि भेद तो प्रत्यक्ष सिद्ध है इसमें क्या अपूर्वता ? इसका उत्तर यह है कि हमारे मत में ईश्वर

का साक्षात्कार अपूर्व है वह पूर्व सिद्ध न होने से उक्त दोष नहीं और फल मुक्ति इनके मत में पाषाणकल्प है इसलिये फल भी निष्फल है ॥

अब उक्त षट्लिङ्गों को ब्रह्मसूत्रों से इनके मत में असम्बद्ध होना दिखलाते हैं कि "अथातोब्रह्मजिज्ञासा" ब्र०सू०१।१।१ "अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात्" ब्र० सू० ४।४।२२ इस उपक्रम उपसंहार से इनका मायावाद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि मायावाद के लिये प्रपञ्च को मिथ्या मानना आवश्यक था सो किसी सूत्र में भी प्रपञ्च को मिथ्या नहीं माना, प्रत्युत ब्र० सू० २।२।२३ में प्रपञ्च को स्वप्नादिकों से विलक्षण माना है, यदि यह कहाजाय कि (१) पारमार्थिक (२) व्यावहारिक (३) प्रातिभासिक मायावादियों के मत में इन तीन सत्तावाद का स्वीकार है अर्थात् परमार्थसत्ता ब्रह्म की, व्यावहारिक सत्ता जगत् की और स्वप्नादिकों की प्रातिभासिक सत्ता है, इसलिये स्वप्नादिकों से जगत् को विलक्षण कथन कियागया है, अतएव उक्त सूत्र में स्वप्न से विलक्षणता मानने में कोई दोष नहीं ? इसका उत्तर यह है कि:—

(१) तुम्हारी तीनो सत्ताओं का कथन सूत्रों में नहीं, क्योंकि जब स्वप्न और जाग्रत् के पदार्थों की सत्ता का भेद है तो फिर स्वप्नादि दृष्टान्तों से जगत् मिथ्या कैसे ?

(२) सूत्रों में कहीं भी विवर्त्तवाद का स्वीकार नहीं, हां परिणामवाद को सूत्र कथन करते हैं तथा सूत्रों में कहीं परमाणु वा प्रकृति का खण्डन भी नहीं प्रत्युत प्रकृत्युपादान कारण का "प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" ब्र०सू० १।४।२३ इस सूत्र में मण्डन है।

और जो स्वामी शं० चा० जी ने परमाणुओं में आकाश मानकर उनको सच्छिद्र निरूपण करके अनित्य सिद्ध किया है वह इस प्रकार ठीक नहीं कि जैसे इनके मत में जीव के भीतर परमात्मा होने से जीव सच्छिद्र नहीं होता एवं विभु पदार्थों से परमाणु सच्छिद्र नहीं होते, यदि यह कहाजाय कि परिच्छिन्न पदार्थ ही भीतर और बाहर प्रदेशों वाला होता है और मायावादियों के मत में जीव परिच्छिन्न नहीं ? इसका उत्तर यह है कि अंशाधिकरण में जीव को स्वामी ने परिच्छिन्न माना है, उस उपाधिकृत परिच्छेद वाले जीव में परमात्मा है वा नहीं ? यदि यह माना जाय कि वही परमात्मा है उस देश में उससे भिन्न परमात्मा नहीं तो उस का नित्यमुक्तत्व और सर्वज्ञत्व नाश होता है, और यह बात अनुभव से भी विरुद्ध प्रतीत होती है कि जितने देश में जीवात्मा अविद्यारूप उपाधि से परिच्छिन्न है उतने देश में उससे भिन्न वहां परमात्मा नहीं, और " **य आत्मनितिष्ठन्आत्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्** " इत्यादि वाक्यों में जीव के अन्दर अन्तरात्मा का वर्णन किया गया है, एवं परमाणुओं के खण्डन के लिये जो दोष दिये गये हैं वह मायावादियों के जीववाद में भी तदवस्थ हैं, यह परमतनिदर्शन में दर्शाया गया है, और परमाणुओं का खण्डन मायावाद के तर्कों से इसलिये भी नहीं होता कि परमाणुवादियों का तात्पर्य्य प्रकृति के परिणामि नित्यत्व वर्णन में है अर्थात् प्रकृति को कितना ही सूक्ष्म क्यों न करें फिर भी वह नाश नहीं होती यही तात्पर्य्य तीन गुणों की साम्यावस्था का है कि गुणरूप से वह बनी रहती है नाश नहीं होती और सांख्य,योग,न्याय, वैशेषिकादि

सब शास्त्रकार इस बात को मानते हैं कि जड़ द्रव्य जगत् का उपादान कारण है यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है फिर वेदान्तदर्शन इसके विरुद्ध कैसे होसक्ता है।

और जो "जनिकर्त्तुः प्रकृतिः" अष्टा० १।४।३० इस सूत्र से स्वामी ने उपादानकारण में पञ्चमी मानी है यह ठीक नहीं "पुत्रात्प्रमोदोजायते" "आदित्याज्जायते वृष्टिः" इत्यादि स्थलों में बिना उपादान के भी पञ्चमी देखी जाती है, यदि जनिधातु के प्रयोग में उपादान में ही पञ्चमी होती तो उक्त उदाहरणों में पञ्चमी कैसे ? और महाभाष्य के "गोलोमाजलोमाविलोमभ्योदूर्वाजायन्तेअपक्रामन्ति-तास्तेभ्यः" इत्यादि वाक्यों में दूर्वा का उनसे पृथक् होना ही माना है गोलोमादि उसके उपादान नहीं, इसप्रकार "जनि-कर्त्तुःप्रकृतिः" का खण्डन करके "ध्रुवमपायेऽपादानम्" अष्टा० १।४।२४ इस सूत्र से "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" तै० ३।१ इत्यादि वाक्यों में निमित्तकारण में पंचमी मानी है, इसलिये स्वामी का उपादान कारण में पंचमी मानना ठीक नहीं, उपादान का लक्षण यह है कि जो अपने आप में कार्य्य के उत्पन्न करने का हेतु हो उसको "उपादान" कारण कहते हैं, सो इसप्रकार का उपादान कारण मायावाद में माया ही इष्ट है ब्रह्म नहीं, इस भाव को हम पूर्व स्पष्ट कर आये हैं कि इस प्रकार का उपादानकारण प्रकृति ही ठहरती है, उक्त रीति से दर्शन तथा व्याकरण से विरुद्ध ब्रह्म को उपादानकारण मानने

से मायावादियों का मत असङ्गत है और ब्र० सू० २।१।२४ में परिणामवाद स्पष्ट है ॥

३-सूत्रों में कहीं भी ब्रह्म का भूलकर जीव बनना कथन नहीं किया गया प्रत्युत ब्र० सू० १।२।३-४ इत्यादिकों में जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट वर्णन किया गया है ॥

४-मायावादियों के हिरण्यगर्भादि अनेक ईश्वरवाद का गन्ध भी सूत्रों में नहीं ॥

५-माया, अविद्या और अज्ञान जो इनके ब्रह्म के प्रबल शत्रु हैं उनका नाममात्र भी सूत्रों में नहीं और जो अन्यथा ज्ञान के अभिप्राय से माया शब्द ब्र० सू० ३।२।३ में आया है वह भी जीव विषयक है ब्रह्मविषयक नहीं ॥

६-इनकी पाषाणकल्प कैवल्यमुक्ति का नाम तक सूत्रों में नहीं, अधिक क्या ब्रह्मसूत्र सर्वथा शङ्करमत से विरुद्ध हैं, इस भाव को हस्तामलकवत् दर्शाने के लिये आगे स्वामी शङ्कराचार्य्य और रामानुज के भाष्यों सहित कई एक अधिकरण लिखकर यह स्पष्ट करदिया है कि ब्रह्मसूत्र मायावाद को सिद्ध नहीं करते ॥

एवं इनके उपक्रमोपसंहारादि षट्लिङ्गों की सङ्गति सूत्रों में नहीं प्रत्युत सूत्र वैदिकसिद्धान्तों के भाण्डार, मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय का आगार और औपनिषद विद्या का सार हैं।

इस भाव को साक्षात्कार करने के लिये हमने प्रायः ब्रह्मसूत्रों के सब भाष्यों को पढ़ा जिनसे यह अवगत हुआ कि सूत्रकार ने इन ब्रह्मसूत्रों में मणिरूपी वैदिक वाक्यों को ग्रन्थन किया है, इसलिये वैदिकसिद्धान्तों को लक्ष्य रखकर हमने यह " वेदान्ता-

र्य्यभाष्य" लिखा है अर्थात् इसमें एकमात्र वैदिकभावों का आश्रय लिया है अन्य किसी भाष्य का नहीं ।

यद्यपि "मध्वभाष्य" द्वैतवाद का मण्डन करता है इस अंश में वैदिक द्वैतवाद ब्रह्मसूत्रों में व्याख्यान कियागया है तथापि हमने उसका अवलम्बन इसलिये नहीं किया कि उसमें कुछ विशेष व्याख्या नहीं "अधिकन्तुभेदनिर्देशात्" ब्र०सू०२। १।२२ इत्यादि वेदान्त के मर्मस्थलों पर भी वह कुछ नहीं लिखता, आरम्भणाधिकरण में भी उसमें कुछ विशेषता नहीं, केवल इतना ही लिखा है कि जीव ब्रह्म नहीं होसकता, सच तो यह है कि केवल द्वैतवाद की विलक्षणता से उक्त भाष्य वेदान्तसूत्रों पर प्रसिद्ध है वरन् उसमें कोई अपूर्वता नहीं जिससे उसको भाष्य कहाजाय, केवल पुराणों के श्लोक इकट्ठे करके एक सङ्ग्रह करदिया है जो आकार में भी स्वामी शं०चा० और रामानुज की चतुस्सूत्री की व्याख्या से कम है, इसका कोई महत्व देखना चाहे तो ब्र० सू०२। ३।७ की व्याख्या में देखे जिसके मायावादियों के मत में यह अर्थ हैं कि जो भेदवाला होता है वह विकारी अर्थात् मिथ्या होता है, इस सूत्र के भाष्य में पुराणों के इधर उधर के दो चार वाक्य लिखकर वैदिक द्वैतवाद को ऐसा शिथिल किया है कि भाष्यकर्त्ता से कुछ नहीं बनपड़ा, ऐसे आश्रय से हम क्या लाभ उठाते।

एवं "अणुभाष्य" में भी कोई विशेषता नहीं, केवल जीवात्मा के अणुवाद पर सत्तर्क व्याख्या की है सो श्रीभाष्य की अपेक्षा से तुच्छ है, सार यह है कि वैष्णवों की चारो सम्प्रदायों के भाष्यों में रामानुजाचार्य्य का श्रीभाष्य ही मुख्य है सो हमने

श्रीभाष्यकाचार्य्य के जो २ सिद्धान्त वैदिक हैं वह कई एक स्थलों में स्पष्टरीति से दिखलाये हैं ।

"विज्ञानभिक्षु" के भाष्य में इतनी विचित्रता है कि उन्होंने वैदिक द्वैतवाद को बड़े बलपूर्वक मण्डन किया है अर्थात् "अश्मादिवच्चतदनुपपत्तिः" ब्र० सू० २।१।२३ में उन्होंने यह सिद्ध किया है कि जिसप्रकार पत्थरादिक ब्रह्म नहीं बनसक्ते इसीप्रकार जीव भी ब्रह्म नहीं बनसक्ता, जैसे पत्थरादिकों के सत्तादि गुण ब्रह्म के समान भी हैं पर जड़त्वादि गुण ब्रह्म से भिन्न हैं, इसलिये पाषाण ब्रह्म नहीं होसक्ता, एवं जीव के सत् चित् गुण ब्रह्म के समान होने पर भी अल्पज्ञत्वादि गुण जीव को ब्रह्म से भिन्न करते हैं इसलिये जीव ब्रह्म नहीं ।

यहां स्वामी "विज्ञानभिक्षु" की यह बात अत्यन्त सराहनीय है कि उन्होंने संन्यासी होकर भी वैदिक द्वैतवाद को नहीं छिपाया और अपने से पूर्व प्रवृत्त स्वामी शं० चा० के मायावाद को मन्तव्य नहीं समझा, पर इनके व्याख्यान का आश्रयण हमने इसलिये नहीं किया कि यह भी सब अधिकरणों में जीव ब्रह्म का भेद और प्रकृति को उपादान कारण, इत्यादि वैदिक भावों को ठीक२ मण्डन नहीं करसके, प्रकृत्यधिकरण में इन्होंने भी प्रकृति को ब्रह्म की उपाधिरूप ही माना है तथा सांख्य का भी वैसा ही खण्डन किया है जैसा स्वा० शं० चा० ने किया है और दोष इस भाष्य में यह है कि जैसी युक्ति का भाण्डार ब्रह्मसूत्र हैं उन पर उस युक्ति के साथ भाष्य नहीं किया, यह वह ब्रह्मसूत्र हैं जिनकी अद्भुत युक्ति का वर्णन "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैवहेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" गी० १३।४ में किया है कि

वह ब्रह्मसूत्र कैसे हैं युक्तियों वाले तथा निश्चित अर्थ वाले हैं, और यह बात तो ब्रह्मसूत्रों के पढ़ने से ही प्रतीत होती है कि वह वेदानुकूल तर्क और ब्रह्मविद्या के आकर हैं फिर इन पर युक्तिहीन भाष्य क्या, इसलिये हमने मुख्य भाष्यकार स्वा० शङ्कराचार्य्य और स्वा० रामानुज जिनकी फ़िलासफ़ी न केवल लेख में है प्रत्युत लाखों मनुष्यों के हृदय में है उनके लेखों को आगे उद्धृत करके इस " वेदान्तार्य्यभाष्य " को युक्तियुक्त किया है।

और जो हम पर यह शङ्का होगी कि जब किसी प्राचीन भाष्य का अवलम्बन इस भाष्य में नहीं कियागया तो इसके प्रामाणिक होने में क्या प्रमाण ? इसका उत्तर यह है कि १-ब्रह्मसूत्रों में वेद तथा वैदिकवाक्यों का ग्रन्थन कियागया है और जो भाष्य इन वाक्यों से विरुद्ध नहीं वह प्रामाणिक है, इस विषय के प्रामाण्याप्रामाण्य की यही परीक्षा है, २-ब्रह्मसूत्र अन्य दर्शनों से विरुद्ध नहीं, इसलिये जो भाष्य अन्य दर्शनों से सङ्गति रखता है वह प्रामाणिक है, जैसाकि जीव और ब्रह्म के एकत्व ज्ञान में किसी दर्शनकार ने मुक्ति नहीं मानी, न किसी ने " बाधसमानाधिकरण "=सब कुछ मिटाकर एक ब्रह्म ही ब्रह्म है, इस भाव को माना और नाही किसी ने जीव घटाकाश के समान महाकाशरूपी ब्रह्म से अभिन्न है यह "मुख्यसमानाधिकरण" माना है, ३-ईश्वर किसी उपाधि के वश में आकर सृष्टि को रचता है यह किसी दर्शनकार का मत नहीं, ४-जगत् को मिथ्या किसी दर्शनकार ने नहीं माना, ५-न किसी ने धर्म्माधर्म्म को मिथ्या माना, ६-जड़ उपादानकारण से विना सृष्टि की उत्पत्ति किसी दर्शनकार ने कथन नहीं की, इत्यादि

अनेक विरोधों से शङ्करभाष्य अप्रामाणिक और "वेदान्तार्य्यभाष्य" प्रामाणिक है, उक्त विरोधों के पते यह हैं, वैशे० ३।२।१९–२०–२१ सूत्रों में जीवात्माओं को परस्पर भिन्न माना है, न्याय० ४।२।१९ में ईश्वर को विना किसी उपाधि के कारण माना है, इसी के सू० १० में जीव को विना उपाधि के नित्य मानकर परलोक यात्रा सिद्ध की है, सां० १ । १५७ में एक जीववाद का खण्डन कियागया है तथा सां० ६ । ५२ में जगत् को सत् वर्णन कियागया है और यह सत् परिणामी नित्यता के अभिप्राय से है अर्थात् उसका उपादानकारण प्रकृति परिणामी नित्य है, इसी प्रकार योग में जीव ईश्वर का भेद और प्रकृति को उपादान कारण स्पष्ट रीति से वर्णन कियागया है और मीमांसा में धर्माधर्म को सत्य वर्णन किया है, अधिक क्या किसी दर्शन-कार ने भी मायावादियों के समान जगत्, जीव, ईश्वर और प्रकृति को मनोरथमात्र नहीं माना किन्तु सब ने तात्विक माना है, और यही भाव ब्रह्मसूत्रों में स्पष्ट है कि जीव, ईश्वर और प्रकृति यह तीनों अनादि अनन्त हैं, या यों कहो कि चार वेदों में जीव, ईश्वर और जड़, चेतन का प्रसिद्ध जो भेद उसे जिज्ञासुओं के सम्यक प्रकार बोधन के लिये वेदान्त तथा उपनिषदों में महर्षियों ने व्याख्यान रीति से विस्तार किया।

जीव, ईश्वर और प्रकृति के स्वाभाविक गुणों से प्रगट भेद अर्थात् एक कारण से ही सब पदार्थ उत्पन्न होते और एक में ही लय होजाते हैं, उपनिषदों में इस प्रकार समानाधिकरण के होने और ब्रह्म के स्वरूपलक्षण करने वाले वाक्यों में वर्णित जीव और ईश्वर दोनों में पाये जाने से यह विषय केवल अल्पबुद्धि वालों के ही विवादरूपी मार्ग को नहीं किन्तु प्रौढ़बुद्धि वालों के

भी विवादरूपी मार्ग को प्राप्त हुआ।

एवं नाना प्रकार की विमति से ब्रह्ममीमांसा शास्त्र में जनों को विवादग्रस्त देखकर महर्षि व्यास ने चार अध्यायों वाली ब्रह्म-मीमांसा निर्माण की।

ब्रह्ममीमांसा सूत्रों में बनाई गई अतएव उसमें भी द्वैताद्वैत के विवाद की जगह रहजाने से इसके व्याख्यान की आवश्यकता देखकर महर्षि बोधायन ने इस पर "वृत्ति" नाम वाली व्याख्या बनाई।

वह "वृत्ति" प्रचार की न्यूनता अथवा दूसरे पक्ष वालों के द्वेष से चिर हुआ नाश को प्राप्त होगई, यह बात निम्नलिखित श्रीभाष्य की प्रतीक से अनुमान कीजाती है "भगवद्बोधायन की विस्तीर्ण वृत्ति का जो पूर्वाचार्य्यों ने संक्षेप किया उनके मतानुसार सूत्राक्षरों का व्याख्यान कियाजाता है" इससे पाया गया कि रामानुज को भी वृत्ति नहीं मिली, यह बात परीक्षकों से छिपी नहीं कि वृत्ति को छोड़कर ब्रह्मसूत्रों का और कोई व्याख्यान ऋषि प्रणीत नहीं, इसलिये यह अवश्य विचारणीय है कि वृत्ति द्वैत को बतलाती थी वा विशिष्टाद्वैत को?

जो कई एक यह कहते हैं कि वृत्ति विशिष्टाद्वैत पर थी यह बात बिना विचार के सार मालूम होती है, कारण यह कि विशिष्टाद्वैत के मण्डन करने वाली बोधायन की कोई प्रतीक नहीं मिलती, यह नियम नहीं कि जो शङ्करमत से विपरीत हो वह विशिष्टाद्वैत ही हो, क्योंकि शङ्करमत के विपरीत द्वैतवाद है और वह विशिष्टाद्वैत नहीं और जैसा द्वैतवाद शङ्करमत से विपरीत है वैसा विशिष्टाद्वैत

नहीं, प्रत्युत विशिष्टाद्वैत जड़ चेतन सब ब्रह्म का शरीर होने से और पदार्थमात्र की एक कारण से उत्पत्ति द्वारा अद्वैतवाद का सहायक है, प्रलयकाल में जीव और प्रकृति ब्रह्म का शरीर होकर रहते हैं नाश नहीं होते, ऐसा मानने से यद्यपि विशिष्टाद्वैत द्वैतवाद का तात्पर्य्य रखता है तथापि एकत्व के समर्थन करने से अद्वैतवाद के समान है, विशिष्टाद्वैत का लक्षण यह है कि जीव और प्रकृति की जो ब्रह्म के शरीर रूपता से एकता है उसका नाम "**विशिष्टाद्वैत**" है, और ब्रह्म से अभेदरूपता करके जो जीव प्रकृति का अस्तीत्व उसका नाम "**चिदाचिद्वस्तु शरीरत्व**" है, शतपथ के अन्तर्यामी ब्राह्मण में कथन किया है कि पृथिव्यादि ब्रह्म के शरीर हैं, इस कथन से विशिष्टाद्वैतवादियों ने शरीर का यह लक्षण किया है कि जिस द्रव्य को चेतन जैसे चाहे व्यवहार में लासके वह द्रव्य उस चेतन का शरीर कहलाता है, इस अभिप्राय से ब्रह्म के शरीरत्व की उक्ति है, सदासद् से विलक्षण अद्वैतवादियों की अनिर्वचनीय माया की भांति यह विशिष्टाद्वैत द्वैताद्वैत से विलक्षण है, अस्तु जो हो यह "**आर्य्यभाष्य**" में लिखा जायगा, यहां अपेक्षित यह है कि महर्षि बोधायन को विशिष्टाद्वैत सम्मत न था, कारण यह हैं:—

(१) शङ्करभाष्य में द्वैतरूपता से महर्षि बोधायन मत का खण्डन किया जाना।

(२) श्रीभाष्य के पूर्व कहीं भी विशिष्टाद्वैत का नाम न सुना जाना।

(३) श्रीभाष्याचार्य्य निर्मित "वेदार्थसंग्रह" में महर्षि बोधायनमतानुयायी टङ्क, द्रमिड़, गुहदेवादि के उद्धृत प्रतीकों से भी द्वैतवाद ही स्पष्ट होना।

(४) द्वैतवाद कपिल, गौतम, कणाद, पतञ्जल्यादि सब महर्षियों का मन्तव्य होना ।

उक्त कारणों तथा कपिलादि महर्षियों के ग्रन्थ देखने से इस विषय में किसी को भी शङ्का नहीं रहती कि द्वैत और विशिष्टाद्वैतादि विवाद महर्षि बोधायन प्रणीत ग्रन्थ के लय होजाने से प्रवृत्त हुए, अधिक क्या प्रयोजन यह है कि विनष्टप्रचार भी विशिष्टाद्वैत श्रीभाष्य के आश्रय से जीता है, शङ्करभाष्य से उत्पन्न हुआ अद्वैतवाद शङ्कर के शिष्यों के रचे हुए तर्काकर ग्रन्थों द्वारा विद्वानों से सत्कृत हुआ तथा निष्कर्म की प्रधानता से अकर्तव्यप्रधान मोक्ष मानने वालों में प्रतिदिन बढ़ता है, शोक का स्थान है कि वैदिक होने से साश्रय और सनाथ भी द्वैतवाद वेदानुकूल तर्क की खानि जो ब्रह्मसूत्र उन के अच्छे व्याख्यानाभाव से निराश्रय हुआ प्रतिदिन क्षय को प्राप्त होता जाता है, इस प्रकार ह्रास को प्राप्त हुआ जो आप्तजनों का द्वैतपक्ष उसके रक्षणार्थ सामयिक कर्त्तव्य यह है कि वेदाविरुद्ध तर्कयुक्त और महर्षि बोधायन प्रदर्शित बुद्धिवैशद्य युक्त समर्थन से अपने प्राणों के समान यह वैदिकपक्ष रक्षण किया जाय, ब्रह्मसूत्रों पर द्वैतभाष्य के विना इस कार्य्य के सिद्ध करने का और दूसरा उपाय नहीं, इसलिये "आर्य्यभाष्य" नाम से अङ्कित आर्य्यभाष्यभूमिका प्रारम्भ वाला "भाष्य" किया जाता है ।

अद्वैत और विशिष्टाद्वैतवादियों की सबलता तथा निर्बलता की परीक्षा के लिये उक्त दोनो मतों के भाष्य साथ २ रखकर अन्त में समीक्षा करने के कारण आर्य्यभाष्यभूमिका का भाष्य के आरम्भ में रहना सम्बन्ध रखता है ।

"ब्रह्मजिज्ञासा" से आरम्भ किये हुए ब्रह्मदर्शन का इस प्रकार

उत्तरोत्तर सम्बन्ध है कि प्रश्नोत्तर की सङ्गति से जन्मादि सूत्र के साथ स्मृति और तर्कपाद द्वारा अविरोधनिरूपण करके अविरोधाध्याय के साथ, ब्रह्म प्राप्त्युपाय से तृतीयाध्याय के साथ, फलनिरूपण करके फलाध्याय के साथ, ऐसे उत्तरोत्तर सङ्गति वाले ब्रह्मदर्शन का इतरव्यपदेशाधिकरण से प्रारम्भ करना इसलिये असङ्गत नहीं कि भूमिका सूत्रार्थों की विप्रतिपत्ति के निवारणार्थ है और इस अर्थाभास के समय में सत्य और असत्यार्थ की मीमांसा करने के विना ब्रह्म की जिज्ञासा सफल नहीं होती,इसलिये जिन अधिकरणों में श्रीभाष्याचार्य्य और शङ्कराचार्य्य का विशेष मतभेद है उन्हीं का यहां निर्णय किया जाता है, और बात यह है कि ब्रह्मदर्शन प्रधानता से जीव ब्रह्म के भेद को वर्णन करता है, यह इतरव्यपदेशाधिकरण से सुसाध्य है, क्योंकि "अधिकन्तुभेदनिर्देशात्" इस आग्रिम सूत्र में शङ्कराचार्य्य का भी जीव ब्रह्म का भेद माने बिना निर्वाह नहीं, इसलिये प्रथम इसी अधिकरण से प्रारम्भ करते हैं ताकि जिज्ञासुओं को द्वैतवाद में सन्देह न रहे ।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः

ब्र० सू० २।१।२१

अन्यथा पुनश्चेतनकारणवाद आक्षिप्यते, चेतनाद्धि जगत्प्रक्रियायामाश्रीयमाणायां हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते, कुत इतरव्यपदेशात्, इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मात्मत्वं व्यपदिशति श्रुतिः "स आत्मा तत्त्वमसि

श्वेतकेतो" इति प्रतिबोधनात्, यद्वा इतरस्य च ब्रह्मणः शारीरात्मत्वं व्यपदिशति "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति सृष्टुरेवाविकृतस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेन शारीरात्मत्वदर्शनात्, "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणि" इति च परा देवता जीवमात्मशब्देन व्यपदिशन्ती न ब्रह्मणो भिन्नः शारीर इति दर्शयति, तस्माद् यद्ब्रह्मणः स्रष्टृत्वं तच्छारीरस्यैवेति, अतश्च स्वतन्त्रःकर्ता सन् हितमेवात्मनः सौमनस्यकरं कुर्य्यात् नाहितं जन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थजालम्, नहि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वानुप्रविशति। न च स्वयमत्यन्तनिर्मलःसन्नत्यन्तमलिनं देहमात्मत्वेनोपेयात् कृतमपिकथञ्चिद् यत् दुःखकरं तदिच्छया जह्यात् सुखकरञ्चोपाददीत स्मरेच्च, मयेदं जगद्विविधं विचित्रं विरचितमिति, सर्वो हि लोकः स्पष्टं कार्यं कृत्वा स्मरति मयेदं कृतमिति, यथा च मायावी स्वयं प्रसारितां मायामिच्छयाऽनायासेनैवोपसंहरति, एवं शारीरोऽपि इमां सृष्टिं उपसंहरेत्, स्वकीयमपि तावत् शरीरं शारीरो न शक्नोत्यनायासेनोपसंहर्तुम्, एवं हितक्रियाद्यदर्शनाद्न्याय्या चेतनात् जगत्प्रक्रियेति मन्यते। शं० भा०

अर्थ—फिर अन्य प्रकार से चेतन कारणवाद पर आक्षेप

कियाजाता है, चेतन से जगत् की रचना मानने में हित का न करना आदि दोष लगते हैं, इतर के कथन किये जाने से "हे श्वेतकेतो! वह आत्मा तू है" इस वाक्य से श्रुति इतर=जीव को ब्रह्म रूपता से कथन करती है अथवा "वह बनाकर आप ही प्रविष्ट होगया" इस वाक्य में जगत्स्रष्टा ब्रह्म के ही कार्य्य में प्रवेश होने से श्रुति ब्रह्म को जीवरूप कथन करती है, "इस जीव रूप आत्मा से प्रवेश करके नामरूप को करूं" इस प्रकार श्रुति परा देवता का जीवात्मा शब्द से कथन करती है कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं, इसलिये जो ब्रह्म का जगत्कर्तृत्व है वह जीव का ही है; अतएव स्वतन्त्र हुआ चेतन अपना हित ही करता न कि जन्म मरण बुढ़ापा आदि अनेक अनर्थों का जाल फैलाकर अहित करता, कोई स्वतन्त्र अपने आप कारागार बनाकर आप ही प्रविष्ट नहीं होता और नाहीं अत्यन्त निर्मल हुआ अत्यन्त मलिन देह को आत्मरूपता से धारण करता है प्रत्युत किया हुआ भी कोई कर्म जो दुःखदायक हो उसको स्वेच्छा से छोड़ देता है और सुख देने वाले का ग्रहण करता तथा स्मरण करता है कि मैंने इस जगत् बिम्ब को रचा है, और यह नियम भी है कि सब कोई करने के पश्चात् स्मरण करता है कि मैंने यह किया, जैसे मायाजाल करने वाला पुरुष अपनी प्रसारित माया को स्वेच्छा से अनायासपूर्वक समेट लेता है इसी प्रकार जीव भी इस सृष्टि को समेट लेता परन्तु अपने शरीर को भी स्वेच्छा से अनायास पूर्वक नहीं समेट सक्ता, इस प्रकार हित करने वाली क्रिया के न देखे जाने से चेतन द्वारा जगत्प्रक्रिया का मानना अन्याय है।

जगतो ब्रह्मानन्यत्वं प्रतिपादयद्भिस्तत्त्वमसि अयमात्माब्रह्मेत्यादिभिर्जीवस्यापि ब्रह्मानन्यत्वं व्यपदिश्यत इत्युक्तं,तत्रेदं चोद्यते यदीतरस्यजीवस्यब्रह्मभावोऽमीभिर्वाक्यैर्व्यपदिश्यते तदा ब्रह्मणः सर्वज्ञसत्यसङ्कल्पत्वादि युक्तस्यात्मनो हितरूपजगदकरणमाहितरूपजगत्करणमित्यादयोदोषाः प्रसज्येरन्,आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानन्तदुःखाकरं चेदं जगत्,न चेदृशे स्वानर्थे स्वाधीनो बुद्धिमीन्प्रवर्तते जीवाद्ब्रह्मणो भेदवादिन्यः श्रुतयो जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वं वदता त्वयैव परित्यक्ताः भेदे सत्यनन्यत्वासिद्धेः, औपाधिकभेदाविषया भेदश्रुतयस्स्वभाविकाभेदविषयाश्चाभेदश्रुतय इति चेत्तत्रेदं वक्तव्यं स्वभावतः स्वस्मादभिन्नं जीवं किमनुपहितं जगत्कारणं ब्रह्म जानाति वा न वा, न जानाति चेत्सर्वज्ञत्वहानिः,जानाति चेत्स्वस्मादभिन्नस्य जीवस्य दुःखं स्वदुःखमिति जानतो ब्रह्मणोहिताकरणाहितकरणादिदोषप्रसक्तिरनिवार्य्या ।

जीवब्रह्मणोरज्ञानकृतो भेदस्तद्विषया भेदश्रुतिरिति चेत् अत्रापि जीवाज्ञानपक्षेपूर्वोक्तो विकल्पस्तत्फलं च तदवस्थं ब्रह्माज्ञानपक्षे स्वप्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानसाक्षित्वं तत्कृतजगत्सृष्टिश्च न सम्भवति, अज्ञानेन

प्रकाशस्तिरोहितश्चेति तिरोधानस्य प्रकाशनिवृत्तिकरत्वेन प्रकाशस्यैव स्वरूपत्वात्स्वरूपनिवृत्तिरेवेति स्वरूपनाशादिदोषसहस्रंप्रागेवोदीरितम्, अत इदमसङ्गतं ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमिति प्राप्तेऽभिधीयते ॥ श्री०भा०

अर्थ—जगत् ब्रह्म का अभेद मानने वाले पुरुषों का कथन है कि "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों से जीव ब्रह्म का अभेद है, यह कह आये हैं, यहां यह शङ्का होती है कि यदि इन वाक्यों से जीव ब्रह्म की एकता है तो सर्वज्ञ, सत्य सङ्कल्पत्वादि से युक्त आत्मा को हित रूप जगत् का न करना और अहित रूप जगत् का करना आदि दोष लगेंगे अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिकादि अनन्त दुःखों की खानि जो यह जगत् है ऐसे अनर्थ में स्वाधीन बुद्धिमान् कभी प्रवृत्त नहीं होता, जीव ब्रह्म का भेद कथन करने वाली श्रुतियें तुमने छोड़दीं, क्योंकि भेद कहने से तुम्हारा प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, यदि यह कहाजाय कि उपाधिकृत भेद को भेदश्रुतियें कहती हैं और स्वाभाविक अभेद को अभेद श्रुतियें, तो यहां यह प्रष्टव्य है कि अपने से अभिन्न जीव को ब्रह्म जानता है वा नहीं? यदि नहीं जानता तो सर्वज्ञ न रहा, यदि जानता है तो अपने से अभिन्न जीव का दुःख स्वदुःख जानते हुए ब्रह्म को "अहित करना" आदि दोषों का लगना नहीं हट सकता, जीव ब्रह्म का अज्ञानकृत भेद है, इस विषय में भेदप्रतिपादक श्रुतियें हैं, यदि ऐसा मानाजाय तो यहां भी जीव के अज्ञान पक्ष में पूर्वोक्त दोष और इनका फल वैसाही रहा, यदि ब्रह्म में अज्ञान मानाजाय तो ब्रह्म अज्ञानी है और जगत् का

कर्त्ता भी है यह दोनों बातें नहीं बन सकती, यदि यह कहाजाय कि अज्ञान से प्रकाश ढक जाता है तो तिरोधान प्रकाश को निवृत करने वाला होने से और प्रकाश ब्रह्म का स्वरूप होने से स्वरूप का नाश हुआ, और स्वरूप का नाश नहीं होसक्ता, यह स्वरूपनाशादि अनेक दोष प्रथम कहआये हैं, इसलिये ऐसा जगत् कारणत्व ब्रह्म में असङ्गत है, ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार विधान करते हैं कि—

समीक्षा—जीव किस लक्षण वाला है ? इस सन्देह के होने पर कोई कहते हैं कि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, कोई कहते हैं कि अपने आप प्रवेश हुआ ब्रह्म ही जीव है, अन्य कहते हैं कि पदार्थ की स्वाभाविक विभिन्नता की भांति ब्रह्म ही नानाकार में प्रतीत हो रहा है और वही जीव है, इस प्रकार तर्क और अर्थाभास के कारण श्रुति के अर्थ में अनेक बादी विवादग्रस्त हैं।

इस विषय में वैदिकों का यह मत है कि सुख दुःख भोगने वाला चेतन जीव है और वह न ब्रह्म का प्रतिबिम्ब, नाही उसका विकार, न विवर्त्त, न अग्नि के चिङ्गारे की भांति ब्रह्म का अंश और न घटादि उपाधि से भिन्न किये हुए घटाकाश की भांति अवास्तव खण्ड है किन्तु वह अनादि, अनन्त परब्रह्म से अत्यन्त विलक्षण है, जैसाकि "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**" ऋग्० २ । ३ । १७ इस मन्त्र में जीव ईश्वर के भिन्न २ लक्षण किये हैं कि प्रकृतिरूप वृक्ष से दो चेतन सम्बन्ध रखते हैं, एक जीव कर्मफल भोक्ता और दूसरा ईश्वर फलप्रदाता है, इस प्रकार वेदार्थ में बहुपक्षा का अवकाश देखकर महर्षिव्यास ने कथन

किया है कि "इतर=जीव को ब्रह्म कथन करने से हित का न करना आदि दोष लगेंगे" ब्र०सू०२।१।२१ अर्थात् जीव को ब्रह्म बिधान किये जाने से ही हित का न करना आदि दोष लगते हैं अन्यथा नहीं, इसलिये जीव का ब्रह्मरूप से कथन किया जाना ठीक नहीं, क्योंकि दूर हैं सब दोष जिससे ऐसे ब्रह्म की सुखरूपता की हानि होगी, और बात यह है कि भिन्न पदार्थों की एकता दो कारणों से होती है, उपादान के एक होने से अथवा जिस अविद्या से द्वैत-प्रतीत होरहा हो उसके हटाये जाने से, उपादान की एकता से मिट्टी तथा घट में ऐक्य देखागया है और अविद्या के हटाने से एकत्व दृष्ट है दोष से दो प्रतीत होने वाले चन्द्रमा में, और ब्रह्म में निर्विशेषता तथा प्रकाशरूपता के कारण दोनों का अभाव है, जीव ब्रह्म की एकता में प्रकारान्तर की अनुपपत्ति होने से हिताकरणादि दोषों द्वारा दूषित हो ऐक्य सिद्ध होता है और यह ठीक नहीं, यह सूत्रकार का आशय है।

कई लोगों ने इस सूत्र को पूर्वपक्ष में लगाया है और अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये "अधिकन्तुभेदनिर्देशात्" इस अग्रिम सूत्र का तु शब्द प्रमाण दिया है कि "तु" शब्द पूर्वपक्ष सूत्र की व्यावृत्ति करता है और पूर्व सूत्र के पूर्वपक्ष पर होने से जीव ब्रह्म का अनन्यत्व सिद्ध है और यहां उपाधिकृत भेद लेकर हिताकरणादि दोषों का परिहार कियागया है।

यह पूर्वपक्ष ठीक नहीं, क्योंकि उक्त सूत्र यथार्थ भेद को कहता है और यथार्थ भेद ही वेद तथा उपनिषदों में कथन कियागया है अयथार्थ नहीं, यदि अयथार्थ भेद कथन किया जाता तो ऐसा कथन करने से वेद भी अयथार्थ होजाता, यह

अतात्विक भेद अवैदिक है जिसका आगे कथन किया जायगा।

यह नियम नहीं कि उत्तर सूत्र का "तु" शब्द पूर्व सूत्र का खण्डन ही करता हो, जैसाकि "तत्तुसमन्वयात्" सूत्र में पूर्वपक्ष के अभाव होने पर भी "तु" शब्द का प्रयोग ठीक पाया जाता है, इस सूत्र को पूर्वपक्षपरक मानने से भी अद्वैतवादियों का मत ठीक नहीं, क्योंकि उत्तर सूत्र में वैदिकभेदनिर्देश द्वारा वर्णित ब्रह्माधिक्य से ब्रह्मप्रवेशादि पक्षों का खण्डन पायाजाता है, और जो यह कहा गया है कि "वह आपही बनाकर आप प्रविष्ट होगया" इसलिये जीव ब्रह्म की एकता है, यह लेख विकल्प के न सहारने से ठीक नहीं, क्या कार्य्य में ब्रह्म स्वयं प्रविष्ट है अथवा जीवात्मा द्वारा प्रविष्ट है? ब्रह्म की सर्वव्यापकता के कारण प्रवेशाभाव होने से प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि प्रवेश अल्पदेशी पदार्थ का होता है सर्वदेशी का नहीं, यदि जीवात्मा द्वारा प्रविष्ट हुआ मानें तो ब्रह्म के अधीन होने के कारण जीव ब्रह्म का आत्मा होने से वैदिक मार्ग पर आगये, और जीव के अनादिपन की हानि होने से ब्रह्म का प्रवेश होना सत्तर्कानुकूल नहीं, यह बात प्रयोजनवत्वाधिकरण † में विस्तारपूर्वक वर्णन कीगई है।

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति, यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्तद्-

† विषय, संशय, सङ्गति, पूर्वपक्ष और सिद्धान्त इन पांच अवयवों से जिसमें निर्णय हो उसका नाम "अधिकरण" है॥

यं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः, न तस्मिन् हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते,न हि तस्य हितं किञ्चित् कर्तव्यमस्ति अहितं वा परिहर्तव्यं नित्यमुक्तत्वात्, न च तस्य ज्ञानप्रतिबन्धः शक्तिप्रतिबन्धो वा क्वचिदप्यस्ति, सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वाच्च, शारीरस्त्वनेवंविधः, तस्मिन् प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषा न तु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः, कुत एतत् भेदनिर्देशात्, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यःस विजिज्ञासितव्यः"सतासोम्यतदासम्पन्नो भवति" शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः" इत्येवं जातीयकः कर्तृकर्मादिभेदनिर्देशोजीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति, नन्वभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः "तत्त्वमसि" इत्येवं जातीयकः, कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ सम्भवेयाताम्, नैष दोषः, आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसम्भवस्य यत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्, अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवंजातीयकेनाभेदनिर्देशेनाभेदः प्रतिबोधितो भवति अपगतं भवति तदा जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्चस्रष्टृत्वं समस्तस्य मिथ्याज्ञानविजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यक्ज्ञानेन बाधितत्वात् तत्र कुत एव सृष्टिः कुतो वा हिता करणादयो दोषाः, अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृत-

कार्यकरणसङ्घातोपाध्यविवेककृता हि भ्रान्तिः, हिताहितकरणादिलक्षणः संसारो न तु परमार्थतोऽस्तीत्यसकृद्वोचाम जन्ममरणच्छेदनभेदनाद्यभिमानवत्, अबाधिते तु भेदव्यवहारे " सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः " इत्येवं जातीयकेन भेदनिर्देशेनावगम्यमानं ब्रह्मणोऽधिकत्वं हिताकरणादिदोषप्रसक्तिं निरुणद्धि ॥

शं० भा०

अर्थ—"तु" शब्द पूर्वपक्ष को हटाता है,जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव वाला जीव से अधिक ब्रह्म है उसको हम जगत् स्रष्टा कहते हैं, उसमें हित का न करना आदि दोष नहीं लगसकते,क्योंकि नित्य मुक्त होने से न उसका कुछ कर्त्तव्य है न कुछ छोड़ने योग्य है और सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होने से न उसके ज्ञान की रुकावट है न शक्ति की और जीव ऐसा नहीं, क्योंकि जीव को अहितकरणादि दोष लगने के कारण और भेद का कथन पाये जाने से हम उसको जगत्स्रष्टा नहीं कहते, " हे मैत्रेयी ! आत्मा द्रष्टव्य श्रोतव्य मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है वह ढूढ़ने और जानने योग्य है " " हे सौम्य ! तब सत्य के साथ मिलजाता है, जीवात्मा परमात्मा के आश्रय है " इस प्रकार कर्त्ता और कार्य्य का जो भेदनिर्देश है वह जीव से अधिक ब्रह्म को कथन करता है, यदि यह कहाजाय कि "वह तु है" इस प्रकार का अभेद निर्देश भी है, फिर किस प्रकार भेद और अभेद दो विरुद्ध धर्म एक में रहसकते हैं ? यह दोष नहीं,क्योंकि घटाकाश की युक्ति से दोनों का सम्भव होना प्रथम कई स्थलों में दर्शाया गया है

और "वह तु है," इस प्रकार अभेद बोधन कियाजाता है तब मिथ्या ज्ञान से जाना हुआ सम्पूर्ण भेद व्यवहार सम्यक् ज्ञान के द्वारा बाधित होने से जीव का संसारीत्व और ब्रह्म का जगत्कर्तृत्व पृथक् होजाता है, इस दशा में कहां सृष्टि और कहां हित का न करना आदि दोष लगसकते हैं क्योंकि हम कई वार कह आये हैं कि अविद्याकृत नामरूप से कीहुई देह इन्द्रियादि सङ्घात रूप उपाधि अविवेक से उत्पन्न हुआ संसार भ्रम है न कि परमार्थ, इत्यादि जैसे जन्म मरण छेदन आदि भ्रम से हम अपने धर्म मानते हैं और वास्तव में ये शरीर के धर्म हैं, जब तक भेद व्यवहार बना रहता है तब तक "वह आत्मा जानने योग्य है" इस प्रकार के भेद व्यवहार से जो ब्रह्म का आधिक्य देखा जाता है वह हित का न करना आदि दोषों को नहीं लगने देता।

तु-शब्दः पक्षं व्यावर्तयति, आध्यात्मिकादिदुःख योगार्हात्प्रत्यगात्मनोऽधिकमर्थान्तरभूतं ब्रह्म-कुतः ? भेदनिर्देशात्प्रत्यगात्मनो हि भेदेन निर्दिश्यते परं ब्रह्म "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" "स कारणं करणाधिपाधिपः" "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः" "प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः" "अस्मान्मायी सृजते

विश्वमेतत्तस्मिँश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्" "यो ऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यस्याऽव्यक्तं शरीरं यमऽव्यक्तं न वेद" "योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद" "योमृत्युमन्तरे सञ्चरन् यस्य मृत्युर्न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" इत्यादिभिः।।श्री०भा०

अर्थ—सूत्र में 'तु' शब्द पूर्वपक्ष का खण्डन करता है, वेदोपनिषदों में भेद पायेजाने के कारण आध्यात्मिकादि दुःखों से दुखी जीवात्मा से अधिक=भिन्न पदार्थ ब्रह्म है अर्थात् जीवात्मा से ब्रह्म पृथक् वर्णन किया गया है, जैसाकि नीचे लिखी प्रतीकों से स्पष्ट है :—

"जो जीवात्मा में रहता है उससे भिन्न है और जीवात्मा जिसको नहीं जानता जिसका जीवात्मा शरीर है जो उसको नियम में रखता है वह तुम्हारा अन्तर्यामी परमात्मा अमृत है" "ईश्वर को अपने से भिन्न नियन्ता जानकर जीव उसकी कृपा से अमृत को पाता है" "वही कारण है और वही इन्द्रियों के स्वामी जीवात्मा का स्वामी है" "उन दोनों से एक फल भोक्ता और दूसरा अभोक्ता रूप से साक्षी है" "ईश अनीश दो अजन्मा हैं, एक ज्ञानी दूसरा अज्ञानी" "प्रज्ञात्मा के साथ मिला हुआ है" "प्राज्ञात्मा के आश्रित है" "माया वाला ईश्वर विश्व को रचता है और दूसरा जीव मायाबद्ध है" "ईश्वर प्रकृति और जीव का स्वामी है" "नित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है, वही एक बहुतों की कामना को पूर्ण करता है" "जो प्रकृति के भीतर रहता है वा प्रकृति जिसका शरीर

है और जिसको प्रकृति नहीं जानती" जो अक्षर के भीतर रहता है तथा जिसका अक्षर शरीर है और जिसको अक्षर नहीं जानता, जो मृत्यु के भीतर रहता है और जिसको मृत्यु नहीं जानता, वही सब भूतों का निष्पाप अन्तरात्मा प्रकाशस्वरूप एक देव है ।

समीक्षा—केवल हित का न करना आदि दोषों के लगने से ही जीव ब्रह्म का अन्यत्व नहीं किन्तु ब्रह्म के अधिक होने से भी अन्यत्व है, लघुत्व तथा महत्व के कारण भी अत्यन्त भिन्नत्व पायाजाता है और सत्य वस्तु जो जीव ब्रह्म हैं उनका भेद वास्तव है, इसी को अन्य तर्क से पुष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि "जीव से ब्रह्म अधिक होने से भी भेद पायाजाता है" ।

पूर्व सूत्र के अर्थ को दृढ़ करने के लिये 'तु' शब्द इस सूत्र में च के अर्थ में आया है, जैसे "शब्देभ्यः" अष्टा० २।३।६ "यावद्धिकारन्तु विभागो लोकवत्" अष्टा० २।३।७ इत्यादि सूत्रों में पूर्व सूत्रार्थ को दृढ़ करने के लिये उत्तर सूत्र में तु शब्द का व्यवहार किया गया है।

जीव से अधिक=बड़ा ब्रह्म है, क्योंकि वेदों में भेद का निर्देश स्पष्टतया किया गया है, जैसाकि "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" यजु० ३१।३ "यत्र देवा अमृतमानशाना:" यजु० ३२।१० इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि "एकपाद स्थानीय सब संसार वर्ग और तीनपाद अमृत है" "उसमें मुक्त जीव अमृत को उपलब्ध करते हुए भेद से रहते हैं" इसी प्रकार द्रमिड़ भाष्यकारु जो महर्षि बोधायान मतानुयायी हुए हैं वह भी मुक्ति में भेद से ही जीव की स्थिति मानते हैं कि

परादेवता ब्रह्म के साथ योग होने से मुक्ति में जीव भी ब्रह्म की भांति निरतिशय आनन्द लाभ करता है, इसीलिये मुक्तामुक्त दोनों में रहने वाला होने से भेद वास्तव है, यदि ऐसा न होता तो मुक्ति से प्रथम भेद और मुक्त होने पर अभेद कहा जाता।

और जो कई एक लोग सत्यासत्य के समान परस्पर विरुद्ध धर्म वाले भेद अभेद को घटाकाश न्याय से ठीक होना कथन करते हैं यह बात निस्तर्क है, क्योंकि आपस में दो विरोधियों में से एक के मिथ्या होने से दोनों का यथार्थ होना बनसक्ता है परन्तु जीव ईश्वर दोनों के अनादि होने से यह बात सर्वथा असम्भव है, घटाकाश की युक्ति उपाधि के होने पर भेदाभेद के सम्भव का हेतु है, और विना हद वाले कल्याण गुणों की खानि ईश्वर में उपाधि न होने से भेदाभेद का होना असम्भव है, अब प्रश्न यह होता है कि उपाधि क्या ? जीवाश्रय अज्ञान का नाम उपाधि है वा ब्रह्माश्रय अज्ञान का नाम उपाधि है ? प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि कल्पित जीव मानने वालों के मत में उपाधि के विना जीवभाव नहीं होसक्ता, क्योंकि अज्ञान हो तो जीव बने और जीव हो तो अज्ञान हो यह परस्पराश्रय दोष लगता है और नाही ब्रह्म के आश्रय वाला अज्ञान उपाधि कहाजासक्ता है, क्योंकि ब्रह्म स्वतःप्रकाश होने से अज्ञान का आश्रय नहीं और जो यह कहागया है कि हिताहित वाला जो संसार है वह परमार्थ से नहीं, यह अपने कथन से ही कट जाता है, क्योंकि आपका कथन भी संसार से भिन्न न होने से अपरमार्थ है, इसी प्रकार तत्त्वमस्यादि वाक्यों से उत्पन्न जो भेद का निवर्तक ज्ञान वह स्वप्नज्ञान की भांति भ्रममात्र होने से जाग्रत का जो बन्धन उसका निवर्तक स्वप्नज्ञान की तरह निष्फल हुआ और जो ब्रह्म के कल्पित भेद से

हित का न करना आदि दोषों का परिहार किया गया है वह केवल अल्पज्ञ मनुष्यों की बुद्धि का खण्डन मात्र है, क्योंकि कल्पित भेद भिन्न ब्रह्म का जीव रूपता से प्रवेश न होने के कारण दोषाभाव की सिद्धि है, अत्र प्रश्न यह है कि शुद्ध ब्रह्म ने संसार रूप द्वारा बहुत होने के समय में हिताहित किया? यहां अद्वैतवादियों का उत्तर यह है कि उपाधिकृत भेद के कारण दोषों का अभाव और एक होने में एकता के कारण दोषों का अभाव है, यह उत्तर प्रश्न के तात्पर्य्य की अनभिज्ञता को प्रगट करता है अथवा छिपा हुआ जो तर्काभास उसको केवल टाला है परिहार नहीं किया।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥२३॥

यथा च लोके पृथिवीत्वसामान्यान्वितानामप्यश्मनांकेचिन्महार्हाः मणयो वज्रवैदुर्यादयोऽन्ये मध्यमवीर्याःसूर्यकान्तादयोऽन्ये प्रहीणाःश्ववायसप्रक्षेपणार्हाः पाषाणाः इत्यनेकविधं वैचित्र्यं दृश्यते, यथा चैकपृथिवीव्यपाश्रयाणामपि वीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यचन्दनकिंपाकादिषूपलभ्यते, यथा चैकस्याप्यन्नरसस्य लतादीनि केशलोमादीनि च विचित्राणि कार्य्याणि भवन्ति, एवमेकस्यापि ब्रह्मणो जीवप्राज्ञपृथक्त्वं कार्यवैचित्र्यञ्चोपपद्यते इति अतस्तदनुपपत्तिः परपरिकल्पितदोषानुपपत्तिरित्यर्थः, श्रुतेश्च प्रामाण्याद्विकरस्य वाचारम्भणमात्रत्वात् स्वप्नदृश्यभाववैचित्र्यवच्चेत्यभ्युच्चयः॥ शं० भा०

अर्थ—जैसे लोक में पृथिवीत्व जाति वाले पत्थरों में कई एक उत्तम मणि हीरा वैदुर्यादि, दूसरे मध्यम सूर्य्यकान्तादि और तीसरे मन्दप्रकार के केवल कुत्ते कौवों पर फेंकने योग्य पत्थर होते हैं यह अनेक प्रकार की विचित्रता देखीजाती है, जैसे एक पृथिवी में उत्पन्न होने वाले बीजों में पत्र, पुष्प, फल, गन्धादिकों की विचित्रता देखी जाती है और जैसे एक अन्न के रस से उत्पन्न होने वाले लता केश लोमादि विचित्र कार्य्य उत्पन्न होते हैं, वैसे ही एक ब्रह्म का जीव ईश्वर भेदरूप विचित्र कार्य्य बनसक्ता है, इसलिये स्वप्न दृश्य पदार्थों की विचित्रता होने से श्रुति प्रमाण द्वारा विकार वाणी का आरम्भ मात्र है, अतएव वादी का दिया हुआ दोष ठीक नहीं।

अश्मकाष्ठलोहतृणादीनामत्यन्तहेयानां सततविकारास्पदानामचिद्विशेषाणां निरवद्यानिर्विकारनिखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपनानाविधानन्तमहाविभूति ब्रह्मस्वरूपैक्यं यथा नोपपद्यते तथा चेतनस्याप्यनन्तदुःखयोगार्हस्य खद्योतकल्पस्यापहतपाप्मेत्यादिवाक्यावगतसकलहेयप्रत्यनीकानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणाकरब्रह्मभावानुपपत्तिः सामानाधिकरण्यनिर्देशो यस्यात्मा शरीरमित्यादिश्रुतेर्जीवस्यब्रह्मशरीरत्वात ब्रह्मणो जीवशरीरतया तदात्मत्वेनावस्थितेर्जीवप्रकारब्रह्मप्रतिपादनपरश्चैतदविरोधी, प्रत्युतैतस्यार्थस्योपपादकश्चेत्य-

वस्थितेरिति काशकृत्स्न इत्यादिभिरसकृदुपपादितम्, अतस्सर्वावस्थं ब्रह्म चिदचिद्वस्तुशरीरमिति सूक्ष्मचिद-चिद्वस्तुशरीरं ब्रह्म कारणं तदेव ब्रह्म स्थूलचिदचिद्व-स्तुशरीरं जगदाख्यं कार्य्यमिति जगद्ब्रह्मणोःसामाना-धिकरण्योपपत्तिः जगतो ब्रह्मकार्य्यत्वं ब्रह्मणोऽनन्य-त्वमचिद्वस्तुनोजीवस्य च ब्रह्मणश्चपरिणामित्वदुःखित्व कल्याणगुणाकरत्वस्वभावासङ्करस्सर्वश्रुत्यविरोधश्च भव-ति "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवेत्यविभागावस्था-यामचिद्युक्तजीवस्य ब्रह्मशरीरतया सूक्ष्मरूपेणावस्था-नम् अवश्याभ्युपगन्तव्यं, वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वान्न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चप्युपलभ्यते चेति सूत्रद्वयोदितत्वातदानीमपि सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य अविभागस्तु नामरूपविभागाभावादुपपद्यते,अतो ब्रह्म-कारणत्वं सम्भवत्येव ।

ये पुनरस्यैव जीवस्याविद्यावियुक्तावस्थामभि-प्रेत्यैवं भेदं वर्णयन्ति तेषामिदं सर्वमसङ्गतं स्यात्,न हि तदवस्थस्य सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं समस्तकारणत्वं सर्वा-त्मकत्वं सर्वनियन्तृत्वमित्यादीनि सन्ति अनेनैव रूपेण ह्याभिः श्रुतिभिः प्रत्यगात्मनो भेदः प्रतिपाद्यते तस्य सर्वस्याविद्यापरिकल्पितत्वात् तत्सर्वं ह्यविद्यापरिकल्पितं

त्वन्मतेन चाविद्यापरिकल्पितस्याविद्यावस्थायां शुक्तिकारजतादिभेदवत्परस्परभेदोऽत्र सूत्रकारेणाधिकं तु भेदनिर्द्देशादित्यादिषु प्रतिपाद्यते ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येति जिज्ञास्यतया प्रक्रान्तस्य ब्रह्मणोजगज्जन्मादिकारणस्य वेदान्तवेद्यत्वं तस्य च स्मृतिन्यायाविरोधपरिहारश्च क्रियते अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसं, न तु दृष्टान्तभावादिति सूत्रद्वयमेतदधिकरणसिद्धमनुवदति, तत्र हि विलक्षणयोः कार्य्यकारणभावसम्भव एवाधिकरणार्थः असदिति,चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वादिति च पूर्वाधिकरणस्थमनुवदति ॥ श्री० भा०

अर्थ—जिस प्रकार पत्थर काष्ठ लोहा तृणादि जो असन्त तुच्छ पदार्थ हैं और सदैव विकारी जड़विशेष हैं उनका निर्दूषण निर्विकार, आनन्दस्वरूप सब वस्तुओं से विलक्षण ज्ञानस्वरूप नानाविध महाविभूति वाले ब्रह्म के साथ अभेद नहीं होसक्ता, इसी प्रकार अत्यन्त दुःखों वाला खद्योत के समान जो जीव उसका बिना हद वाले कल्याण गुणों की खानि ब्रह्म के साथ अभेद नहीं होसक्ता, और जो अभेद का कथन है वह "जिसका आत्मा शरीर है" इत्यादि श्रुतियों से जीव को ब्रह्म का शरीर प्रतिपादन करता हुआ जीव ब्रह्म का शरीर है इस प्रकार के अभेद द्वारा एकत्व बोधन करता हुआ भेद का अविरोधी है,केवल अविरोधी ही नहीं किन्तु भेद का प्रतिपादन भी करता है और यह बात "अवस्थितेरिति काश-

कृत्स्न " ब्र० सू० १।४।२२ इत्यादि सूत्रों से अनेकवार कही गई है, इससे सिद्ध है कि प्रकृति और जीव को मिलाकर सब अवस्थाओं वाला ब्रह्म सूक्ष्म जड़ चेतन वस्तु शरीररूपता से कारण है और वही स्थूल जड़ चेतन वस्तु शरीररूपता से जगत् रूप कार्य्य है, इसी अभिप्राय से उपनिषदों में जगत् ब्रह्म के समानाधिकरण=एकत्व का निर्देश है, इससे सिद्ध है कि जगत् ब्रह्म का कार्य्य है, जड़ चेतन वस्तुमात्र प्रलयकाल में सूक्ष्म रूप होकर ब्रह्म में रहने से अभेद है, प्रकृति, जीव, ब्रह्म इन तीनों के भिन्न स्वभाव परिणामित्व दुःखित्व कल्याणगुणाकरत्वादि स्वभावों का आपस में न मिलना और सब श्रुतियों का अविरोध होना "हे सौम्य ? सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय था " इस प्रकार अविभागावस्था में जीव प्रकृति ब्रह्म का शरीर होने के कारण सूक्ष्मरूप से उस समय इनका रहना समझना चाहिये " वैषम्य नैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति " ब्र० सू० २।१।३४ " न कर्म विभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च " ब्र० सू० ३५ इत्यादि सूत्रों से भी प्रलयकाल में जीव प्रकृति का सूक्ष्म रूप से रहना पाया जाता है, इसलिये सब पदार्थों का ब्रह्म कारण होसक्ता है ।

और जो लोग जीव को अविद्यावस्था वाला मानकर भेद वर्णन करते हैं उनके मत में ब्रह्म के सर्वेश्वरत्व, समस्तकारणत्व, सर्वात्मकत्व, सर्वनियन्तृत्व इत्यादि सब विशेषण असङ्गत होजाते हैं, इसी रूप से श्रुतियों द्वारा ब्रह्म का भेद प्रतिपादन किया गया है, और यह भेद अविद्या कल्पित होने से सर्वज्ञत्वादि सब गुण

भी अविद्या कल्पित होजायंगे, सीपी में भ्रम कल्पित चांदी की भांति " अधिकन्तु भेदनिर्देशात् " इत्यादि सूत्रों में सूत्रकार को मिथ्या भेद अभीष्ट नहीं किन्तु " ब्रह्मजिज्ञासा " कर्तव्य है, इस प्रकरण वाला जगज्जन्मादिकों का कारण जो ब्रह्म वह वेदान्त वेद्य है और उसमें स्मृति न्यायविरोध का परिहार किया गया है "अपीतौतद्वत्प्रसङ्गादसमंजसम्" ब्र०सू० १।२।८ "न तु दृष्टान्त भावात्" ब्र०सू०९ यह दोनों सूत्र इसी अभिप्राय को सिद्ध करते हैं, और वहां विलक्षणों का भी आपस में कार्य्यकारण भाव रूप सम्बन्ध होता है यह अधिकरण का अर्थ है और "असदितिचेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् " ब्र०सू०७ यह प्रथम अधिकरण को पुष्ट करता है ॥

समीक्षा—नदी समुद्रादि दृष्टान्तों द्वारा छोटे और बड़े का भी आपस में अभेद देखा जाता है, अतएव ब्रह्म बड़ा रहे इससे क्या? इस आशय को लक्ष्य रखकर जीव ब्रह्म का अत्यन्त वैलक्षण्य कथन करने के लिये सूत्रकार कहते हैं कि जैसे अश्म=पाषाणादि पदार्थ जड़त्व परिच्छिन्नत्व लक्षणों की विलक्षणता के कारण ब्रह्म नहीं होसक्ते इसीप्रकार जीव ब्रह्म से अत्यन्त विलक्षण होने के कारण ब्रह्म नहीं होसक्ता अर्थात् यह जो परिच्छिन्न सत् चित् आदि गुणों वाला जीव है वह कदापि ब्रह्म नहीं बनसक्ता और जीव ब्रह्म का वैलक्षण्य अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्व आदि गुणों से प्रसिद्ध है ।

यद्यपि उक्त सूत्र का अर्थ श्रीभाष्याचार्य्य के विस्तृत व्याख्यान द्वारा स्पष्ट होने के कारण हमारा अधिक लिखना निष्प्रयोजन है

तथापि अद्वैतवादियों की अयुक्तयुक्ति और अर्थाभास के निराकरणार्थ कुछ लिखना अनुपयुक्त न होगा।

स्वामी शङ्कराचार्य्य का यह कथन कि पृथिवी के नाना विकारों की भांति एक ही ब्रह्म के जीव और ईश्वर रूपी भिन्न२कार्य्य वैचित्र्य होसक्ते हैं, यह बात स्वभाववाद का तात्पर्य्य रखने और महर्षि व्यास के अभिप्रायानुकुल न होने से विशेष जानने वालों में आदरणीय नहीं, यदि महर्षि व्यास को स्वभाववाद अभिप्रेत होता तो "ईक्षतेर्नाशब्दम्" ब्र० सू० १।१।५ "रचनाऽनुपपत्तेश्चनानुमानम्" ब्र० सू० २।२।१ इत्यादि चेतन कारण के प्रतिपादन कारने वाले सूत्रों को न बनाते, ऐसे सूत्रों में उक्त महर्षि का अभिप्राय स्वभाववाद के खण्डन और चेतनाविशिष्ट सृष्टि के मण्डन में स्पष्ट है।

प्रश्न-"उपसंहार दर्शनान्नेतिचेन्नक्षीरवद्धि" ब्र० सू० २।१।२४ इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट स्वभाववाद पायाजाता है फिर कैसे कहा जाता है कि महर्षि व्यास को स्वभाववाद सम्मत न था ? इसका उत्तर यह है कि इन सूत्रों में दधि आदिकों के दृष्टान्त सहायान्तर की अपेक्षा न रखने के कारण दिये गये हैं कर्मों की आवश्यकता छोड़कर ब्रह्म परिणाम रूपी सृष्टि प्रतिपादन के लिये नहीं, और "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" श्वेता० इस वाक्य में साधनान्तर की अपेक्षा न रखने वाले ब्रह्म के स्वाभाविक=विना निमित्त वाले ज्ञान बल और क्रियायों के वर्णन होने से भी यही बात सिद्ध होती है, और प्रयोजनवत्त्वाधिकरण के साथ विरोध आने से भी स्वा० शङ्कराचार्य्य का सिद्धान्त ठीक

नहीं अर्थात् ब्रह्म का जो जीव ईश्वर रूप से बहुत होजाना विधान किया है उसका प्रयोजनवत्वाधिकरण के साथ विरोध आता है, क्योंकि इस अधिकरण में जीव को अनादि मानकर ईश्वर के वैषम्य नैर्घृण्य दोषों का परिहार किया गया है, इस प्रकार पूर्वापर विचार करने से सिद्ध है कि महर्षि व्यास का अभिप्राय पाप पुण्य की व्यवस्था करने में स्पष्ट है और यही भाव प्रयोजनवत्त्वाधिकरण में भले प्रकार दर्शाया गया है ॥

"न प्रयोजनवत्त्वात्" ब्र०सू० २ । १ । ३२

अन्यथा पुनश्चेतनकर्तृकत्वं जगतः आक्षिपति, न खलु चेतनः परमात्मेदं जगद्बिम्बं विरचयितुमर्हति, कुतः प्रयोजनवत्वात् प्रवृत्तीताम्, चेतनो हि लोके बुद्धि पूर्वकारी पुरुषः प्रवर्तमानो न मन्दोपक्रमामपि तावत् प्रवृत्तिमात्मप्रयोजनानुपयोगिनीमारभमाणो दृष्टः किमुत गुरुतरसंरम्भाम् भवति च लोकप्रसिद्ध्यनुवादनी श्रुतिः " न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति " इति, गुरुतसंरम्भा चेयं प्रवृत्तिः यदुच्चावचप्रपञ्चं जगद्बिम्बं विरचयितव्यम्, यदीयमपि प्रवृत्तिः चेतनस्य परमात्मन आत्मप्रयोजनोपयोगनी परिकल्प्येत परितृप्तत्वं परमात्मनः श्रूयमाणं बाध्येत, प्रयोजनाभावे वा प्रवृत्त्यभा-

वोऽपि स्यात्, अथ चेतनोऽपि सन् उन्मत्तो बुद्ध्यपराधादन्तरे णैवात्मप्रयोजनं प्रवर्तमानो दृष्टस्तथा परमात्मापि प्रवर्तिष्यत इत्युच्येत, तथा सति सर्वज्ञत्वं परमात्मानः श्रूयमाणं बाध्येत, तस्मादश्लिष्टा चेतनात् सृष्टिरिति ॥ शं० भा०

अर्थ—जगत् के चेतनकर्तृत्व में अन्य प्रकार से आक्षेप किया जाता है कि चेतन परमात्मा इस जगत् विम्ब को नहीं रचसक्ता, क्योंकि सब कामों में प्रयोजन देखा जाता है और सृष्टि रचने में उसका कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता, लोक में बुद्धिमान् पुरुष थोड़े यत्न वाला काम भी निष्प्रयोजन नहीं करता तो बड़े की तो कथा ही क्या और इस लोक प्रसिद्ध को श्रुति भी कहती है कि "हे मैत्रेयी ! जगत् के लिये जगत् प्यारा नहीं किन्तु अपने ही लिये जगत् प्यारा होता है" यह सृष्टि बड़े प्रारम्भ वाली है, यदि ईश्वर के स्वप्रयोजनार्थ मानीजाय तो वह नित्य आनन्दस्वरूप नहीं रहता, यदि प्रयोजन का अभाव मानाजाय तो प्रवृत्ति भी नहीं रहती और यदि यह कहाजाय कि ईश्वर ने बिना प्रयोजन ही जगत् को रचा जैसे एक चेतन उन्मत्तावस्था में बुद्धि अपराध से बिना प्रयोजन वाला काम भी करता है, ऐसा मानने पर श्रुति सम्मत परमात्मा का सर्वज्ञत्व न रहेगा, इसलिये चेतन से सृष्टि मानना ठीक नहीं।

यद्यपीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एव सन् सकलेतरविलक्षणत्वेन सर्वार्थशक्तियुक्तः स्वयमेवं विचित्रं जगत्स्रष्टुं

शक्नोति तथाऽपीश्वरस्य कारणत्वं न सम्भवति, प्रयोजनवत्त्वाद् विचित्रसृष्टेः, ईश्वरस्य च प्रयोजनाभावात् बुद्धिपूर्वकारिणामारम्भे द्विविधं हि प्रयोजनं स्वार्थः परार्थो वा, न हि परस्य ब्रह्मणः स्वभावत एवावाप्तसमस्तकामस्य जगत्सर्गेण किञ्चन प्रयोजनमनवाप्तमवाप्यते, नापि परार्थः आप्तसमस्तकामस्य परार्थता हि परानुग्रहेण भवति नचेदृशगर्भजन्मजरामरणनरकादिनानाविधानन्तदुःख बहुलं जगत्करुणावान्सृजति, प्रत्युत सुखैकतानमेव सृजेज्जगत्करुणया सृजन् ॥

अर्थ—यद्यपि सृष्टि से पूर्व सब पदार्थों से विलक्षण एक ही परमात्मा सर्वशक्तिसम्पन्न होने के कारण विचित्र जगत् को रचसक्ता है तथापि ईश्वर का जगत्कारणत्व नहीं बनसक्ता, क्योंकि विचित्र सृष्टिरचना के लिये प्रयोजन होना चाहिये और सृष्टि बनाने में उसका कोई प्रयोजन नहीं, बुद्धिमान् के काम में दो प्रकार का अर्थ देखा जाता है अपना वा दूसरे का, स्वभाव से नित्य तृप्त परमात्मा का न अपना अर्थ होसक्ता है न दूसरे का, क्योंकि दूसरे का अर्थ उस पर कृपा करने से होता है और ऐसे जगत् को जिसमें जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि अनेक दुःख भरे हैं दयाशील नहीं रचसक्ता, यदि करुणा से परमेश्वर जगत् को रचता तो वह सुखरूप होता पर ऐसा नहीं, इसलिये प्रयोजन का अभाव होने से ब्रह्म जगत् का स्रष्टा नहीं, यह सन्देह उत्पन्न होने पर सूत्रकार आगे के सूत्र से समाधान करते हैं—

समीक्षा—सृष्टि रचने में ईश्वर का क्या प्रयोजन ? नित्यमुक्त होने के कारण उसका अपना प्रयोजन नहीं होसक्ता, संसार बहुत दुःखों वाला होने से अपरमार्थ के कारण जीव के अर्थ भी संसार रचना का प्रयोजन नहीं बनसक्ता, न्यायाधीश की भांति शुभाशुभ दातृत्व के कारण जगत् रचना का प्रयोजन होसक्ता है सो यह भी नहीं, क्योंकि प्रथम सृष्टि में कोई कर्म थे ही नहीं फिर न्याय किसका ! कर्मों के अनादि होने से व्यवस्था होसकेगी, यह कथन तर्क न जानने वालों को ही सन्तोष जनक होसक्ता है, क्योंकि कर्म शरीर के अधीन और शरीर कर्मों के अधीन है, इस प्रकार एक दूसरे के सहारे पर होने से भी कर्म सापेक्ष सृष्टि ठीक नहीं, लोक में थोड़े यत्न वाली प्रवृत्ति भी निष्प्रयोजन नहीं देखी जाती फिर इतने बड़े प्रयत्न से सिद्ध होने वाली संसार रचना में मुक्तस्वभाव ब्रह्म प्रवृत्त हुआ यह कैसे सम्भव है ?

वास्तव बात यह है कि वैदिक तर्क न जानने के कारण ईश्वरास्तीत्व में जो संशयात्मा हैं उनके हृदय में इस प्रकार के प्रश्न बहुधा उत्पन्न हुआ करते हैं और ईश्वर का अनस्तीत्व मन में बैठ जाने से अनर्थों की प्राप्ति होती है, इस अनर्थ जाल के प्रश्नों को मूल से काटने के लिये और ईश्वरास्तीत्व को पूर्वपक्ष द्वारा अति दृढ़ करने के लिये उत्तरमीमांसाचार्य्य कथन करते हैं कि :—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

तु शब्दे नाक्षेपं परिहरति, यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किञ्चित्

प्रयोजनमनभिसन्धाय केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयः क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा चोच्छ्वासप्रश्वासादयोऽनभिसन्धाय बाह्यं किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव भवन्ति, एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति, न हीश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति, न च स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते, यद्यप्यस्माकमियं जगद्बिम्बविरचना गुरुतरसंरम्भेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयं अपरिमितशक्तित्वात्, यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित् सूक्ष्मं प्रयोजनं उत्प्रेक्षेत तथापि नैवात्र किञ्चित् प्रयोजनमुत्प्रेक्षितुं शक्यते, आप्तकामश्रुतेः, नाप्यप्रवृत्तिः उन्मत्तप्रवृत्तिर्वा सृष्टिश्रुतेः सर्वज्ञश्रुतेश्च, न चेयं परमार्थ विषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात् ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्चेत्येतदपि न विस्मर्तव्यं ॥ शं०भा०

अर्थ–सूत्र में "तु" शब्द से पूर्वोक्त आक्षेप का परिहार किया गया है कि जैसे लोक में किसी एक प्राप्त समस्तकाम राजा वा उसके मंत्री की बिना प्रयोजन केवल लीलारूप प्रवृत्तियें देखी जाती हैं और जैसे श्वास प्रश्वास आदि स्वाभाविक बिना किसी प्रयोजन के होते हैं इसी प्रकार ईश्वर भी किसी प्रयोजन

की अपेक्षा न रखकर जगत् रचना में स्वभाव से ही प्रवृत्त होता है, अन्य कोई प्रयोजन सृष्टिरचने का युक्ति और श्रुति से निरूपण नहीं होसक्ता और न उसके स्वभाव में कोई तर्क होसक्ता है, यद्यपि हमको यह जगत्बिम्बरूपी रचना बड़े प्रारम्भ वाली प्रतीत होती है परन्तु ईश्वर अपरिमित शक्तिवाला होने से उसके लिये केवल लीलामात्र है।

लोक में कोई प्रयोजन लीला में भी कल्पना किया जासक्ता है परन्तु ईश्वर का जगत् रचने में कोई प्रयोजन नहीं होसक्ता, क्योंकि वह पर्याप्तकाम सुना गया है, और नाही यह कहसक्ते हैं कि ईश्वर ने जगत् नहीं बनाया और न यह कहसक्ते हैं कि उसने उन्मत्त की भांति बनाया, क्योंकि जगत् की रचना और उसका सर्वज्ञ होना श्रुति कथन करती है और यह भी भूलने योग्य नहीं कि सृष्टि अविद्याकृत नाम रूप व्यवहार कल्पित होने से परमार्थ में नहीं है और न यह कहसक्ते हैं कि ब्रह्म आत्मभाव प्रतिपादन करने के लिये है।

अवाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्य स्वसङ्कल्पवि-कार्य्यविविधविचित्र चिदचिन्मिश्रजगत्सर्गे लीलैव केवलं प्रयोजनं लोकवत्, यथा लोके सप्तद्वीपां मेदिनीमधितिष्ठतः सम्पूर्णशौर्य्यवीर्य्यपराक्रमस्यापि महाराजस्य केवल लीलैकप्रयोजनाः कन्दुकाद्यारम्भा दृश्यन्ते तथैव परस्यापि ब्रह्मणः स्वसङ्कल्पमात्रावक्लृ-प्तजगज्जन्मस्थितिध्वंसादेर्लीलैव प्रयोजनमिति नि-रवद्यम् ॥ श्री०भा०

अर्थ—समस्त काम प्राप्त परिपूर्ण परमेश्वर के लिये अपने सङ्कल्प से विविध विकार वाले जड़ चेतन के साथ मिले हुए जगत् की रचना में केवल लीला ही प्रयोजन है, जिसप्रकार संसार में सम्पूर्ण पृथिवी के अधिष्ठाता शौर्य्य, वीर्य्य, पराक्रमादि युक्त महाराज के लिये केवल लीला प्रयोजन वाले ही गेंद खेलनादि व्यवहार देखे जाते हैं इसी प्रकार परब्रह्म का भी जगत् की रचना, स्थिति प्रलयादि में लीला ही एक प्रयोजन है, इस प्रकार उक्त दोष का परिहार किया है॥

समीक्षा—आगे चार सूत्रों द्वारा उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए ईश्वर को संसार रचने में प्रयत्न करना पड़ता है इसका खण्डन करने के लिये प्रथम इस आशयवाले सूत्र को आचार्य्य ने रचा अर्थात् जैसे संसार में बड़ी विभूती वाले महाराजाओं के लीलामात्र क्रीड़ोत्सव को देखकर असमर्थों को आश्चर्य्य होता है कि यह क्रीड़ाव्यवहार का साधन बड़े प्रयत्न से किया गया होगा इसी प्रकार महामाय महेश्वर की शक्ति को न जानते हुए पुरुष को सन्देह होता है कि महाप्रयत्न साध्य यह विविध आकार वाला और अधिकरणादि असम्भव प्रतीति वाला जगत् ईश्वर ने कैसे बनाया? इसका सूत्रकार ने यह उत्तर दिया है कि "जगत् रचने में लोक की भांति केवल लीलामात्र प्रयत्न है" यहां "लीला" शब्द ईश्वर में परिश्रम के अभाव का कथन करता है न कि प्रयोजनाभाव का, और यदि ऐसा न हो तो आगे का सूत्र व्यर्थ होजायगा अर्थात् निष्प्रयोजन लीलामात्र ही जगत् रचना कीगई है तो ऐसी रचना व्यर्थ है, या यों कहो कि ईश्वर का ऐसा ऐश्वर्य्य जिससे अन्धे, बधिर तथा गलितशरीर वालों को रचकर निष्प्रयोजन क्रीड़ा की परन्तु ऐसा नहीं, पूर्वकर्मों की अपेक्षा से

अन्ध बधिरादि शरीरों की असमानता है, इसी अभिप्राय से "वैषम्य नैर्घृण्येन०" और जगत् रचने में ईश्वर को बड़ा परिश्रम पड़ता है इस दोष को दूर करने के लिये "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" कथन किया है, निष्प्रयोजनता बोधन के लिये पूर्वोक्त सूत्र नहीं रचा, और जो कई एक भाष्यकारों ने "लीलामात्र ही जगत् रचने में प्रयोजन है अन्य नहीं" इस प्रकार इस सूत्र का व्याख्यान किया है वह महर्षि व्यास के अभिप्रायानुकूल नहीं, क्योंकि उक्त महर्षि ने कर्मसापेक्ष सृष्टि मानी है।

और जो यह कहाजाता है कि सृष्टि परमार्थ से न होने के कारण उसके रचने में कोई प्रयोजन नहीं होसक्ता, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ जगत्कर्ता में भ्रमाभाव होने के कारण अपरमार्थ सृष्टि नहीं होसक्ती, यदि यह कहाजाय कि जीव की दृष्टि में सृष्टि है और वह भ्रान्त है तो ईश्वरकर्तृत्व आकाशपुष्प के समान हुआ, यदि यह कहें कि ईश्वरकर्तृत्व भी तो जीव कल्पित है तो फिर अपरमार्थ कहना भी जीव कल्पित होने से अपरमार्थ है, इत्यादि युक्तियों से सृष्टि का अपरमार्थ होना प्रथम खण्डन कियागया है फिर जो यह कहाजाता है कि ब्रह्मात्मभाव बोधन के लिये यह सृष्टि है तो सृष्टि से प्रथम भी ब्रह्मात्मभाव था, इसके लिये सृष्टि रचके नाना प्रकार भ्रान्तिजन्य दुःखों में डालकर ब्रह्मात्मभाव बोधन से क्या लाभ? ऐसे कीचड़ को लगाकर धोने से तो दूर ही रहना अच्छा था।

अद्वैतवादियों के मत में इसके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन सृष्टि का नहीं कहाजासक्ता कि ब्रह्म ने यह खेल किया, यहां प्रष्टव्य यह है कि ब्रह्म को ऐसे खेल से क्या? यदि यह कहाजाय कि उसका स्वभाव है तो इस प्रकार निष्प्रयोजन उन्मत्तों के सदृश

स्वभाव से ब्रह्म में ब्रह्मत्व कैसे ? यदि यह कहो कि सर्वात्मत्व होने से ब्रह्मत्व है तो सर्वात्मत्व क्या ? सब कुछ अपने आप होना वा सबका स्वामी होना ? यदि प्रथम पक्ष मानाजाय तो ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव न रहेगा और दूसरा पक्ष मानाजाय तो द्वैतवाद सिद्ध है, और जो यह कहागया है कि अविद्या कल्पित नाम रूप व्यवहार गोचर होने से परमार्थ में सृष्टि श्रुति नहीं, यहां वादी से यह प्रष्टव्य है कि अविद्या क्या ? जिसकी कल्पना से यह झूठी सृष्टि है उसका न जानना अविद्या है वा मिथ्याज्ञान का नाम अविद्या है? सर्वज्ञ होने से ईश्वर न जानने वाला नहीं होसक्ता और न मिथ्याज्ञान वाला होसकता है, इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं, अब प्रश्न यह होता है कि किसको आश्रय करके अविद्या भ्रान्तिरूप जगत् को उत्पन्न करती है ? यदि ब्रह्म को आश्रय करके जगत् को उत्पन्न करती है तो ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप होने पर भी उसमें अविद्या बनी रहेगी, इस कथन से गहन वेदान्तार्थ सम्प्रदायी आपने अपने तर्क का भाण्डार प्रकट करदिया, क्योंकि जब ज्ञानस्वरूप ब्रह्म अविद्या को निवृत नहीं करसक्ता तो और कौन उसके निवृत करने में समर्थ होसक्ता है ? ईश्वर को आश्रय करके अविद्या जगत् को उत्पन्न करसक्ती है, क्योंकि अद्वैत वादियों के मत में ब्रह्म में अविद्या होने से बिना ईश्वर नहीं बनसक्ता और जीवाश्रय भी नहीं कहसक्ते, यह हम इतरेतराश्रय प्रसङ्ग से प्रथम ही खण्डन करआये हैं ।

और बात यह है कि अविद्या सत्य है वा असत्य अथवा सत्यासत्य से विलक्षण है ? यदि सत्य मानें तो अविद्या के सदा बने रहने के कारण ब्रह्म को नित्य मुक्त कहना शशशृङ्ग के समान है और अद्वैत की हानि भी होगी, यदि असत्य है तो बन्ध्यापुत्र के

समान कुछ न करने वाली होनी चाहिये और तीसरा पक्ष इसलिये नहीं बनसक्ता कि सत्तासत से निराली कोई चीज़ संसार में नहीं, बिनाश के न होने से चेतन सत् है और प्रतीति के न होने से शशशृङ्गादि असत् हैं और जिसकी प्रतीति तथा विनाश दोनों हों वह पदार्थ मिथ्या होता है, जैसे सीपी में चांदी आदि भ्रम, इसी प्रकार जगत् में भी प्रतीति और नाश दोनों पाये जाते हैं, इसलिये इसका मिथ्या होना आवश्यक है ? यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जिस आश्रय में जो प्रतीत होता है उस आश्रय के ज्ञान से बाध होना ही उसके मिथ्यापन का चिह्न है, यदि ऐसा न होता तो परिणामी नित्य भी मिथ्या होजाता, इस प्रकार प्रपञ्च मिथ्या नहीं, फिर उसके मिथ्यात्वहेतु से जो उसकी उत्पत्ति में निष्प्रयोजनता कथन कीगई है वह मरुभूमि के जल की भांति कथन मात्र है ।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३४ ॥

पुनश्च जगज्जन्मादिहेतुत्वमीश्वरस्याक्षिप्यते स्थूणानिखननन्यायेन प्रतिज्ञातस्यार्थस्य द्रढीकरणाय, नेश्वरो जगतः कारणमुपपद्यते, कुतः वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात्, कांश्चिदत्यन्तसुखभाजः करोति देवादीन्,कांश्चिदत्यन्तदुःखभाजः करोति पश्वादीन् कांश्चिन्मध्यमभाजो मनुष्यादीनित्येवं विषमांसृष्टिं निर्मिमाणस्येश्वरस्य पृथग्जनस्येव रागद्वेषोपपत्तेः श्रुतिस्मृत्यवधारितस्वच्छ-

त्वादीश्वरस्वभावविलोपः प्रसज्येत तथा खलजनैरपि जुगुप्सितं निर्घृणत्वमतिक्रूरत्वं दुःखयोगविधानात् सर्वप्रजोपसंहरणाच्चप्रसज्येत, तस्माद्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गान्नेश्वरः कारणमित्येवं प्राप्त ब्रूमः, वैषम्यनैर्घृण्येनेश्वरस्य प्रसज्येते, कस्मात् सापेक्षत्वात्, यदि हिं निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते स्यातामेतौ दोषौ, वैषम्यं नैर्घृण्यञ्च, न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति, सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते, किमपेक्षत इति चेत् धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः, अतः सृज्यमान प्राणिधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः, ईश्वरस्तु पर्ज्जन्यवत् द्रष्टव्यः, यथा हि पर्ज्जन्यो ब्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, ब्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दूष्यति, कथं पुनरवगम्यते सापेक्ष ईश्वरोनीचमध्यमोत्तमं संसारं निर्मिमीत इति, तथा हि दर्शयति श्रुतिः "एप ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ

एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" इति "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" इति च स्मृतिरपि प्राणिकर्मविशेषापेक्षमेवेश्वरस्यानुग्रहीतृत्वं निग्रहीतृत्वञ्च दर्शयति "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहं, इत्येवं जातीयका ॥ शं० भा०

अर्थ—जैसे लकड़ी गाड़ते समय उसको एतदर्थ हिलायाजाता है कि इसकी जड़ में अधिक मिट्टी डालकर इसको दृढ़ करदिया जाय, इसी प्रकार पूर्व प्रतिज्ञात अर्थ को दृढ़ करने के लिये फिर यह प्रश्न किया जाता है कि ईश्वर जगज्जन्मादिकों का हेतु कैसे अर्थात् असमता और निर्दयता का प्रसङ्ग होने से ईश्वर जगत् का कारण नहीं होसक्ता, क्योंकि उसने देवादिकों को अत्यन्त सुख वाले, पश्वादिकों को अत्यन्त दुःख वाले और मनुष्यादिकों को मध्यम सुख वाले बनाया है, इस प्रकार की असमता वाली सृष्टि बनाते हुए ईश्वर को रागद्वेष लगते हैं, और श्रुति स्मृति में जो ईश्वर को शुद्ध स्वभाव वर्णन किया गया है वह भी लोप होजाता है और संसार में असन्त दुःख रचना तथा सारी प्रजा को नाश करदेना जो खलुजनों से भी निन्दित है इस प्रकार का निर्दयपन और क्रूरतादि दोष परमेश्वर में लगते हैं, इसलिये असमता और निर्दयता के कारण ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं होसक्ता, इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर उत्तर दिया जाता है कि उक्त दोष ईश्वर में नहीं लगते, क्योंकि वह कर्मों के निमित्त से सृष्टि रचता है, यदि बिना किसी कारण के असमता वाली सृष्टि को ईश्वर रचता तो यह दोष लगते और बिना किसी हेतु के ईश्वर जगत् को नहीं बनाता, यदि यह कहाजाय कि

किस निमित्त से बनाता है तो उत्तर यह है कि धर्माधर्म के निमित्त से बनाता है, इसलिये पापपुण्य की अपेक्षा से विषम सृष्टि है और यह ईश्वर का अपराध नहीं, ईश्वर तो बादल की न्यांई है अर्थात् जसे वृष्टि व्रीही, यव आदि सृष्टि के लिये एक जैसा कारण है और उनकी विषमता में उनके बीजों का सामर्थ्य कारण है इसी प्रकार देव मनुष्यादि सृष्टि में ईश्वर साधारण कारण है और देव मनुष्यादि की विषमता में उनके कर्म कारण हैं, इस प्रकार ईश्वर निमित्त से विषमता करता है. इसलिये दूषित नहीं होता, प्रश्न—यह कैसे जानाजाय कि ईश्वर कर्मों के कारण ऊंच नीच रचता है ? उत्तर—यह बात श्रुति कथन करती है कि "जिनको वह उन्नत करना चाहता है उनसे अच्छे कर्म और जिनको वह अवनती करना चाहता है उनसे बुरे कर्म कराता है" भले कर्म से पुण्यात्मा और बुरे कर्म से पापात्मा होता है" स्मृति भी जीवों के कर्मों द्वारा ही ईश्वर को उन्नति और अवनति करने वाला कथन करती है कि "जो जैसे मुझको प्राप्त होते हैं वैसे ही मैं भी उनके साथ वर्ताव करता हूं"।

यद्यपि परमपुरुषस्य सकलेतरचिदचिद्वस्तुविलक्षणस्याचिन्त्यशक्तियोगात्प्राक्सृष्टेरेकस्य निरवयवस्यापि विचित्राचिदचिन्मिश्रजगत्सृष्टिः सम्भाव्येत तथापि देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मनोत्कृष्टमध्यमापकृष्टसृष्ट्या पक्षपातः प्रसज्येत अतिघोरदुःखयोगकरणानैर्घृण्यं चावर्जनीयमिति तत्रोत्तरं न सापेक्षत्वादिति, न प्रसज्येयातां वैषम्यनैर्घृण्ये कुतः सापेक्षत्वात् सृज्यमान-

देवादिक्षेत्रज्ञकर्मसापेक्षत्वाद्विषमसृष्टेर्देवादीनां क्षेत्रज्ञानां देवादिशरीरयोगं तत्तत्कर्मसापेक्षत्वं दर्शयन्ति हि श्रुतिस्मृतयः "साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन कर्म्मणा" तथा भगवता पराशरेणापि देवादिवैचित्र्यहेतुः सृज्यमानानां क्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशक्तिरेवेत्युक्तं, "निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि, प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः" निमित्तमात्रं मुक्त्वैव नान्यत्किञ्चिदपेक्षते, नीयते तपसां श्रेष्ठ! स्वशक्त्या वस्तु वस्तुता" मिति स्वशक्त्या स्वकर्मणैव देवादिवस्तुताप्राप्तिरिति ॥ श्री० भा०

अर्थ—यद्यपि सम्पूर्ण जड़ चेतन पदार्थों से विलक्षण निरवयव सृष्टि से पूर्व एक जो परमपुरुष परमात्मा उससे अचिन्त्यशक्ति के कारण जड़ चेतन के साथ मिली हुई विचित्र सृष्टि होसक्ती है तथापि देव, तिर्य्यक्, मनुष्य और स्थावरादि उत्कृष्ट, मध्यम और नीच रचना के कारण उसमें पक्षपात आयेगा, क्योंकि जीव को ऐसे भयानक दुःख में डाल देने से निर्दयता हटाई नहीं जासक्ती ? उत्तर—ऐसा मत कहो, कर्मों के कारण वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं लगते, क्योंकि असमता वाली सृष्टि का पूर्वकर्मों के कारण से होना श्रुति स्मृति द्वारा पाया जाता है, अच्छे कर्म करने वाला अच्छा फल पाता और बुरे कर्म करने वाला बुरा फल पाता है, भगवान् पराशर ने भी पूर्वकर्मानुसार ही देवादि विचित्र योनियें मानी हैं, जैसाकि

"सृष्टि के रचने में निमित्त ईश्वर है और सुख दुःख जीवों के कर्माधीन होते हैं" अतएव अपने कर्मों द्वारा ही देवादि योनियों की प्राप्ति पाईजाती है अन्यथा नहीं।

समीक्षा—यह सूत्र स्पष्टार्थ के कारण विवादरहित होने से अधिक व्याख्यान की आवश्यकता नहीं रखता अर्थात् कर्माधीन ही वैषम्य=असमानता और नैर्घृण्य=निर्दयता यह दोनों दोष परिहार करके इस सूत्र में सामान्य रीति से दिखलाये गये हैं, और कर्म कैसे निमित्त होसक्ते हैं तथा कैसे अनादि हैं यह भाव विस्तारपूर्वक तर्कद्वारा अग्रिम सूत्र में कथन करते हैं :—

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३५॥

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं" इति प्राक्सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म यदपेक्षा विषमा-सृष्टिः स्यात्, सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग इति इतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत, अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्त्ततां नाम, प्राक् तु विभागाद्वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभा-वात्तुल्यैवाद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत्, नैष दोषः,अनादि-त्वात् संसारस्य,भवेदेष दोषोयद्यादिमानयं संसारःस्यात्, अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतु हेतुमद्भावेन कर्मणः

सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते, कथं पुनरवगम्यते अनादिरेष संसार इति, अत उत्तरं पठति ।

उपपद्यते च संसारस्यानादित्वं, आदिमत्त्वे हि संसारस्य अकस्मादुद्भूतेर्मुक्तानामपि पुनः संसारोद्भूतिप्रसङ्गः अकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, सुखदुःखादिवैषम्यस्य निर्निमित्तत्वात्, न चेश्वरो वैषम्यहेतुरित्युक्तम्, न चाविद्या केवला वैषम्यस्य कारणं एकरूपत्वात्, रागादिक्लेशवासनाक्षिप्तकर्मापेक्षात्वविद्या वैषम्यकरी स्यात्, न च कर्मान्तरेण शरीरं सम्भवति, न च शरीरमन्तरेण कर्म सम्भवतीतीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गः, अनादित्वे तु वीजाङ्कुरन्यायेनोपपत्तेर्न कश्चिद्दोषो भवति, उपलभ्यते च संसारस्यानादित्वं श्रुतिस्मृत्योः, श्रुतौतावत् "अनेन जीवेनात्मना" इति सर्ग प्रमुखे शारीरमात्मानं जीवशब्देन प्राणधारणनिमित्तेनाभिलपन्ननादिः संसार इति दर्शयति, आदिमत्वे तु ततः प्रागनवधारितः प्राणः स कथं प्राणधारणनिमित्तेन जीवशब्देन सर्गप्रमुखेऽभिलप्येत, न च धारयिष्यतीत्यतोऽभिलप्येत, अनागताद्धि सम्बन्धादतीतः सम्बन्धो बलीयान् भवति अभिनिष्पन्नत्वात्, "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वम-

कल्पयत्" इति च मंत्रवर्णः पूर्वकल्पसद्भावं दर्शयति, स्मृतावप्यनादित्वं संसारस्योपलभ्यते, "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो नचादिर्न च सम्प्रतिष्ठा" इति पुराणे चातीतानामनागतानाञ्च कल्पानां न परिमाणमस्तीति स्थापितम् ॥ शं० भा०

अर्थ—"हे सौम्य! यह प्रथम एक अद्वितीय था" इस प्रकार सृष्टि से पूर्व अविभाग सुने जाने से, नहीं हैं कर्म जिनके कारण विषम सृष्टि हो, सृष्टि के उत्तरकाल में जो विभाग उसके अधीन कर्म और कर्मों के अधीन शरीरादि विभाग, इस प्रकार एक दूसरे के सहारे होने का दोष लगेगा, इसलिये विभाग के पश्चात् कर्मों के कारण ईश्वर प्रवृत्त हो, पर विभाग से प्रथम विचित्र कर्म के अभाव से विषमसृष्टि में वैषम्य नैर्घृण्य दोष बने रहेंगे? यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि संमार अनादि है, यदि संसार आदि वाला होता तो यह दोष लगता, अनादि संसार में बीज और वृक्ष की भांति कार्य्यकारणभाव से कर्म और सृष्टि की प्रवृत्ति नहीं रुक सकती, प्रश्न—यह कैसे जानाजाय कि संसार अनादि है? उत्तर—संसार का अनादिपन उपपादन होसक्ता है, क्योंकि यदि संसार अनादि न होता तो अकस्मात् उत्पन्न होने के कारण मुक्त भी बन्धन में आजाते और न किये हुए कर्म भी लगजाते परन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि सुख दुःख वैषम्य के निमित्त होने से ईश्वर वैषम्य का हेतु नहीं यह पीछे कह आये हैं और एकरूप होने से नाही केवल अविद्या वैषम्य का कारण है, हां रागादि क्लेश वासना से किये हुए कर्मों के अधीन अविद्या वैषम्य करी है, बिना कर्मों के शरीर

और शरीर के बिना कर्म नहीं होते, यह अन्योन्याश्रय दोष का प्रसङ्ग भी होगा और अनादि मानने पर बीज वृक्ष के दृष्टान्त से कोई दोष नहीं आता, और श्रुति स्मृति में भी संसार का अनादित्व पाया जाता है, जैसाकि "इस जीवात्मा से प्रवेश करके नामरूप को करूं" इस श्रुति में वर्णन किया है, यह सृष्टि के प्रारम्भ में शरीर आत्मा प्राणधारणनिमित्त वाले जीव शब्द से श्रुति कहती हुई संसार अनादि है यह कथन करती है, यदि संसार आदि वाला होता तो उसमे पूर्व प्राणधारण के न होने से सृष्टि के प्रथम जीव शब्द का प्रयोग कैसे कियाजाता, यदि यह कहाजाय कि प्राणों को भविष्यत् में धारण करेगा इस अभिप्राय से जीव शब्द कहागया है, यह इसलिये ठीक नहीं कि सिद्ध होने के कारण अनागत सम्बन्ध से भूत सम्बन्ध बलवान होता है "ईश्वर सूर्य्य तथा चन्द्रमा को प्रथम की भांति प्रत्येक सृष्टि में बनाता है" यह वेद प्रथम सृष्टि के सद्भाव को दिखलाता है, और स्मृति में भी संसार का अनादित्व पायाजाता है, जैसाकि "न उसका रूप है न अन्त है न आदि" पुराणों में भी अतीत और अनागत कल्पों की कोई गिनती नहीं, यह बात स्थापन कीगई है ।

प्राक्सृष्टेः क्षेत्रज्ञा नाम न सन्ति कुतः अविभाग-श्रवणात् "सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति" अतस्तदानीं तदभावात्तत्कर्म न विद्यते कथं तदपेक्षं सृष्टिवैषम्यमित्यच्युत इति चेन्न अनादित्वात्, क्षेत्रज्ञानान्तत्कर्मप्रवाहाणां च तदनादित्वेऽविभाग उपपद्यते च यतस्त-

त्क्षेत्रज्ञवस्तुपरित्यक्तनामरूपं ब्रह्मशरीरतयाऽपि पृथग्व्यपदेशानर्हम् अतिसूक्ष्ममवतिष्ठते तथाऽनभ्युपगमे अकृताभ्यागमप्रकृतविप्रणाशप्रसङ्गश्च, उपलभ्यते च तेषामनादित्वं "न जायते म्रियते वा विपश्चिदिति" सृष्टिप्रवाहानादित्वं च "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदित्यादौ" "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते" इति नामरूपव्याकरणमात्रश्रवणात् क्षेत्रज्ञानां स्वरूपानादित्वं सिद्धं, स्मृतावपि "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपीति" अतस्सर्वविलक्षणत्वात्सर्वशक्तित्वाल्लीलैकप्रयोजनत्वात् क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येन विचित्रसृष्टियोगाद्ब्रह्मैव जगत्कारणम् ॥ श्री०भा०

अर्थ—सृष्टि से प्रथम जीव न थे, क्योंकि "हे सौम्य! पहले सच्छब्दवाच्य एक ही ब्रह्म था" और उस समय जीवों का अभाव होने से कर्म भी न थे फिर कर्मों की अपेक्षा सृष्टि का वैषम्य कैसे कहा जासकता है? यदि यह कहाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि जीव और उनके कर्मों का प्रवाह अनादि है और अनादि होने पर भी अविभाग के होने में कोई बाधा नहीं. क्योंकि जीव नाम रूप को छोड़कर ब्रह्मशरीररूपता से भिन्न कथन के अयोग्य हुए उस अवस्था में रहते हैं, ऐसा न मानने पर किये हुए कर्मों की हानि और न किये हुए का प्रसङ्ग होगा।

और जीवों का अनादित्व शास्त्र में भी पाया जाता है जैसाकि

"न जीव जन्मता है न मरता है" सृष्टिप्रवाह को वेद भी अनादि कथन करता है "ईश्वर सूर्य्य चन्द्रमा को पूर्व कल्पों के समान बनाता है" तब सृष्टि से पूर्व अविभागावस्था में अव्याकृत नाम रूप की दशा में न था और यह नाम रूप द्वारा विस्तार किया गया,इस प्रकार नाम रूप का विस्तार मात्र सुने जाने के कारण जीव स्वरूप से अनादि है और स्मृति में भी यही पाया जाता है कि "प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जान" अतएव सब वस्तुओं से विलक्षण सर्वशक्तिमान ब्रह्म ही लीलैकप्रयोजनता के कारण जीवों के कर्म द्वारा विचित्र सृष्टियोग में जगत् का कारण है।

समीक्षा—ब्रह्म ही जीवरूप से बहुत होगया यह अद्वैतवादियों का मत है इसका भले प्रकार खण्डन करने के लिये प्रथम अद्वैत मत से पूर्वपक्ष किया जाता है "**कर्म न थे अविभाग से**"=पूर्व सृष्टि में कर्म न थे एक के सुने जाने से, वेद में एक अद्वितीय सुना जाता है उसके एक होने से ही कर्मों का पृथकत्व नहीं रहता ? इस सन्देह के होने पर सूत्रकार कहते हैं कि "**ऐसा मत कहो अनादि होने से**" अर्थात् कर्मों के अनादि होने से एक सुने जाने के समय में भी कर्म रहते हैं,इसलिये उक्त दोष नहीं, यहां प्रतिपक्षी का कथन यह है कि कर्म शरीर के अधीन होने के कारण इतरेतराश्रय प्रसंग से वह संसार की विषमता के कारण नहीं होसकते, यह ठीक है कि कर्म शरीर के अधीन हैं पर शरीर के अधीन होना कोई सादी होने को सिद्ध नहीं करता क्योंकि वह प्रवाह रूप से अनादि हैं, कार्य्य का प्रवाहरूप से अनादि होना देखा गया है जैसे परमाणुओं के नित्य होने पर उनका पिण्ड भी नित्य देखा

जाता है, कर्मों के बिना शरीर नहीं होता और शरीर से बिना कर्म नहीं होते, यह जो एक दूसरे के सहारे पर होना कहागया है यह ठीक नहीं, क्योंकि बीजाङ्कुरन्याय से यह बात कट जाती है पराम्पराश्रय=एक दूसरे के सहारे पर होना वह कहलाता है जहां दोनों ओर सहारा छोड़कर एक दूसरे की आवश्यकता रखें और यह लक्षण कर्म तथा शरीर में नहीं घटसकता, क्योंकि जिन कर्मों से जो शरीर बनता है वह कर्म उस शरीर से उत्पन्न नहीं होते किन्तु अन्य शरीर से उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार प्रवाहरूप से परस्पराश्रय दोष नहीं लगता, यदि ऐसा होता कि सूक्ष्म हो तो स्थूल हो और स्थूल हो तो सूक्ष्म, इस प्रकार प्रकृति में इतरेतराश्रय द्वारा कार्य्य-कारणभाव के लोप होने से यह संसार न दीखता पर दीखता है, इसलिये चेतन का कर्म स्वभाव होने से प्रकृति के स्थूल सूक्ष्म रूप की भांति आश्रय के नित्य पाये जाने के कारण कर्मों का नित्य होना हटाया नहीं जासकता, कई लोगों का कथन है कि नित्य पदार्थों के कार्य्यरूप स्वभाव अपने आश्रय से पृथक् न होने के कारण नित्य देखे गये हैं तथा जीव के अनित्य होने से कर्म नित्य नहीं होसकते और दूसरे पदार्थ के आश्रय द्वारा प्रकट होने से अन्यथा न प्रकट होने से जीव का कार्य्य होना पाया जाता है, दूसरी बात यह है कि कहीं भी प्रकृति से भिन्न जीव नहीं देखा जाता किन्तु प्रकृति के अधीन ही सर्वत्र देखाजाता है यदि जीव पृथक् होता तो स्वतन्त्र द्रव्य की भांति प्रतीत होता पर ऐसा नहीं, और बात यह है कि यदि जीव नित्य है तो प्रकृति की किसी एक शक्ति के न रहने से क्यों नहीं रहता और रहने से रहता है,

यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि जीव का द्रव्य होना युक्ति तथा प्रमाण दोनों से पाया जाता है, युक्ति यह है कि अन्य पदार्थों के साथ मिले हुए की उपलब्धि होना गुण होने का कोई प्रमाण नहीं, क्योंकि पदार्थमात्र दूसरे पदार्थों के साथ मिला हुआ पाया जाता है फिर यह निश्चय नहीं किया जासकता कि कौन किसका गुण है, यदि यह कहाजाय कि जो जिसके बिना आत्मा को धारण न करसके वह उसका गुण होता है, यह इसलिये ठीक नहीं कि आकाश के बिना कोई मूर्त्तिमान पदार्थ आत्मा को धारण नहीं करसकता पर आकाश समवाय सम्बन्ध से उन पदार्थों का गुणी नहीं, यदि यह कहाजाय कि समवाय सम्बन्ध से जो जिसका आश्रय हो वह उसका गुण होता है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थान्तर भी वहां रहता है, फिर यह कैसे कहा जासकता है कि इसी के साथ इसका समवाय है अन्य के साथ नहीं, क्योंकि स्पष्ट भेद नहीं पायाजाता, यदि यह कहें कि यह पदार्थ के स्वभाव से निश्चय किया जासकता है, जैसे नील पीतादि तद्रूप होने से द्रव्य के गुण हैं इसी प्रकार जीवात्मा भी द्रव्य का गुण है, ऐसा मत कहो क्योंकि चैतन्य आनन्दादि गुणों द्वारा आत्मा को द्रव्य रूपता का भाव होने और प्रकृति के आकार को जीवात्मा के सद्भाव मात्र सूचक होने से जीवात्मा द्रव्य का गुण नहीं कहाजासकता, यदि वह ऐसा न होता तो अभिव्यङ्ग्य पदार्थमात्र में अतिप्रसंग आजाता, और जो यह कहागया है कि प्रकृति के परिणाम और अपरिणाम होने से चेतन के भावाभाव की उपलब्धि पाई जाती है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर प्रकृति भी अनित्य

होजायगी और ऐसा होने से सूक्ष्म अवस्था वाली प्रकृति की भी उपलब्धि नहीं होगी, और जो यह कहागया है कि यदि जीवात्मा शरीर से पृथक् होता तो स्वतन्त्र उपलब्ध होता, यहां विचारणीय यह है कि स्वतन्त्रता क्या? किसी पदार्थ का आश्रय न लेकर पदार्थमात्र से पृथक् रहना अथवा अपनी सत्ता से उपलब्ध होना स्वतन्त्रता है? प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि पदार्थमात्र दूसरे पदार्थ से निराश्र उपलब्ध नहीं होता, और दूसरा पक्ष रहने पर भी कोई हानि नहीं, क्योंकि चेतन पदार्थ की प्रवृत्ति देखी जाती है और दूसरे की प्रवृत्ति न देखे जाने से म्याटीरियलिस्टों के मत में भी चेतन का अपनी सत्ता से उपलब्धि वाला होना पाया जाता है, इस प्रकार स्वतःप्रकाश होने से अनादित्व सिद्ध है, विस्तारपूर्वक यथावसर कथन किया जायगा, इस प्रकार तर्कों द्वारा अनादिपन कहाजासकता है और "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया" ऋग्० २।३।१७ तथा "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" छा० इत्यादि वेदोपनिषदों में भी जीवात्मा का अनादि होना कथन किया गया है, यदि जीवात्मा अनादि न होता तो उसको जीव शब्द से उपनिषत्कार वर्णन न करते, इस प्रकार वर्णन करने से जीव का अनादित्व स्पष्ट सिद्ध है और यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त स्वामी शङ्कराचार्य्य को भी अभिमत है, पर यह बात समझ में नहीं आती कि जीवात्मा को अनादि कहना और ब्रह्मरूप प्रकृति से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ मानना यह परस्पर विरोध नहीं तो क्या है?

इसका वह यह उत्तर देते हैं कि सृष्टि की असमता में पाप पुण्य की व्यवस्था करने के लिये न केवल जीवात्मा ही अनादि माना गया है किन्तु ईश्वर, अविद्या, अविद्या का सम्बन्ध, ब्रह्म और

जीवों के कर्म यह सब अनादि माने गये हैं, इसलिये ब्रह्म के साथ एकत्व बोधन करने के लिये सब का म्याटीरियलकाज़ ब्रह्म है इसलिये परस्पर विरोध नहीं, वाह ! क्या ही अद्वैतवादियों की अनादित्व परिभाषा की विलक्षणता है जिससे अनादित्व और सादित्व आपस में विरोधी नहीं, यहां प्रष्टव्य यह है कि अनादित्व क्या ? क्या जिसकी उत्पत्ति न हो उसको अनादि कहते हैं वा अनादि के जो सदृश हो उसको अनादि कहते हैं ? यदि उत्पत्ति-शून्य का नाम अनादि है तो जीवादिकों का म्याटीरियलकाज़ ब्रह्म नहीं होसक्ता यदि यह कहाजाय कि अनादि के सदृश को अनादि कहते हैं तो किस धर्म से सादृश्य है उत्पत्ति शून्य वा किसी अन्य धर्म से? प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि सादृश्य भी परमार्थ में अनादि होजायगा और सादृश्य के मण्डन करने वाले धर्मान्तर के अभाव होने से दूसरा पक्ष भी नहीं बनसकता, क्या ही तर्क की चतुराई है कि मन्दों के लालनार्थ सब द्वैत पथ से सिद्ध किया जाता है और स्वमार्ग के अन्तरङ्गों के प्रति सब ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं इसका उपदेश किया जाता है, यदि उनसे यह पूछाजाय कि जीवादिकों का अनादि होना और सब पदार्थों का ब्रह्म से उत्पन्न होना, इनमें से कौन ठीक है ? तो उत्तर यही मिलेगा कि पाप पुण्य की व्यवस्था के लिये जीवादि सब अनादि हैं और ब्रह्म बनाने के लिये सब सादि हैं, इस प्रकार तर्काभास से अद्वैतवादी अपने मत का मण्डन करते हैं, और युक्ति यह है कि यदि एक ही ब्रह्म होता तो यह न कहाजाता कि "इतनी उसकी महिमा है और पुरुष उससे बड़ा है" प्रत्युत यह कहाजाता कि "यह ब्रह्म की भ्रान्ति है" और जो यह कहा है कि सृष्टि की रचना में कोई प्रयोजन नहीं किन्तु परमार्थ बोधन में तात्पर्य्य तथा असत्य से भी

सत्य की प्राप्ति देखी गई है, जैसाकि लिपि से सत्य अक्षर की प्राप्ति देखी जाती है, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि लेखरूप लिपि सत्य है, सत्य केवल कूटस्थ नित्य ही को नहीं कहते किन्तु अर्थ वाली क्रिया करने वाले को भी सत्य कहते हैं और यह बात लिप्यादिकों में भी है, और जो यह कहा है कि इसके रचने में न ईश्वर का अपना प्रयोजन है और न पराया इसलिये यह निष्प्रयोजन सृष्टि है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टि रचने में दोनों प्रयोजन सिद्ध हैं, नित्य मुक्त होने से ईश्वर का स्वाभाविक ईश्वरत्व नष्ट नहीं होता यदि ऐसा होता तो वह ईश्वर न रहता परन्तु ऐसा नहीं, इससे स्पष्ट है कि नित्यमुक्त होना जगत्कर्तृत्व का विरोधी नहीं प्रत्युत अनुकूल है, यदि यह कहाजाय कि दुखसागर होने से संसार रचना ठीक नहीं, यह बात भी बिना विचार के सार मालूम होती है, क्योंकि संसार में धर्म अर्थ काम मोक्ष यह चार प्रकार का फल देखाजाता है, इसलिये यह सृष्टि प्रयोजन वाली है, ऐसा वैदिक लोग उपपादन करते हैं।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥३६॥

चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिश्चेत्यस्मिन्नव-धारिते वेदार्थे परैरुपक्षिप्तान् विलक्षणत्वादीन् दोषान् पर्यहार्षीदाचार्य्यः, इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानं प्रकर-णमारिप्समाणः स्वपक्षपरिग्रहप्रधानं प्रकरणमुपसंहरति, यस्मादस्मिन् ब्रह्मणि कारणे परिगृह्यमाणे प्रदर्शितेन प्रकारेण सर्वे कारणधर्मा उपपद्यन्ते "सर्वज्ञं सर्वशक्ति

महामायश्च तद्ब्रह्म" इति तस्मादनतिशङ्कनीयमिदमौपनिषदं दर्शनमिति ॥ शं० भा०

अर्थ—चेतन ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण है, इस प्रकार वेदार्थ के निर्धारण में वादी के दिये हुए विलक्षणतादि दोषों को आचार्य्य ने परिहार किया है, अब वादी के पक्ष का निषेध है प्रधान जिस प्रकरण में उसके चलाने की इच्छा करते हुए अपने प्रधान पक्ष वाले प्रकरण का उपसंहार करते हैं, ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म में जगत् कारण होने के सब धर्म पाये जाते हैं, क्योंकि ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिसम्पन्न महामाया वाला है, इसलिये वेदान्त मानने वालों का सिद्धान्त शङ्का योग्य नहीं।

प्रधानपरमाण्वादीनां कारणत्वे यद्धर्मवैकल्यमुक्तं वक्ष्यमाणं च तस्य सर्वस्य धर्मजातस्य कारणत्वोपपादिनो ब्रह्मण्युपपत्तेश्च ब्रह्मैव जगत्कारणमिति स्थितम् ॥ श्री०भा०

अर्थ—प्रधान और परमाणु आदि के कारण होने में जिन धर्मों की अनुपपत्ति कही गई है और कही जायगी उन सब धर्मों की ब्रह्म में उपपत्ति होने से ब्रह्म ही जगत् का कारण मानना ठीक है ॥

समीक्षा—सर्वशक्तिमान् होने के कारण ईश्वर में अन्याय का दोष नहीं लगसकता, इसी आशय से कहा है कि उसमें सब धर्म पाये जाने से भी कोई दोष नहीं।

इस सूत्र का व्याख्यान इस प्रकार नहीं किया जासकता

कि ब्रह्म सबका उपादान कारण होने से सर्वात्मरूप है और इसीलिये सब धर्मों वाला होसकता है, क्योंकि "सर्व" शब्द यहां सापेक्ष है जैसे "देवदत्त बलवान् है" इस कथन से मनुष्यों में देवदत्त बलवान समझा जायगा नकि सिंहादिकों में, वैसे ही यहां सर्वधर्म के कथन करने से जो कारण धर्म हैं वही समझे जायंगे अन्य नहीं, यदि ऐसा न हो तो इतरों का निषेध करके ब्रह्म में निमित्तकारणत्व स्थापन करना निरर्थक होजाता है,क्योंकि ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई पदार्थ न होने से उसकी व्यावृत्ति करना व्यर्थ है।

ईश्वर कल्याण गुणों का आकर होने से भी "सर्व" शब्द निरपेक्ष वृत्ति नहीं, यदि ऐसा मानाजाय तो अपगुण भी सर्व शब्द के भीतर आजाने से ईश्वर में अपगुणों के आकर होने का दोष लगेगा।

यहां यह शङ्का होती है कि उक्त शब्द की संकुचितवृत्ति मानने से सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य ब्रह्म न रहेगा और उक्त त्रितयभेद शून्य ब्रह्म "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि "न द्वितीयो न तृतीयः" अथर्व० ३।४।१६ इत्यादि मन्त्रों से सजातीय भेद तथा "सपर्य्यगाच्छुक्रम्" यजु० ४०।८ इत्यादि मन्त्रों से स्वगतभेद के न पाये जाने पर भी विजातीय भेद की निवृत्ति में कोई प्रमाण नहीं प्रत्युत "यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभा विवारा" यजु० ३४।५ इत्यादि मन्त्रों से बलपूर्वक ब्रह्म में विजातीय भेद प्रतिपादन कियागया है।

दूसरी शङ्का यह है कि विजातीय भेद के होने पर ब्रह्म वस्तुपरिच्छेद से रहित कैसे होसक्ता है? यदि वस्तुपरिच्छेद

वाला ब्रह्म मानाजाय तो देशकालपरिच्छेद भी उसमें अवश्य आवेगा और देशकालपरिच्छेद से घटादिकों की भांति अनित्यत्व दोष लगेगा, इसलिये ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानने से वस्तुकृत परिच्छेद दोष हट जाता है. और यह बात " सर्व " शब्द को निरबधिक वृत्ति मानने से बनसकती है अन्यथा नहीं ? इसका समाधान यह है कि यह नियम नहीं कि जिसका वस्तुकृत परिच्छेद हो उसका देशकालकृतपरिच्छेद भी हो, जैसेकि जीव में वस्तुकृत परिच्छेद होने पर भी कालकृतपरिच्छेद नहीं और आकाश में बस्तुकृत परिच्छेद होने पर देशकृतपरिच्छेद नहीं, इससे सिद्ध है कि वस्तुकृतपरिच्छद देशकालकृतपरिच्छेद का प्रयोजक नहीं किन्तु उसका प्रयोजक साकारत्व है,ब्रह्म मेंसाकारत्व के अभावद्वारा विजातीय भेद से देशकालपरिच्छेद नहीं, और जो यह कहागया है कि अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होने से ब्रह्म विजातीयभेद शून्य होसकता है, यह इसलिये ठीक नहीं कि विजातीय पदार्थ के न होने से ब्रह्म में व्यावृत्ति की उपपत्ति ही नहीं बनसक्ती,यदि ब्रह्म में विजातीय भेद का अभाव है तो कौन किससे पृथक् किया जाता है, क्योंकि अविद्या से विलक्षण ब्रह्म मानने से तुम्हारे मत में भी विजातीय भेद बना रहता है, और दृष्टान्त के अभाव होने से भी विजातीय भेद हटाया नहीं जासकता, क्योंकि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता जहां अभिन्ननिमित्तोपादानकारण प्रसिद्ध हो, मकड़ी भी शरीर से उपादान और अपने आत्मा से निमित्तकारण है, इसलिये उसका दृष्टान्त भी सङ्गत नहीं होसकता, यदि दुर्जनतोष न्याय से मान भी लियाजाय कि ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है तो भी वह प्रकृतिरूप से उपादान और चेतनरूप से

निमित्त होने पर भी अर्थ से निमित्तकारण ही सिद्ध होता है, इसलिये ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानना ठीक नहीं।

"सर्व" शब्द सापेक्ष होने से ब्रह्म सर्व कल्याण गुणों वाला रहे पर प्रश्न यह है कि प्रयोजनवत्त्वाधिकरण के साथ इस सूत्र का क्या सम्बन्ध ? क्योंकि सर्वशक्तिमान् होना प्रयोजन और निष्प्रयोजन के साथ सम्बन्ध नहीं रखता, सम्बन्ध यह है कि पूर्व सूत्र में यह दिखलाया गया है कि वैषम्य नैर्घृण्य दोष कर्म के अनादि होने से ईश्वर में नहीं आता, इसी सङ्गति में यह भी कथन किया है कि सर्वशक्तिमान् होने से भी उक्त दोष नहीं आसक्ता, क्योंकि वैषम्य नैर्घृण्य अज्ञान और न्यूनतादि से होते हैं पर सर्वशक्तिमान् होना अज्ञानता तथा न्यूनतादिकों के अभाव को बोधन करता है।

अंशोनानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके॥ ब्र० सू० २।३।४२

जीवेश्वरयोरुपकार्योपकारकभाव उक्तः, स च सम्बद्धयोरेव लोके दृष्टः यथा स्वामिभृत्ययोर्यथावाऽग्निविस्फुलिङ्गयोः, ततश्च जीवेश्वरयोरप्युपकार्योपकारकभावाभ्युपगमात् किं स्वामिभृत्यवत् सम्बन्धः आहोस्वित् विस्फुलिङ्गवदित्यस्यां विचिकित्सायामनियमो वा प्राप्नोति अथवा स्वामिभृत्यप्रकारेष्वेवेशित्रीशितव्यभावस्य प्रसिद्धत्वात् तद्विध एव सम्बन्ध इति प्राप्नोति, अतो

ब्रवीति अंश इति, जीवईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गः, अंश इवांशः नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति, कस्मात् पुनर्निरवयवत्वात् स एव न भवति नानाव्यपदेशात् "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति" इति चैवंजातीयको भेदनिर्देशो नासति भेदे युज्यते, ननु चायं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्यसारूप्ये पुज्यत इति, अत आह अन्यथा चापीति, नच नानाव्यपदेशादेव केवलादंशत्वप्रतिपत्तिः किं तर्ह्यन्यथा चापि व्यपदेशो भवत्यनानात्वस्य प्रतिपादकः, तथा हि एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्ति आथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा उत" इत्यादिना, दाशा य एते कैवर्ताः प्रसिद्धाः ये चामी दाशाः स्वामिन्यात्मानमुपक्षिपन्ति ये चान्ये कितवा द्यूतवृत्तास्ते सर्वे ब्रह्मेवेति हीनजन्तूदाहरणेन सर्वेषामेव नामरूपकृतकार्यकरणसङ्घातप्रविष्टानां जीवानां ब्रह्मत्वमाह,तथा अन्यत्रापि ब्रह्मप्रक्रियायामेवायमर्थः प्रपंच्यते "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः"

इति "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते" इति च "नान्योऽस्ति द्रष्टा" इत्यादिश्रुतिभ्यश्चास्यार्थस्य सिद्धिः, चैतन्यञ्चाविशिष्टं जीवेश्वरयोर्यथाऽग्निविस्फुलिङ्गयोरौष्ण्यम्, अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगमः,कुतश्चांशत्वावगमः। शं० भा.

अर्थ–जीव उपकारपात्र और ईश्वर उपकारक है, यह कथन कियागया है और यह बात लोक में सम्बन्ध वालों में भी देखी जाती है,जैसाकि स्वामी सेवक में,अग्नि चिङ्गारे में,जीव और ईश्वर क उपकार्य्य, उपकारकभाव सम्बन्ध में यह सन्देह होता है कि वह सम्बन्ध क्या स्वामी और सेवक की भांति है वा अग्नि और चिङ्गारे की भांतिहै? पूर्वपक्षी का कथन है कि दोनों में से कोई नहीं वा स्वामी और सेवक की भांति शासनकर्त्ता और शासनाई यह सम्बन्ध लोक में प्रसिद्ध होने से इसी प्रकार का सम्बन्ध पाया जाता है, इसलिये सूत्र में कहा है कि जीव ईश्वर का अंश है जैसे अग्नि का चिङ्गारा, जीव ईश्वर के अंश की तरह है मुख्य अंश नहीं निरवयव होने से, और नाना कथन किये जाने से जीव अंश की भांति भी नहीं होसकता, और "वह अन्वेष्टव्य तथा जिज्ञासा योग्य है" "इसी को जानकर मुनि होसकता है" "जो आत्मा में रहता है और आत्मा के भीतर प्रेरणा करता है" इस प्रकार के भेदनिर्देश भेद के न होने पर ठीक नहीं रहते, यहां यह कहा जासकता है कि यह नानाव्यपदेश स्वामी भृत्य की भांति ही ठीक होसकता है, इसलिये कहा है कि "और प्रकार से भी" अर्थात् केवल नानात्व के कथन से ही अंशत्व की सिद्धि नहीं किन्तु अन्य प्रकार से भी एकत्व का

व्यपदेश पाया जाता है यह बात दिखलाई जाती है, कई शाखा वाले आथर्वणिक ब्रह्मसूक्त में "ब्रह्म ही मछली वाला है, ब्रह्म ही दास है और ब्रह्म ही ज्वारी है" इत्यादिकों से जीव में दास कितवादि भाव कथन करते हैं, दास वह हैं जो कैवर्त्त हैं, दास वह हैं जो स्वामी के आश्रित हैं और जूए से वृत्ति करने वाले जो कितव हैं यह सब ब्रह्म ही हैं, हीन जन्तुओं के उदाहरण से सब नाम रूप वाला जो कार्य्य कारणरूप संघात है उसमें प्रविष्ट जीवों के ब्रह्मभाव को बोधन करने के लिये हैं, इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी ब्रह्मप्रक्रिया में इस अर्थ का विस्तार किया गया है, "तू स्त्री है, तूही पुरुष है, तू लड़का है वा लड़की है तू बूढ़ा है तूही लाठी लेकर चलता है, तू उत्पन्न होता है और तू सर्वसुख है" विवेकी पुरुष सब नामरूप को ब्रह्मस्वरूप जानकर उपशम को प्राप्त होता है "इससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं" इत्यादि श्रुतियों से इस अर्थ की सिद्धि है, और अग्नि तथा चिङ्गारे की भांति जीव ईश्वर की चेतनता भी समान है, इसलिये भेदाभेद करके अंशत्व की सिद्धि होती है, फिर और प्रकार भी अंशत्व की सिद्धि है।

जीवस्य कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तमित्युक्तम्, इदानीं किमयं जीवः परस्मादत्यन्तभिन्नः? उत परमेव ब्रह्म भ्रान्तम्? उत ब्रह्मैवोपाध्यवच्छिन्नम्? अथ ब्रह्मांश? इति संशय्यते, श्रुतिविप्रतिपत्तेः संशयः, ननु तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः, अधिकं तु भेदनिर्देशादित्यत्रै-वायमर्थोनिर्णीतः सत्यं, स एव नानात्वैकत्वश्रुतिविप्रतिपत्याऽऽक्षिप्य जीवस्य ब्रह्मांशत्वोपपादनेन विशेषतो

निर्णीयते, यावद्धि जीवस्य ब्रह्मांशत्वं न निर्णीतं ताव-ज्जीवस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं ब्रह्मणस्तस्मादधिकत्वं च न प्रतितिष्ठति, किंतावत्प्राप्तम् अत्यन्तभिन्न इति, कुतः ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावित्यादिना भेदनिर्देशात ज्ञाज्ञयोरभेदश्रुतयस्त्वग्निना सिञ्चेदितिवत विरुद्धार्थप्रति पादनादौपचारिक्यः, ब्रह्मणोंऽशो जीव इत्यपि न सा-धीयः, एकवस्त्वेकदेशवाची ह्यंशशब्दः. जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वे तद्गता दोषा ब्रह्मणि भवेयुः, नच ब्रह्म-खण्डो जीव इत्यंशत्वोपपत्तिः खण्डनानर्हत्वात ब्रह्मणः प्रागुक्तदोषप्रसङ्गाच्च, तस्मादत्यन्तभिन्नस्य च तदंशत्वं दुरुपपादम् ।

यद्वा भ्रान्तं ब्रह्मैव जीवः, कुतः तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्मेत्यादिब्रह्मात्मभावोपदेशात्,नानात्ववादिन्यस्तु प्रत्य-क्षादिसिद्धार्थानुवादित्वादनन्यथासिद्धाऽद्वैतोपदेशपरा-भिः श्रुतिभिः प्रत्यक्षादय इवाविद्यान्तर्गताः ख्याप्यन्ते, अथवा ब्रह्मैवानाद्युपाध्यवच्छिन्नं जीवः, कुतः तत एव ब्रह्मात्मभावोपदेशात् नचायमुपाधिर्भ्रान्तिपरिकल्पित इति वक्तुं शक्यं बन्धमोक्षादिव्यवस्थाऽनुपपत्तेरित्येवं प्राप्तेऽभिधीयते ब्रह्मांश इति, कुतः नानाव्यपदेशाद-न्यथा च एकत्वेनव्यपदेशात्, उभयथा हि व्यपदेशो

दृश्यते नानात्वव्यपदेशस्तावत्स्रष्टृत्वसृज्यत्वनियन्तृत्व-नियाम्यत्वसर्वज्ञत्वाज्ञत्वस्वाधीनत्वशुद्धत्वाशुद्धत्वकल्याणगुणाकरत्वतद्विपरीतत्वपतित्वशेषत्वादिभिर्दृश्यते, अन्यथा चाभेदेन व्यपदेशोऽपि तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्मेत्यादिभिर्दृश्यते, अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवाः" इत्यार्थवर्णिका ब्रह्मणो दाशकितवादित्वमप्यधीयते. ततश्च सर्वजीवव्यापित्वेनाभेदो व्यपदिश्यते इत्यर्थः, एवमुभयव्यपदेशमुख्यत्वसिद्धये जीवोऽयं ब्रह्मणोंऽश इत्यभ्युपगन्तव्यः, नच भेदव्यपदेशानां प्रत्यक्षादिप्रसिद्धार्थत्वेनान्यथासिद्धत्वं ब्रह्मसृज्यत्वतन्नियाम्यत्वतच्छरीरत्वतच्छेषत्वतदाधारत्वतत्पाल्यत्व तत्संहार्य्यत्वतदुपासकत्वतत्प्रसादलभ्यधर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थभोक्तृत्वादयः तत्कृतश्च जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनानन्यथासिद्धःअतो न जगत्सृष्ट्यादिवादिनीनां प्रमाणान्तरसिद्धभेदानुवादेन मिथ्यार्थोपदेशपरत्वम् ।

नचाखण्डैकरसचिन्मात्रस्वरूपेण ब्रह्मणाऽऽत्मनोऽतद्भावानुसन्धानं बहुभवनसङ्कल्पपूर्वकवियदादिसृष्टिं जीवभावेन तत्प्रवेशं विचित्रनामरूपव्याकरणं तत्कृतानन्तविषयानुभवनिमित्तसुखदुःखभागित्वमभोक्तृत्वेन

तत्र स्थित्वा तन्नियमनेनान्तर्यामित्वं जीवभूतस्य स्वस्य कारणब्रह्मात्मभावानुसन्धानं संसारमोक्षं तदुपदेशशास्त्रं च कुर्वाणेन भ्रमितव्यमित्युपदिश्यते, तथा सति उन्मत्तप्रलपितत्वापातात्, उपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्म जीव इत्यपि न साधीयः पूर्वनिर्दिष्टनियन्तृनियाम्यत्वादिव्यपदेशबाधादेव, न हि देवदत्तादेरेकस्यैव गृहाद्युपाधिभेदान्नियन्तृनियाम्यभावादिसिद्धिः, अत उभय व्यपदेशोपपत्तये जीवोऽयं ब्रह्मणोंऽश इत्यभ्युपेयम् ॥ श्री०भा०

अर्थ—जीव का कर्तृत्व=कर्ता होना ईश्वराधीन है, यह बात कथन कर आये हैं, अब श्रुतियों के विवाद से यह सन्देह उत्पन्न होता है कि जीव परमेश्वर से अत्यन्त भिन्न है अथवा परब्रह्म ही भ्रान्ति से जीव होगया है वा उपाधि के साथ मिला हुआ ब्रह्म ही जीव है अथवा जीव ब्रह्म का अंश है ? ननु—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" "अधिकन्तु भेदनिर्देशात्" इन सूत्रों में इसका निर्णय किया गया है फिर यहां दोबारा यह विचार क्यों ? उत्तर—वही नानात्व और एकत्व श्रुति के विवाद द्वारा प्रश्न करके जीव का ब्रह्मांश होना विशेषरूप से यहां निर्णय किया जाता है अर्थात् जब तक जीव का ब्रह्मांश होना निर्णय न कियाजाय तबतक जीव का ब्रह्म के साथ अभेद होना और ब्रह्म का उससे अधिक होना स्थिर नहीं हो सकता, "एक ज्ञानी दूसरा अज्ञानी" "एक ईश्वर और दूसरा अनीश्वर है" इत्यादि श्रुतियों द्वारा भेद के पाये जाने से सिद्ध है कि ब्रह्म से जीव अत्यन्त भिन्न है,

जीवेश्वर की एकत्व प्रतिपादक श्रुतियें "वृक्ष को अग्नि से सींचे" इस प्रकार विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन करने वाली होने से गौण हैं, जीव ब्रह्म का अंश है यह बात भी ठीक नहीं, क्योंकि वस्तु के एकदेश का वाचक अंश शब्द है, यदि जीव को ब्रह्म का एकदेश मानाजाय तो जीव के सब दोष ब्रह्म को लगेंगे, ब्रह्म का खण्ड न होने से और पूर्वोक्त दोषों के लगने से "ब्रह्म का खण्ड जीव है" इस अर्थ में भी अंशत्व की सिद्धि नहीं होसकती, इसलिये अत्यन्त भिन्न को अंश कहना समीचीन नहीं अथवा "वह तू है" "यह आत्मा ब्रह्म है" इत्यादि श्रुतियों द्वारा जीव को ब्रह्मभाव उपदेश किये जाने से ब्रह्म ही भूलकर जीव बनगया है? जैसे अद्वैत परक श्रुतियों से अविद्यान्तर्गत प्रत्यक्षादि प्रमाण निष्फल सिद्ध होते हैं इसीप्रकार नानात्व को कथन करने वाली श्रुतियें प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ का अनुवादक होने से निष्फल हैं अथवा ब्रह्मात्मभाव उपदेश किये जाने से अनादि उपाधि के साथ मिला हुआ ब्रह्म ही जीव है, बन्ध मोक्षादिकों की व्यवस्था न बनने से यह उपाधि भ्रान्ति कल्पित है यह भी नहीं कहाजासकता, इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त करते हैं कि नानाव्यपदेश पाये जाने तथा प्रकारान्तर से एकत्व पाये जाने के कारण जीव ब्रह्म का अंश है अर्थात् जैसे "स्रष्टृत्व, सृज्यत्व, नियन्तृत्व, नियाम्यत्व, सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्व, स्वाधीनत्व, पराधीनत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, कल्याणगुणाकरत्व, तद्विपरीतत्व, पतित्व, शेषत्व, इत्यादि ब्रह्म और जीव के भिन्न २ प्रकार के गुण पाये जाने से नानात्व व्यपदेश है, इसी प्रकार "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों से अभेद निर्देश भी पाया जाता है, आथर्वणिक शाखा वाले जीव को ब्रह्म का दास

कहते हैं, इसलिये ब्रह्म सर्व जीव व्यापी होने के कारण अभेद का निर्देश किया गया है वास्तव में भेद है।

प्रत्यक्षसिद्ध अर्थ के कथन करने वाली भेदश्रुतियें अन्यथासिद्ध हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि उपरोक्त गुणों के कारण जीव ब्रह्म में भेद है और वह भेद प्रत्यक्षादिकों का अविषय होने से जीवेश्वर भेदप्रतिपादक श्रुतियें अन्यथासिद्ध नहीं, इसलिये जगत्सृष्टि के कथन करने वाली श्रुतियें प्रत्यक्षादिकों की अनुवादक न होने से मिथ्यार्थ कथन करने वाली नहीं।

अखण्ड एकरस चिन्मात्र ब्रह्म का अपने आपको न जानना वेद से उपदेश नहीं किया जाता और नाहीं ब्रह्म का बहुत होजाने के सङ्कल्प से आकाशादि सृष्टि में जीवरूप से प्रविष्ट होना, विचित्र नामरूप को करना, तत्कृत अनन्त विषयों के अनुभव निमित्त सुख दुःख के भोक्ता होने के बिना ही वहां स्थित होकर नियमन करते हुए अन्तर्यामी होना, जीवभूत अपने स्वरूप का अपने आप को कारण ब्रह्म समझना, संसार से मुक्त होना और मुक्ति शास्त्र का बनाना इत्यादि व्यवहार भूलकर ब्रह्म का वेद से उपदेश नहीं कियाजासक्ता, क्योंकि ऐसा करने पर वेदों में उन्मत्तप्रलाप दोष लगेगा, और उपाधि के साथ मिला हुआ ब्रह्म जीव है यह बात भी ठीक नहीं, क्योंकि पूर्व कथन किये गये नियन्तृत्व नियाम्यत्वादि ब्रह्म के गुण न रहेंगे, एक ही देवदत्त में गृहादि के उपाधि भेद से नियन्तृत्व नियाम्यत्व की सिद्धि नहीं होती, इसलिये दोनों प्रकार के कथन की सिद्धि के लिये जीव ब्रह्म का अंश है यही मानना चाहिये।

समीक्षा—उक्त प्रकार से कर्म रूप निमित्त द्वारा वैषम्य नैर्घृ-

व्य दोषों की व्यवस्था करके जीव के अनादि निरूपण किये जाने पर भी जीव का ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न होना स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि श्रुति स्मृति में जीव का ब्रह्मांश होना पाया जाता है यह बात अग्नि और चिङ्गारे के दृष्टान्त से प्रसिद्ध है ? इस आक्षेप का समाधान करने के लिये अंशाधिकरण का व्याख्यान किया जाता है कि जीव ईश्वर का अंश है, अंश शब्द यहां एकदेश का वाची है, ईश्वर के निराकार होने के कारण खण्ड वाची नहीं, और नानाव्यपदेश के कारण भेद है, जैसाकि " नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां विदधातिकामान् "=नित्यों में नित्य चेतनों में चेतन और एक बहुतों की कामना को पूर्ण करता है इत्यादि वाक्यों में पाया जाता है, यहां बहुतों से तात्पर्य्य जीव का है, और एकशाखा वाले " ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मे मे कितवा उत " इत्यादिकों से ब्रह्म का सर्वस्वामित्व कथन करते हैं, यहां ब्रह्म का दाश कितवादि होना विवक्षित नहीं किन्तु हीन जन्तुओं का उदाहरण ब्रह्म का सर्वस्वामित्व बोधन करने के अभिप्राय से है, और यदि ब्रह्म का दाशादिभाव माना जाय तो ब्रह्म आपही कर्म और आपही कर्त्ता यह विरोध आवेगा और सर्वाकार मानने से ब्रह्म कल्याण गुणाकर न रहेगा, अद्वैतभाष्यकार ने जो यह कहा है कि अंश की तरह अंश है वास्तव में अंश नहीं, यह बात ठीक है, क्योंकि यहां ब्रह्म के निराकार होने के कारण वैदिक द्वैतपक्ष ही का शरण लेना पड़ा और यदि अग्नि के चिङ्गारे की भांति जीव ब्रह्म का अंश मानाजाय तो उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण के साथ विरोध आवेगा, क्योंकि इस अधिकरण में

जीव को अनादि सिद्ध किया है और अंश लोक में सादि ही देखा जाता है अनादि नहीं, यदि यह कहाजाय कि अंश भी अंशी रूपसे अनादि है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अग्नि चिङ्गारे की भांति अंशत्व स्वरूप से सादि होता है और उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में स्वरूप से ही जीव अनादि सिद्ध किया गया है, इसलिये सर्वस्वामित्व के अभिप्राय से जीव ब्रह्म का अंशाअंशीभाव मानना ठीक है अद्वैतवाद के अभिप्राय से नहीं. और जो यह कहागया है कि ब्रह्म और जीव में चेतनता समान है जैसे अग्नि और अग्नि के अंश चिङ्गारे में गरमी समान होती है इससे जीव ब्रह्म की एकता स्पष्ट है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि नियाम्यत्व और नियंतृत्वादि गुणों से जीव ब्रह्म का भेद पाया जाता है और एक होने पर ऐसा नहीं होसकता।

यदि यह कहाजाय कि ईश्वर का विभाग होने के कारण जीव अंश है तो ईश्वर ही अंशी बन जाता है, क्योंकि अंशों से अंशी का आरम्भ होने के कारण अंशी अंशों का कार्य्य होता है और अंशों के बिना अंशी की उपलब्धि कहीं नहीं देखी गई, जैसा कि तन्तुओं से बने हुए कपड़े का तन्तु रूप होना देखा जाता है और विभाग रूप अंश मानने में प्रश्न यह होता है कि विभाग किस निमित्त से हुआ ? स्वभाव से वा अविद्या से ? यदि स्वभाव से हुआ तो मुक्ति न रहेगी, क्योंकि जीव रूप विभाग स्वाभाविक होने के कारण बना ही रहेगा, यदि अविद्या निमित्त से हुआ तो मिथ्या होने के कारण अंशत्व न बनेगा, क्योंकि अविद्या निमित्त मरुस्थल के जलादिकों का सत्यत्व नहीं देखा जाता, ऐसा मानने पर जीव

का भी अंश होना मिथ्या ही है, इस प्रकार भगवान् सूत्रकार आपके कथनानुसार मिथ्यावादी हुआ, यहां प्रष्टव्य यह है कि आपका कथन आविद्यिक है वा पारमार्थिक ? यदि आविद्यिक है तो हमारी श्रद्धा आप के मिथ्या वचन सुनने में नहीं, और यदि आप सत्य कहते हैं तो क्या कहना है आपके पाण्डित्य और आत्मप्रशंसा को जो सूत्रकार को आविद्यिक और अपने आपको सत्यवादी ठहराया, विभागरूप से अंश मानने में हस्त पादादिकों की पीड़ा सब शरीर वालों में प्रतीत होने के कारण ईश्वर भी दुखाकर होगा और यह दोष नहीं हट सकेगा, इस विषय को श्रीभाष्याचार्य्य ने विस्तार किया है इसलिये हमें यहां विस्तार करने की आवश्यकता नहीं. " त्वं स्त्री त्वं पुमानसि " अथर्व० १०। ४। ८ यह ईश्वर के सर्वात्मा होने के अभिप्राय से कहा गया है जैसाकि " तदेवाग्निस्तदादित्यः तद्वायुस्तदुचन्द्रमा " यजु० ३२।१ इत्यादिकों में वर्णन किया है कि वही ब्रह्म अग्नि आदित्यादि रूप है, यदि वह स्त्री आदि रूप होता तो " विश्वतोमुखः "=सर्वशक्तिसम्पन्न न कहाजाता, मुखरूपशक्ति वा शक्तिमात्र जिसका सर्वत्र पायाजाय उसको " विश्वतोमुख " कहते हैं, इसप्रकार "विश्वतोमुख" साकार का विरोधी होने के कारण निराकार ब्रह्म का वाचक है, यदि ऐसा न मानाजाय तो एक स्थान में दो मुख न रहसकने से श्रुति में उक्त पद का निवेश ही व्यर्थ होजाय, परस्पर विरोधी स्त्री पुंस्त्वादि भाव ब्रह्म में लिङ्गादि के अभाव को बोधन करते हैं।

उपनिषद् भिन्न २ कर्ताओं के कारण भिन्न २ अभिप्राय

वाले हों पर विचारणीय यह है कि "अंशोनानाव्यपदेशात्" इस सूत्र में व्यास का क्या तात्पर्य्य है ? और अद्वैतभाष्यकार तथा विशिष्टाद्वैतभाष्यकार ने दोनों प्रकार के व्यपदेश की सिद्धि के लिये जो व्याख्यान किया है वह विरोध पाये जाने से ठीक नहीं अर्थात् ब्रह्म का अंशाअंशीभाव से सर्वरूप होजाना और जीव का अनादि होना इनका स्पष्ट विरोध देखा जाता है, और जीव ईश्वरभेदप्रतिपादक श्रुतियें प्रत्यक्ष भेद का अनुवादक होने से अन्यथासिद्ध हैं, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि जीव ईश्वर का भेद प्रत्यक्षगोचर नहीं, यदि दुराग्रहवशात् साधन करने से श्रुतिवाक्यों को अन्यथासिद्ध मानाजाय तो अद्वैतवादी के भी "सोयं देवदत्तः" इत्यादिकों में सिद्ध अभेद के अनुवाद करने के कारण अभेद श्रुतियें भी अन्यथासिद्ध होजायंगी, और यदि अभेद श्रुतियों के विरोध से भेदश्रुतियें अप्रमाण मानीजायं तो इन्हीं भेद श्रुतियों के विरोध से अभेद श्रुतियों का अप्रामाण्य ही क्यों न मानाजाय, हमारे वैदिक द्वैतपक्ष में प्रत्यक्ष का विरोध न होने के कारण भेदश्रुतियें प्रबल हैं और अभेद श्रुतियों का भेदश्रुतियों से इसप्रकार अविरोध है कि कहीं ईश्वर स्वरूपपरक होने से एकता और कहीं सर्वान्तरत्व बोधन के अभिप्राय से गौण होने के कारण एकता है, इसीलिये भेदाभिप्राय से ही व्यास का कथन है कि "जीव ब्रह्म का अंश= पादस्थानी है, क्योंकि प्रकारान्तर से भी श्रुतिवाक्यों में जीव को दाश कितवादिभाव से ब्रह्म का अंश कथन किया है" भेद के अभिप्राय से नानाव्यपदेश है अन्यथा नहीं, इसलिये यह सूत्र भेद ही को स्पष्ट करता है अभेद को नहीं ॥

मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

मन्त्रवर्णश्चैतमर्थमवगमयति "एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः, पादोऽस्य विश्वा भूतानित्रिपादस्याऽमृतं दिवि" इति अत्र भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजंगमानि निर्दिशति "अहिंसन् सर्वाभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः" इति प्रयोगात्, अंशः पादो भाग इत्यनर्थान्तरं, तस्मादप्यंशत्वावगमः, कुतश्चांशत्वावगमः ॥ शं० भा०

अर्थ–मन्त्रवर्ण=संहिता से भी यही अर्थ सिद्ध होता है कि "इसकी इतनी महिमा है इससे पुरुष अधिक है सब भूत एक पादस्थानीय और तीन पाद अमृत हैं" यहां भूत शब्द से स्थावर जङ्गम सब कथन किये गये हैं जिनमें जीव प्रधान है "तीर्थों से अन्यत्र सब भूतों की हिंसा न करना" इस प्रयोग से भी वही अर्थ पाया जाता है, अंश, पाद, भाग यह पर्य्याय शब्द हैं इसलिये जीव ईश्वर का अंश है।

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति" मन्त्रवर्णाच्च ब्रह्मांशो जीवः, अंशवाची हि पाद शब्दः विश्वाभूतानीति जीवानां बहुत्वाद् बहुवचनं मन्त्रे, सूत्रेऽप्यंश इत्येकवचनं जात्यभिप्रायं नात्मा श्रुतेरित्यत्राप्येकवचनं जात्यभिप्रायं "नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधाति कामान्"

इत्यादिश्रुतिभ्यः ईश्वराद्भेदस्यात्मनां बहुत्वनित्यत्वयो श्चाभिधीयमानत्वात्, एवं नित्यानामात्मनां बहुत्वे प्रामाणिके सति ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वेषामेकरूपत्वेऽपि भेदकाकार आत्मयाथात्म्यवेदनक्षमैरवगम्यते, " असन्ततेश्चाव्यतिकर " इत्यनन्तरमेव च आत्मबहुत्वं वक्ष्यति ॥ श्री० भा०

अर्थ–" सब भूत एकपादस्थानी हैं और तीनपाद अमृत हैं " इस मन्त्र से जीव ब्रह्म का अंश पाया जाता है, पाद शब्द यहां अंश का वाची है, बहुवचनार्थक " विश्वाभूतानि " पद मन्त्र में जीवों के बहुत होने के अभिप्राय से आया है, और सूत्र में अंश शब्द एकवचन के अभिप्राय से है "नात्माश्रुते" यहां भी एकवचन जाति के अभिप्राय से है "नित्यों में नित्य है चेतनों में चेतन है एक बहुतों की कामनाओं को पूर्ण करता है " इत्यादि श्रुतियों से जीवों का ईश्वर से भेद उनका बहुत होना और नित्य होना कथन किया गया है, इस प्रकार नित्य जीवों का नानात्व प्रमाणसिद्ध होने पर और ज्ञान स्वरूप मे सब एक होने पर भी जो भेद होने के हेतु हैं वहआत्मा के यथावत् स्वरूप के जानने वालों से छिपे नहीं, जीवात्माओं का नानात्व आगे कहा जायगा—

समीक्षा–मन्त्रवर्ण=" पादोऽस्यविश्वाभूतानित्रिपादस्याऽमृतंदिवि" वेद से भी अंशत्व की सिद्धि होती है, जैसाकि ऊपर कथन किया गया है, अतएव यह सूत्र वेदसंहिता के अर्थ

का प्रतिपादन करने वाला होने से विवाद रहित है, इसलिये अधिक व्याख्यान की आवश्यकता नहीं।

अपि च स्मर्यते ॥ ४४ ॥

ईश्वरगीतास्वपिचेश्वरांशत्वं जीवस्य स्मर्यते "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन" इति, तस्मादप्यंशत्वावगमः, यत्तूक्तं स्वामिभृत्यादिष्वेवेशित्रीशितव्यभावो लोके प्रसिद्ध इति, यद्यप्येषा लोके प्रसिद्धिस्तथापि शास्त्रात्त्वंशांशित्वमीशित्रीशितव्यभावश्च निश्चीयते, निरतिशयोपाधिसम्पन्नश्चेश्वरो निहीनोपाधिसम्पन्नान् जीवान् प्रशास्तीति न किञ्चिद्विप्रतिषिध्यते, ननु जीवेश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखोपभोगेनांशिन ईश्वरस्याऽपि दुःखित्वं स्यात्, यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमाङ्गगतेन दुःखेनाङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वं तद्वत्, ततश्च तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्नुयात्, अतोवरं पूर्वावस्थः संसार एवास्त्विति सम्यादर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः स्यादिति अत्रोच्यते॥ शं॰भा॰

अर्थ—भगवद्गीता में भी जीव ईश्वर का अंश कथन किया गया है जैसाकि "मेरा ही अंश जीव लोक में जीवरूप सनातन है" इससे भी जीव अंश पाया जाता है, और जो यह कहा है कि स्वामी सेवकादिकों में ही ईशितृईशतव्यभाव लोक में देखा जाता है, यद्यपि

यह बात लोक में प्रसिद्ध है तथापि शास्त्र से अंशांशित्व तथा ईशितृईशितव्यभाव निश्चित हैं, बिना हद वाली बड़ी उपाधि वाला ईश्वर छोटी उपाधि वाले जीवों का शासन करता है, इसलिये कोई विरोध नहीं, यहां यह शंका होती है कि जीव को ईश्वर का अंश मानने से उसके सांसारिक दुःख से अंशी जो ईश्वर है वह भी दुखी होगा, जैसे संसार में हस्तपादादि अंगों में दुःख होने से अंगी देवदत्त को भी दुःख होता है, इसप्रकार मुक्ति अवस्था में ईश्वर को प्राप्त होने वाले जीवों को भी अनन्त दुःख होगा, इसलिये उसकी अपेक्षा अल्प दुःख वाले संसार की निवृत्ति के लिये प्रवृत्त होना तथा दुःखनिवृत्ति हेतुक शास्त्र सर्वथा निष्फल होजायगा ? इसका उत्तर अगले सूत्र में कथन करते हैं :—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन" इति जीवस्य पुरुषोत्तमांशत्वं स्मर्य्यते, अतश्चायमंशः ।

अंशत्वेऽपि जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वेन जीवगता दोषा ब्रह्मण एवेत्याशङ्क्याह:—श्री० भा०

अर्थ—"मेरा ही अंश संसार में जीवरूप सनातन है" इस प्रकार जीव ईश्वर का अंश है, यह स्मृति से पाया जाता है, जीव ब्रह्म का एकदेश होने के कारण अंश होने से जीव के दोष ब्रह्म के ही हैं यह आशंका करके कहा है कि :—

समीक्षा—"स्मृति से भी ऐसा ही पाया जाता है" व्यास का यह कथन गीता को स्मृति मानने के अभिप्राय से नहीं

किन्तु मन्वादिकों को स्मृति मानकर है, क्योंकि गीता महाभारत के अन्तर्गत होने से स्मृति नहीं "सोऽभिध्यायशरीरात्" मनु० १।८ इस श्लोक में जड़चेतन सब विश्ववर्ग और ब्रह्म का अंशांशीभाव वर्णन किया गया है, ब्रह्म के शरीर का कथन इस श्लोक में इस अभिप्राय से है कि सब जड़ चेतन व्याप्यव्यापकभाव से ब्रह्म के पादस्थानी हैं, जैसाकि " यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यान्तरो यः पृथिवीमन्तरो यमयति यस्य पृथिवी शरीरम् "=जो पृथ्वी में रहता है पृथ्वी का अंतरात्मा है और जो पृथ्वी का प्रेरक है जिसका पृथ्वी शरीर है" "इस अंतर्य्यामी ब्राह्मण में कथन किया है।

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवं पर ईश्वरोऽनुभवति इति प्रतिजानीमहे, जीवोह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमिति अविद्याकृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वास्ति, जीवस्याऽपि अविद्याकृतनामरूपनिर्वृत्तदेहेन्द्रियाद्युपाध्यविवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो न तु पारमार्थिकोऽस्ति, यथा च स्वदेहगतं दाहच्छेदादिनिमित्तं दुःखं

तदभिमानभ्रान्त्यानुभवति तथा पुत्रमित्रादिगोचरमपि दुःखं तदभिमानभ्रान्त्यैवानुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येवं स्नेहवशेन पुत्र मित्रादिष्वभिनिविशमानः, ततश्च निश्चितमेतदवगम्यते मिथ्याभिमानभ्रमनिमित्त एव दुःखानुभव इति, व्यतिरेकदर्शनाच्चैवमवगम्यते, तथाहि पुत्रमित्रादिमत्सु बहुषूपविष्टेषु तत्सम्बन्धाभिमानिष्वितरेषु च पुत्रो मृतो मित्रं मृतमित्येवमाद्युद्घोषिते येषामेव पुत्रमित्रादिमत्त्वाभिमानस्तेषामेव तन्निमित्तं दुःखमुत्पद्यते नाभिमानहीनानां परिव्राजकानां अतश्च लौकिकस्याऽपि पुंसः सम्यग्दर्शनार्थवत्त्वं दृष्टं किमुत विषयशून्यादात्मनोऽन्यद्वस्त्वन्तरमपश्यतो नित्यचैतन्यमात्रस्वरूपस्येति, तस्मान्नास्ति सम्यग्दर्शनानर्थक्यप्रसङ्गः, प्रकाशादिवदिति निदर्शनोपन्यासः, यथा प्रकाशः सौर्यश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसम्बन्धात् तेषु ऋजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तत्तद्भावमिव प्रतिपद्यमानोऽपि न परमार्थतस्तद्भावं प्रतिपद्यते, यथा चाकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्निव विभाव्यमानोऽपि न परमार्थतो

मच्छति, यथाचोदशरावादिकम्पनात् तद्गते सूर्य्यप्रति बिम्बे कम्पमानेऽपि न तद्वान् सूर्यः कम्पते, एवम-विद्याप्रत्युपस्थापिते बुद्ध्याद्युपाध्युपहिते जीवाख्येंऽशे दुःखायमानेऽपि न तद्वानीश्वरोदुःखायते, जीवस्यापि दुःखप्राप्तिरविद्यानिमित्तैवेत्युक्तं तथाचाविद्यानिमित्त जीवभावव्युदासेन ब्रह्मभावमेव जीवस्य प्रतिपादयन्ति वेदान्ताः "तत्त्वमसि" इत्येवमादयः तस्मान्नास्ति जैवेन दुःखेन परमात्मनो दुःखित्वप्रसङ्गः ॥ शं०भा०

अर्थ—जैसे जीव संसार के दुःख को अनुभव करता है इस प्रकार ईश्वर अनुभव नहीं करता, जीव अविद्या उपाधि के वश से देहादिकों में आत्मभाव मानकर देहादि दुःखों से "मैं दुःखी हूं" इस अविद्याकृत दुःख के भोग को मानता है, इस प्रकार परमेश्वर को देहादि में आत्मभाव तथा दुःख का अभिमान नहीं, जीव को भी आविद्यिक नाम रूप जन्य देह इन्द्रियादि उपाधि के सम्बन्ध से अविवेक द्वारा भ्रम निमित्त ही दुःखाभिमान है वास्तव नहीं, जैसे अपने देह में दाहछेदादि निमित्त जो दुःख है उसको देहादि विषयक के अभिमान के भ्रम से अनुभव करता है वैसे ही पुत्र मित्रादिकों के दुःख को भी उनके अभिमान की भ्रान्ति से ही "मैं ही पुत्र हूं" "मैं ही मित्र हूं" इस प्रकार स्नेहवश पुत्र मित्रादिकों में अभिनिवेश करता हुआ दुखी होता है, इससे सिद्ध है कि मिथ्याभिमान भ्रमनिमित्त से ही दुःख का अनुभव है और यह बात अन्वयव्यतिरेक से भी पाई जाती है, जैसाकि बहुत से पुरुषों के मध्य "पुत्र मरगया" "मित्र मरगया" ऐसा कहे जाने

पर जिनको पुत्र मित्रादि का अभिमान है उन्हीं को दुःख होता है अन्य संन्यासी आदि विरक्त पुरुषों को नहीं, अतएव जब संसारी पुरुष को भी सम्यग्दर्शन अर्थ वाला देखा गया है तो फिर विषय शून्य आत्मा से भिन्न पदार्थान्तर को न देखते हुए नित्य चैतन्यमात्र स्वरूप ईश्वर की कथाही क्या, इसलिये सम्यग्दर्शन अनर्थक नहीं, प्रकाशादिकों की भांति यह दृष्टान्त दिखलाया गया है कि जिस प्रकार सूर्य्य तथा चन्द्रमा का प्रकाश आकाश को अभिव्याप्त होकर ठहरा हुआ अङ्गली आदिकों के उपाधि सम्बन्ध से उनके सीधे और टेढ़े भावों में वैसेही सीधे टेढ़े भावों को प्राप्त हुए की तरह प्रतीत होता है वास्तव में सीधा टेढ़ा नहीं, और जैसे आकाश घटादिकों के चलते हुए चलता दृष्टिगत होता है वास्तव में नहीं चलता, जिस प्रकार घड़े के कांपने से तद्गत सूर्य्यप्रतिबिम्ब भी कांपता दिखाई देता है वास्तव में नहीं कांपता, इसी प्रकार अविद्या कृत बुद्धि आदि उपाधि के साथ मिला हुआ जो जीवरूप अंश है उसके दुःखी की तरह होते हुए भी उस जीवरूप अंशवाला ईश्वर दुखी नहीं होता, जीव को भी दुःखप्राप्ति अविद्या निमित्त से ही है यह बात कहीगई, और "तत्त्वमसि" आदि वेदान्त वाक्य आविद्यिक जीवत्व को हटाकर उसके ब्रह्मभाव को बोधन करते हैं, इसलिये जीव के दुःख से परमात्मा में दुःख का प्रसङ्ग नहीं लगसक्ता ।

तु-शब्दश्चोद्यं व्यावर्तयति प्रकाशादिवज्जीवः परमात्मनोऽशः यथाऽग्न्यादित्यादेर्भास्वतो भारूपः प्रकाशोंऽशो भवति यथागवाश्वशुक्लकृष्णादीनां गो-त्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशः

यथा वा देहिनो देवमनुष्यादेर्देहोंऽशस्तद्वदेकवस्त्वेकदेशत्वं ह्यंशत्वं विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव, तथा च विवेचका विशिष्टे वस्तुनि विशेषणांशोऽयं विशेष्यांशोऽयमिति व्यपदिशन्ति विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते, एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चोपपद्यते, तदिदमुच्यते नैवं पर इति यथाभूतो जीवस्तथा भूतो न परः, यथैव हि प्रभायाः प्रभावोनन्यथाभूतः तथा प्रभास्थानियात् स्वांशाज्जीवादंशी परोऽप्यर्थान्तर भूत इत्यर्थः, एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यमाश्रित्य भेदनिर्द्देशाः प्रवर्त्तन्ते, अभेदनिर्द्देशास्तु पृथक्सिद्ध्यनर्हविशेषणानां विशेष्यपर्यन्तत्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनोपपद्यन्ते तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्मेत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत्त्वमयमात्मेति शब्दा अपि जीवशरीरक ब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थाभिधायित्वादित्ययमर्थः प्रागेव प्रपञ्चितः ॥ श्री० भा०

अर्थ—तु-शब्द शङ्का की निवृत्ति करता है, प्रकाशादिकों की भांति जीव ब्रह्म का अंश है अर्थात् विशिष्ट वस्तु का विशेषण अंश होता है, इस नियम के अनुसार जैसे प्रकाशस्वरूप अग्नि और सूर्य्यादिकों का चांदनीरूप प्रकाश अंश होता है, जैसे गोत्वादि धर्मविशिष्ट गौ, घोड़ा सफेद काला आदि वस्तुओं के गोत्वादि

विशेषण अंश हैं,जैसे देव मनुष्यादिकों के जीवात्मा का देह अंश है इसीप्रकार जीव ब्रह्म का अंश है, इसी अभिप्राय से विशिष्ट वस्तु में मीमांसा करने वाले लोग यह विशेष्य अंश है, यह विशेषण अंश है, ऐसा कथन करते हैं, विशेषण विशेष्य का अंशांशिभाव होने पर भी आपस में उनका स्वभाव वैलक्षण्य देखाजाता है, इस प्रकार जीव ब्रह्म का अंशाअंशीभाव और स्वभावभेद दोनों कहे जासक्ते हैं, इसीलिये कहा है कि " **जिसप्रकार का जीवहै उसप्रकार का ईश्वर नहीं** " जैसे प्रकाश से प्रकाश वाला अन्य होता है वैसे ही प्रकाशरूप अपने अंश जीव से परमेश्वर भिन्न है, इसप्रकार जीवेश्वर का विशेष्यविशेषणकृत स्वभाववैलक्षण्य= निरालापन अङ्गीकार करके भेदवाक्य प्रवृत्त होते हैं, विशेष्यों से भिन्न न रहने के कारण विशेषणों को विशेष्यरूप स्वीकार करके अभेद निर्देश मुख्यार्थ से उपपादन किये जाते हैं, "**तत्त्वमसि**" "**अयमात्मा ब्रह्म**"इत्यादिकों में ईश्वरवाची तत् तथा ब्रह्म शब्द की भांति त्वं, अयं, आत्मादि शब्द भी जीवरूप शरीरवाले ब्रह्म के वाचक होने से एकत्व के प्रतिपादक हैं यह बात प्रथम ही विस्तार से कथन कर आये हैं।

समीक्षा—ईश्वर का विभाग न होसकने से जीव अग्नि के चिङ्गारे की भांति अंश न हो पर प्रकाश और प्रकाशवालों की भांति तो जीव ब्रह्म का अंश है, क्योंकि प्रकाशवाले का खण्ड न होने पर भी प्रकाश अंश होता है,जैसाकि बिना खण्ड से अंश होना सूर्य्य के प्रकाश में देखा गया है, इस शङ्का का सूत्रकार इसप्रकार समाधान करते हैं कि "**प्रकाशादिकों की भांति भी अंश**

अंशीभाव ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म निराकार है" "प्रकाशादिवत्तु" यह पूर्वपक्ष के अभिप्राय से और "नैवम्परः" यह उत्तर पक्ष के अभिप्राय से आया है, ईश्वर में साकारादि समस्त दोषों का गंध न होने से उसका अंश प्रकाशादिकों की तरह नहीं होसक्ता, और जो अद्वैतभाष्यकार ने "ईश्वर को दुःख नहीं होता" इसप्रकार इस सूत्र का व्याख्यान किया है इसमें सिद्धसाधन दोष आता है, क्योंकि ईश्वर तो ईश्वर होने से ही दुःखरहित है फिर उसका सिद्ध करना ही क्या, और अंशअंशीभाव के कारण दुःख के प्रश्न का अवकाश इसलिये नहीं कि नानाव्यपदेश से ईश्वर के रूप का ऐसा अंशअंशीभाव प्रथम ही खण्डन करआये हैं, यदि ईश्वरांश का संशय कियाजाय तो "मन्त्रवर्णात्" इत्यादि सूत्र व्यर्थ होजायंगे, क्योंकि इन सूत्रों में पूर्णरूप से अंश का कथन किया गया है, इसप्रकार पादस्थानी जीव है यह सिद्धान्त किये जाने पर फिर यह प्रश्न ही नहीं होसकता कि जीव के दुःख से ईश्वर दुःखी होता है वा नहीं ? यह केवल अद्वैत विद्या के आचार्य्यों को तर्क न मिलने से भ्रान्तिप्रधान तर्काभास की भूमिका है, बुद्धिरूप उपाधि से उपहित जीव के दुःखी होने पर परमात्मा दुःखी नहीं होता वह सूर्य्य की भांति उसके प्रतिबिम्ब के कम्पायमान होने पर भी अचल रहता है, इस अभिप्राय वाला यह सूत्र है, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यदि सूत्र का यही तात्पर्य्य होता तो सूत्र ऐसा होता कि "प्रकाशादिवत् न परः"= प्रकाशादिकों की भांति जीव है और परमात्मा दुःखी नहीं होता परन्तु "प्रकाशादिवत्तु नैवम्परः" ऐसा कथन किये जाने पर

प्रकाशादिकों की तरह जीव अंश है, इस पूर्वपक्ष के निर्धारणार्थ " परमेश्वर ऐसा नहीं " यह कथन किया है और श्रीभाष्याचार्य ने भी इस सूत्र को इसी प्रकार लिखा है ॥

स्मरन्ति च ॥ ४६ ॥

स्मरन्ति च व्यासादयः यथा जैवेन दुःखेन न परमात्मा दुःखायते इति ।

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ।
न लिप्यते फलैश्चाऽपि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कर्मात्मत्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ।
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥

इति च शब्दात् समामनन्ति चेति वाक्यशेषः, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" इति "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य" इति च, अत्राह यदि तर्हि एक एव सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा स्यात् कथमनुज्ञापरिहारौ स्यातां लौकिकौ वैदिकौ वेति, ननु चांशो जीव ईश्वरस्येत्युक्तं तद्भेदाच्चानुज्ञापरिहारौ तदाश्रयावव्यतिकीर्णावुपपद्येते किमत्र चोद्यत इति, उच्यते नैतदेवं, अनंशत्वमपि हि जीवस्याभेदवादिन्यः श्रुतयः प्रतिपादयन्ति " तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" "मृत्योः

स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" इत्येवंजातीयिकाः, ननु भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वं सिध्यतीत्युक्तं, स्यादेतदेवं यद्युभावपि भेदाभेदौ प्रतिपिपादयिषितौ स्यातां, अभेद एव त्वत्र प्रतिपिपादयिषितः, ब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौपुरुषार्थसिद्धेः, स्वभावप्राप्तस्तु भेदोऽनूद्यते, नच निरवयवस्य ब्रह्मणो मुख्योंऽशो जीवः सम्भवतीत्युक्तं, तस्मात् पर एव एकः सर्वेषां भूतानामन्तरात्मा जीवभावेनावस्थित इत्यतो वक्तव्यानुज्ञापरिहारोपपत्तिः, तां ब्रूमः॥ शं०भा०

अर्थ—व्यासादि कथन करते हैं कि जीव के दुःख से परमात्मा दुःखी नहीं होता वह नित्य निर्गुण है,जैसे कमल के पत्ते को जल नहीं छूसकता वैसे ही उसको कर्मफल स्पर्श नहीं करसकते, जो कर्मों वाला जीव है वही मोक्ष बन्ध के साथ सम्बन्ध रखता है, सूत्र में "च" शब्द से व्यासादि भी कथन करते हैं यह वाक्यशेष है, "उन दोनों में से एक कर्मफल भोक्ता और दूसरा साक्षीरूप से स्थिर रहता है" "एक सर्व भूतों का आत्मा लोक दुःख से लिपायमान नहीं होता" यहां यह शंका कीजाती है कि यदि एक ही सब भूतों का अन्तरात्मा है तो लौकिक और वैदिक विधि निषेध क्यों? इस शंका की निवृत्ति इस कथन से नहीं होसक्ती कि जीव ईश्वर का केवल अंश है और इसी भेद के कारण विधि और निषेध बन सकता है, क्योंकि जीव का ब्रह्म से अभेद कथन करने वाली श्रुतियें पाई जाती हैं, जैसाकि "वह बनाकर आपही प्रविष्ट

होगया" "उससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं" "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त है जो ब्रह्म में नानात्व देखता है" इत्यादि श्रुतियों में वर्णन किया है, ननु–भेद और अभेद के पाये जाने से अंशत्व की सिद्धि होती है? यह ऐसा ही होता यदि भेदाभेद दोनों के प्रतिपादन करने की इच्छा होती, पर यहां तो अभेद ही प्रतिपादन कियागया है, क्योंकि ब्रह्मात्मा की प्राप्ति द्वारा मुक्ति की सिद्धि होती है स्वभाव प्राप्त भेद का केवल अनुवाद कियागया है निरवयव ब्रह्म का जीव मुख्य अंश नहीं होसकता यह कथन किया गया है, अतएव एकही ब्रह्म सब भूतों का अन्तरात्मा जीव बनगया, इसलिये अनुज्ञा और परिहार की सिद्धि कैसे होगी, यह कथन शेष रहा जिसको अग्रिम सूत्र से स्पष्ट करेंगे–

एवं प्रभाप्रभावद्रूपेण शक्तिशक्तिमद्रूपेण शरीरात्मभावेनचांशांशिभावं जगद्ब्रह्मणोः पराशराद्यः स्मरन्ति ।

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ।
परस्यब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ॥
यत्किञ्चित्सृज्यते येन सत्त्वजातेन वै द्विज ।
तस्य सृज्यस्य सम्भूतौ तत्सर्वं वै हरेस्तनुः ॥

इत्यादिना, चकाराच्छ्रुतयोऽपि यस्यात्मा शरीरमित्यादिनाऽऽत्मशरीरभावेनांशांशित्वं वदन्तीत्युच्यते, एवं ब्रह्मणोंऽशत्वे ब्रह्मप्रवर्त्यत्वे ज्ञत्वे च

सर्वेषां समाने केषाञ्चिद्वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानाद्यनुज्ञा केषाञ्चित्तत्परिहारः केषाञ्चिद्दर्शनस्पर्शनाद्यनुज्ञा केषाञ्चित्तत्परिहारश्च शास्त्रेषु कथमुपपद्यत इत्याशङ्कयाह ॥ श्री०भा०

अर्थ—प्रकाश तथा प्रकाशवाले, शक्ति और शक्ति वाले, शरीर और आत्मा इनकी भांति जगत् और ब्रह्म का अंशांशिभाव पराशर आदिक कथन करते हैं, जैसाकि एकदेश स्थित अग्नि की ज्योति चारो ओर विस्तृत होजाती है इसी प्रकार यह सब जगत् परब्रह्म की शक्ति है, जो कुछ कार्य्य है यह सब परमेश्वर का शरीर है, सूत्र में 'च' शब्द से "जिसका आत्मा शरीर है" इत्यादि श्रुतियें जीवात्मा के शरीरभाव द्वारा अंशांशिभाव प्रतिपादन करती हैं, इसप्रकार सब जड़ चेतन एक ब्रह्म का अंश होने पर कितनों को वेदाध्ययन और उसके अनुष्ठान की आज्ञा और दूसरों को उसका निषेध और कितनों को स्पर्श की आज्ञा और अन्यों को निषेध यह शास्त्र में कैसे बनसकता है, इस शङ्का का समाधान अग्रिम सूत्र से कियाजायगा—

समीक्षा—स्मृति भी परमात्मा को निराकार वर्णन करती है जैसाकि :—

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ।
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

अर्थ—परमात्मा नित्य निर्गुण तथा निराकार होने के कारण जल में कमल के पत्र की भांति पाप पुण्य के फल से सङ्ग वाला

नहीं होता, इसलिये उसमें जीव के दुःख से दुखी होने का दोष नहीं आसकता, इसका विशेष विचार भाष्य में किया है ॥

"अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्" ॥ ४७ ॥

ऋतौ भार्यामुपेयादित्यनुज्ञा, गुर्वङ्गनां नोपगच्छेदिति परिहारः, तथाऽग्नीषोमीयं पशुं सञ्ज्ञपयेदित्यनुज्ञा माहिंस्यात् सर्वाभूतानीति परिहारः,एवं लोकेऽपि मित्रमुपसेवितव्यमित्यनुज्ञा, शत्रुःपरिहर्तव्य इति परिहरः, एवंप्रकारावनुज्ञापरिहारावेकत्वेऽप्यात्मनोदेहसम्बन्धात् स्यातां, देहैः सम्बन्धो देहसम्बन्धः,कःपुनर्देहे सम्बन्धः? देहादिरयं सङ्घातोऽहमेवेत्यात्मनि विपरीतप्रत्ययोत्पतिः, दृष्टा च सा सर्वप्राणिनां अहं गच्छाम्यहमागच्छामि अहमन्धोऽहमनन्धोऽहंमूढोऽहममूढ इत्येवमात्मिका, न ह्यस्याः सम्यग्दर्शनादन्यन्निवारकमस्ति प्राक् तु सम्यगदर्शनात् प्रततैषा भ्रान्तिः सर्वजन्तूनां, तदेवमविद्यानिमित्तदेहाद्युपाधिसम्बन्धकृताद्विशेषादेकात्म्याभ्युपगमेऽपि अनुज्ञापरिहाराववकल्प्येते, सम्यग्दार्शिनस्तर्ह्यनुज्ञापरिहारानर्थक्यं प्राप्तं, न, तस्य कृतार्थत्वान्नियोज्यत्वानुपपत्तेः,हेयोपादेययोर्हि

नियोज्यो नियोक्तव्यः स्यात्, आत्मनस्त्वतिरिक्तं हेयमुपादेयं वा वस्त्वपश्यन् कथं नियुज्येत, न चात्मत्मन्येव नियोज्यः स्यात्, शरीरव्यतिरेकदर्शिन एव नियोज्यत्वमिति चेन्न तत्संहतत्वाभिमानात् सत्यं व्यतिरेकदर्शिनो नियोज्यत्वं तथापि व्योमादिवद्देहाद्यसंहतत्वमपश्यत एवात्मनो नियोज्यत्वाभिमानः, न हि देहाद्यसंहतत्वदर्शिनः कस्यचिदपि नियोगो दृष्टः किमुतैकात्म्यदर्शिनः, नच नियोगाभावात् सम्यग्दर्शिनो यथेष्टचेष्टाप्रसंगः, सर्वत्राभिमानस्यैव प्रवर्तकत्वात्, अभिमानाभावाच्च सम्यग्दर्शिनः, तस्माद्देहसम्बन्धादेवानुज्ञापरिहारौ ज्योतिरादिवत्, यथा ज्योतिष एकत्वेऽपि अग्निः क्रव्यात् परिहियते नेतरः, यथा च प्रकाश एकस्यापि सवितुरमेध्यप्रदेशसम्बन्धः परिह्रियते नेतरः शुचिभूमिष्ठः तथा भौमाः प्रदेशा वज्रवैदूर्यादयो उपादीयन्ते, भौमा अपि सन्तो नरकलेवरादयःपरिह्रियन्ते, तथा मूत्रपुरीषं गवां पवित्रतया परिगृह्यते, तदेव जात्यन्तरे परिवर्ज्यते तद्वत् ॥ शं० भा०

अर्थ–" ऋतुकाल में स्वस्त्री के पास जावे " यह अनुज्ञा "गुरु की स्त्री से गमन न करे" यह परिहार है " अग्निषोम यज्ञ के लिये पशु को मारे " यह अनुज्ञा "किसी प्राणी की हिंसा न करें" यह

परिहार है, इसी प्रकार लोक में मित्र की सेवा करे यह अनुज्ञा और शत्रु त्यागने योग्य है यह परिहार है, इस प्रकार के अनुज्ञा परिहार आत्मा के एक होने पर भी देह के सम्बन्ध से होसकते हैं, शरीर के साथ सम्बन्ध होना देहसम्बन्ध कहलाता है, देहसम्बन्ध क्या है ? यह देहादि संघात " मैं हूं " इस प्रकार देहादि अनात्म पदार्थों में आत्मरूप मिथ्याबुद्धि का होना "देहसम्बन्ध" कहा जाता है, इस प्रकार की बुद्धि सब प्राणियों में देखी जाती है, जैसे मैं जाता हूं, मैं आता हूं, मैं अन्धा हूं, मैं आंखों वाला हूं, मैं भ्रमित हूं, मैं अभ्रमित हूं, इस भ्रम की निवृत्ति करने वाला यथार्थदर्शन के बिना अन्य कुछ नहीं और यथार्थज्ञान प्राप्ति से प्रथम सब जीवों को यह भ्रान्ति बनी रहती है, इस प्रकार अविद्यानिमित्तक देहादि उपाधि सम्बन्धविशेष के कारण एक आत्मा के होने पर भी अनुज्ञा परिहार कल्पना किये जासकते हैं तत्वज्ञानी के लिये नहीं, क्योंकि वह कृतार्थ होचुका, इसलिये उसमें नियोज्यत्व की अनुपपत्ति है, किसी पदार्थ के छोड़ने वा ग्रहण करने योग्य होने से नियोज्य नियोक्तव्य होता है, आत्मा से भिन्न पदार्थान्तर न देखे जाने से न उसका कोई नियोगता और नाही किसी से नियोज्य होता है, यदि यह कहाजाय कि शरीर से भिन्न आत्मदर्शी के लिये ही विधि निषेध होते हैं अन्य के लिये नहीं तो उत्तर यह है कि नियोज्यत्व मनुष्य के अपने आपको शरीर से मिला हुआ विचार करने पर निर्भर करता है, यह सत्य है कि नियोज्यत्व केवल उसी के लिये है जो आत्मा को शरीर से भिन्न मानता है पर वास्तविक नियोजत्व केवल भ्रममात्र है जो देहाभिमान तक बना रहता है और जिसका आकाशादि की भांति असङ्ग आत्मज्ञान से देहाभिमान निवृत्त

होगया है उसके लिये विधिनिषेध नहीं, यदि यह कहाजाय कि नियोगाभाव होने के कारण तत्वज्ञानी की यथारुचि शुभाशुभ कर्मों में चेष्टा होगी, यह ठीक नहीं, क्योंकि सर्वत्र कर्तृत्वादि का अभिमान ही प्रवर्त्तक होता है और तत्वज्ञानी के अभिमान का अभाव है, इसलिये प्रकाशादिकों की भांति देह के सम्बन्ध से ही अनुज्ञा परिहार होते हैं, जैसाकि अग्नि के एक होने पर भी श्मशान की अग्नि साज्य है दूसरे स्थान की नहीं, जैसे सूर्य्य का एक ही प्रकाश अपवित्र स्थान वाला बुरा समझा जाता है पवित्र स्थान का नहीं, जैसे पृथ्वी के विकार वज्रवैदूर्य्यादि ग्रहण किये जाते हैं और मृतक शरीरादि सागने योग्य होते हैं, गौओं के मूत्र गोबर पवित्र होने के कारण ग्रहण किये जाते हैं और वही अन्य जाति के त्याग दिये जाते हैं।

सर्वेषां ब्रह्मांशत्वज्ञत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्रादिरूपशुच्यशुचिदेहसम्बन्धनिबन्धनाव नुज्ञापरिहारावुपपद्येत ज्योतिरादिवद्यथाऽग्नेरग्निस्त्वे-नैकरूपत्वेऽपि श्रोत्रियागारादग्निराह्रियते श्मशानादेः परिह्रियते, यथा चान्नादि श्रोत्रियादेरनुज्ञायते अभि-शस्तादेस्तु परिह्रियते ॥ श्री० भा०

अर्थ—सब के ब्रह्मांश होने पर भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि रूप पवित्र अपवित्र देह सम्बन्ध के कारण ज्योति आदिकों की भांति अनुज्ञा परिहार बन सकते हैं, जैसे अग्नि एकरूप होने पर भी वेदपाठी के गृह से लीजाती है और श्मशान की त्यागी जाती

है, जैसे अन्नादिक वेदपाठी के गृह से लिये जाते हैं और पातकी के गृह के त्याग दिये जाते हैं ॥

समीक्षा—यद्यपि निराकार चिन्मात्र स्वरूप जीव पादस्थानीय अंश होने के कारण ईश्वर से अत्यन्त भिन्न है तथापि जीव के लिये अनुज्ञा परिहार नहीं होसकते, क्योंकि चिन्मात्र स्वरूप होने के कारण सब जीवों का एक जैसा स्वरूप है यह शंका करके कहा है कि "अनुज्ञा परिहार देह के सम्बन्ध से ज्योति आदिकों की तरह ठीक होसकते हैं" अर्थात् सब जीवों का चिन्मात्र एक स्वरूप होने पर भी अनुज्ञा परिहार होते हैं, जैसे प्रकाश और अग्नि के समान होने पर भी पवित्र अपवित्र स्थान के सम्बन्ध से अग्नि आदिकों में अनुज्ञा परिहार पायेजाते हैं वैसे ही आत्मा को भी देहकृत कर्मों के निमित्त से अनुज्ञा परिहार होते हैं, यहां यह शंका कीजाती है कि अग्नि के साकार होने के कारण यह दृष्टान्त ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि अग्नि का प्रकाश एक जैसा होने और जीव के चिन्मात्र एक स्वरूप होने के कारण दोनों में समानता पाये जाने से दृष्टान्त ठीक है ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

स्यातां नामानुज्ञापरिहारावेकस्याप्यात्मनो देहविशेषयोगात्; यस्त्वयं कर्मफलसम्बन्धः स चैकात्म्याभ्युपगमे व्यतिकीर्येत स्वाम्येकत्वादिति चेत्, नैतदेवं, असन्ततेः;नहि कर्तुर्भोक्तुश्चात्मनः सन्ततिःसर्वैः शरीरैः

सम्बन्धोऽस्ति, उपाधितन्त्रो हि जीवः इत्युक्तं उपाध्यसन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तानः, ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति ॥ शं० भा०

अर्थ—आत्मा के एकत्व होने पर भी देहविशेष के योग से अनुज्ञा परिहार हों पर कर्मफल का सम्बन्ध एक आत्मा के मानने पर सबको लगेगा ? इसका उत्तर यह है कि कर्त्ता भोक्ता आत्मा का सब शरीरों के साथ सम्बन्ध नहीं, क्योंकि उपाधि के होने पर कर्तृत्व अभिमान वाला जीव भी परिच्छिन्न है, इसलिये कर्मों और उनके फलों का संकर नहीं होसकता ॥

ब्रह्मांशत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि जीवानामन्योन्यभेदादणुत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वाच्च भोगव्यतिकरोऽपि न सम्भवति, भ्रान्तब्रह्मजीववादे चोपहितब्रह्मजीववादे च जीवपरयोर्जीवानां च भोगव्यतिकरादयः सर्वे दोषास्सन्तीत्यभिप्रायेण स्वपक्षे भोगव्यतिकराभाव उक्तः, ननुभ्रान्तब्रह्मजीववादेऽप्यविद्याकृतोपाधिभेदाद्भोगव्यवस्थादय उपपद्यन्ते तत्राह—श्री० भा०

अर्थ—ब्रह्मांश होने से जीवों के एकरूप होने पर भी उन का आपस में भेद होने तथा अणुरूप से प्रत्येक शरीर में भिन्न २ होने के कारण एक का कर्मफल दूसरे को नहीं लगता, भ्रान्त ब्रह्म ही जीव है, इस पक्ष में और उपाधि संयुक्त ब्रह्म जीव है इस पक्ष में जीव तथा ब्रह्म का और आपस में जीवों के सुख दुःख का सांकर्य्य

पाये जाने से पूर्वोक्त सब दोष बने रहते हैं, इस अभिप्राय से अपने पक्ष में अणु परिमाण वाले जीवों का भेद मानकर फल संकररूप दोषाभाव कथन किया है, ननु–भ्रान्त ब्रह्म जीववाद में भी अविद्याकृत उपाधि भेद के कारण भोग व्यवस्थादि बन सकते हैं? इसका उत्तर आगे सूत्र में देते हैं—

समीक्षा—देह के सम्बन्ध से अनुज्ञा परिहार हों पर जीव चेतन होने के कारण बिना हद वाला होने से सब शरीरों में है इस कारण एक के कर्म दूसरे को लगेंगे? यह शंका करके कहा है कि "जीव के अणु होने से कर्मों का सङ्कर नहीं होता" इसका विस्तार श्रीभाष्य में होने के कारण विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं।

आभास एव च ॥ ४९ ॥

आभास एव चैष जीवः परमात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यः न स एव साक्षान्नापि वस्त्वन्तरम्, अतश्च यथा नैकस्मिन् जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिन् जीवे कर्मफलसम्बन्धिनि जीवान्तरस्य तत्सम्बन्धः, एवमव्यतिकर एव कर्मफलयोः, आभासस्यचाविद्याकृतत्वात् तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति तद्व्युदासेन च पारमार्थिकस्य ब्रह्मात्मभावस्योपदेशोपपत्तिः, येषान्तु बहव आत्मानस्ते च सर्वे सर्वगतास्तेषामेवैष व्यतिकरः

प्राप्नोति, कथं,बहवो विभवश्चात्मानश्चैतन्यमात्रस्वरूपा निर्गुणा निरतिशयाश्च तदर्थं साधारणं प्रधानं तन्निमित्तैषां भोगापवर्गसिद्धिरिति साङ्ख्याः, सति बहुत्वे विभुत्वे च घटकुड्यादिसमानाः द्रव्यमात्रस्वरूपाः स्वतोऽचेतना आत्मानस्तदुपकरणानि चाणूनि मनांसि अचेतनानि तत्रात्मद्रव्याणां मनोद्रव्याणां च संयोगान्नवेच्छादयो वैशेषिका आत्मगुणा उत्पद्यन्ते, ते चाव्यतिकरेण प्रत्येकमात्मसु समवयन्ति, स संसारस्तेषां नवानामात्मगुणानामत्यन्तानुत्पादो मोक्ष इति काणादाः, तत्र साङ्ख्यानां तावच्चैतन्यस्वरूपत्वात् सर्वात्मनां सन्निधानाद्यविशेषाच्च एकस्य सुखदुःखसम्बन्धे सर्वेषां सुखदुःखसम्बन्धः प्राप्नोति, स्यादेतत् प्रधानप्रवृत्तेः पुरुषकैवल्यार्थत्वात् व्यवस्थाभविष्यति, अन्यथा हि स्वविभूतिख्यापनार्था प्रधानप्रवृत्तिः स्यात्, तथा चानिर्मोक्षः प्रसज्येतेति, नैतत्सारम्, न ह्यभिलषितसिद्धिनिबन्धना व्यवस्था शक्या विज्ञातुं,उपपत्त्या तु कयाचित् व्यवस्थोच्येतासत्यां पुनरुपपत्तौ कामं माभूदभिलषितं पुरुषकैवल्यं, प्राप्नोति तु व्यवस्थाहेत्वभावाद्व्यतिकरः, काणादानामपि यदैकेनात्मना मनः संयुज्यते तदात्मान्तरैरपि नान्तरीयकः संयोगः स्यात् सन्निधानाद्य-

विशेषात्, ततश्च हेत्वविशेषात् फलाविशेष इत्येकस्यात्मनः सुखदुःखसंयोगे सर्वात्मनामेव समानसुखदुःखत्वं प्रसज्यते,स्यादेतत् अदृष्टनिमित्तो नियमो भविष्यतीति, नेत्याह—शं० भा०

अर्थ–जलगत सूर्य्य के प्रतिबिम्ब की भांति यह जीव परमात्मा का आभास है, न साक्षात् है न पदार्थान्तर है, इसलिये जैसे एक प्रतिबिम्ब के कांपने से दूसरे प्रतिबिम्ब नहीं कांपते इसी प्रकार एक जीव के कर्मफलसम्बन्ध होने से और जीवों का सम्बन्ध उसके साथ नहीं होता, इस प्रकार कर्म तथा फल का संकर नहीं और आभास अविद्याकृत होने के कारण तदाश्रय संसार भी अविद्याकृत है उसके बाधपूर्वक यथार्थ ब्रह्मात्मभाव का उपदेश उपपादन कियाजाता है, जिनके मत में जीवात्मा नाना तथा विभु हैं उन्हीं के मत में एक का कर्म दूसरे को लगने का दोष आता है, चैतन्यमात्रस्वरूप निर्गुण विभु आत्मा नाना हैं उनके भोगापवर्ग की सिद्धि के लिये निमित्त एक प्रधान है यह सांख्य वाले मानते हैं, जीवात्मा नाना और विभु हैं द्रव्यमात्र स्वरूप और स्वयं अचेतन हैं उनके साधन मन भी अणु और अचेतन हैं, आत्मा और मन के संयोग से इच्छा आदिक आत्मा के नव विशेष गुण उत्पन्न होते हैं और वह प्रत्येक आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध से रहते हैं यही संसार है, आत्मा के उन नव गुणों का अत्यन्ताभाव ही मोक्ष है, यह कणादमतानुयायी मानते हैं, सांख्य वालों के मतानुसार आत्मा चेतनस्वरूप होने और सब के साथ एक जैसा सम्बन्ध होने से एक के सुख दुःख का

सम्बन्ध होने पर सबको सुख दुःख का सम्बन्ध प्राप्त होगा, यहां वह यह कहसकते हैं कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के मोक्षार्थ होने के कारण व्यवस्था होजायगी, यदि ऐसा न होता तो अपनी महिमा बतलाने के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होती, ऐसा होने पर मोक्षाभाव का प्रसंग आता,इसका उत्तर यह दियाजाता है कि यह बात ठीक नहीं, क्योंकि इष्टसिद्धि के लिये व्यवस्था नहीं कीजासकती किसी एक युक्ति से व्यवस्था कीजासकती है, यदि युक्ति न हो तो इष्टसिद्धि भी नहीं होसकती और भेदकारण के अभाव होने से कर्म और फल का संकर आता है तथा काणाद लोगों के मत में भी सम्बन्ध एक समान होने से एक आत्मा के साथ मन का संयोग होता है तब और आत्माओं के साथ भी वही सम्बन्ध है, इसलिये हेतु एक जैसा होने से फल भी एक जैसा होगा, इस प्रकार एक २ आत्मा को सुख दुःख का संयोग होने पर सब आत्माओं को सुख दुःख होगा, यदि यह कहाजाय कि अदृष्टों के निमित्त नियम होसकेगा तो भी ठीक नहीं ? इसका उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं —

अखण्डैकरसप्रकाशमात्रस्वरूपस्यस्वरूपतिरोधान-पूर्वकोपाधिभेदोपपादनहेतुराभास एव, प्रकाशैकस्वरू-पस्य प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एवेति प्रागेवोपपा-दितम्, "आभासा एवइति वा पाठः तथा सति हेतव आभासाः चकारात्पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीत्यादि-श्रुतिविरोधश्च, अविद्यापरिकल्पितोपाधिभेदे हि सर्वो-

पाधिभिरुपहितस्वरूपस्यैकत्वाभ्युपगमाद्भोगव्यतिकर-स्तदवस्थ एव, पारमार्थिकोपाध्युपहितब्रह्मजीववादे उपाधिभेदहेतुभूतानाद्यदृष्टवशाद्व्यवस्था भविष्यतीत्याशङ्क्याह—श्रीं० भा०

अर्थ—अखण्ड एकरस प्रकाशस्वरूप जो ब्रह्म उसका किसी उपाधि से ढक जाना मिथ्या है, क्योंकि प्रकाशस्वरूप का प्रकाश ढक जाना प्रकाश नाश ही है यह बात प्रथम कह आये हैं अथवा सूत्र में "आभासाः" पाठ है, ऐसा होने पर सब हेतु हेत्वाभास हैं, और "चकार" से "आत्मा को पृथक् प्रेरणा करने वाला मानकर एक ज्ञानी दूसरा अज्ञानी एक ईश्वर दूसरा अनीश्वर उन दोनों में से एक कर्मफल का भोक्ता और दूसरा अभोक्ता है" इत्यादि श्रुतियों का विरोध भी आवेगा, अविद्या परिकल्पित उपाधि भेद पक्ष में सब उपाधियों से उपहित स्वरूप एक होने के कारण भोग का संकर वैसाहि बना रहता है, पारमार्थिक उपाधि के साथ मिला हुआ ही ब्रह्म जीव है, इस पक्ष में उपाधिभेद के कारण जो अनादि कर्म हैं उनके द्वारा व्यवस्था होजायगी ? इस आशंका का उत्तर अग्रिम सूत्र से देते हैं :—

समीक्षा—जैसे उपाधि के कारण जलगत सूर्यों में नानात्व देखा जाता है इसी प्रकार एक चेतन में भी उपाधि के कारण नानात्व बनसकने से कर्मों का सङ्कर न होगा फिर जीव का अणु मानना व्यर्थ है ? इस शंका के उत्तर में कहा है कि "**यह तर्काभास ही है**" तर्काभास इसलिये है कि निराकार होने के कारण ब्रह्म का प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकता, यहां अद्वैतवादियों का यह

कथन है कि जीव ब्रह्म का जलगत सूर्य के समान आभास है, क्योंकि पूर्व सूत्र में जीव को परिच्छिन्न निरूपण किया गया है और चेतन ब्रह्म स्वतः परिच्छिन्न न होने के कारण जीव का परिच्छिन्न होना आभास मानने ही से होसकता है ? यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा अर्थ होने से सूत्र का 'एव' शब्द व्यर्थ होजायगा, यदि सूत्रकार का अभासवाद में तात्पर्य्य होता तो 'अभासात्' इस प्रकार सूत्र रचते जिससे पूर्वोक्त परिच्छिन्नरूप जीव के अणु होने का समर्थन होजाता परन्तु ऐसा नहीं किन्तु "आभास एव च" ऐसा सूत्र रचने से स्पष्ट है कि सूत्रकार का तात्पर्य्य ब्रह्म के प्रतिबिम्बवाद के खण्डन में है, यदि यह कहाजाय कि यह सूत्र आत्मा को विभु मानने वाले के मत का खण्डन करता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि "प्रदेशभेदात्" यह आगे का सूत्र अवच्छेदवाद का स्पष्ट खण्डन करता है।

यहां यह शङ्का कीजाती है कि तुम्हारे पक्ष में भी "आभास एव च" इस सूत्र से उपाधि के खण्डन किये जाने पर फिर "प्रदेशभेदात्" इस सूत्र में उपाधि का खण्डन करना पिसे को पीसने की भांति अयुक्त है ? यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि "आभास एव च" इससे प्रतिबिम्ब का और "प्रदेशभेदात्" इससे अवच्छेदवाद का खण्डन किया गया है, इस प्रकार विषय के भिन्न २ होने से दोनों सूत्र एकही विषय को समर्थन न करने के कारण अद्वैतवाद में नहीं लग सकते।

और जो यह कहागया है कि निराकार होने के कारण ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं होता, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह नियम नहीं कि रूप वाले का ही प्रतिबिम्ब होता है रूपरहित

का नहीं, जैसाकि बिना रूप से आकाश का प्रतिबिम्ब होता है, बिना रूप वाली ध्वनि का प्रतिबिम्ब प्रतिध्वनि होता है और बिना रूप से रूप का प्रतिबिम्ब होता है ? इसका उत्तर यह है कि आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं अर्थात् आकाश में जो अन्य पदार्थ हैं उनका और उस में भ्रान्ति से जो रूप प्रतीत० हो रहा है उसका प्रतिबिम्ब होने से सिद्ध है कि जो पदार्थ चक्षु का विषय हो उसी का प्रतिबिम्ब होता है अन्य का नहीं, और जो यह कहा है कि ध्वनि का प्रतिबिम्ब होता है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिध्वनि आकाश का गुण है, बिना रूप वाले रूप का प्रतिबिम्ब होता है यह जो कहा गया है यह बालकों को मोहन करने मात्र है, क्योंकि रूप तो स्वयं रूप है, हम यह नहीं कहते कि रूपवाले का ही प्रतिबिम्ब होता है किन्तु यह कहते हैं कि चक्षुग्राह्य पदार्थ में चक्षुग्राह्य पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब होता है अन्य का नहीं, इस नियमानुसार जो बिना रूप से रूप का प्रतिबिम्ब होना कहा गया है ऐसे तर्काभास का स्थान नहीं, इस प्रकार ब्रह्म नेत्रों का विषय न होने से उसका प्रतिबिम्ब नहीं होसकता, इस अभिप्राय को "उभयलिङ्गाधिकरण" में सूत्रकार ने स्पष्ट कियाहै कि निराकार होने के कारण ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं होसक्ता, जल सूर्य्यादिकों की उपमा ब्रह्म को सूर्य्यादिकों की भांति निर्दोष होने के अभिप्राय से है यह विषय ब्र०सू० ३।२।१८-१९-२० में स्पष्ट है कि "जिस प्रकार जल में अन्य पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ता है इस प्रकार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पृथिव्यादिकों में न पड़ने से दृष्टान्त ठीक नहीं" इसका उत्तर २० वें सूत्र में यों दिया है कि सूर्य्यादिकों के प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त इस अभिप्राय से है कि जैसे

जल के बढ़ने घटने से सूर्य्य वास्तव में बढ़ता घटता नहीं इसी प्रकार परमात्मा सब पदार्थों में व्यापक होने के कारण उन पदार्थों के बढ़ने घटने से उसमें कुछ विकार नहीं आता, इसलिये उक्त व्याख्यान ठीक नहीं।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥

ब्र० सू० २।१।१४

अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति परिहारोऽभिहितो न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात् तयोःकार्य्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते, कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते, कुतः आरम्भणशब्दादिभ्यः, आरम्भणशब्दस्तावदेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय दृष्टान्तापेक्षायामुच्यते "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यं" इति, एतदुक्तं भवति एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृण्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत्, यतो वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते विकारो घटः शराव उदाञ्चनञ्चेति न तु वस्तुवृत्तेन विकारो

नाम कश्चिदस्ति नामधेयमात्रं ह्येतदनृतं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति, एष ब्रह्मणो दृष्टान्त आम्नातः, तत्र श्रुताद्वाचारम्भणशब्दात् दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण कार्यजातस्याभाव इति गम्यते, पुनश्च तेजोऽबन्नानां ब्रह्मकार्यतामुक्त्वा तेजोऽबन्नकार्याणां तेजोऽबन्नव्यतिरेकेणाभावं ब्रवीति "अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येवसत्यं" इत्यादिना, आरम्भणशब्दादिभ्य इत्यादिशब्दात् "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" "तत्सत्यं स आत्मा" "तत्त्वमसि" इदं सर्वं यदयमात्मा" "ब्रह्मैवेदं सर्वं" "आत्मैवेदं सर्वं" "नेह नानास्ति किञ्चन" इत्येवमाद्यप्यात्मैकत्वप्रतिपादनवचनजातमुदाहर्तव्यम्, नचान्यथा एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं सम्पद्यते, तस्माद्यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशादनन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेण त्वनुपाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्तृत्वादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम्, नन्वनेकात्मकं ब्रह्म यथा वृक्षोऽनेकशाखः एवमनेकशक्तिप्रवृत्तिकं ब्रह्म, अत एकत्वं नानात्वञ्चोभयमपि सत्यमेव, यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति च नानात्वं, यथा च समुद्रात्मनै-

कत्वं फेणतरङ्गाद्यात्मना नानात्वंयथा च मृदात्मना एकत्वं घटशरावाद्यात्मना नानात्वं तत्र एकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहारः सेत्स्यति, नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयो लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति एवं च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति, नैवं स्यान्मृत्तिकेत्येव सत्यमिति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्, वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात्, दार्ष्टान्तिकेऽपि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" "तत्सत्यं" इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात् "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात्, स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यं, अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमभ्युपगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं सम्पद्यते, रज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम्, बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति, यत्प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरोब्रह्मणः कल्प्येत, दर्शयति च "यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केनकं पश्येत" इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वदर्शिनं प्रति समस्तस्य क्रियाकारकफललक्षणस्य व्यवहारस्याभावम्, नचायं व्यवहाराभावोऽवस्था-

विशेषनिवद्धोऽभिधीयत इति युक्तं वक्तुं, तत्त्वमसीति ब्रह्मात्मभावस्यानवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात्, तस्करदृष्टान्तेन चानृताभिसन्धस्य बन्धनं सत्याभिसन्धस्य मोक्षं दर्शयन्नेकत्वमेवैकं पारमार्थिकं दर्शयति, मिथ्याज्ञानविजृम्भितंञ्चनानात्वं, उभयसत्यतायां हि कथं व्यवहारगोचरोऽपि जन्तुरनृताभिसन्ध इत्युच्यते "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इति भेददृष्टिमपवदन्नेतदेव दर्शयति, न चास्मिन् दर्शने ज्ञानान्मोक्ष इत्युपपद्यते, सम्यग्ज्ञानापनोद्यस्य कस्यचिन्मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणत्वेनानभ्युपगमात्,उभयस्य सत्यतायां हि कथमेकत्वज्ञानेन नानात्वज्ञानमपनुद्यत इत्युच्यते, नन्वेकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात् प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन्, निर्विषयत्वात् स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि, तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि शिष्यशासित्रादिभेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याघातः स्यात्, कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येत इति, अत्रोच्यते,नैषः दोषः सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः, स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक् बोधात्, यावद्धि

न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत् प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते, विकारानेव त्वहंममेत्यविद्यया आत्मात्मीयभावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा, तस्मात् प्राग्ब्रह्मात्मताप्रबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः, यथा सुप्तस्य प्राकृतस्य जनस्य स्वप्ने उच्चावचान् भावान् पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक् प्रबोधात्, नच प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले भवति तद्वत्, कथं त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरुपपद्यते, न हि रज्जुसर्पेण दष्टो म्रियते, नापि मृगतृष्णिकाम्भसा पानावगाहनादिप्रयोजनं क्रियत इति, नैष दोषः, शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः, स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात्, तत्कार्य्यमप्यनृतमेवेति चेत् ब्रूयात् तत्र ब्रूमः, तद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यमनृतं यथापि तदवगतिः सत्यमेव फलं प्रतिबुद्धस्याप्यबाध्यमानत्वात्. न हि स्वप्नादुत्थितः स्वप्नदृष्टं सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यं मिथ्येति मन्यमानस्तदवगतिमपि मिथ्येति मन्यते क-

श्चित्, एतेन स्वप्नदृशोऽवगत्यबाधेन देहमात्रात्मवादो दूषितो वेदितव्यः। तथा च श्रुतिः—

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्रजानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने।

इत्यसत्येन स्पप्नदर्शनेन सत्यस्य फलस्यसमृद्धेः प्राप्तिं दर्शयति तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यादित्युक्त्वा अथ यः स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्तीत्यादिना तेनासत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति, प्रसिद्धञ्चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलाना मीदृशेन स्वप्नप्रदर्शनेन साध्वागमःसूच्यते ईदृशेनासाध्वागम इति, तथाऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः, अपि चान्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नातः परं किञ्चिदाकांक्ष्यमस्ति यथा लोके यजेतेत्युक्ते किं केन कथमित्याकाङ्क्ष्यते न चैवं तत्त्वमसीत्युक्ते किञ्चिदन्यदाकांक्ष्यमास्ति सर्वात्मैकत्वविषयत्वादवगतेः, सति ह्यन्यस्मिन्नवशिष्यमाणेर्थे आकांक्षा स्यात् नत्वात्मैकत्वव्यतिरेकेणावशिष्यमाणोऽन्योर्थोऽस्ति य आकांक्ष्येत, नचेयमवगतिर्नोत्पद्यत इति

शक्यं वक्तुं, "तद्धासौ विजज्ञौ" इत्यादिश्रुतिभ्यः, अवगतिसाधनानां च श्रवणादीनाञ्च विधीयमानत्वात्, न चेयमवगतिरनर्थिका भ्रान्तिर्वेति शक्यंवक्तुं,अविद्यानिवृत्तिफलदर्शनात्, बाधकज्ञानान्तराभावाच्च, प्राक्चात्मैकत्वावगतेरव्याहतः सर्वः सत्यानृतव्यवहारो लौकिको वैदिकश्चेत्यवोचाम तस्मादन्त्येन प्रमाणेन प्रतिपादिते आत्मैकत्वे समस्तस्य प्राचीनभेदव्यवहारस्य बाधितत्वान्नानेकात्मकब्रह्मकल्पनावकाशोऽस्ति, ननु मृदादिदृष्टान्तप्रणयनात् परिणामवत् ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते, परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति,नेत्युच्यते"स वा एष महानजः" "आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म" "स एष नेति नेत्यात्मा" "अस्थूलमनणु"इत्याद्याभ्यः सर्वविक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात्, न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद्रहितत्वञ्च शक्यं प्रतिपत्तुम्, स्थितिगतिवत् स्यादिति चेन्न, कूटस्थस्येति विशेषणात्, न हि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं सम्भवति, कूटस्थं नित्यञ्च ब्रह्म सर्वविक्रियाप्रतिषेधादित्यवोचाम, न च यथा ब्रह्मण आत्मैकत्वदर्शनं मोक्षसाधनं, एवं जगदाकारपरिणामित्वदर्शनमपि स्वतन्त्र-

मेव कस्मैचित् फलायाभिप्रेयेत, प्रमाणाभावात्, कूटस्थब्रह्मात्मत्वविज्ञानादेव हि फलं दर्शयति शास्त्रं, "स एष नेति नेत्यात्मा" इत्युपक्रम्य "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" इत्येवंजातीयकम्, तत्रैतत्सिद्धं भवति ब्रह्मप्रकरणे सर्वधर्मविशेषरहितब्रह्मदर्शनादेव फलसिद्धौ सत्यां यत्तत्राफलं श्रूयते ब्रह्मणो जगदाकारपरिणामित्वादि तद्ब्रह्मदर्शनोपायत्वेनैव विनियुज्यते, फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमितिवत्, न तु स्वतन्त्रफलाय कल्प्यते इति, न हि परिणामवत्त्वविज्ञानात् परिणामवत्त्वमात्मनः फलं स्यादिति वक्तुं युक्तं कूटस्थब्रह्मात्मवादिन

एकत्वैकान्तादीशित्रीशितव्याभावे ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोध इति चेत, न, अविद्यात्मकनामरूपबीजव्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिवाक्येभ्यो नित्यशुद्धमुक्तस्वरूपात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वराज्जगदुत्पत्तिस्थितिलयाः, नाचेतनात् प्रधानादन्यस्माद्वेत्येषोऽर्थः प्रतिज्ञातो जन्माद्यस्य यत इति, सा प्रतिज्ञा तदवस्थैव न तद्विरुद्धोऽर्थः पुनरिहोच्यते, कथं नोच्येत अत्यन्तमात्मन एकत्वमद्वितीयत्वञ्च ब्रुवता, शृणु यथा नोच्यते सर्वज्ञस्येश्वरस्य आत्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे

तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयसंसारप्रपञ्चवीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते, ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः "आकाशो वैनाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" इति श्रुतेः, "नामरूपे व्याकरवाणि" "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते, एकं वीजं बहुधा यः करोति" इत्यादिश्रुतिभ्यश्च, एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरो भवति, व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि, सच स्वात्मभूतानेव घटाकाशस्थानीयानविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतकार्यकरणसङ्घातानुराधिनो जीवख्यान् विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये, तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्ष्यमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वञ्च न परमार्थतो विषयापास्तसर्वोपाधिस्वरूपे आत्मनीशित्रीशितव्यसर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते, तथा चोक्तम्, "यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा" इति "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" इत्यादि च, एवं परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहारभावं वदन्ति वेदान्ताः, तथेश्वरगीतास्वपि :—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

इति परमार्थावस्थायामीशित्रीशितव्यादिव्यवहाराभावः प्रदर्श्यते, व्यवहारावस्थायान्तूक्तः श्रुतावपीश्वरादिव्यवहारः "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" इति, तथा चेश्वरगीतास्वपि :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

इति सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह, व्यवहाराभिप्रायेण तु स्याल्लोकवदिति महासमुद्रादिस्थानीयतां ब्रह्मणः कथयति, अप्रत्याख्यायैव कार्य्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियाञ्चाश्रयति सगुणोपासनेषूपयुज्यत इति ॥ शं० भा०

अर्थ—भोक्ता और योग्य के व्यावहारिक भेद को मानकर यह उत्तर दिया गया है कि लोक की भांति दोनों बनसकते हैं परन्तु कार्य्य कारण की एकता पाये जाने से यह विभाग वास्तव में नहीं, आकाशादिकों से लेकर बहुत विस्तार वाला जगत "कार्य्य" और परब्रह्म "कारण" है, उस परब्रह्मरूप कारण से जगत

का भेद नहीं, क्योंकि आरम्भण शब्द है आदि में जिनके ऐसे उपनिषद् वाक्यों से ऐसाही पायाजाता है अर्थात् एक के ज्ञान से सब पदार्थों के ज्ञान की प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त की अपेक्षा होने पर आरम्भण शब्द कहागया है, जैसाकि "हे श्वेतकेतो जैसे एक मृत्पिण्ड के जानने से सब मिट्टी के विकार जाने जाते हैं क्योंकि घट शरावादि विकार कथनमात्र हैं वास्तव में कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मिट्टी ही सत्य है" यह ब्रह्म के एकत्व में वैदिक दृष्टान्त कथन किया गया है,इस दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म से भिन्न कार्य्य का अभाव पाया जाता है,फिर अग्नि,जल,पृथिवी इनको ब्रह्म का कार्य्य कथन करके इनके कार्य्यों का अभाव कथन किया है, जैसाकि "अग्नि का अग्निपन कोई पदार्थ नहीं वाणी का आरम्भ मात्र है तीन रूप ही सत्य हैं" इत्यादि, श्रुतिस्थ आदि पद से "यह सब आत्मा का स्वरूप है" "वह सत्य है" "हे श्वेतकेतो वह तू है" "यह सब आत्मा है" "यह सब ब्रह्म ही है" "नानात्व कुछ नहीं" इस प्रकार के उपनिषद् वाक्य भी कार्य्य कारण की एकता बोधन करते हैं अर्थात् कारण की सत्ता से अतिरिक्त कार्य्य की सत्ता का निषेध करते हैं, इस रीति से उपनिषद् वाक्यों का अद्वैतबोधन में तात्पर्य्य जानना चाहिये, यदि ऐसा न होता तो एक के जानने से सब का ज्ञान कथन न किया जाता, जैसे घटाकाशादिकों का महाकाश से भेद नहीं पाया जाता अथवा मृग तृष्णा के जल का ऊषर भूमि से भेद नहीं पाया जाता, इसी प्रकार भोग्य भोक्तृरूप विश्ववर्ग का ब्रह्म से भेद नहीं,भेदाभेदवादी का कथन

है कि अनेक शाखा वाले वृक्ष की भांति ब्रह्म अनेक आकार वाला है, इसलिये एकत्व और नानात्व दोनों बनसक्ते हैं, जैसे वृक्ष के कथन से एकत्व और शाखा कथन से नानात्व, जैसे समुद्र कथन से एकत्व, फेन तरङ्गादि कथन से नानात्व, जैसे मृत्पिण्ड से एकत्व और घटादि पदार्थों के कथन से नानात्व है, इस प्रकार एकत्वविषयक ज्ञान से मोक्ष और नानात्व के मानने से कर्मकाण्डरूपी लौकिक वैदिक व्यवहार भी ठीक होजायंगे, एवं मिट्टी आदिकों के दृष्टान्त भी प्रकरणानुकूल अर्थसिद्धि में उपयुक्त होसकेंगे, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि दृष्टान्त में मिट्टी सत्य कथन करने से कारण की ही सत्यता पाई जाती है और "विकार वाणी का आरम्भमात्र है" इस श्रुतिवाक्य से विकार मिथ्या कथन किया गया है और दार्ष्टान्तिक में भी "सब आत्मा का स्वरूप है" "वह सत्य है" इस प्रकार परम कारण की ही सत्यता दिखलाई है "हे श्वेतकेतो वह आत्मा तू है" यह जीव के ब्रह्म होने का उपदेश पाया जाता है और जीव ब्रह्म का एकत्व स्वाभाविक है किसी यत्नसाध्य नहीं, इसलिये शास्त्रप्रमाणगोचर-जीव ब्रह्म का एकत्व जीवत्वं प्रतीति का बाधक है, जैसाकि रज्जु आदिकों का ज्ञान सर्पादि बुद्धियों का बाधक है, और जीवभाव के मिटजाने पर जीवाश्रित कर्मकाण्डादि व्यवहार मिट जाते हैं, फिर किसके लिये ब्रह्म में नानात्व की कल्पना कीजाय, इस बात को श्रुति स्पष्ट दिखलाती है कि "जिस अवस्था में तत्त्ववेत्ता को सब अपना आप प्रतीत होता है उस अवस्था में कौन किसको देखे" इत्यादि वचनों से आत्मा को ब्रह्मरूप देखने वाले के लिये सब क्रियाकारक-

रूप व्यवहार का अभाव कथन किया है, यहां यह नहीं कहा जासक्ता कि यह क्रिया कारक का अभाव किसी अवस्थाविशेष के कारण से हैं, क्योंकि "हे श्वेतकेतो वह अत्मा तू है" यह उपनिषद्वाक्य किसी अवस्थाविशेष के कारण एकत्व होना नहीं बतलाया और तस्कर के दृष्टान्त से मिथ्या मानने वाले को बन्धन और सत्य कहने वाले को मुक्ति दिखलाते हुए एक होना ही वास्तव है यही श्रुति प्रतिपादन करती है, मिथ्याज्ञान से ही नानात्व प्रतीत होरहा है, यदि एकत्व और नानात्व दोनों सत्य मानेजांय तो "भेददर्शी जीव निन्दनीय है" यह कैसे कहाजाता, "वह मरण से मरण को प्राप्त होता है जो ब्रह्म में नानापन देखता है" इस भेददृष्टि का खण्डन एकत्व को सिद्ध करता है और दोनों रूप सत्य मानने वाले के मत में ज्ञान से मोक्ष भी नहीं होसकता, क्योंकि उनके मत में कोई मिथ्याज्ञान नहीं कि जिसकी निवृत्ति से मोक्ष हो, पूर्वपक्षी शंका करता है कि यदि सब एक है तो यह लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण जो नानात्व दिखलाते हैं व्यर्थ होजायंगे और वैसे ही "ऐसा करो ऐसा न करो" इस प्रकार भेद की आवश्यकता रखने वाला शास्त्र भी व्यर्थ होजायगा, एवं मोक्षशास्त्र भी शिष्य गुरू के भेद की आवश्यकता रखता है, यदि भेद न हो तो वह भी व्यर्थ होजाय, फिर किस प्रकार मिथ्या मोक्ष शास्त्र से प्रतिपादित जीव ब्रह्म का एकत्व सत्य होसक्ता है ? इसका उत्तर यह है कि अपने आपको ब्रह्म जानने से प्रथम सब व्यवहार सत्य है, जैसे कि जागने से पहले स्वप्न सत्य है, जब तक आत्मा के एकत्व का सत्य ज्ञान नहीं होता तब तक प्रमाण प्रमेय रूप व्यवहारों में किसी को भी असत्य बुद्धि नहीं होती, स्वाभाविक

ब्रह्मात्मैकत्व को भूलकर "मैं हुं" "यह मेरा है" इस प्रकार अविद्या से विकारों को अपना समझ रहा है, इसलिये ब्रह्मात्मैकत्व बोधन से प्रथम लौकिक वैदिक सब व्यवहार सत्य समझे जाते हैं, जैसे जागने से प्रथम स्वप्न में ऊंच नीचभाव देखने वाले पुरुष का प्रत्यक्षरूप से अभिमत ज्ञान निश्चित ही होता है उस काल में प्रत्यक्ष झूठ है यह सन्देह नहीं होता, फिर यह प्रश्न होता है कि किस प्रकार असत्य वेदान्तवाक्य से सत्य की प्राप्ति होसक्ती है, क्योंकि रज्जूसर्प से डसा हुआ कोई नहीं मरता और नाही मृगतृष्णा के जल से पान स्नानादि प्रयोजन सिद्ध होसक्ते हैं, यह दोष इसलिये नहीं आता कि शङ्कारूपी विष आदि निमित्त से मरणादि देखे जाते हैं, और यदि स्वप्नदर्शी पुरुष सर्प का काटना या जल स्नानादि स्वप्न में देखे तो कार्य्यरूप ज्ञान के सत्य देखने से यह पाया जाता है कि मिथ्या से भी सत्य की प्राप्ति होती है, यदि यह कहाजाय कि वह कार्य्य भी झूठा है तो हम कहते हैं कि यद्यपि स्वप्न के सर्प से डसा जाना आदि कार्य्य मिथ्या है तथापि उसका ज्ञानरूप फल जागने पर सत्य ही पायाजाता है स्वप्न से जागा हुआ पुरुष स्वप्नदर्शन और जल स्नानादि कार्य्य को मिथ्या मानता हुआ उनका ज्ञान भी मिथ्या है ऐसा कोई नहीं मानता, इस हेतु से स्वप्नद्रष्टा का ज्ञान अबाधित होने के कारण देहमात्र का जो आत्मवाद है वह भी खण्डन कियागया समझना चाहिये, और श्रुति भी ऐसा ही प्रतिपादन करती है कि "जब अभिलषित कार्य्यों के उपस्थित होने पर स्वप्न में स्त्री को देखे तो ऐसे स्वप्नदर्शन को शुभ समझना चाहिये" "स्वप्न में कई अनिष्टों के देखने से चिरकाल

तक नहीं जीवेगा" और यह भी श्रुति कहती है कि "जो स्वप्न में काले दांत वाले आदमी को देखे तो वह उसको हनन करेगा" इत्यादि असत्य स्वप्न से सत्य मरण सूचित होता है, और कार्य्यकारणभाव में निपुण पण्डित लोग इस बात को भलेप्रकार जानते हैं कि ऐसे स्वप्नदर्शन का साधु तथा ऐसे का असाधु फल होता है, रेखारूपी असत्य अक्षर से सत्य अक्षर अकारादि की प्राप्ति देखीजाती है, और आत्मैकत्व का प्रतिपादक सब से बड़ा प्रमाण यह है जिससे परे प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं, जैसाकि जिस प्रकार लोक में "यज्ञ करे" इस कथन से यह अकांक्षा पाई जाती है कि किस प्रकार किससे क्या करे, वैसे "तत्त्वमसि" वाक्य से जब जीव का ब्रह्मात्मभाव बोधन किया जाता है तब किसी कर्तव्य की आवश्यकता नहीं रहती "वह तु है" यह ज्ञान सब पदार्थ और आत्मा का एकत्व बोधन करता है, शेष पदार्थ के रहने पर आकांक्षा होती है, ब्रह्मात्मैकत्व से व्यतिरिक्त कोई शेष पदार्थ ही नहीं जिसकी आकांक्षा कीजाय, यह नहीं कह सक्ते कि ऐसा ज्ञान नहीं होसकता, क्योंकि जीव ब्रह्म का एकत्व कथन करने वाले श्रुति वाक्य और श्रवण मननादिकों से ऐसा ही पाया जाता है, ज्ञान के साधन श्रवणादिक और वेदपाठादिकों के विधान किये जाने से यह ज्ञान अनर्थक है अथवा भ्रम है यह भी नहीं कहाजासकता, क्योंकि इसमें अज्ञाननिवृत्तिरूप फल देखा जाता है और इसका कोई बाधक ज्ञानान्तर नहीं पाया जाता, जब तक आत्मा का एकत्व ज्ञान न हो तब तक लौकिक तथा वैदिक व्यवहार सत्य बने रहते हैं, यह हम कह आये हैं, इसलिये वेदान्त

प्रमाणप्रतिपादित ब्रह्मात्मा के एकत्व से सम्पूर्ण भेदव्यवहार के बाधित होने पर अनेकात्मा वाले ब्रह्म की कल्पना का अवकाश नहीं।

ननु–मिट्टी आदिकों के दृष्टान्त से ज्ञात होता है कि ब्रह्म को शास्त्र परिणामी कहता है, क्योंकि मिट्टी आदि पदार्थ लोक में परिणामी प्रसिद्ध हैं ? उत्तर–"वह अजर है, अमर है, अमृत्यु है,अभय है" "आत्मा न स्थूल है न अणु है" इत्यादि क्रियामात्र के प्रतिषेध करने वाली श्रुतियों से ब्रह्म कूटस्थ सिद्ध होता है परिणामी नहीं और एक ब्रह्म में परिणामित्व तथा कूटस्थत्व दोनों विरोधी धर्म नहीं रहसक्ते ब्रह्म कूटस्थ रहने के कारण स्थिति और गति की भांति भी परस्पर विरुद्धधर्म वाला नहीं अर्थात् जिस प्रकार एक ही बाणादि पदार्थ में कालभेद से स्थिति और गति क्रिया के पाये जाने से अनेकधर्माश्रयत्व होता है इस प्रकार एक ब्रह्म में अनेकधर्माश्रयत्व नहीं होसक्ता, क्रियामात्र का निषेध होने के कारण कूटस्थ नित्य ब्रह्म है यह हम कह आये हैं, इस प्रकार परिणाम का दर्शन किसी फल का साधक नहीं, क्योंकि ब्रह्म का परिणाम नहीं होता कूटस्थ ब्रह्म के ज्ञान से ही शास्त्र फल दिखलाता है, जैसाकि "वह यह आत्मा नहीं है" यहां से आरम्भ करके "हे जनक ! तुम निश्चित अभय को प्राप्त होगये हो" यहां तक ब्रह्म का प्रकरण है,इस प्रकरण में सर्वधर्म रहित ब्रह्म के दर्शन से फल की सिद्धि प्रतिपादन कीगई है, और जो जगद्रूप परिणामादि कथन किया गया है वह ब्रह्मदर्शन का उपाय होने के अभिप्राय से कथन

किया है, क्योंकि फल वाले के सम्बन्ध में अफल भी उसके अंग के समान होता है स्वतन्त्र नहीं, और यह भी नहीं कहाजासक्ता कि परिणामी के विज्ञान से परिणाम वाला फल हो, क्योंकि मोक्ष कूटस्थ नित्य है ।

यहां प्रश्न यह होता है कि कूटस्थ ब्रह्मवादी के मत में न कोई ईश्वर है और न ईश्वर की सृष्टि है, इसलिये ईश्वर को कारण मानने की प्रतिज्ञा का विरोध होगा ? इस प्रश्न का यह समाधान है कि अविद्या उपाधि के कारण नित्य शुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति लय होसक्ता है न कि जड़ प्रधान से, इसलिये ईश्वर से सृष्टि उत्पत्ति की प्रतिज्ञा के विरुद्ध अर्थ यहां नहीं पाया जाता "जन्माद्यस्ययतः" इस सूत्र में वह प्रतिज्ञा वैसे ही है उससे विरुद्ध अर्थ प्रतिपादन नहीं किया, ननु—यह कैसे कहसक्ते हो कि यहां प्रतिज्ञाविरोध नहीं, क्योंकि तुम आत्मा को एक मानते हो और यह प्रतिज्ञा एक के मानने से नहीं बनसकती ? उत्तर—संसार का कारणभूत अविद्याकल्पित नामरूपात्मक ईश्वर की उपाधि को श्रुति स्मृति में माया, शक्ति, प्रकृति आदि नामों से कथन कियागया है और उसकी अपेक्षा से ही ईश्वर सर्वज्ञ सर्व-शक्तिमान् कहलाता है पर वह स्वयं उससे भिन्न है, जैसाकि "ब्रह्म नाम रूप का आश्रय है" "नाम रूप को करूं" "सब रूपों को बनाकर नामों को कहता हुआ स्थिर होता है" "एक बीज को बहुत करता है" इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादन कियागया है, इस प्रकार अविद्याकृत नाम रूप उपाधि द्वारा घटाकाश की भांति एकही आत्मा में ईश्वरत्व कल्पित है वास्तव नहीं, और अविद्याकृत

उपाधि से ही ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्व और जीवेश्वर भेद प्रतीत होता है वस्तुतः सर्वोपाधियों से रहित ब्रह्म में ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्वादि व्यवहार नहीं, "जिस अवस्था में दूसरे को न देखता न सुनता और न जानता है वह ब्रह्म है" "जहां सब उसका अपना आप है वहां कौन किसको देखे" इस प्रकार परमार्थावस्था में सब व्यवहारों का अभाव वेदान्त कथन करता है, इसी प्रकार भगवद्गीता में भी कहा है कि "न कर्ता है, न कर्म है, न ईश्वर सृष्टि को रचता है, न कर्मफल है और न कर्मफल का संयोग है केवल स्वभाव से सब होता है" "न किसी को पुण्य लगता है न पाप, अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है और इसी कारण सब मोह को प्राप्त होरहे हैं" इस प्रकार परमार्थावस्था में न कोई ईश्वर है न कोई ईशितव्य है यह दिखलाया गया है, और व्यवहार की अवस्था में तो श्रुति में भी ईश्वर आदि व्यवहार कथन किये गये हैं, "यह सर्वेश्वर है, यह भूतों का पालन करने वाला है, इन लोगों की रक्षा के लिये यह धारण रूप सेतु है" ऐसा ही भगवद्गीता में भी कथन किया है कि "हे अर्जुन ? ईश्वर सब प्राणियों के हृदयदेश में विराजमान है और अपनी यन्त्ररूप माया से सब भूतों को भ्रमाता है" सूत्रकार ने भी परमार्थावस्था में "जगत् ब्रह्म एक है" यह कहा है और व्यवहारावस्था में तो महा

समुद्र स्थानीय ब्रह्म को कथन किया है,इस प्रकार प्रपञ्च को ब्रह्म का परिणाम कथन करना सगुणोपासना में उपयोग के लिये दिखलाया है ब्रह्म परिणामी है इस अभिप्राय से नहीं ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वादित्यादिषु कारणभूताद्ब्रह्मणः कार्य्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्वमभ्युपगम्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमुपपादितम्, इदानीं तदेवानन्यत्वमाक्षिप्य समाधीयते :—

तत्र काणादाः प्राहुः—नकारणात्कार्य्यस्यानन्यत्वं सम्भवति विलक्षणबुद्धिबोध्यत्वात्, न खलु तन्तुपटमृत्पिण्डघटादिषु कार्य्यकारणविषया बुद्धिरेकरूपा, शब्दभेदाच्च, न हि तन्तवः पट इत्युच्यन्ते, पटो वा तन्तव इति, कार्य्यभेदाच्च, न हि मृत्पिण्डेनोदकमाह्रियते घटेन वा कुड्यं निर्मीयते, कालभेदाच्च, पूर्वकालं च कारणम्, अपरकालं च कार्य्यम्, आकारभेदाच्च पिण्डाकारं कारणं, कार्य्यं च पृथुबुध्नोदराकारं, तथा सत्यामेव मृदि घटो नष्ट इति व्यवह्रियते, संख्याभेदश्च दृश्यते बहवस्तन्तवः एकश्च पटः, कारकव्यापारवैयर्थ्यं च, कारणमेव चेत्कार्य्यं किं कारकव्यापारसाध्यं स्यात्, सत्यपि कार्य्ये कार्योपयोगितया कारकव्यापारेण नोपरन्तव्यं सर्वस्य सर्वदा सत्त्वेन नित्यानित्यविभागश्च न स्यात्,

अथ कार्यं सदेव पूर्वमनभिव्यक्तं कारकव्यापारेणाभिव्यज्यते अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वं नित्यानित्याविभागश्चोच्यते तदसत् अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्तरापेक्षत्वेऽनवस्थानात्, अनपेक्षत्वे कार्य्यस्य नित्योपलब्धिप्रसङ्गात्,तदुत्पत्त्यभ्युपगमे चासत्कार्य्यवादप्रसङ्गात , किञ्च कारकव्यापारस्याभिव्यञ्जकत्वे घटार्थेन कारकव्यापारेण करकादेरप्यभिव्यक्तिः प्रसज्यते, संप्रतिपन्नाभिव्यञ्जकभावेषु दीपादिष्वभिव्यङ्ग्यविशेषनियमादर्शनात्, न हि घटार्थमारोपितः प्रदीपः करकादीन्नाभिव्यनक्ति अतोऽसतः कार्य्यस्योत्पत्तिहेतुत्वेनैव कारकव्यापारार्थवत्त्वम्, अतश्च सत्कार्य्यवादासिद्धिः, न च नियतकारणोपादनं सत एव कार्य्यत्वं साधयति कारकशक्तिनियमादेव तदुपपत्तेः ।

नन्वसत्कार्य्यवादिनोऽपि कारकव्यापारो नोपपद्यते प्रागुत्पत्तेः कार्य्यस्यासत्त्वात्, कार्य्यादन्यत्र कारकव्यापारेण भवितव्यं तत्राऽन्यत्वविशेषात्तन्तुगतकारकव्यापारेण घटोत्पत्तिरपि प्रसज्यते, नैवं यत्कार्योपादानशक्तं यत्कारणं तद्गतकारणव्यापारेण तत्कार्य्योत्पत्तिसिद्धेः, अत्राहुः, कारणादनन्यत्कार्य्यं, न हि परमार्थतः कारणव्यतिरिक्तं कार्य्यं नाम वस्त्वस्ति अवि-

द्यानिबन्धनत्वात्सकलकार्यतद्व्यवहारयोः, अतो यथा-कारणभूतात् मृद्द्रव्याद्घटादिषु विकारेषूपलभ्यमानाद् व्यतिरिक्तंघटशरावादिकार्यं व्यवहारमात्रालम्बनं मिथ्या कारणभूतं मृद्द्रव्यमेव सत्यं, तथा निर्विशेषसन्मात्रात् कारणभूताद्ब्रह्मणोऽन्योऽहङ्कारादिव्यवहारालम्बनः कृत्स्नः प्रपञ्चो मिथ्या कारणभूतं सन्मात्रं ब्रह्मैव सत्यं, तस्मात्कारणव्यतिरिक्तं कार्य्यं नास्तीति कारणादनन्यत्कार्य्यं, न च वाच्यं शुक्तिकारजतादीनामिव घटादिकार्य्याणामसत्यत्वाप्रसिद्धे र्दृष्टान्तानुपपत्तिरिति यतस्तत्रापि श्रुत्या मृद्द्रव्यमात्रमेव सत्यतया व्यवस्थाप्यते तदतिरिक्तं तु युक्त्या बाध्यते, का पुनरत्र युक्तिः, मृद्द्रव्यमात्रस्यानुवर्त्तमानत्वं तदतिरिक्तस्य च व्यावर्तमानत्वं, रज्जुसर्पादिषु ह्यनुवर्तमानस्याधिष्ठानभूतस्य रज्ज्वादेःसत्यता व्यावर्तमानस्य च सर्पभूदलनाम्बुधारादेरसत्यतादृष्टा तथानुवर्तमानमधिष्टानभूतं मृद्द्रव्यमेव सत्यं व्यावर्तमानास्तुघटशरावादयोऽसत्यभूताः, किञ्च सत आत्मनो विनाशाभावादसतश्च शशविषाणादेरुपलब्ध्यभावादुपलब्धिविनाशयोगि कार्यं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयमिति गम्यते, अनिर्वचनीयं च शुक्तिकारजतादिवन्मृषैव तस्य चानिर्वचनीयत्वं प्रतीति-

बाधाभ्यांसिद्धम्, किञ्च कार्य्यमुत्पादयत् मृदादिकारण-द्रव्यं किमविकृतमेव कार्यमुत्पादयति? उतकञ्चनविशेष-मापन्नं? नतावदविकृतमुत्पादयति सर्वदोत्पादकत्व-प्रसङ्गान्नापिविशेषान्तरमापन्नं विशेषान्तरापत्तेरपि वि-शेषान्तरापत्तिपूर्वत्वेन भवितव्यं तस्या अपि तथेत्यनव-स्थानात्, अविकृतमेव देशकालनिमित्तविशेषसम्बद्धं कार्य्यमुत्पादयतीति चेन्न देशादिविशेषसम्बन्धोऽपि ह्यविकृतस्य विशेषान्तरमापन्नस्य च पूर्ववन्न सम्भवति, न च वाच्यं मृत्सुवर्णदुग्धादिभ्यो घटरुचकदध्यादीना-मुत्पत्तिर्दृश्यते शुक्तिकारजतादिवत् देशकालादिप्रति-पन्नोपाधौ बाधश्च न दृश्यते अतः प्रतीतिशरणानां कारणात्कार्य्योत्पत्तिरवश्याऽऽश्रयणीयेति विकल्पासह-त्वात्, किं हेमादिमात्रमेवस्वस्तिकादेरारम्भकम्? उत रुचकादिः? अथ रुचकाद्याश्रयो हेमादिः? न तावद्धेमादिमारम्भकं हेमव्यतिरिक्तस्य कार्यस्याभावात्, स्वात्मानं प्रत्यात्मन आरम्भकत्वासम्भवाच्च, हेमव्य-तिरिक्तं स्वस्तिकं दृश्यत इति चेत् न हेमव्यतिरिक्तं तत्, हेमप्रत्यभिज्ञानात्तदतिरिक्तवस्त्वन्तरानुपलब्धेश्च, बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वन्तरत्वं साधितमिति चेन्ना-निरूपितवस्त्वऽवलम्बनानां बुद्धिशब्दान्तरादीनां शु-

क्तिकारजतबुद्धिशब्दादिवद्भ्रान्तिमूलत्वेन वस्त्वन्तरसद्भावासाधकत्वात् ।

नापि रुचकादि स्वस्तिकादेरारम्भकं, स्वस्तिके हि रुचकं पट इव तन्वतो भवताऽपि नोपलभ्यन्ते, नापि रुचकाश्रयभूतं हेम, रुचकाश्रयाकारेण हेम्नः स्वस्तिकेऽनुपलब्धेः, अतो मृदादिकारणातिरिक्तस्य कार्यस्यासत्वदर्शनाद्ब्रह्मव्यतिरिक्तं कृत्स्नं जगत्कार्य्यत्वेन मिथ्याभूतं, तदिदं ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वसुखप्रतिपत्तये काल्पनिकमृदादिसत्यत्वमाश्रित्य कार्यस्यासत्यत्वं प्रतिपादितं, परमार्थतस्तु मृत्सुवर्णादिकारणमपि घटरुचकादिकार्य्यवन्मिथ्याभूतं ब्रह्मकार्य्यत्वाविशेषात्, "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" "तत्सत्यं" "नेह नानास्ति किञ्चन" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" "यत्रहिद्वैतमिव भवतितादितर इतरं पश्यति" "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत" इत्येवमादिभिः श्रुतिभिश्च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वमवगम्यते, न चागमावगतार्थस्य प्रत्यक्षविरोधः शङ्कनीयः, यथोक्तप्रकारेण कार्यस्य सर्वस्य मिथ्यात्वावगमात्, प्रत्यक्षस्य सन्मात्रविषयत्वाच्च विरोधे सत्यसम्भावितदोषस्य चरमभाविनः स्वरूपस

द्वावादौ प्रत्यक्षाद्यपेक्षत्वेऽपि प्रमितौ निराकाङ्क्षस्य निरवकाशस्य शास्त्रस्य बलीयस्त्वादतः कारणभूताद्ब्रह्मणोऽन्यत्सर्वं मिथ्या, न च प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेन जीवमिथ्यात्वमाशङ्कनीयं, ब्रह्मण एव जीवभावाद्ब्रह्मैव हि सर्वशरीरेषु जीवभावमनुभवति, "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" "एको देवः सर्वभूतेषुगूढः" "एको देवो बहुधा सन्निविष्टः" "एष सर्वेषुभूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते" "नान्योऽतोस्ति द्रष्टेत्येवमादिभ्यः, नन्वेकमेव ब्रह्म सर्वशरीरेषु जीवभावमनुभवतीति चेत् पादे मे वेदना शिरसि सुखमितिवत्सर्वशरीरेषु सुखदुःखप्रतिसन्धानं स्यात् जीवेश्वरबद्धमुक्तशिष्याचार्यज्ञत्वाज्ञत्वव्यवस्था च न स्यात्, अत्र केचिदद्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयन्त एवं समादधते एकस्यैव ब्रह्मणः प्रतिबिम्बभूतानां जीवानां सुखित्वदुःखित्वादय एकस्यैव मुखस्य प्रतिबिम्बानां मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्यमानानामल्पत्वमहत्त्वमलिनत्वादिवत्तत्तदुपाधिवशाद्व्यवस्थाप्यन्ते, ननु अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्येत्यादिश्रुतेर्न जीवा ब्रह्मणो भिद्यन्ते इत्युक्तं, सत्यं, परमार्थतः काल्पनिकं तु भेदमाश्रित्येयं व्यवस्थोच्यते कस्य पुनः कल्पना ? न तावद्ब्रह्मणः तस्य परिशुद्धज्ञानात्मनः

कल्पनाशून्यत्वात् नापि जीवानाम् इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् कल्पनाधीनो हि जीवभावो जीवाश्रया च कल्पनेति, नैतदेवम्, अविद्याजीवभावयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनाऽनादित्वात्, किञ्च प्रासादनिगरणादिवदनुपपन्नतैकवेषायामवस्तुभूतायामविद्यायां नेतरेतराश्रयादयो वस्तुदोषा अनवक्लृप्तिमावहन्ति वस्तुतो ब्रह्माव्यतिरिक्तानां जीवनां स्वतोविशुद्धत्त्वेऽपि कृपाणादिगतमुखप्रतिबिम्बश्यामतादिवदौपाधिकाशुद्धिसम्भवाद - विद्याश्रयत्वोपपत्तेः काल्पनिकत्वोपपत्तिः, प्रतिबिम्बगतश्यामतादिवज्जीवगताशुद्धिरपि भ्रान्तिरेव,अन्यथाऽनिर्म्मोक्षत्वप्रसङ्गात्,जीवानां भ्रमस्य प्रवाहानादित्वान्न तद्धेतुरन्वेषणीय इति, तदेतदविदिताद्वैतयाथात्म्यानां भेदवादश्रद्धालुजनसबहुमानावलोकनलिप्साविजृम्भितं, तथा हि जीवस्य कल्पितस्वाभाविकरूपेणाविद्याश्रयत्वे ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात्, तदतिरिक्तेन तास्मिन् कल्पितेनाकारेणाविद्याश्रयत्वे जड़स्याविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात् ।

न खल्वद्वैतवादिनस्तदुभयव्यतिरिक्तमाकारकमभ्युपगच्छन्ति, कल्पिताकारविशिष्टेन स्वरूपेणवाविद्याश्रयत्वमिति चेन्न स्वरूपस्याखण्डैकरसस्याविद्याम-

न्तरेणविशिष्टरूपत्वासिद्धेः, अविद्याश्रयाकार एव हि निरूप्यते, किञ्च बन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्ध्यर्थं हि जीवाज्ञानस्य समाश्रयणं सा तु व्यवस्था जीवाज्ञानपक्षेऽपि न सिध्यति, अविद्याविनाश एव हि मोक्षः, तत्रैकस्मिन्, मुक्ते अविद्याविनाशादितरेऽपि मुच्येरन्, अन्यस्याऽमुक्तत्वादविद्या तिष्ठतीति चेत् तर्ह्येकस्याप्यमुक्तिः स्यात् अविद्याया अविनष्टत्वात्. प्रतिजीवमविद्याभेदः कल्प्यते तत्र यस्याऽविद्या नष्टा स मोक्ष्यते, यस्य त्वनष्टा स भन्त्स्यत इति चेन्न प्रतिजीवमिति जीवभेदमाश्रित्य ब्रूषे स जीवभेदः किं स्वाभाविक ? उताविद्याकल्पितः ? न तावत्स्वाभाविकः अनभ्युपगमात्, भेदसिद्ध्यर्थस्यास्य चाविद्याकल्पनस्य व्यर्थत्वात्, अथाविद्याकल्पितः, तत्रेयं जीवभेदकल्पिकाऽविद्या किं ब्रह्मण ? उत जीवानां ? ब्रह्मण इति चेदागतोऽसि मदीयं मार्गम्, अथ जीवानां किमस्या जीवभेदक्लृप्तिसिद्ध्यर्थतां विस्मरसि अथ प्रतिजीवं बद्धमुक्तव्यवस्थासिद्ध्यर्थं या अविद्याः कल्प्यन्ते ताभिरेव जीवभेदोऽपीति मनुषे जीवभेदासिद्धा ताः सिध्यन्ति तासु सिद्धासु जीवभेदसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वं, न चात्र बीजाङ्कुरन्यायः सिद्ध्यति बीजाङ्कुरेषु ह्यन्यदन्यद्बीजमन्यस्या-

न्यस्याङ्कुरस्योत्पादकम्, इह तु याभिरविद्याभिर्ये जीवाः कल्प्यन्ते तानेवाश्रित्य तासां सिद्धिरित्यशङ्कनीयता। अथ बीजाङ्कुरन्यायेन पूर्वपूर्वजीवाश्रयाभिरविद्याभिरुत्तरोत्तरजीवकल्पनां मन्यसे तथा सति जीवानां भङ्गुरत्वमकृताभ्यागमकृतप्रहाणादिप्रसङ्गश्च, अत एव ब्रह्मणः पूर्वपूर्वजीवाश्रयाभिरविद्याभिरुत्तरोत्तरजीवभावकल्पन-मित्यपि निरस्तम्, अविद्याप्रवाहेऽभ्युपगम्यमाने तत्तत्कल्पितजीवभावस्यापि तद्वत्प्रवाहानादिता स्यात् न ध्रुवरूपता, आमोक्षं च जीवभावस्य ध्रुवत्वमिष्टं न सिद्ध्येत्, यच्चोक्तम् अविद्याया अवस्तुरूपत्वेनानुपपन्नैकवेषायां नेतरेतराश्रयत्वादयोवस्तुदोषा अनवक्लृप्तिमावहन्तीति, तथा सति मुक्तान् परं च ब्रह्माश्रयेदविद्या. शुद्धविद्यास्वरूपत्वादशुद्धिरूपा न तत्र प्रसजतीति चेत्किमुपपत्त्यनुवर्तिन्यऽविद्या! ? एवं तर्ह्युक्ताभिरुपपत्तिभिर्जीवानपि नाश्रयेत, किञ्च जीवाश्रयाया अविद्यायास्तत्त्वज्ञानोदयान्नाशे सति जीवो नश्येद्वा ? न वा ? यदि नश्येत्स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात्, नोचेदविद्यानाशेप्यनिर्मोक्षः, ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्तजीवत्वावस्थानात्, यच्चोक्तं मणिकृपाणदर्पणादिषूपलभ्य-

मानमुखमलिनत्वविमलत्वादिवच्छुद्ध्यशुद्ध्यादिव्यवस्थोपपत्तिरिति तत्रेदं विमर्शनीयम् अल्पत्वमलिनत्वाद्य औपाधिकाःदोषाःकदा नश्येयुरिति कृपाणाद्युपाध्यपगम इति चेत् किं तदल्पत्वाद्याश्रयःप्रतिबिम्बःतिष्ठति न वा ? तिष्ठति चेत् तत्स्थानीयस्य जीवस्यापि स्थितत्वादनिर्मोक्षप्रसङ्गः नश्यति चेत् तद्वदेव जीवनाशात्स्वरूपोच्छितिलक्षणो मोक्षः स्यात्, किञ्च यस्य ह्यपुरुषार्थरूपदोषप्रतिभासः तस्य तदुच्छेदः पुरुषार्थः, तत्र किमौपाधिकदोषप्रतिभासो बिम्बस्थानीयस्यब्रह्मणः ? उपप्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्य? उतान्यस्य कस्यचित्? आद्ययोः कल्पयोर्दृष्टान्तोऽयं न सङ्गच्छते मुखस्य मुखप्रतिबिम्बस्य चाल्पत्वादिदोषप्रतिभासशून्यत्वात्, न हि मुखं तत्प्रतिबिम्बं वा चेतयते ब्रह्मणोदोषप्रतिभासे ब्रह्मणो ऽविद्याश्रयत्वप्रसङ्गश्च तृतीयोऽपि कल्पो न कल्पते, जीवब्रह्मव्यतिरिक्तस्य द्रष्टुरभावात्, किञ्चाविद्याकल्प्यस्य जीवस्य कल्पकः क इति निरूपणीयं न तावदविदया अचेतनत्वात्, नापि जीव आत्माश्रयदोषप्रसङ्गात, शुक्तिकारजतादिवदविद्याकल्प्यत्वाच्च जीवभावस्य, ब्रह्मैव कल्पकमिति चेत् ब्रह्माऽज्ञानमेवायातम्, किञ्च ब्रह्माज्ञानानभ्युपगमे किं ब्रह्म जीवा-

न्पश्यति? न वा ? न पश्यति चेत् ईक्षापूर्विका विचित्र-सृष्टिर्नामरूपव्याकरणमित्यादि ब्रह्मणो न स्यात्, अथ पशत्यखण्डैकरसं ब्रह्म नाविद्यामन्तरेण जीवान् पश्यतीति ब्रह्माज्ञानप्रसङ्गः, अत एव मायाविद्याप्रविभाग-वादोऽपि निरस्तः, अज्ञानमन्तरेण हि मायिनोऽपिब्रह्मणो जीवदर्शित्वं न स्यात् न च मायावी परानदृष्ट्वा मोह-यितुमलं, न च माया मायाविनोदर्शनसाधनं दृष्टेषु-परेषु तन्मोहनसाधनमात्रत्वात्तस्याः, अथ ब्रह्मणो माया तस्य जीवदर्शित्वंकुर्वती जीवमोहनहेतुरिति-मन्यसे तर्हि परिशुद्धस्याखण्डेकरसस्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः परदर्शनं कुर्वती माया मायाऽपरपर्य्यायाऽविद्यैवस्यात्, अथ मतं, विपरीतदर्शनहेतुरविद्या, माया तु मिथ्याभूतं ब्रह्मव्यतिरिक्तं मिथ्यात्वेनैव दर्शयन्ती न ब्रह्मणो विपरीतदर्शनहेतुः अतस्तस्या नाविद्यात्वमिति नैवं, चन्द्रैकत्वे ज्ञायमाने द्विचन्द्रज्ञानहेतोरप्यविद्यात्वात्, यदि च ब्रह्म मिथ्यात्वेनैव स्वव्यतिरिक्तं जानाति न तर्हि तन्मोहयति, न ह्यनुन्मत्तो मिथ्यात्वेन ज्ञातान् मोहयितुमीहते, अथ पुरुषार्थाऽपरमार्थदर्शनहेतुरविद्या, माया तु ब्रह्मणोनाऽपुरुषार्थदर्शनहेतुः अतोऽस्या ना-विद्यात्वमिति मतं, तन्न द्विचन्द्रज्ञानस्य दुःखहेतुत्वा-

भावेनापुरुषार्थत्वाभावेऽपि तद्धेतुरविद्यैव तन्निरसने च प्रयस्यन्ती, यदि च नापुरुषार्थदर्शनकरी माया तर्ह्यनुच्छेद्यतया नित्या ब्रह्मस्वरूपानुबन्धिनीस्यात्, अस्तु को दोष इति चेत् द्वैतदर्शनमेव दोषः, यत्र हि द्वैतमिव भवति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत्तत्केन कं पश्येदित्याद्यऽद्वैतश्रुतयः प्रकुप्येयुः परमार्थविषया अद्वैतश्रुतयः मायायास्त्वपरमार्थत्वादविरोध इति चेत्, अपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽपरमार्थभूतमायादर्शनं तद्वत्ता वाऽविद्यामन्तरेण नोपपद्यते, किञ्चापरमार्थभूतया नित्यया मायया किं प्रयोजनं ब्रह्मणो ? जीवमोहनमिति चेत् ? अपुरुषार्थेन मोहनेन किं प्रयोजनं, क्रीडेति चेत् ? अपरिच्छिन्नानन्दस्य किं क्रीडया, परिपूर्णभोगानामेव क्रीडा पुरुषार्थत्वेन लोके दृष्टेति चेत् ? नैवमिहोपपद्यते, न ह्यपरमार्थभूतैः क्रीडोपकरणैरपरमार्थतया प्रतिभासमानैर्निष्पन्नयाऽपरमार्थभूतया क्रीडयाऽपरमार्थभूतेन च तत्प्रतिभासेनानुन्मत्तानां क्रीडारसो निष्पद्यते ।

मायाश्रयतयाऽभिमतब्रह्मात्मव्यतिरेकेणाविद्याश्रयस्य जीवस्य कल्पनाऽसम्भवश्च पूर्ववदेव द्रष्टव्यः, अतो ब्रह्मैवानाद्यविद्याशबलं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्यद्वैती

यत्वंब्रह्मणोऽभ्युपयाद्भिरभ्युपेतव्यम्, यत्तु बन्धमोक्ष-व्यवस्था नोपपद्यत इति न तद्ब्रह्माज्ञानवादिनश्चोद्यम् एकस्यैव ब्रह्मणोऽज्ञस्य स्वज्ञाननिवृत्त्या मोक्ष्यमाणत्वात् बद्धमुक्तादिव्यवस्थाया एवाभावात् व्यवह्रियमाणायाश्च बद्धमुक्ताशिष्याचार्य्यादिव्यवस्थायाः काल्पनिकत्वात् स्वप्नदर्शिन इव चैकस्यवाविद्यया सर्वकल्पनोपपत्तेः, स्वप्नदृशा ह्येकेन दृष्टाः शिष्याचार्य्यादयः तदविद्या-कल्पिता एव, अतएव वह्वविद्याकल्पनमपि न युक्तिमत् पारमार्थिकी बन्धमोक्षव्यवस्था स्ववरव्यवस्था च जीवाज्ञानवादिनाऽपि नाभ्युपेयते, अपारमार्थिकी त्वेकस्यैवाविद्ययोपपद्यते, प्रयोगश्चबन्धमोक्षव्यवस्थाः स्वपरव्यवस्थाश्चस्वाविद्याकल्पिता अपारमार्थिकत्वा-त्स्वप्नदृष्टव्यवस्थावदिति, शरीरान्तराण्यपि मयैवात्म-वन्ति शरीरत्वादेतच्छरीरवत्, कार्य्यत्वात् जडत्वात्क-ल्पितत्वाद्वा एतच्छरीवत्, विवादाध्यासितं चेतनजात-महमेव चेतनत्वात यदनहं तदचेतनं दृष्टं यथा घटः, अतः स्वपरविभागोबद्धमुक्तशिष्याचार्यादिव्यवस्थाश्चै-कस्याविद्याकल्पिताः, द्वैतवादिनाऽपि बद्धमुक्तव्यव-स्था दुरुपपादा अतीतानां कल्पानामानन्त्यात् एकैक-स्मिन्कल्पे एकैकमुक्तावपि सर्वेषां मोक्षसम्भवादमुक्ता-

नुपपत्तेः, अनन्तत्वादात्मनाममुक्ताश्च सन्तीति चेत् किमिदमनन्तत्वम् असङ्ख्येयत्वमिति चेन्न भूयस्त्वादल्पज्ञैरसङ्ख्येयत्वेऽपीश्वरस्य सर्वज्ञस्य सङ्ख्येया एव तस्याप्यशक्यत्वे सर्वज्ञत्वं न स्यात्, आत्मनां निरसङ्ख्येयत्वादीश्वरस्याविद्यमानसङ्ख्यावेदनाभावो नासार्वज्ञ्यमावहतीति चेन्न भिन्नत्वे सङ्ख्याविधुरत्वं नोपपद्यते आत्मानः संख्यावन्तो भिन्नत्वात् माषसर्षपघटपटादिवत् भिन्नत्वे चात्मनां घटादिवत् जडत्वमनात्मत्वं क्षयित्वं च प्रसज्यते ब्रह्मणश्चानन्तत्वं न स्यात्,अनन्तत्वं नाम परिच्छेदरहितत्वं, भेदवादे च वस्त्वन्तराद्विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो वस्तुतः परिच्छेदरहितत्वं न शक्यते वक्तुं वस्त्वन्तरभाव एवहि वस्तुतः परिच्छेदः, वस्तुतः परिच्छिन्नस्य देशतः कालतश्चापरिच्छिन्नत्वं न युज्यते वस्त्वन्तराद्विलक्षणत्वेन वस्तुतः परिच्छिन्ना एव हि घटादयो देशतःकालतश्च परिच्छिन्ना दृष्टा तथा सर्वे चेतनाःब्रह्म च, वस्तुतः परिच्छिन्ना देशकालाभ्यामपि परिच्छिद्यन्ते एवं च सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिभिस्सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वं वदद्भिर्विरोधः, उत्पत्तिविनाशादयश्च जीवानां ब्रह्मणश्च प्रसज्येरन्, कालपरिच्छेद एव ह्युत्पत्तिविनाश

भागित्वम्, अत एवास्यैवापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽविद्या-विजृम्भितं ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तं कृत्स्नं जगत्सुखदुःख-प्रतिसन्धानव्यवस्थादयोऽपि स्वप्नव्यवस्थावदविद्यास्वा-भाव्यादुपपद्यन्ते, तस्मादेकमेव नित्यमुक्तस्वप्रकाश-स्वभावमनाद्यविद्यावशाज्जगदाकारेण विवर्तते इति परमार्थतो ब्रह्मव्यतिरिक्ताभावात्तदनन्यत्वं जगत इति, अत्रोच्यते निर्विशेषस्वप्रकाशमात्रं ब्रह्मानाद्यविद्याति-रोहितस्वस्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्येतत्प्रकाशस्व-रूपस्य निरंशस्य प्रकाशनिवृत्तिरूपतिराधाने स्वरूपना-शप्रसङ्गेन तिरोधानासम्भवादिभ्यः सकलप्रमाणविरुद्धं स्ववचनविरुद्धं चेति पूर्वमेवोक्तं, यत्पुनरुक्तं कारणव्य-तिरिक्तं कार्य्यं युक्तिबाधितत्वेन शुक्तिकारजतादिवद्‌ भ्रम इति तदयुक्तं युक्तेरभावात् ।

यत्त्वनुवर्त्तमानस्य कारणमात्रस्य सत्यत्वं व्यावर्त-मानानां घटशरावादिकार्य्याणामसत्यत्वमिति तदप्य-न्यत्र दृष्टस्यान्यत्र व्यावर्तमानता न बाधिकेत्यादिभिः पूर्वमेव परिहृतम्, यच्चोपलभ्यमानत्वविनाशित्वाभ्यां सदसदनिर्वचनीयत्वेन कार्य्यस्य मृषात्वमिति तदसत् उपलब्धिविनाशयोगो हि न मिथ्यात्वं साधयति, किं त्वनित्यत्वं यद्देशकालसम्बन्धितया यदुपलब्धं तद्देश-

कालसम्बन्धितया बाधितत्वमेव हि तस्य मिथ्यात्वे हेतुः देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयोपलब्धस्यान्यदेश-कालसम्बन्धित्वेन बाधितत्वं देशान्तरकालान्तराव्याप्तिमात्रं साधयति न तु मिथ्यात्वं, प्रतिप्रयोगश्च घटादिकार्य्यं सत्यं देशकालादिप्रतिपन्नोपाधावबाधितत्वात् आत्मवत्, यच्चोक्तं कारणस्वरूपादविकृताद्विकृताच्च कार्य्योत्पत्तिर्न सम्भवतीति सदसत्, देशकालादिसहकारिसमवहितात्कारणात्कार्य्योत्पत्तिसम्भवात्, तत्समवधानं च विकृतस्याविकृतस्य च न सम्भवतीति यदुक्तं तदप्ययुक्तं पूर्वमविकृतस्यैव कालादिसमवधानसम्भवाद विकृतत्वाविशेषात्पूर्वमपि देशकालादिसमवधानं प्रसज्यते इति चेत् न देशकालादिसमवधानस्य कारणन्तरायत्तस्यैतदायत्तत्वाभावात्, अतो देशकालादिसमवधानरूपविशेषमापन्नं कारणं कार्य्यमुत्पादयतीति न किञ्चिदवहीनं, कारणस्य च कार्य्यं प्रत्यारम्भकत्वमबाधितं दृश्यमानं न केनापि प्रकारेणापन्होतुं शक्यते, यत्तु हेमादिमात्रस्य रुचकादिकार्य्यस्यैतदाश्रयस्य वा हेमादेरारम्भकत्वं न सम्भवतीति तदयुक्तं हेमादिमात्रस्यैव यथोक्तपरिकरयुक्तस्यारम्भकत्वसम्भवात्, नचारम्भकहेमव्यतिरिक्तं कार्य्यं न

दृश्यते इति वक्तुं शक्यं हेमातिरिक्तस्य स्वस्तिकस्य दर्शनात्, बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वन्तरस्य साधितत्वाच्च न चायं शुक्तिकारजतादिवद्भ्रमः, उत्पत्तिविनाशयोरन्तराले उपलभ्यमानस्य तद्देशकालसम्बन्धितया बाधादर्शनात्, न चास्या उपलब्धेर्बाधिका काचिदपि युक्तिर्दृश्यते प्रागनुपलब्धस्वस्तिकोपलब्धिवेलायामपि हेमप्रत्यभिज्ञा स्वस्तिकाश्रयतया हेम्नोऽप्यनुवृत्तिरविरुद्धा, श्रुतिभिस्तुप्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनं पूर्वमेव निरस्तम्, यच्चान्यदपि प्रत्यक्षाविरोधादि प्रतिवक्तव्यं तदपि सर्वं पूर्वमेव सूक्तम्, यच्चोक्तम् एकेनात्मना सर्वाणि शरीराण्यात्मवन्तीति तदसत्, एकस्यैव सर्वशरीरप्रयुक्तसुखदुःखप्रतिसन्धानप्रसङ्गात्, सौभरिप्रभृतिषु ह्यात्मैकत्वेनाऽनेकशरीरप्रयुक्तसुखादिप्रतिसन्धानमेकस्य दृश्यते, न चाहमर्थस्य ज्ञातृत्वात्तद्भेदात्प्रतिसन्धानाभावो नात्मभेदादिति वक्तुं शक्यम् आत्मा ज्ञातैव स चाहमर्थ एव अन्तःकरणभूतस्त्वहङ्कारो जडत्वात्करणत्वाच्च शरीरेन्द्रियादिवन्न ज्ञातेत्युपपादितत्वात्, यच्च शरीरत्वजडत्वकार्य्यत्वकल्पितत्वैस्सर्वशरीराणामेकस्याविद्याकल्पितत्वमुक्तं तदपि सर्वशरी-

शाणामविद्याकल्पितत्वस्यैवाभावादयुक्तं तदभावश्चाबाधितस्य सत्यतोपादानात्, यच्च चेतनादन्यस्य जडत्वदर्शनात्सर्वचेतनानामनन्यत्वमुक्तं तदपि सुखदुःखव्यवस्थया भेदोपपादनादेव निरस्तम्, यत्तु मयैवात्मवन्ति मदविद्याकल्पितान्यहमेव सर्वं चेतनजातमित्यहमर्थस्यैक्यमुपपादितं तदज्ञातस्वसिद्धान्तस्य भ्रान्तिजल्पितम् अहन्त्वमाद्यर्थविलक्षणं चिन्मात्रं ह्यात्मा त्वन्मते, किञ्च निर्विशेषचिन्मात्रातिरिक्तं सर्वं मिथ्येति वदतोमोक्षार्थश्रवणादिप्रयत्नो निष्फलः, अविद्याकार्यत्वात् शुक्तिकारजतादिषु रजताद्युपादानादिप्रयत्नवन्मोक्षार्थप्रयत्नोऽपि व्यर्थः, कल्पिताचार्यायत्तज्ञानकार्यत्वात् शुकप्रह्लादवामदेवादिप्रयत्नवत्, तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं न बन्धनिवर्तकम् अविद्याकल्पितवाक्यजन्यत्वात्स्वयमविद्यात्मकत्वात्, अविद्याकल्पितज्ञात्राश्रयत्वात्, कल्पिताचार्यायत्तश्रवणजन्यात्वाद्वा स्वप्नबन्धनिवर्त्तकवाक्यजन्यज्ञानवत्, किञ्च निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म मिथ्या अविद्याकार्य्यज्ञानगम्यत्वात् अविद्याकल्पितज्ञात्राश्रितज्ञानगम्यत्वात् अविद्याकल्पितज्ञानगम्यत्वाद्वा यदेवं तत्तथा, यथा स्वाप्नगन्धर्वनगरादिः।

न च निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म स्वयं प्रकाशते येन

न प्रमाणान्तरमपेक्षते, यत्त्वात्मसाक्षिकं स्वयं प्रकाश-ज्ञानं दृश्यते तत्तु ज्ञेयविशेषसिद्धिरूपं ज्ञातृगतमेव दृश्यत इति पूर्वमेवोक्तं,यानि च तस्य निर्विशेषत्वसाधनानि यौक्तिकानि ज्ञानान्युपन्यस्तानि तानि चानन्तरोक्तैरविद्याकार्य्यत्वादित्यादिभिरनुमानैर्निरस्तानि, न च निर्विशेषस्यचिन्मात्रस्याज्ञानसाक्षित्वमहङ्कारादिजगद्भ्रमश्चोपपद्यते, साक्षित्वभ्रमादयोऽपि हि ज्ञातृविशेषगता दृष्टाः न ज्ञप्तिमात्रगताः न च तस्य प्रकाशकत्वं स्वायत्तप्रकाशता वा सिध्यति, प्रकाशो हि नाम कस्याचित्पुरुषस्य कञ्चनार्थविशेषं प्रति सिद्धिरूपो दृश्यते, तत एव हि तस्य स्वयंप्रकाशतोपपाद्यते भवद्भिरपि, नचाताद्दृशस्य निर्विशेषस्य स्वप्रकाशता सम्भवति, यः पुनस्स्वगोष्ठीष्वपरमार्थादपि परमार्थकार्य्यं दृश्यत इत्युद्घोषः सोऽपि तानि कार्य्याणि सर्वाण्यबाधितकल्पानि व्यवहारिकसत्यानि वस्तुतस्त्वविद्यात्मकान्येवेति स्वाभ्युपगमादेव निरस्तः।

अस्माभिरपि सर्वत्र परमार्थादेव कारणात्सर्वकार्य्योत्पत्तिमुपपादयाद्भिः पूर्वमेव निरस्तः, न च त्वयैषामनुभूयमानानां श्रुतिविरोधो वक्तुं शक्यते श्रुतेरप्यविद्याकार्य्यत्वेनाविद्यात्मकत्वेन चोक्तदृष्टान्तेभ्यो

विशेषाभावात्, यत्तु ब्रह्मणोऽपारमार्थिकज्ञानगम्यत्वेऽपि पश्चात्तनबाधादर्शनाद्ब्रह्म सत्यमेवेति तदसत् दुष्टकारणजन्यज्ञानगम्यत्वे निश्चिते सति पश्चात्तनबाधादर्शनस्याकिञ्चित्करत्वात्, तथा शून्यमेव तत्त्वमिति वाक्यजन्यज्ञानस्य पश्चात्तनबाधादर्शनेऽपि दोषमूलत्वनिश्चयादेष तदर्थस्यासत्यत्वम्, किञ्च नेह नानाऽस्ति किञ्चन विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति विज्ञानमात्रातिरिक्तस्य वस्तुजातस्य निषेधकत्वेन सर्वस्मात् परत्वात्पश्चात्तनबाधादर्शनमुच्यते शून्यमेव तत्त्वमिति तस्याप्यभावं वदतस्तस्मात्परत्वेन पश्चात्तनबाधो दृश्यते सर्वशून्यतातिरेकिनिषेधासम्भवात्तस्यैव पश्चात्तनबाधादर्शनं,दोषमूलत्वं तु प्रत्यक्षादीनां वेदान्तजन्मनःसर्वशून्यज्ञानस्याप्यविशिष्टम्, अतः सर्वं विज्ञानजातं पारमार्थिक ज्ञातृगतं स्वयं च परमार्थभूतमर्थविशेषसिद्धिरूपं तत्र किञ्चिद् ज्ञानं दोषमूलं दोषश्च परमार्थः, किञ्चिच्च निर्दोषं पारमार्थिकसामग्रीजन्यमिति यावन्नाभ्युपेयते न तावत्सत्यमिथ्यार्थव्यवस्था लोकव्यवहारश्च सेत्स्यति, लोकव्यवहारो हि पारमार्थिको भ्रान्तिरूपश्च पारमार्थिकज्ञातृगतार्थविशेषसिद्धिरूपप्रकाशपूर्वकः ।

निर्विशेषसन्मात्रस्य तु पारमार्थिकस्यऽपारमार्थि-

कस्य च प्रतिभासादेर्हेतुत्व सम्भवाल्लोकव्यवहारो न सम्भवति, यच्च तैर्निरधिष्ठानभ्रमासम्भवात् सर्वाध्यासाधिष्ठानस्य सन्मात्रस्य तु पारमार्थिकत्वमुक्तं तदपि दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि पारमार्थिकस्य भ्रमोपपत्तिवदधिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेर्निस्तम्, अथाधिष्ठानापारमार्थ्ये न क्वचिद् भ्रमो दृष्ट इति सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमवश्याश्रयणीयमिति मन्यसे हन्त तर्हि दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि न क्वचिदभ्रमो दृष्ट इति सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमवश्याश्रयणीयमिति मन्यसे हन्त तर्हि दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि न क्वचिद्भ्रमो दृष्ट इति दर्शनानुगुण्येन तेषामपि पारमार्थ्यमवश्याश्रयणीयमिति न कश्चिद्विशेषोऽन्यत्र तत्संरम्भात्, यत्तु भेदपक्षेऽप्यतीतकल्पनामानन्त्यात्सर्वेषामात्मनां मुक्तत्वेन बद्धासम्भवाद्बद्धमुक्तव्यवस्था न सम्भवतीति तदात्मानन्त्येन परिहृतम् ।

यत्त्वात्मनां भिन्नत्वे माषसर्षपघटादिवत्सङ्ख्यावत्त्वमवर्जनीयमिति तत्र घटादीनामप्यनन्तत्वात् दृष्टान्तः साध्यविकलस्स्यात्, दश घटास्सहस्रं माषा इति सङ्ख्यावत्त्वं दृश्यत इति चेत् सत्यं, तत्तु न घटादि-

स्वरूपगतमपि तु देशकालाद्युपाधिमद्घटादिगतं तादृशं तु सङ्ख्यावत्त्वमात्मनामप्यभ्युपगच्छामः, न च तावता सर्वमुक्तिप्रसङ्गः, आत्मस्वरूपानन्त्यात्, यत्त्वात्मनां भिन्नत्वे घटादिवज्जड़त्वानात्मत्वक्षयित्वप्रसङ्ग इति तदयुक्तम् एकजातीयानां भेदस्य तज्जातीयानां जात्यन्तरीयत्वानापादनात्, न हि घटादीनां भेदस्तेषां पटत्वमापादयति, यत्तु भिन्नत्वे वस्तुतः परिच्छेदाद् देशकालाभ्यामपि परिच्छेदो ब्रह्मणः प्रसज्यत इत्यनन्तत्वं ब्रह्मणो न सिध्यति इति, तदयुक्तं वस्तुतः परिच्छिन्नानामपि देशकालपरिच्छेदस्य न्यूनाधिकभावेनानियमदर्शनाद्देशकालसम्बन्धेयत्तायाः प्रमाणान्तरायत्तनिर्णयत्वेन ब्रह्मणः सर्वदेशकालसम्बन्धस्यापि प्रमाणान्तरादापततो विरोधाभावात् वस्तुतः परिच्छेदमात्रादपि सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वाभावादानन्त्यासिद्धि रिति चेत्, तद्भवतोऽप्यविद्याविलक्षणत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयतः समानम् ।

अतस्वतोऽविद्याविलक्षणत्वाभ्युपगमाद्ब्रह्मणोऽपि भिन्नत्वेन भेदप्रयुक्ता दोषास्सर्वे तवापि प्रसज्येरन्, यद्यविद्याविलक्षणत्वं नाभ्युपेयते तर्ह्यविद्यात्मकत्वमेव ब्रह्मणः स्यात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति लक्षणवाक्य-

मपि तत् एवापार्थकं स्यात्, भेदतत्त्वानभ्युपगमे हि स्वपक्षपरपक्ष साधनदूषणादिविवेकाभावात्सर्वमसमंञ्जसं स्यात्, आनन्त्यप्रसिद्धिश्च देशकालपरिच्छेदरहितत्वमात्रेण न वस्तुतोऽपि पच्छिदरहितत्वेन तथाविधस्य शशविषाणायमानस्यानुपलब्धेः ।

भेदवादिनस्तु सर्वचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन ब्रह्मणस्सर्वप्रकारत्वात्स्वतः परतोऽपि परिच्छेदो न विद्यते, तदेवं कारणाद्भिन्नस्य कार्य्यस्य सत्यत्वाद्ब्रह्मकार्यं कृत्स्न जगद्ब्रह्मणोऽन्यदेवेति प्राप्ते प्रक्ष्महे "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" तस्मात्परमकारणाद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वंजगतः आरम्भणशब्दादिभ्यः तदुपपादयद्भ्योऽवगम्यते आरम्भणशब्द आदिर्येषां वाक्यानां तान्यारम्भणशब्दादीनिवाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं, सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षतबहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत, अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य, सन्मूलास्सौम्येमास्सर्वाः प्रजास्सदायतनाःसत्प्रतिष्ठाः ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इत्येतानि प्रकरणान्तरस्थान्यप्येवञ्जातीयकान्यत्राभिप्रेतानि, एतानि हि वाक्यानि चिदचिदात्मकस्य जगतः परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुपपाद

यन्ति, तथा हि "स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्योयेना- श्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कृत्स्नस्य जगतो ब्रह्मैककारणत्वं कारणात्कार्य्यस्यानन्यत्वं च हृदि निधाय कारणभूतब्रह्मविज्ञानेन कार्य्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञाने प्रतिज्ञाते सति कृत्स्नस्य ब्रह्मैककारणतामजानता शिष्येण कथं नु भगवः स आदेश इत्यन्यज्ञानेनान्यज्ञाततासम्भवं चोदितो जगतो ब्रह्मैककारणतामुपदेक्ष्यन् लौकिकप्रतीतिसिद्धं कारणात्कार्य्यस्यानन्यत्वं तावत यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यादिति दर्शयति यथैकमृत्पिण्डरब्धानां घटशरावादीनां तस्मादनतिरिक्तद्रव्यतया तज्ज्ञानेन ज्ञाततेत्यर्थः।

अत्र काणादवादेन कारणात्कार्य्यस्य द्रव्यान्तरत्वमाशंक्य लोकप्रतीत्यैव कारणात्कार्य्यस्यानन्यत्वमुपपादयति वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति आरभ्यते—आलभ्यते स्पृश्यत इत्यारम्भणं "कृत्य ल्युटो बहुल" मिति कर्मणि ल्युट्, वाचो वाक्पूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः, घटेनोदकमाहरेत्यादि वाक्पूर्वकाह्युदकाहरणादिव्यवहारः, तस्य व्यवहारस्य सिद्धये तेनैव मृद्द्रव्येण पृथुबुध्नोदराकारत्वादिलक्षणो विकारः संस्थानविशेषस्तत्प्रयुक्तं च घट इत्यादि नाम-

धेयं स्पृश्यते उदकाहरणादिव्यवहारविशेषसिध्यर्थं मृद्द्रव्यमेव संस्थानान्तरनामधेयान्तरभाग्भवति ।

अतो घटाद्यपि मृत्तिकेत्येव सत्यं मृत्तिकाद्रव्यमित्येव सत्यं प्रमाणेनोपलभ्यत इत्यर्थः, न तु द्रव्यान्तरत्वेन, अतस्तस्यैव मृद्धिरण्यादेर्द्रव्यस्य संस्थानान्तरभाक्त्वमात्रेणैव बुद्धिशब्दान्तरादय एवोपपद्यन्ते, यथैकस्यैव देवदत्तस्यावस्थाविशेषैर्बालो युवा स्थविर इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्य्यविशेषाश्च दृश्यन्ते-यदुक्तं सत्यामेव मृदि घटो नष्ट इति व्यवहारात्कारणादन्यत्कार्य्यमिति तदुत्पत्तिविनाशादीनां कारणभूतस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषत्वाभ्युपगमादेव परिहृतं तत्तदवस्थस्यैकस्यैव तस्यैव द्रव्यस्य ते ते शब्दास्तानि तानि च कार्य्याणीति युक्तं द्रव्यस्य तत्तदवस्थत्वं कारकव्यापारायत्तमिति तस्यार्थं वत्त्वम्, अभिव्यत्त्यनुबन्धीनि चोद्यानि तस्या अनभ्युपगमदेव परिहृतानि, उत्पत्त्यभ्युपगमेऽपि सत्कार्य्यवादो न विरुध्यते सत एवोत्पत्तेः विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते पूर्वमेव सत्तदुत्पद्यते चेति अज्ञातोत्पत्तिविनाशयाथात्म्यस्येदं चोद्यं द्रव्यस्योत्तरोत्तर संस्थानयोगः पूर्वपूर्वसंस्थानसंस्थितस्य विनाशः स्वावस्थस्यतूत्पत्तिः, अतः सर्वावस्थस्य द्रव्यस्य सत्त्वात्स-

त्कार्य्यवादो न विरुध्यते, संस्थानस्यासत उत्पत्तावसत्कार्य्यवादप्रसङ्ग इति चेत् असत्कार्य्यवादिनोऽप्युत्पत्तेरनुत्पत्तिमत्त्वेसत्कार्य्यवादप्रसङ्गः,उत्पत्तिमत्त्वे चानवस्था, अस्माकं त्ववस्थानां पृथक्प्रतिपत्तिकार्य्ययोगानर्हत्वादवस्थावत एवोत्पत्त्यादिकं सर्वमिति निरवद्यं,कपालत्वचूर्णत्वपिण्डत्वावस्थाप्रहाणेन घटत्वावस्थावेदकत्वावस्थाप्रहाणेन बहुत्वावस्था,तत्प्रहाणेनैकत्वावस्थाचेति न कश्चिद्विरोधः,तथा सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयामिति सदेवेदम् इदानीम् विभक्तनामरूपत्वेन नानारूपं जगदेकम् अग्रे नामरूपविभागाभावेनैकमेवासीत्,सर्वशक्तित्वेनाष्ठात्रन्तरासहतयाऽद्वितीयं चेत्यनन्यत्वमेवोपपादितं तथा तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति वक्ष्यमाणतेजः प्रभृतिविविधविचित्रस्थिरत्रसरूपजगत्त्वेनात्मनोबहुभवनं संकल्प्य जगत्सर्गाभिधानात् कार्य्यभूतस्य जगतः परमकारणात्परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमवसीयते सच्छब्दवाच्यस्य परस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य सत्यसंकल्पस्य निरवद्यस्यैव सदेवेदामिति निर्देशार्हजगत्त्वं सच्छब्दवाच्यस्य च जगतोनामरूपविभागाभावेनैकत्वमद्वितीयत्वमधिष्ठात्रन्तरानपेक्षत्वं पुनरपि तस्यैव विविधविचित्रास्थिरत्रसरूपजगत्त्वेन बहुभवनसंकल्परूपेक्षणं यथासंकल्पं

सर्गश्च कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति" तासां त्रिवृतं त्रिवृतमित्यादि तिस्रो देवता इति कृत्स्नमचिद्वस्तु निर्दिश्य स्वात्मकजीवानुप्रवेशेनैतद्विचित्रनामरूपभाक्करवाणी-त्युक्तम्, अनेन जीवेनात्मना मदात्मकजीवेनात्मतया अनुप्रविश्यैतद्विचित्रनामरूपभाक्करवाणीत्यर्थः, स्वात्मनो जीवस्य चात्मतयाऽनुप्रवेशकृतं नामरूपभाक्त्वमित्युक्तं भवति,तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवदिति श्रुत्यन्तरेण स्पष्टं सजीवं जगत्परेण ब्रह्मणाऽऽत्मतयाऽनुप्रविष्टमिति तदेतत्कार्य्यावस्थस्य च कारणावस्थस्य च चिदचिद्वस्तुनः सकलस्य स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्मशरीरत्वं,परस्य च ब्रह्मण आत्मत्वमन्तर्य्यामिब्रह्मणादिषु सिद्धं स्मारितम्, अनेन पूर्वोक्ता शङ्का निरस्ता, अचिद्वस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्यात्मतयाऽवस्थिते नामरूपव्याकरणवचनाच्चिदचिद्वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव जगच्छब्दवाच्यमिति सदेवेदमग्र एकमेवासीदित्यादि सर्वमुपपन्नतरं शरीरभूतचिदचिद्वस्तुगताः सर्वविकाराश्चपुरुषार्थाश्चेति ब्रह्मणो निरवद्यत्वं कल्याणगुणाकरत्वं च सुस्थितम् ।

तदेत "दधिकंतुभेदानिर्द्देशा" दित्यनन्तरमेव वक्ष्यति, तथा "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" इति कृत्स्नस्य चेतनाचेतनस्य ब्रह्मतादात्म्यमुपदिशति, तदेव च तत्त्वमसीति निगमयति तथा प्रकरणान्तरस्थेष्वपि वाक्येषु सर्वं खल्विदं ब्रह्म आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्, इदं सर्वं यदयमात्मा ब्रह्मैवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वमित्यनन्यत्वं प्रतीयते, तथाऽन्यत्वं च निषिध्यते "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद, नेह नानाऽस्ति किंचन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यतीति, तथा "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदित्यविदुषो द्वैतदर्शनं विदुषश्चाद्वैतदर्शनं प्रतिपादयदनन्यत्वमेव तात्त्विकमिति प्रतिपादयति, तदेवमारम्भणशब्दादिभ्योजगतः परमकारणात्परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुपपाद्यते, अत्रेदं तत्त्वं चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारं ब्रह्मैव सर्वदा सर्व-शब्दाभिधेयं तत्कदाचित्स्वस्मात्स्वशरीरतयाऽपि पृथग्व्यपदेशानर्हसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरं तत्कारणावस्थं ब्रह्म कदाचिच्च विभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरं, तच्च कार्य्यावस्थमिति कारणात्परस्मा-

र्ब्रह्मणः कार्य्यरूपं जगदनन्यत् शरीरभूत चिदचिद्वस्तुनः शरीरिणो ब्रह्मणश्च कारणावस्थायां कार्य्यावस्थायां च श्रुतिशतसिद्धाया स्वभावव्यवस्थाया गुणदोषव्यवस्था च "नतु दृष्टान्तभावात्" इत्यत्रोक्ता।

ये तु कार्य्यकारणयोरनन्यत्वं कार्य्यस्य मिथ्यात्वाश्रयणेन वर्णयन्ति न तेषां कार्य्यकारणयोरनन्यत्वं सिध्यति सत्यमिथ्यार्थयोरैक्यानुपपत्तेः, तथा सति ब्रह्मणमिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वं वा स्यात्, ये च कार्य्यमपि पारमार्थिकमभ्युपयन्त एव जीवब्रह्मणोरौपाधिकमन्यत्वं स्वाभाविकं चानन्यत्वम् अचिद्ब्रह्मणोस्तु द्वयमपि स्वाभाविकमिति वदन्ति तेषामुपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावान्निरवयवस्याखण्डितस्य ब्रह्मण एवोपाधि सम्बन्धाद्ब्रह्मस्वरूपस्यैव हेयाकारपरिणामाच्च शक्तिपरिणामाभ्युपगमे शक्तिब्रह्मणोरनन्यत्वाच्च जीवब्रह्मणोः कर्म्मवश्यत्वापहतपाप्मत्वादिव्यवस्थावादिन्योऽचिद्ब्रह्मणोश्च परिणामापरिणामवादिन्यः श्रुतयो व्याकुप्येयुः, ये पुनर्निरस्तनिखिलभोक्तृत्वादिसमस्तविकल्पविप्लवं सर्वशक्तियुक्तं सन्मात्रद्रव्यमेव कारणं ब्रह्म तच्च प्रलयवेलायां शान्ताशेषसुखदुःखानुभवविशेषं स्वप्रकाशमपि सुषुप्तावदचिद्विलक्षणमवस्थितं सृष्टिवेलायां सृत्ति-

कार्त्स्न्यमिव घटशरावादिरूपं समुद्र इव च फेनतरङ्गबुद्बुदादिरूपो भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपेणांश त्रयावस्थमवतिष्ठते, अतो भोक्तृत्वभोग्यत्वनियन्तृत्वानि तत्प्रयुक्ताश्च गुणदोषाः शरावत्वघटत्वमणिकत्ववत्तद्गतकार्य्यभेदवच्च व्यवतिष्ठन्ते, भोक्तृभोग्यनियन्तॄणां सदात्मनैकत्वं च घटशरावमणिकादीनां मृदात्मनैकत्ववदुपपद्यते, अतस्सन्मात्रमेव द्रव्यंसर्वावस्थावास्थितमिति ब्रह्मणोऽनन्यज्जगदातिष्ठन्ते, तेषां सकलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणन्यायविरोधः, सर्वा हि श्रुतयस्सस्मृतीतिहासपुराणास्सर्वेश्वरेश्वरं सदैव सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सत्यसंकल्पं निरवद्यं देशकालावच्छिन्नानवधिकातिशयानन्दं परमकारणं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति, न पुनरीश्वरादपि परमीश्वरांशि सन्मात्रं, तथा हि सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति, ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्नव्यभवत् तच्छ्रेयोरूमत्यसृजत् क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति, आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चनमिषत्स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति, एको

ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानो नेमे द्यावा-पृथिवी न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्य्यः स एकाकी न रमते तस्य ध्यानान्तस्थस्येत्यादिभिः परमकारणं सर्वेश्वरेश्वरो नारायण एवेत्यवगम्यते, सद्-ब्रह्मात्मशब्दा हि तुल्यप्रकरणस्थास्तत्तुल्यप्रकरणस्थेन नारायण—शब्देन विशेषितास्तमेवावगमयन्ति, तमी-श्वराणां परमं महेश्वरं तद्दैवतानां परमं च दैवतं, स कारणं करणाधिपाधिपो न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिप" इतीश्वरस्यैव कारणत्वं श्रूयते, स्मृतिरपि मानवी "ततः स्वयम्भूर्भगवानिति, प्रकृत्य "सोऽभि-ध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीजमवासृजदिति" इतिहासपुराणा-न्यपि पुरुषोत्तममेव परमकारणमभिदधति "नारायणो जगन्मूर्तिरमन्तात्मा सनातनः। स सिसृक्षुः सहस्रां-शादसृजत्पुरुषान् द्विधा। विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्त-त्रैव च स्थित" मित्यादिषु, न चेश्वरः सन्मात्रमोति वक्तुं शक्यं तस्य तदंशवाभ्युपगमात्सविशेषत्वाच्च, न च तस्य ज्ञानानन्दाद्यनन्तकल्याणगुणयोगःकादाचित्क इति वक्तुं शक्यते, तेषां स्वाभाविकत्वेन सदातनत्वात् पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल-

क्रिया च, यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादिभ्यः ज्ञानानन्दादिशक्तियोग एवास्य स्वाभाविक इति मा वोचः शक्तिसस्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च स्वाभाविकीति पृथक्निर्देशाल्लक्षणाप्रसङ्गाच्च ।

न च पाचकादिवत्सर्वज्ञ इत्यादिषु शक्तिमात्रे कृत्प्रत्यय इति वक्तुं शक्य कृत्प्रत्ययमात्रस्य शक्तावस्मरणात्, "शक्तौ हस्तिकपाटयो" रित्यादिषु केषांचिदेव कृत्प्रत्ययानां शक्तिविषयत्वस्मरणात्, पाचकादिषु त्वगत्या लक्षणा समाश्रीयते, किञ्चेश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य चांशित्वे तरङ्गात्समुद्रस्येवांशादंशिनोऽधिकत्वात् तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत इत्यादीनीश्वरविषयाणि परःशतानि वचांसि बाध्येरन्, किञ्च सन्मात्रस्य सर्वात्मकत्वेंऽशित्वे चेश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य सर्वात्मकत्वांशित्वोपदेश व्याहन्येरन्, न हि माणिकात्मकत्वं तदंशत्वं वा घटशरावादेः स्वांशेषु सर्वेषु सन्मात्रस्य पूर्णत्वेनेश्वरांशेऽपि तस्य पूर्णत्वात्तदात्मकानि तदंशाश्चेतराणि वस्तुनीति चेत् न घटेऽपि सन्मात्रस्य पूर्णत्वादीश्वरस्यापि घटात्मकत्वात्तदंशत्वप्रसङ्गात्, नच सन्मात्रस्य घटोऽस्ति पटोऽस्तीति वस्तुधर्म्मतयाऽवगतस्य द्रव्यत्वं कारणत्वं

श्चोपपद्यते, व्यवहारयोग्यता हि सत्त्वं विरोधिव्यवहारयोग्यता तद्व्यवहारयोग्यस्यासत्त्वं द्रव्यमेव सादित्यभ्युपगमेक्रियादीनामसत्त्वप्रसङ्गः, क्रियादिषु काशकुशावलम्बनेऽपि सर्वत्रैकरूपा सत्ता दुरुपपादा सदात्मना च सर्वस्याभिन्नत्वे सर्वज्ञत्वेन सर्वस्वभावप्रतिसन्धानात्सर्वगुणदोषसंकरप्रसङ्गश्च पूर्वमेवोक्तः, अतो यथोक्तप्रकारमेवानन्यत्वम्, अथोच्यते एकस्यैवावस्थान्तरयोगेऽपि बुद्धिशब्दान्तरादयो बालत्वयुवत्वादिषु दृश्यन्ते मृद्दारुहिरण्यादिषु द्रव्यान्तरत्वेऽपि दृश्यन्ते तत्र मृद्घटादिषु कार्य्यकारणेषु बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थानिबन्धना एवेति कुतो निर्णीयत इति ॥ श्री॰भा॰

अर्थ—"सृष्टि से प्रथम असत् था, ऐसा मत कहो, क्योंकि कार्य्य कारण के समान लक्षणरूप नियम का निषेध पाया-जाता है" इत्यादि सूत्रों में कारणरूप ब्रह्म से कार्य्यरूप जगत् का अनन्यत्व स्वीकार करके ब्रह्म जगत् का कारण प्रतिपादन किया गया है, अब वही एकत्व शंका करके समाधान किया जाता है, इस विषय में कणाद मतानुयायियों का कथन है कि कारण से कार्य्य भिन्न है क्योंकि (१) कार्य्य विलक्षण बुद्धि द्वारा जाना जाता है जैसाकि तन्तुओं की भिन्न प्रकार की प्रतीति है और कपड़े की भिन्न प्रकार की; वैसे ही मिट्टी और घट में भी भिन्न २ प्रतीति पाई जाती है (२) नाम भेद होने से भी कार्य्य कारण का भिन्न २ शब्दों द्वारा प्रयोग

कियाजाता है जैसाकि तन्तु पट नहीं कहे जाते और पट तन्तु नहीं कहाजाता (३) कार्य्यभेद से, जैसे मिट्टी के पिण्ड से जल नहीं लाया जासक्ता न घटों से दीवार बनसक्ती है (४) समयभेद से, जैसे प्रथम कारण पश्चात् कार्य्य होता है (५) आकारभेद से,जैसे घट के कारण मृत्पिण्ड और घट की आकृति का परस्पर भेद है (६) संख्याभेद से, जैसे तन्तु अनेक और पट एक है (७) कर्तृव्यापार के व्यर्थ होने से अर्थात् कार्य्य कारण एक हो तो कर्त्ता के व्यापार का क्या प्रयोजन ? यदि यह कहाजाय कि कार्य्य के होने पर भी उपयोगी होने के कारण कर्त्ता के व्यापार की आवश्यकता है तो सदा ही व्यापार होना चाहिये, और दूसरी बात यह है कि यह नित्य है और यह अनित्य है ऐसा विभाग भी सत्कार्य्यवाद में नहीं होसक्ता, क्योंकि ऐसा मानने पर कार्य्य कारण की पृथक् सत्ता नहीं पाई जाती, यदि यह कहाजाय कि कार्य्य सत् ही था कारक व्यापार से केवल प्रकट किया गया इसलिये कर्त्ता के व्यापार की आवश्यकता है और नित्यानित्य का विभाग आविर्भाव तथा तिरो-भाव के अभिप्राय से बनसक्ता है ? यह शंका भी ठीक नहीं, क्योंकि एक कार्य्य का प्रकट होना दूसरे कार्य्य पर निर्भर करता है और दूसरा तीसरे पर, इस प्रकार अनवस्था दोष लगेगा, यदि दूसरे की आवश्यकता के बिना ही कार्य्य प्रकट होजाय तो सदैव कार्य्य की प्रतीति होनी चाहिये,और कार्य्य की उत्पत्ति मानने पर असत्कार्य्य वाद प्रसङ्ग लगेगा, इससे अतिरिक्त यह दोष है कि यदि कारक के व्यापार को दीपादिकों की भांति कार्य्य का अभिव्यञ्जक मानें तो घट के लिये जो कारक व्यापार है उससे करकादिकों की भी अभिव्यक्ति होनी चाहिये, क्योंकि उभयवादी सिद्ध जो दीपादि अभिव्यञ्जक हैं उनमें यह नहीं देखाजाता कि घट के लिये रक्खा

हुआ दीपक दूसरी वस्तुओं का प्रकाश न करे, असत्कार्य्य की उत्पत्ति मानने पर ही कर्त्ता का व्यापार अर्थ वाला होसक्ता है अन्यथा नहीं, इसलिये असत्कार्य्यवाद का मानना ही ठीक है, यदि यह कहो कि नियत कारण से उत्पन्न होना सत्कार्य्यवाद को सिद्ध करता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उसी कारण में एक विशेषशक्ति है जिससे नियत कारण का नियम बनसक्ता है, ननु—असत्कार्य्यवादी के मत में भी कर्त्ता का व्यापार व्यर्थ है, क्योंकि जब उत्पत्ति से प्रथम कार्य्य विद्यमान ही नहीं तो फिर कर्त्ता किसके लिये प्रयत्न करे, यदि कहो कि बिना ही कार्य्य मे कारक का व्यापार अर्थ वाला होसक्ता है तो तन्तुओं के व्यापार से भी घट की उत्पत्ति होजानी चाहिये ? उत्तर—जो कारण जिस कार्य्य के उत्पन्न करने की शक्ति रखता है उसी कारण में क्रिया करने से वह कार्य्य उत्पन्न होता है, इसलिये तन्तु व्यापार से घट उत्पन्न नहीं होसक्ता, इस विषयमें अद्वैतवादियों का कथन है कि कारण से कार्य्य भिन्न नहीं कार्य्य का कारण से भिन्न प्रतीत होना केवल अविद्या से है, इसलिये जैसे अपने कारण मिट्टी से घटादि पदार्थ भिन्न नहीं केवल व्यवहार मात्र भिन्न प्रतीत होते हैं और वह प्रतीति मिथ्या है कारण रूप मिट्टी ही सत्य है, इसी प्रकार निर्विशेष सन्मात्र कारणरूप ब्रह्म से यह सम्पूर्ण प्रपञ्च भिन्न नहीं, भिन्न प्रतीति मिथ्या है केवल कारणरूप ब्रह्म ही सत्य है, इसलिये कारण से भिन्न कार्य्य नहीं, इस प्रकार कार्य्यकारण का अभेद है, और शुक्तिरजतादिकों की भांति घटादि कार्य्यों की प्रसिद्धि न पायेजाने के कारण दृष्टान्त की उपपत्ति नहीं होसक्ती, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि युक्ति से घटादि कार्य्यों में मृत्तिका ही सत्य सिद्ध होती है घटादिकार्य द्रव्य नहीं,क्योंकि उनका शुक्तिरजत

की भांति बाध पायाजाता है अर्थात् जिसप्रकार रज्जु आदिक अधिष्ठान में सर्प्पादिक भ्रमकाल में प्रतीत होते हैं परन्तु अधिष्ठानरूप रज्जु आदि पदार्थों की स्थिति दोनों अवस्थाओं में समान बनी रहती है इसी प्रकार कार्यावस्था में भी ज्यों का त्यों बना रहने से मृत्तिकारूप कारण द्रव्य ही सत्य है रज्जुसर्प्पादिकों की भांति कार्य्यकाल में प्रतीयमान घटादि कार्य्यद्रव्य मिथ्या हैं, इसलिये दृष्टान्त की अनुपपत्ति नहीं होसक्ती।

दूसरी बात यह है कि बिनाश न होने से आत्मा सत्य और उपलब्धि न होने से शशशृङ्गादि असत्य कहलाते हैं पर जिसकी उपलब्धि, विनाश दोनों पायेजायं वह सत् असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय होता है और जो अनिर्वचनीय हो वह शुक्तिरजत की भांति मिथ्या होता है, कार्य्य के मिथ्या होने में और तर्क यह है कि कार्य्य को उत्पन्न हुआ करता मृदादि कारण अपने आप अविकारी रहता है वा किसी विकारविशेष को प्राप्त होता है? यदि प्रथमपक्ष मानें तो सर्वदा कार्य्य की उत्पत्ति होनी चाहिये और यदि दूसरा पक्ष मानें तो उस विकार विशेष को विशेषान्तर की आवश्यकता बने रहने से अनवस्था होगी, यदि यह कहो कि अविकारी कारण ही देशकालादि निमित्तविशेष के सम्बन्ध से कार्य को उत्पन्न करता है तो भी ठीक नहीं क्योंकि वह सम्बन्ध प्रथम ही विद्यमान था फिर कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षण में भी क्यों नहीं उत्पन्न होता, इससे स्पष्ट है कि कार्य्य वाणी का आरम्भमात्र है।

ननु–मिट्टी, सुवर्ण, दुग्धादिकों से घट, भूषण, दधि आदिकों की उत्पत्ति देखी जाती है परन्तु प्रतीति वाले देश काल वस्तु में बाध नहीं पाया जाता, इसलिये अनिर्वचनीयवादी की

उत्पत्ति अवश्य माननी चाहिये ? यह आशङ्का इसलिये ठीक नहीं कि इसका विकल्प से खण्डन होजाता है, वह विकल्प इसप्रकार है कि सुवर्णमात्र स्वस्तिकादि कार्य का आरम्भक है अथवा रुचकादि का आश्रय सुवर्णादि आरम्भक है ? सुवर्णादि आरम्भक नहीं कहेजासक्ते, क्योंकि सुवर्णादि से भिन्न कार्य्य की सत्ता का कथन सर्वथा असम्भव है, यदि यह कहाजाय कि सुवर्ण से भिन्न रुचकादि कार्य्य वस्तुतः उपलब्ध नहीं होते, यह कथन भी समीचीन नहीं, क्योंकि रुचकादि में भी सुवर्ण की प्रतीति निराबाध पाई जाती है वस्त्वन्तर की नहीं, और जो यह कहा था कि कार्य्य कारण में भिन्न२ बुद्धि होने पर वह दोनों स्वतन्त्र पदार्थ हैं ? इसका उत्तर यह है कि भिन्न २ प्रकार की बुद्धि शुक्ति रजतादिकों की भांति बनसक्ती है इससे कार्य्य की सत्यता सिद्ध नहीं होती और नाही रुचकादि स्वस्तिकादिकों के आरम्भक होसक्ते हैं, क्योंकि वस्त्र में तन्तुओं की भांति स्वस्तिक में रुचक उपलब्ध नहीं होता और तीसरा पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि रुचक के आश्रय वाला सुवर्ण स्वस्तिक में नहीं पाया जाता, इस प्रकार के विकल्पों से सिद्ध है कि मृत्तिका, सुवर्ण आदि कारणों से अतिरिक्त कार्य्य की असत्यता पाये जाने के कारण ब्रह्म से भिन्न सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, अतएव ब्रह्मातिरिक्त वस्तुमात्र के मिथ्यात्व को सुगम रीति से समझाने के लिये मिट्टी आदि का कल्पित सत्यत्व आश्रयण करके कार्य्य को असत्य कहागया है वस्तुतः मिट्टी सुवर्णादि कारण भी घटादिकों की भांति ब्रह्मातिरिक्त सत्ता वाले न होने से मिथ्या हैं, "यह सब आत्मा का भाव है, वह सत्य है" "यहां नानापन कुछ नहीं" "वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त है जो ब्रह्म में

नानापन देखता है" "जिस अवस्था में द्वैत होता है वहां एक दूसरे को देखता, सुनता है" "जहां इसका सब अपना आप है वहां कौन किसको देखे सुने" " ब्रह्म ही अपनी माया से अनेक रूप होगया है" इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्मातिरिक्त सब मिथ्या पाया जाता है, इस वेदार्थ में यह शंका ठीक नहीं कि प्रत्यक्ष से कार्य्य की सत्यता पाई जाती है, क्योंकि उक्त प्रकार से कार्य्य का मिथ्यात्व सिद्ध है, और प्रत्यक्ष भी सन्मात्र की ही प्रतीति बतलाता है, यदि विरोध माना भी जाय तो आप्तोक्त होने के कारण जिसमें दोष की सम्भावना नहीं की जासक्ती ऐसा जो शब्द प्रमाण उसको अपने स्वरूप की सिद्धि के लिये प्रत्यक्षादिकों की आवश्यकता होने पर भी अपने विषय में प्रमा को उत्पन्न करने के लिये निरकांक्ष होने के कारण शास्त्र प्रमाण बलिष्ठ है, इसलिये कारण ब्रह्म से भिन्न सब मिथ्या है, यदि यह कहो कि प्रपञ्च मिथ्या होने के कारण जीव भी मिथ्या है? सो ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म ही सब शरीरों में जीवभाव को अनुभव कर रहा है, जैसाकि 'ब्रह्म ने ही जीव होकर प्रवेश किया" "एक देव ही सब तत्वों में छिपा हुआ है" "उससे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा नहीं" इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का ही जीव बनजाना पाया जाता है, ननु-यदि ब्रह्म ही सब शरीरों में जीवभाव को अनुभव कर रहा है तो जैसे एक शरीर वाले जीव को यह प्रतीति होती है कि मेरे पाउं में पीड़ा है सिर में नहीं, इस प्रकार सब शरीरों के सुख दुःख का ज्ञान होना चाहिये, और ब्रह्म के ही सब स्थानों में जीव होने से बद्ध, मुक्त, शिष्य, गुरु, ज्ञानी, अज्ञानी

आदिकों की व्यवस्था न रहेगी, क्योंकि सब जीव ब्रह्म का स्वरूप हैं फिर कौन बद्ध कौन मुक्त कहाजाय ? इस प्रश्न का कईएक अद्वैतवादी यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्म के प्रतिबिम्ब रूप जीवों के सुखित्व दुःखित्वादि धर्म हैं, जैसाकि एक मुख के प्रतिबिम्बों का छोटापन बड़ापन, मलीन तथा स्वच्छता आदि मणि कृपाणादि वश से प्रतीत होते हैं, ननु-"इस जीवरूप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नामरूप को करूं" इत्यादि श्रुतियों से यह कथन कर आये हैं कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं, फिर उपाधिभेद से व्यवस्था कैसे होसकेगी ? उत्तर-वस्तुतः ऐसा ही है परन्तु कल्पित भेद को मानकर सुख दुःख की व्यवस्था कही गई है, यहां पर प्रश्न यह होता है कि किसकी कल्पना ? शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तो कल्पना शून्य होने के कारण उसकी कल्पना कथन करना तो सर्वथा असङ्गत है और जीवों की कल्पना में यह दोष है कि कल्पना हो तो जीवभाव बने और जीवभाव हो तो कल्पना बनसके, इस प्रकार परस्पराश्रयदोष लगने से दूसरा पक्ष भी समीचीन नहीं ? इसका उत्तर यह है कि बीजाङ्कुरन्याय की भांति अविद्या तथा जीवभाव अनादि होने के कारण परस्पराश्रयदोष नहीं आता, इसलिये जीवों की कल्पना मानने में कोई बाधा नहीं अर्थात् नानारूप वाली अवस्तुभूत अविद्या में गृह और स्तम्भ की भांति परस्पराश्रयादि दोष नहीं आते वास्तव में ब्रह्म से व्यतिरिक्त जीव स्वभाव से शुद्ध होने पर भी तलवार में प्रतिबिम्बित मुख श्यामतादि की भांति औपाधिक अशुद्धि से कल्पना बनसक्ती है, क्योंकि प्रतिबिम्ब गत श्यामतादि की भांति जीवगत अशुद्धि भी भ्रान्ति है, यदि ऐसा न मानें तो मोक्ष न बनसकेगा, और जीवों का भ्रमरूप प्रवाह अनादि

होने के कारण भ्रान्ति का मूल ढूंढना ठीक नहीं, अब आगे का पूर्वपक्ष अद्वैतवाद को न समझे हुए भेदवादियों की ओर से किया जाता है कि जीव को कल्पित स्वाभाविक रूप से अविद्या का आश्रय मानने पर ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय सिद्ध हुआ और ब्रह्म भिन्न कल्पित आकार से अविद्याश्रय मानने पर जड़ ही अविद्याश्रय मानना पड़ेगा परन्तु अद्वैतवादी लोग चिद्रूप अचिद्रूप उक्त दोनों से पृथक् कोई आकार नहीं मानते, यदि यह कहाजाय कि कल्पिताकार विशिष्ट रूप से अविद्याश्रयत्व है तो ठीक नहीं, क्योंकि अविद्या से बिना अखण्डैकरस स्वरूप के विशिष्ट रूप की सिद्धि न होसकने के कारण उसके विशिष्टरूप को ही अविद्याश्रयाकार कथन कियागया है इसके अतिरिक्त यह भी है कि अद्वैतवादी लोग बन्ध मोक्ष की व्यवस्था सिद्धि के लिये अज्ञान को जीवाश्रित मानते हैं पर यह व्यवस्था जीव के अज्ञानी मानने पर भी नहीं बनसक्ती, क्योंकि यह लोग अविद्या के नाश को ही मुक्ति मानते हैं तब एक के मुक्त होने पर औरों को भी मुक्ति होनी चाहिये, यदि यह कहाजाय कि अन्यों के मुक्त न होने के कारण अविद्या बनी रहती है तो एक की भी मुक्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि बन्ध का कारण अविद्या बनी हुई है, यदि यह कहें कि प्रत्येक जीव की अविद्या पृथक् २ है जिसकी अविद्या का नाश होगा वह मुक्त होजायगा और जिसकी बनी रहेगी वह बद्ध रहेगा, यहां प्रष्टव्य यह है कि यह भेद स्वाभाविक है वा अविद्या कल्पित ? स्वाभाविक इसलिये नहीं कहसक्ते कि जीवों के भेद के लिये जो अविद्या कल्पना कीगई है वह व्यर्थ होजायगी, यदि यह कहो कि वह भेद अविद्या कल्पित है तो प्रश्न यह है कि भेद की कल्पना करने वाली अविद्या ब्रह्म

की है वा जीवों की ? यदि ब्रह्म की है तो हमारी ही बात माननी पड़ी कि एक अविद्या के नाश होने से सब की मुक्ति होजानी चाहिये, यदि जीवों की है तो प्रथम जीव हों तो उनके आश्रित अविद्या बने और अविद्या हो तो जीवों का भेद होसके यह इतरेतराश्रय दोष सर्वथा अवार्य बना रहेगा, यदि यह कहाजाय कि बीजांकुर की भांति उक्त दोष नहीं होसकता अर्थात् जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज इसप्रकार अविद्या से जीव और जीव से अविद्या होना सम्भव है, यह इसलिये ठीक नहीं कि बीजांकुर न्याय में तो जिस बीज से जो वृक्ष होता है उससे फिर वही बीज नहीं होता किन्तु दूसरा होता है और यहां तो जिस अविद्या से जो जीव कल्पना किये जाते हैं उन्हीं जीवों को आश्रय करके वह अविद्यायें रहती हैं, यदि कहाजाय कि बीजांकुर न्याय की भांति पूर्व २ जीवाश्रित अविद्याओं से उत्तर २ जीवों की कल्पना हो सक्ती है, ऐसा मानने से जीव अनित्य होगा और बिना किये हुए कर्म का फल मिलना और किये हुए का न मिलना यह दोष भी आयेगा, इसी बात से ब्रह्म में भी पूर्व२ जीव के आश्रय से उत्तर२ जीव की कल्पना का खण्डन समझ लेना चाहिये, अविद्या को प्रवाहरूप अनादि मानने पर तत्कल्पित जीव को भी प्रवाहरूप से अनादि मानना पड़ेगा, इसलिये मोक्ष पर्य्यन्त जीवभाव का नित्य रहना अद्वैतवाद में सिद्ध नहीं होसक्ता और जो अविद्या को अनिर्वचनीय मानकर उसमें इतरेतराश्रयादि दोषों को भूषणरूप माना है इसमें वक्तव्य यह है कि यदि ऐसा मानाजाय तो मुक्त पुरुषों को और परब्रह्म को भी अविद्या ग्रस लेगी, यदि कहो कि वह शुद्ध और विद्यास्वरूप हैं इसलिये उनको अविद्या नहीं लगसक्ती तो फिर किस तर्क से शुद्ध चेतन को अविद्या आश्रयण करसक्ती है

और उक्त व्यक्तियों से जीव को भी आश्रयण नहीं करसकती क्योंकि अविद्या के लगने से प्रथम वह भी शुद्ध था, इसके अतिरिक्त प्रष्टव्य यह है कि तत्वज्ञान के होने पर अविद्या नाश से जीव का नाश होता है वा नहीं ? यदि होता है तो स्वरूप नाश रूप मोक्ष हुआ, यदि नहीं होता तो अविद्या के नाश होने पर भी मोक्ष नहीं होगा अर्थात् ब्रह्म स्वरूप से भिन्न जीव ज्यों का त्यों ही बना रहा फिर ब्रह्मात्मैकत्वरूप मोक्ष का मानना ठीक नहीं, क्योंकि अद्वैतवादियों के मत में ब्रह्म से पृथक् जीव बने रहने से मुक्ति नहीं होती, और जो यह कहागया है कि मणि तलवार और दर्पण आदिकों में जैसे मुख का मैलापन वा शुद्धपन अथवा छोटापन आदि प्रतीत होता है इसी प्रकार उपाधिभेद से शुद्धि अशुद्धि आदिकों की व्यवस्था होसकेगी, यहां विचारणीय यह है कि अल्पत्व, मलिनत्वादि जो उपाधिकृत दोष हैं वह कब नाश होंगे ? यदि कहाजाय कि तलवार आदि उपाधियों के हट जाने से, तो प्रश्न यह है कि वह अल्पत्वादि प्रतिबिम्ब रहेंगे वा नहीं ! यदि रहेंगे तो जीव के बने रहने से मुक्ति न होगी, यदि मिट जावेंगे तो फिर भी जीव का नाशरूप ही मुक्ति हुई, और बात यह है कि जिसके मत में अपुरुषार्थ रूप दोषों की प्रतीति बन्ध और उन दोषों का नाश मुक्ति है उसके मत में प्रष्टव्य यह है कि औपाधिक दोषों की प्रतीति बिम्बस्थानीय ब्रह्म को है अथवा प्रतिबिम्ब स्थानीय जीव को वा किसी अन्य को है ? प्रथम दो विकल्पों में यह दृष्टान्त कि मलिनत्वादि दोष कृपाणादि उपाधि वश होते हैं नहीं घट सकते, क्योंकि ब्रह्म निराकार है उसका प्रतिबिम्ब नहीं होसकता, यदि दोषों का होना ब्रह्म में मानाजाय तो अविद्या का आश्रय ब्रह्म

माननां पड़ेगा और वह प्रकाशस्वरूप होने के कारण अविद्या का आश्रय नहीं होसकता, तीसरा विकल्प इसलिये ठीक नहीं कि ब्रह्म से भिन्न जीव कोई अन्य द्रष्टा नहीं, फिर प्रश्न यह है कि अविद्या की कल्पना करने वाला कौन है क्योंकि अविद्या जड़ होने के कारण स्वयं कल्पना नहीं कर सकती और जीव अपनी कल्पना इसलिये नहीं करसकता कि आत्माश्रय दोष का प्रसंग आता है, यदि यह कहा जाय कि शुक्ति रजतादिकों की भांति जीव अविद्या कल्पित होने के कारण ब्रह्म ही कल्पना करने वाला है तो ऐसा मानने पर ब्रह्म में अज्ञान आता है, यदि ब्रह्म में अज्ञान न मानें तो प्रश्न यह होगा कि ब्रह्म जीवों को जानता है वा नहीं ? यदि नहीं जानता तो ज्ञान पूर्वक सृष्टि नहीं रच सकता, यदि जानता है तो ब्रह्म में अविद्या बनी ही रही, क्योंकि अद्वैतवाद में विना अज्ञान से ब्रह्म में जानना नहीं होता, इस कथन से माया और अविद्या के विभाग का भी खण्डन समझ लेना चाहिये, क्योंकि विना अज्ञान से माया वाला ब्रह्म भी जीवों को नहीं देख सकता, यदि यह कहाजाय कि ब्रह्म की माया जीव दर्शन कराने की शक्ति रखती हुई जीवों के मोहन करने का हेतु होसकती है तब शुद्ध अखण्ड ब्रह्म के प्रति झूठ जीवों को दिखलाने वाली अविद्या ही माया नाम से व्यवहृत होती है अविद्या पृथक् वस्त्वन्तर नहीं, यदि यह कहाजाय कि विपरीत दर्शन का हेतु अविद्या है और ब्रह्म से भिन्न जो मिथ्या जगत् है इसको माया मिथ्या ही दिखलाती है इसलिये विपरीत दर्शन का हेतु न होने से माया को अविद्या नहीं कहाजासकता, यह बात ठीक नहीं, क्योंकि चन्द्रमा के एक जानने पर भी दो चांद ज्ञान का कारण अविद्या है, यदि मिथ्यादर्शन के हेतु को ही माया कहते

तो यहां भी उसको माया ही कहना चाहिये, यदि ब्रह्म अपने से भिन्नों को मिथ्या जानता है तो उनको मोहित नहीं करता, क्योंकि मिथ्या जानना दूसरे के भ्रम का हेतु नहीं होसक्ता, जैसाकि उन्मत्त पुरुष ओरों को मिथ्या जानता हुआ भ्रम उत्पन्न नहीं करसकता यदि यह कहाजाय कि अपुरुषार्थ अपरमार्थ दर्शन का हेतु अविद्या है और माया पुरुषार्थदर्शन का हेतु है इसलिये वह अविद्या नहीं, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि दो चन्द्रज्ञान दुःख का हेतु न होने से अपुरुषार्थ नहीं और उसका हेतु अविद्या ही मानीजाती है, यदि यह कहाजाय कि माया पुरुषार्थ की कुछ हानि नहीं करती तो अद्वैतवादियों को ऐसा मानना चाहिये कि ब्रह्म का स्वरूप होकर माया सदैव बनी रहती है, यदि वह यह कहें कि माया के ऐसा बने रहने पर भी सिद्धान्त की कोई हानि नहीं तो उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से उनके मत में द्वैतदर्शन रूप हानि स्पष्ट है, और वह जिन श्रुतियों को अद्वैत प्रतिपादक मानते हैं उनका विरोध भी अवेगा. यदि यह कहाजाय कि परमार्थ विषय में अद्वैत श्रुतियें हैं और माया मिथ्या है इसलिये अद्वैत श्रुतियों का उसके साथ विरोध नहीं ? इसका उत्तर यह है कि परिपूर्ण आनन्द ब्रह्म को मिथ्या माया का दर्शन और मायावाला होना विना अविद्या से नहीं बनसक्ता, और प्रश्न यह है कि मिथ्या माया से ब्रह्म का क्या प्रयोजन ? यदि कहाजाय कि जीवों को अज्ञानी बनाना प्रयोजन है तो ऐसे अज्ञानी बनाने में क्या अर्थ ? यदि यह उत्तर दियाजाय कि यह ब्रह्म का खेल है तो परिपूर्ण ब्रह्म को ऐसे खेल करने से किस आनन्द की कमी थी, इस प्रकार माया और अविद्या का विभाग सिद्ध नहीं होता, इसीलिये अद्वैतवादी ऐसा मानते हैं कि अनादि अविद्या संयुक्त ब्रह्म अपने में नानापन को देखता है, और जो यह कहा

गया है कि ब्रह्म में अज्ञान माननेवालों के मत में बन्ध मोक्षादिकों की व्यवस्था इसलिये नहीं बनसक्ती कि एक ही ब्रह्म के अज्ञान निवृत्त होने पर सब की मुक्ति होजायगी, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि बद्ध मुक्त शिष्य आचार्य्य आदिकों की व्यवस्था कल्पित है, जैसे एक ही स्वप्नदर्शी पुरुष को सब प्रकार की कल्पना होती है, एक स्वप्नदर्शी पुरुष से रचे हुए शिष्य आचार्य्य आदि सब कल्पित होते हैं, इसलिये बहुत अविद्याओं की कल्पना करना ठीक नहीं, फिर जीव में अज्ञान मानने वालों के मत में बन्ध मोक्षादिकों की पारमार्थिकी व्यवस्था नहीं होसकती और अपरमार्थिकी तो एक की ही अविद्या से बन सकती है, इस विषय में इस प्रकार के अनुमान भी पाये जाते हैं, जैसाकि (१) जो मिथ्या है वह कल्पित होता है, इस नियम के अनुसार स्वप्नपदार्थों की भांति कल्पित होने के कारण बन्धमोक्षादिकों की व्यवस्था अविद्याकल्पित है (२) इस शरीर की भांति शरीरत्व धर्मवाला होने के कारण अन्य शरीर भी मेरे आत्मा से आत्मा वाले हैं (३) चेतन होने से मैं ही ब्रह्म हूं जो पदार्थ मैं नहीं वह ब्रह्म भी नहीं, जैसाकि घट पट आदि पदार्थ, इत्यादि अनुमानों से सिद्ध है कि स्वपर भेद, बद्ध मुक्त व्यवस्था तथा शिष्याचार्य्यादिकों की व्यवस्था एक ही अविद्या से बनसक्ती हैं।

द्वैतवादी के मत में भी बद्ध मुक्तादिकों की व्यवस्था नहीं बनसकती, क्योंकि जो कल्प व्यतीत होचुके वह अनन्त हैं प्रति कल्प एक २ की मुक्ति हो तो भी सब की मुक्ति होना सम्भव है, इसलिये फिर कोई जीव ही न रहेगा तो बद्ध मुक्तादिकों की व्यवस्था तथा सृष्टि रचना का कार्य्य ईश्वर का न रहेगा, यदि यह

कहाजाय कि आत्मा अनन्त होने से अनन्तकाल में भी सारे मुक्त न होंगे इसलिये ईश्वर को सृष्टि रचने का काम ज्यों का त्यों बना रहेगा, इसमें प्रष्टव्य यह है कि आप अनन्त किसे कहते हैं? यदि कहो कि जिसकी गिनती न होसके उसको अनन्त कहते हैं तो बहुतों की अल्पज्ञों से गिनती न हो पर सर्वज्ञ ईश्वर तो सबकी गिनती करसकेगा, यदि वह भी गिनती करने में असमर्थ है तो सर्वज्ञ न रहेगा, यदि कहो कि उनकी संख्या न होने के कारण ईश्वर असंख्य को असंख्य जानता है अतः असर्वज्ञ नहीं ठहरता तो यहभी ठीक नहीं, क्योंकि जो भिन्न पदार्थ होते हैं वह संख्यारहित नहीं होसकते, इसमें अनुमान यह है कि जो भिन्न हो वह संख्या वाला होता है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार माष तथा सरसों के दाने भिन्न २ होने से संख्या वाले हैं इसी प्रकार भिन्न २ होने से आत्मा भी संख्यावाले हैं, यदि यह कहा जाय कि भिन्न होने के कारण जीवात्मा भी घटादिकों की भांति जड़ तथा नश्वर होंगे और ब्रह्म भी भेदवाला होने से अनन्त न रहेगा, क्योंकि अद्वैतवादियों के मत में भेदरहित को ही अनन्त कहते हैं और भेदवाद में वस्त्वन्तरों से विलक्षण होने के कारण ब्रह्म वस्तु परिच्छेदरहित है यहभी नहीं कहा जासकता, क्योंकि वस्तुओं में भिन्न होना ही वस्तुकृत परिच्छेद है, जो पदार्थ वस्तुकृत परिच्छेद वाला है वह देशकालकृत परिच्छेद वाला नहीं यह नहीं कहाजासकता, जैसाकि वस्तुकृत परिच्छेद वाले घटादि देशकालकृत परिच्छेदवाले देखेजाते हैं इसी प्रकार सब जीवात्मा तथा ब्रह्म वस्तुकृत परिच्छेदवाले होने से देशकाल परिच्छेदवाले भी अवश्य होंगे, और ऐसे होने पर "सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों के साथ विरोध तथा ब्रह्म और जीवों की उत्पत्ति विनाश का भी दोष लगेगा, क्योंकि कालपरिच्छेद

उत्पत्ति तथा विनाश का कारण है, इसलिये अपरिच्छिन्न ब्रह्म का वस्तुकृत परिच्छेद और ब्रह्म से लेकर चींटी पर्य्यन्त सम्पूर्ण जगत् और उसमें सुख दुःख आदिकों की व्यवस्था स्वप्नव्यवस्था की भांति अविद्या के स्वभाव द्वारा बन सकती है, इसलिये एक ही नित्य मुक्त स्वप्रकाश स्वरूप वस्तुपरिच्छेद रहित ब्रह्म अनादि अविद्या के कारण नाना प्रकार जगत् रूप हुआ प्रतीत होरहा है वास्तव में ब्रह्म से भिन्न जगत् सत्य नहीं इसीसे महर्षि व्यास ने यह सूत्र रचा है कि "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"=जगत् और ब्रह्म एक हैं और कार्य्य केवल वाणी का आरम्भमात्र है, इस अद्वैतवाद का इस प्रकार खण्डन किया जाता है कि निराकार स्वप्रकाशस्वरूप ब्रह्म अनादि अविद्या के कारण तिरोहित स्वरूप हुआ अपने आप में जगत् को मिथ्या कल्पना करलेता है, यह बात निरंश ब्रह्म में नहीं बनसक्ती और नाही प्रकाश स्वरूप को अविद्या आच्छादन करसकती है, यह कथन कर आये हैं कि प्रकाशस्वरूप का अविद्या से ढ़कजाना मानना प्रमाण विरुद्ध है, और जो यह कहागया है कि कार्य्य शुक्तिरजत की भांति भ्रमरूप है, कारण ही सत्य है, यह बात तर्करहित होने से ठीक नहीं, और यह कथन कि कारण दोनों दशाओं में सत्य रहता है और घटादि पदार्थ कारणावस्था में नहीं रहते इसलिये कारण की सत्ता से अतिरिक्त कार्य्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं किन्तु कार्य्य मिथ्या है? इसका उत्तर यह है कि दूसरे स्थान पर देखे हुए पदार्थ का दूसरे स्थान वा काल में न होना मिथ्यात्व का प्रयोजक नहीं और नाही कार्य्य का उत्पत्तिविनाश मिथ्यात्व का साधक होसक्ता है अपितु वह अनित्यत्वमात्र का गमक है अर्थात्

जो पदार्थ जिस देश काल में प्रतीत हो उसी देश काल में उसका बाध पायाजाना मिथ्यापन को सिद्ध करता है, या यों कहा कि जो एक देश में हो दूसरे में न हो और एक काल में हो दूसरे काल में न हो वह अनित्य होता है मिथ्या नहीं और यह बात अनुमान प्रमाण से भी स्पष्ट पाई जाती है, जैसाकि जो प्रातिभासिक न हो वह सत्य होता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार प्रातिभासिक न होने के कारण आत्मा सत्य है इसीप्रकार प्रातिभासिक न होने से घटादि पदार्थ भी सत्य हैं, प्रतीतिकाल से अधिककाल में न रहने वाले का नाम "प्रातिभासिक" है, जैसाकि शुक्तिरजतादि, और जो यह कथन किया है कि विकारी तथा अविकारी दोनों प्रकार के कारणों से कार्य्य उत्पन्न नहीं होता, यह ठीक नहीं क्योंकि देश कालादि सहकारी कारण होने से कार्य्य की उत्पत्ति देखी जाती है, और जो यह कहा है कि कारण में विकार न होने के समय में भी देशकालादिकों का सम्बन्ध वैसाही था और जब विकारी हुआ तब भी देशकालादिकों का सम्बन्ध वैसाही है, इस लिये विकारी तथा अविकारी दोनों प्रकार के कारणों को देश कालादि सहायता नहीं देसक्ते? इसका उत्तर यह है कि जिस समय कर्त्ता के प्रयत्न से कार्य्य विकारी हुआ उसी समय देशकालादिकों की सहायता कार्य्य का हेतु समझी जाती है, इसलिये देशकालादिकों की सहायता से विशेषता को प्राप्त होकर कारण कार्य्य को उत्पन्न करता है, इस तर्क में कुछ न्यूनता नहीं किञ्च कारण का जो कार्य्य के प्रति आरम्भक होना देखा जाता है वह किसी प्रकार छिपाया नहीं जासकता, और जो यह कहा है कि सुवर्णमात्र अपने कार्य्य का आरम्भक है वा लम्बा चौड़ा किया हुआ सुवर्ण अपने कार्य्य का

आरम्भक है? यह शंका इसलिये ठीक नहीं कि सुवर्णमात्र ही अपने कार्य्य का आरम्भक है सुवर्ण से भिन्न आकृतिवाले रुचकादि भूषणों के उपलब्ध होने तथा "यह सुवर्ण पिण्ड है" "यह सुवर्ण कण है" इसप्रकार कार्य्यकारण में पृथक् २ शब्दव्यवहार पायेजाने से स्पष्ट है कि कारण से भिन्न भी कार्य्य की सत्ता देखी जाती है, और कार्य्य को शुक्तिरजतादिकों की भांति मिथ्या कथन करना भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान से कार्य का बाध नहीं होता और नाही कार्य्यप्रतीति की कोई बाधक युक्ति पाईजाती है, इसलिये दोनों अवस्थाओं में सुवर्णादि कारणों की प्रतीति से रुचकादि कार्यों को मिथ्या सिद्ध करना केवल साहसमात्र है, श्रुति से प्रपञ्च का मिथ्या होना प्रथम ही खण्डन करआये हैं और जो पीछे अनुमान से सिद्ध किया था कि एक ही आत्मा से सब शरीर आत्मा वाले हैं, यदि ऐसा होता तो एक शरीर के सुख दुःख का अनुसंधान सारे शरीरों में होना चाहिये, जैसाकि योगसामर्थ्य से विलक्षण ज्ञान होने के कारण एक आत्मा को पूर्व शरीरों के सुख दुःख का अनुसन्धान देखाजाता है, यदि अहंकाररूप अन्तःकरण ज्ञाता होने के कारण एक के सुख दुःख का अनुसन्धान दूसरे को न होना मानाजाय तो उत्तर यह है कि शरीर इन्द्रियादिकों की भांति जड़ होने से अन्तःकरण ज्ञाता नहीं किन्तु आत्मा ही ज्ञाता हैं, इसलिये एकात्मवादी के मत में उक्त दोष तदवस्थ ही रहेगा, आत्मा का ज्ञाता होना पीछे सिद्ध कर आये हैं यहां पुनः कथन की आवश्यकता नहीं, और जो शरीरत्व, जड़त्व, कार्य्यत्व तथा कल्पितत्व हेतुओं से सब शरीरों को एकही अविद्या कल्पित कथन कियागया है वह भी अयुक्त है क्योंकि सिद्धान्त में ज्ञान से बाध न होने के कारण शरीरों

को सत्य सिद्ध कियागया है,और जो यह कहा था कि मैं ही सब चेतन हूं इत्यादि, इस प्रकार जो अहमर्थ को एक उपपादन किया गया है वह अपने सिद्धान्त की अज्ञता बोधन करता है, क्योंकि अद्वैतवादियों के मत में अहं और त्वं आदि अर्थों से विलक्षण चिन्मात्र आत्मा चिन्मात्र निर्विशेष आत्मा से भिन्न सब को मिथ्या मानने से उनके मत में मोक्ष के लिये श्रवणादि प्रयत्न भी निष्फल होजाते हैं, और अविद्या कार्य्य होने के कारण शुक्तिरजतादिकों में उनके प्रयत्न की भांति मोक्षार्थ प्रयत्न भी व्यर्थ होजायगा, क्योंकि अद्वैतमत में वेद गुरू शिष्यादि सब कल्पित हैं फिर उनसे बन्ध की निवृत्ति क्योंकर होसकेगी, इस विषय में यह अनुमान है कि जो अविद्याकल्पित,स्वयं अविद्यात्मक अथवा अविद्याकल्पित ज्ञाता के आश्रित हो वह बन्ध का निवर्त्तक नहीं होता, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार अविद्याकल्पित आदि हेतुओं के पायेजाने से स्वप्नकालिकबन्धनिवर्त्तक वाक्य से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान क़ैदी के बन्ध का निर्वत्तक नहीं होसक्ता,इसीप्रकार अविद्याकल्पित किंवा अविद्याकल्पित ज्ञाता के आश्रित होने के कारण "तत्वमसि" वाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी संसार बन्ध का निवर्त्तक नहीं अर्थात् जैसे कोई स्वप्न में किसी क़ैदी को कथन करे कि तेरा बन्धन छूट गया तो उस कल्पित उपदेष्टा के उपदेश से क़ैदी के बन्ध की निवृत्ति नहीं होती वैसे ही मिथ्या वेद गुरू का उपदेश भी मायावादियों के बन्ध का निवर्त्तक नहीं होसकता और स्वप्नपदार्थ गन्धर्वनगरादि की भांति अविद्या का कार्य्य ज्ञान का विषय होने से अद्वैतवादियों को अभिमत निर्विशेष ब्रह्म भी मिथ्या

है, इत्यादि अनुमान अद्वैतवाद के बाधक जानने चाहियें, यह बात पीछे कथन कर आये हैं कि जो आत्मा साक्षिक स्वयं प्रकाश ज्ञेयविशेष की सिद्धिरूप ज्ञान है वह ज्ञाता के अधीन ही देखा जाता है, इसलिये उनके मत में प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखनेवाला ब्रह्म स्वयंप्रकाश भी नहीं होसकता, और जो उन्होंने निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म के सिद्ध करने वाले यौक्तिक ज्ञान कथन किये थे वह पूर्वोक्त अविद्या कार्य्यत्वादि अनुमानों से खण्डन कियेगये हैं, निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म को जगदादि भ्रम भी नहीं होसकता, क्योंकि भ्रमादिक भी ज्ञात वस्तु में होते हैं अज्ञात में नहीं और अद्वैतवादियों के मत में ब्रह्म ज्ञात नहीं और स्वयं प्रकाश भी नहीं होसकता,प्रकाश उसे कहते हैंजो किसी अर्थविशेष की सिद्धि रूप हो और ऐसी प्रतीति ज्ञाता से होती है इसलिये वह स्वप्रकाश भी नहीं बन सकता, और जो अद्वैतवादी यह कथन करते हैं कि मिथ्या से भी सत्य की प्राप्ति होजाती है जैसे स्वप्न के सिंह से डर कर सत्य जागृत होजाता है तो जागृत भी उनके मत में अविद्या कल्पित होने के कारण मिथ्या होने से असत्य की प्राप्ति हुई, सत्य से सत्य प्राप्ति कथन करके यह हम प्रथम ही खण्डन कर आये हैं और हमारे कथन किये हुए अनुमानों के साथ अद्वैतवादी श्रुतिविरोध भी नहीं देसक्ते,क्योंकि उनके मत में श्रुति अविद्या का कार्य्य होने के कारण उक्त दृष्टान्तों से विशेषता नहीं रखती, और जो यह कथन किया है कि जिसका बाध न हो वह पदार्थ सत्य होता है, इस नियम के अनुसार यद्यपि ब्रह्म की प्राप्ति मिथ्या साधनों से होती है तथापि उसका बाध न होने से वह सत्य है? इसका उत्तर यह है कि बाध का न होना सत्यत्व का प्रयोजक नहीं, यदि ऐसा होता तो "शून्य तत्व है" इस

वाक्यजन्य ज्ञान से ज्ञात शून्य का बाध न होने पर वह भी सत्य मानाजाता पर ऐसा मानना वादी को भी इष्ट नहीं, इससे स्पष्ट है कि बाधाभाव वस्तु की सत्यता का गमक नहीं किन्तु दोष वाले कारणजन्य ज्ञान से जो पदार्थ जानाजाय और ज्ञानान्तर से उसका बाध भी पायाजाय वह "मिथ्या" और इससे विपरीत को "सत्य" कहते हैं, ननु "नेहनानास्तिकिञ्चन" इत्यादि श्रुतियों द्वारा अन्य का निषेध किये जाने से ब्रह्म ही शेष रहता है जिसका पुनः निषेध नहीं होसक्ता इसलिये उक्त निषेध से शून्य का भी बाध होजायगा फिर कैसे कहाजाता है कि शून्य का बाध नहीं होता ? उत्तर—शून्य से भिन्न निषेध न पाये जाने के कारण शून्य का बाध न होना वैसा ही बना रहता है इसलिये शून्य का बाध कथन करना ठीक नहीं, और बात यह है कि अद्वैतवादियों के मत में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की भांति श्रुति भी दोष वाली है इसलिये उनके मत में यह नहीं कहा जासकता कि उसका फिर बाध नहीं होता, इससे सिद्ध है कि ज्ञान सच्चे ज्ञाता जीव के आश्रित हैं उनमें से कोई ज्ञान दोषमूल तथा कोई सत्य सामग्री जन्य निर्दोष होते हैं, जब तक यह न मानाजाय तब तक सत्यासत्य की परीक्षा और लोकव्यवहार नहीं होसक्ता, और अद्वैतवादी सत्यासत्य की परीक्षा वाले तथा लोकव्यवहार के ज्ञान को मिथ्या मानते हैं और निर्विशेष सन्मात्र ब्रह्म उनके मत में सत्य है वह असत्यादि ज्ञानों का हेतु नहीं, इसलिये लोकव्यवहार उनके मत में सिद्ध नहीं होसक्ता और जो उन्होंने निरधिष्ठान असम्भव होने के कारण सर्वाधिष्ठानरूप ब्रह्म को सत्य कहा है, इसका उत्तर यह है कि जैसे दोष, दोषाश्रय, ज्ञान तथा ज्ञातृत्व के मिथ्या होने पर भी तुम्हारे

है इसलिये वस्तुकृत परिच्छेद नहीं बनता,इस प्रकार कारण से भिन्न कार्य्य के सत्य होने से ब्रह्म का कार्य्य यह सम्पूर्ण जगत् उससे भिन्न है,इस पूर्वपक्ष के होने पर यह उत्तर दियाजाता है कि आरम्भणादि शब्दों के पाये जाने से कार्य्य और कारण दोनों एक हैं अर्थात् परब्रह्म जो जगत् का कारण है उसका और जगत् का अभेद पायाजाता है, क्योंकि एकत्व प्रतिपादन करने वाले आरम्भण शब्दादिकों से ऐसा ही ज्ञात होता है वा आदि कथन करने से आरम्भण शब्द से लेकर कार्य्यकारण के एकत्व प्रतिपादक सब वाक्यों का ग्रहण है, विकार वाणी का आरम्भमात्र है मृत्तिका ही सत्य है, जैसाकि छान्दोग्य में उद्दालक ने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश किया है कि "हे सौम्य! यह सृष्टि से प्रथम एक अद्वितीय था उसने विचार किया कि मैं सृष्टि रूप से बहुत होजाऊं, प्रथम उसने स्थूल भूतों को रचा फिर उनमें जीवात्मा द्वारा प्रवेश किया, हे सौम्य! इस सब प्रजा का कारण सत्य है यह सब इस आत्मा का भाव है और हे श्वेतकेतो! वह तू है" यह वाक्य जड़ चेतन मिश्रित सब जगत् को ब्रह्म से अभिन्न बोधन करते हैं अर्थात् उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु जब चौबीस वर्ष के पश्चात् सब वेदों को पढ़कर आया तब उद्दालक ने पूछा कि हे पुत्र! तैंने ऐसा उपदेश भी अपने गुरू से श्रवण किया जिससे बिना सुना हुआ सुना जाता और बिना जाना हुआ जाना जाता है, और सारे जगत् को कारण ब्रह्म से भिन्न जानते हुए कारण ब्रह्म के ज्ञान से कार्य्य रूप जगत् का ज्ञान होजाता है, इस प्रतिज्ञा को न

जानते हुए श्वेतकेतु शिष्य ने पूछा कि हे भगवन् ! वह कौन उपदेश है जिससे बिना सुना सुना जाता और बिना देखा देखा जाता है,इस प्रकार पूछने पर उद्दालक जगत् को ब्रह्म कारणता का उपदेश करने की इच्छा करता हुआ प्रथम लोक प्रसिद्ध कार्य्य कारण के अभेद का यों उपदेश करता है कि "हे सौम्य ! जैसे एक मिट्टी के जानने से उसके सब विकार जाने जाते हैं क्योंकि घटादि मिट्टी के विकार उससे भिन्न नहीं, इसलिये मिट्टी के ज्ञान से सब मृद्विकारों का ज्ञान होजाता है" इस विषय में काणादों के मतानुसार कारण से कार्य्य भिन्न है यह प्रश्न करके लोकसिद्ध जो कार्य्य कारण का अभेद उसको उपनिषत्कार कथन करते हैं कि "विकार कथन मात्र है मिट्टी ही सत्य है" और वाणी से आरम्भ किये जाने को "वाचारम्भण" कहते हैं,यहां कर्म में ल्युट् प्रत्यय है,जैसाकि "घट से जल लेआओ" इस बाणी से जो जल लाना रूप व्यवहार कथन कियागया है उस व्यवहार की सिद्धि के लिये घटादि रूप विकार आकारविशेष वाला नाममात्र है यह पायाजाता है, लाने के लिये मिट्टी द्रव्य ही आकार विशेष वाला हुआ घटादि नामवाला है, इसलिये घटादि भी मिट्टी ही हैं और वही सत्य हैं, यह प्रमाण से पाया जाता है, मिट्टी सुवर्ण आदि ही आकारविशेष को धारण करते हुए कारण रूप बुद्धि तथा कार्य्य रूप बुद्धि से भिन्न २ प्रतीत होते हैं, अतएव कार्य्य तथा कारण यह भिन्न २ शब्द कहे जाते हैं, जैसाकि एक ही देवदत्त में अवस्थाविशेष के कारण बालक, युवा, बूढ़ा इस प्रकार भिन्न २ बुद्धि और भिन्न २ शब्दों

का प्रयोग किया जाता है, और जो पूर्वपक्षी का यह कथन है कि यदि कार्य्य कारण एक होते तो घट के नाशोत्तर काल में भी मृत्तिका में घट का व्यवहार पायाजाता परन्तु ऐसा व्यवहार न होने से सिद्ध है कि कारण से कार्य्य भिन्न है एक नहीं, सो ठीक नहीं, क्योंकि कारणरूप मृत्तिका द्रव्य ही अवस्थाविशेष के धारण करने से भिन्न २ नाम तथा व्यवहार का हेतु बनजाता है और इसी अवस्थाविशेष की सिद्धि के लिये कारकव्यापार भी चरितार्थ हो जाता है, और जो पीछे प्रश्न किये गये थे उनका परिहार अवस्था विशेष मानने से होजाता है युक्त्यन्तर की अपेक्षा नहीं और नाहीं सत्र की उत्पत्ति मानने से सत्कार्य्यवाद के विरोध की सम्भावना होसक्ती है, ननु—सत् है और उत्पन्न होता है यह कथन परस्पर विरुद्ध है? उत्तर-यह प्रश्न उत्पत्ति विनाश का तत्व न जानने वालों को विरुद्ध प्रतीत होता है क्योंकि आकारविशेष को प्राप्त होना उत्पत्ति तथा आकारविशेष मिटकर कारणरूप होजाना विनाश कहलाता है, इसलिये सब अवस्था वाले द्रव्य के सत् होने के कारण सत्कार्य्यवाद का विरोध नहीं, यदि यह कहो कि आकार विशेष तो असत् था उसकी उत्पत्ति होने में असत्कार्य्यवाद का प्रसङ्ग लगेगा? इसका उत्तर यहहै कि असत्कार्यवादी के मत में भी उत्पत्ति की उत्पत्ति न होने से सत्कार्य्यवाद का प्रसङ्ग आता है, यदि उत्पत्ति की उत्पत्ति मानें तो अनवस्था दोष लगेगा, और हमारे मत में उत्पत्त्यादि कार्य कारण से भिन्न न होने के कारण अवस्थाविशेष वालों में ही सब उत्पत्त्यादि व्यवहार किये जाते हैं, इसलिये कोई दोष नहीं, कपाल, चूर्ण, पिण्ड इन अवस्थाओं के नाश से जैसे घट की अवस्था हो जाती है इसीप्रकार एकत्व अवस्था के नाश से बहुत्व अवस्था होजाती है और उस बहुत्व अवस्था के नाश से फिर एकत्व अवस्था होजाती

है, अतएव कोई विरोध नहीं, वैसे ही " हे सौम्य ! वह प्रथम सत् ही था एक अद्वितीय और सत् ही अब है नाना रूप वाला जो यह नाना प्रकार का जगत् है यह रचना से पूर्व एक था, और सर्वशक्तिमान् होने के कारण ईश्वर को दूसरे की सहायता की आवश्यकता न होने से एक अद्वितीय परमेश्वर ही था " इस प्रकार एकत्व वर्णन किया गया है " उसने इच्छा की कि मैं बहुत होजाऊं" यह बहुत होजाना इस अभिप्राय से कथन किया है कि तेज आदि तत्वों द्वारा आत्मा के महत्व को बहुत किया, इस प्रकार कार्य्य रूप जगत् का परब्रह्म रूप कारण से अभेद स्पष्ट है, सत शब्द का वाच्य जो ब्रह्म और जगत् उसकी सृष्टि से पूर्व रचना न होने के कारण एकत्व और अद्वितीयत्व कहा गया हैं बिना किसी दूसरे सहकारी कारण के जगत् कैसे उत्पन्न होगया यह शंका उठाकर यह वर्णन किया है कि "जीव द्वारा प्रवेश करके नाना प्रकार की सृष्टि को उत्पन्न करूं, सब सम्पूर्ण जड़ चेतन को अपना विचार करके इस विचित्र नामरूप को करूं, वह बनाकर आपही प्रविष्ट होगया " इत्यादि श्रुतियों से पाया जाता है कि जीव और जड़ जगत् के कारण वाला ब्रह्म बहुत होगया, इस प्रकार कार्य्यावस्था वाला तथा कारणावस्था वाला जो जड़ चेतन है वह सब ब्रह्म का शरीर और परब्रह्म सब का आत्मा है, इस प्रकार अंतर्य्यामी ब्राह्मण में विस्तारपूर्वक कथन

किया गया है कि जड़ वस्तु और जीव में परमात्मा के व्यापक होने से जड़ चेतन सब वस्तु शरीर वाला ब्रह्म जतव शब्द का वाच्य है, इसलिये एक ही प्रथम था इस अर्थ की सिद्धि में कोई बाधा नहीं ब्रह्म का शरीरभूत जो जीव और जड़ जगत् का कारण उसमें सब विकार होते हैं पर सब कल्याण गुणों की खानि ब्रह्म निर्विकार है, यह बात " अधिकन्तुभेदानिर्देशात् " इस सूत्र में आगे अधिकरण में कही जायगी, इसी प्रकार यह सब आत्मा का भाव है सम्पूर्ण जड़ चेतन जगत् को ब्रह्म भाव का श्रुति उपदेश करती है, उसीको " तत्त्वमसि " यह वाक्य निगमन रूप से कहता है और वैसे ही अन्य उपनिषद् वाक्यों में भी " यह सब ब्रह्म है " " आत्मा के ही जानने से यह सब जाना जाता है " " यह सब आत्मा है " " यह सब ब्रह्म है " अभेद पाया जाता है और भेद का निषेध किया गया है जैसाकि " उसकी सब निन्दा करते हैं जो आत्मा से भिन्न जानता है " " वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त है जो ब्रह्म में नानापन देखता है " " जहां दूसरा होता है वहां दूसरा दूसरे को देखता है " जहां इसका सब अपना आप है वहां कौन किसको देखे " इस प्रकार अज्ञानी को द्वैतदर्शन और विद्वान् को अद्वैतदर्शन प्रतिपादन करती हुई श्रुति अभेद ही वास्तव है यह प्रतिपादन करती है, इस प्रकार आरम्भण शब्दादिकों मे जगत् का परम कारण ब्रह्म मे अभेद उपपादन किया गया है, तत्त्व यह है कि

चिदचिद्वस्तु शरीर होने के कारण शरीरविशिष्ट ब्रह्म सर्व शब्द से कहा गया है यही विशिष्टरूप प्रलयकाल में सूक्ष्मावस्था को प्राप्त हुआ चिदचिद्वस्तु शरीर कारणरूप ब्रह्म कहा जाता है, और जब रचना होने से स्थूल अवस्था को प्राप्त होता है तब चिदचिद्वस्तु शरीर ब्रह्म कार्य्य कहलाता है, इस कारण ब्रह्म से कार्य्य रूप जगत् का अभेद है, शरीररूप चिदचिद्वस्तु का और शरीरी ब्रह्म स्वभावों का भिन्न २ होना और ब्रह्म कल्याण गुणों का आकर होना तथा जगत् के उपादान कारण जड़ वस्तु और जीवात्मा का विकारी होना,इस प्रकार गुण दोषों की व्यवस्था "न तु दृष्टान्ताभावात्" इस सूत्र में कीगई है ।

जो लोग कार्य्य के मिथ्या होने के कारण कार्य्यकारण का अभेद कथन करते हैं उनके मत में कार्य्य कारण का एकत्व सिद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि सत्य और मिथ्या मिल नहीं सक्ते, यदि सत्य और मिथ्या के एक होने से जगत् तथा ब्रह्म एक हैं तो ब्रह्म मिथ्या और जगत् सत्य क्यों नहीं होजाता, जो लोग कार्य्य को सत्य मानकर जीव ब्रह्म का उपाधिकृत भेद तथा स्वाभाविक अभेद मानते हैं और जड़ चेतन का भेदाभेद स्वाभाविक है ऐसा कथन करते हैं उनके मत में उपाधि से भिन्न और कोई पदार्थ न होने से अखण्ड ब्रह्म का ही उपाधिकृत दोष से यह निन्दित परिणाम होता है, यदि वह कहें कि ब्रह्म की शक्ति का परिणाम होता है तो शक्ति और ब्रह्म तो उनके मत में एक हैं फिर ब्रह्म का शुद्ध होना, जीव का कार्य्याधीन फल भोगना इत्यादि व्यवस्था करने वाली श्रुतियें तथा जड़ का परिणाम और ब्रह्म का अपरि-

भाव कथन करने वाली श्रुतियें विरुद्ध होजायंगी, और जो यह कहते हैं कि समस्त उपद्रवों से रहित सम्पूर्ण भोक्तवर्ग से भिन्न सर्व शक्तिमान् चेतनमात्र ब्रह्म जो प्रलयकाल में सम्पूर्ण सुख दुःख से रहित होजाता है उस अवस्था में सुषुप्त आत्मा की भांति निरस्त सर्व दोष कहा जाता है और सृष्टि समय में मिट्टी द्रव्य की तरह घटादि रूपों से नानाकार होजाता है और समुद्र के फेन तरंगादि रूपों से भोक्ता, भोग्य तथा नियन्ता इन तीन प्रकार का आपही होजाता है, इसलिये भोक्तृ भोग्यादिकों के निमित्त से गुण दोष होते हैं, एकत्व इस अभिप्राय से कहा गया है कि जैसे घटादि मृत्तिकारूप सत्य हैं और एक हैं इसी प्रकार यह सब कार्य्य जगत् और ब्रह्म एक है, इस प्रकार जगत् ब्रह्म की एकता है, जो ऐसा कहते हैं उनके मत में सब श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और न्याय का विरोध आता है, क्योंकि श्रुति आदि सब सम्पूर्ण दोषों से रहित निराकार ब्रह्म को ही प्रतिपादन करते हैं न कि परिणामी ब्रह्म को, जैसाकि "हे सौम्य ! यह सदा एक अद्वितीय था" "उसने विचार किया कि मैं बहुत होजाऊं" "पहले एक आत्मा ही था और उसी ने इस सब सृष्टि को बनाया" एक ही नारायण था न उस समय ब्रह्मा था न ईशान था न द्यौ और पृथ्वी थी न नक्षत्र थे अग्नि सोम सूर्य्य कोई न था उसने अपनी महिमा से यह सब बनाया" इससे पाया जाता है कि उस अपरिणामी ब्रह्म ने अचिद्वस्तु से इस सब संसार को

उत्पन्न किया, जैसे कहा है कि "वह ईश्वरों का ईश्वर है, देवों का देव है, वह कारण है जीव का स्वामी है उसका न कोई उत्पन्न करने वाला और न कोई स्वामी है" इत्यादि प्रमाण भी उक्त अर्थ की दृढता बोधन करते हैं, और मनुस्मृति भी इसी भाव को स्पष्ट करती है कि "उसने अपने शरीर से सब प्रजा को रचा" इतिहास पुराण भी इसी बात को कहते हैं, और जो अद्वैत-वादियों का कथन है कि ब्रह्म सत्तामात्र है यह ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म सविशेष है उसके विशेषण ज्ञान आनन्द अनन्त कल्याणादि गुण हैं, यह गुण कभी २ ब्रह्म के साथ रहते हैं सदा नहीं यह नहीं कहाजासकता, क्योंकि इनको स्वाभाविक कथन कियागया है, जैसाकि "उस ब्रह्म की शक्ति ज्ञान बल और क्रिया यह सब स्वाभाविक हैं जो सर्वज्ञ है वह सबको जानता है" इत्यादि वाक्यों से ज्ञान आनन्दादि शक्ति ही उसके स्वाभाविक गुण हैं, ऐसा मत कहो क्योंकि "शक्ति स्वाभाविकी है" "ज्ञान बल और क्रिया स्वाभाविक हैं" इस प्रकार भिन्न २ ज्ञान बल तथा क्रियादिकों का कथन पाया जाता है, और बात यह है कि "वह ईश्वरों का ईश्वर है, न उसके कोई बराबर है और न उससे कोई अधिक है" इत्यादि बचनों का बाध होगा और सत्तामात्र मानने पर सबका आत्मा होना तथा अंशी होना व्यर्थ होजायगा, यदि कहो कि घटादि रूप अपने सब अंशों में पूर्ण होने से अंशांशिभाव होने पर भी सत्तामात्र होना पाया जाता है, यह ठीक नहीं, क्योंकि घट में भी सत्तामात्र पूर्ण होने के

कारण घटरूप होने से घट को भी उसके अंश होने का प्रसंग आता है और "घट है" "पट है" इस प्रकार वस्तु के धर्मरूप से ज्ञात हुई सत्ता को द्रव्यरूप तथा कारणरूप भी कथन नहीं किया जासक्ता, क्योंकि व्यवहार की योग्यता वाले को "सत्य" कहते हैं, यदि द्रव्यमात्र को सत्य मानाजाय तो क्रिया आदि सत्य न रहेंगे, यदि क्रिया आदिकों में कुशकाशावलम्बन न्याय से निर्वाह कर भी लें तो भी सब स्थान पर एकरूप सत्ता का मानना युक्ति शून्य होने से आदरणीय नहीं, और सत्तामात्र से सब जगत् का रूप ब्रह्म हो तो इतर पदार्थों के दोष ब्रह्म को लगेंगे, क्योंकि अद्वैतवादियों के मत में कार्य्यरूप जगत् भी ब्रह्म है, इसलिये विशिष्टाद्वैत के अभिप्राय से ही सूत्रकार ने जगत् ब्रह्म की एकता कथन की है अद्वैतवाद के अभिप्राय से नहीं ।

समीक्षा—"विलक्षण होने के कारण ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं" इस सूत्र से लेकर "यदि ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानें तो भोक्ता और योग्य एक होजायंगे" इस सूत्र तक विलक्षणत्वादि हेतुओं द्वारा जगत् ब्रह्म का उपादानरूप कार्य्यकारणभाव खण्डन कियागया है, जगत् ब्रह्म से विलक्षण है क्योंकि ब्रह्म चेतन और जगत् जड़ है, इसलिये यदि ब्रह्मरूप उपादान कारण वाला जगत् होता तो वह भी चेतन ही होना चाहिये था पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि इस प्रसङ्ग में अन्य हेतु दिखलाने के लिये कार्य कारण दोनों एक हैं यह कथन किया है, क्योंकि "कार्य्य वाणी का आरम्भमात्र है उसका उपादान

कारण ही सत्य है" इस उपनिषद् वाक्य से यह सिद्ध किया है कि यदि जगत् ब्रह्म का विकार होता तो दोनों एक होजाते परन्तु एक होने पर ब्रह्म आनन्दादि गुणोंका आकर न रहता, इससे सिद्ध है कि दोनो चेतन एक नहीं होसकते, अतएव ब्रह्म रूप उपादान कारण वाला जगत् नहीं यह सूत्र का आशय है।

यहां यह शङ्का कीजाती है कि "ब्रह्म जगत् का योनि है" इस सूत्र में ब्रह्म जगत् का उपादान कारण कथन किया गया है फिर विलक्षणत्वादि हेतुओं से किस प्रकार इस अर्थ का खण्डन किया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि यहां "योनि" शब्द उपादान का वाचक नहीं किन्तु निमित्तकारण का वाचक है, क्योंकि उपनिषद् वाक्य में निराकार ब्रह्म को जगत् योनि कहागया है और "यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च" इस वाक्यशेष से भी निमित्तकारण ही पाया जाता है, क्योंकि मकड़ी का शरीर उपादान और आत्मा निमित्तकारण हैं, यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार भी तो विशिष्ट ही कारण हुआ, ठीक है इसी सन्देह की निवृत्ति के लिये मकड़ी और पृथिवी के दृष्टान्त में प्रश्न का अवकाश देखकर पुरुष का दृष्टान्त दिया है कि "सतः पुरुषात्"=पुरुष से रोम होते हैं अर्थात् जीते पुरुष से ही रोम होते हैं अन्यथा नहीं, इसलिये यहां उपादानकारण की शङ्का का अवकाश नहीं, क्योंकि मृतशरीर से रोम नहीं बढ़ते, इस प्रकार उपनिषत्कार ने यह दिखलाया है कि केवल जड़ोपादान से संसार की रचना नहीं किन्तु जड़ और चेतन दोनों कारण हैं जड़ प्रकृति उपादानकारण तथा चेतन निमित्तकारण है और यही बात "अक्षरात् सम्भवतीह

विश्वं" इस वाक्य में पाई जाती है, यद्यपि "अक्षरात् परतः परः" इस मुण्डक वाक्य में परिणामी नित्य के अभिप्राय से प्रकृति को भी अक्षर कथन किया गया है तथापि यहां अक्षर से तात्पर्य्य प्रकृति का नहीं, क्योंकि अक्षराधिकरण में अक्षर से ब्रह्म ही का ग्रहण है, और "तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा" यजु० ३१।१९ इस मन्त्र में भी योनि शब्द निमित्तकारण का वाची है उपादान का नहीं, क्योंकि इसमें ईश्वर को सब भुवनों का आधार वर्णन किया है, और उपादान सर्वाधार नहीं होसकता, अधिक क्या महर्षि व्यास ने भी "शास्त्र योनित्वात्" ब्र०सू०१।१।३ में निमित्तकारण में ही योनि शब्द का प्रयोग किया है, "योनिश्चेहगीयते" ब्र०सू०१।४।२७ इस सूत्र से लेकर "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" ब्र० सू० २।१।३७ इस सूत्र तक की सङ्गति भाष्य में स्पष्ट है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

ननु—जब उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु चौबीसवर्ष ब्रह्मचर्य्य पूर्वक पढ़कर आया तो पिता ने पूछा कि तुमने ऐसा उपदेश भी गुरु से श्रवण किया जिससे बिना सुना सुना जाय और बिना जाना जाना जाय? श्वेतकेतुने कहा हे भगवन्! कौन ऐसा उपदेश है? तब पिता ने कहा हे सौम्य! वह जैसे एक मृत पिण्ड के जानने से सब मिट्टी के विकार जाने जाते हैं, क्योंकि विकार वाणी का आरम्भमात्र है मिट्टी ही सत्य है, इत्यादि दृष्टान्तों से कार्य्य कारण का एक होना पाया जाता है, कारण परब्रह्म है और कार्य जगत् है इस प्रकार कार्य्य जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं, यदि कार्य कारण एक न होता तो एक के जानने से सब कैसे जाना जाता, क्योंकि रुई के ज्ञान से

सत्कार्य नहीं जाने जाते, एक के जानने से सर्व का जानना तभी होसकता है जब उपादान कारण को जाने, और इसी प्रकार का एकत्व आरम्भण शब्दादिकों से उपदेश किया गया है, यह केवल उपनिषद् का ही अर्थ नहीं किन्तु वेद का भी यही तात्पर्य्य है,जैसाकि "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" यजु० ४०।७= एकत्वदर्शी को कोई शोक मोह नहीं रहता, और एकत्वदर्शन तभी होसकता है जब विकार वाणी का आरम्भमात्र हो जैसे समुद्र का तरङ्ग,यह बात केवल वाणी से आरम्भ कीजाती है वास्तव में समुद्र ही है,इस प्रकार जगत् में नानात्व केवल वाणी से आरम्भ किया जाता है वास्तव में चेतन ही रज्जुभुजङ्ग की भांति प्रतीत होरहाहै,अतएव जगत् ब्रह्म का अभेद कथन करने के लिये सूत्रकार ने यह सूत्र रचा है कि "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" उत्तर—"वाचा-रम्भणंविकारो नाम धेयम्" इस वाक्य में जगत् ब्रह्म का एकत्व उपदेश नहीं किया गया किन्तु प्रकृति और उसके कार्य्य का एकत्व कथन किया है, और "हे सोम्य ! यह पहले सत ही था" यह प्रकरण चलाकर पृथिवी जल अग्नि इनके विकारों का एकत्व कथन किये जाने से कार्यकारण का अभेद पाया जाता है, ननु— जिस प्रकार पृथिवी आदि तीनों तत्वों के विकार उनसे भिन्न नहीं इसी प्रकार यह तीनों भी ब्रह्म विकार होने के कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं, यह प्रश्न उठाकर इसका यह उत्तर दिया है कि पृथिव्यादि ब्रह्म के विकार नहीं, यदि ब्रह्म के विकार होते तो "विकार वाणी का आरम्भमात्र है" "ब्रह्म ही सत्य है" ऐसा कहा जाता पर ऐसा नहीं कहा गया, इससे स्पष्ट है कि पृथिवी आदि को ब्रह्म

का विकार मानकर अद्वैतसिद्धि की चेष्टा करना मायावादियों का साहसमात्र है, और जो यह कथन किया है कि हे सौम्य! यह सब प्रजा सन्मूला है, यहां ब्रह्म प्रजा का आश्रय होने के अभिप्राय से कहा गया है न कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होने के अभिप्राय से, और यह बात "सत् ही प्रजा का आश्रय और सत् ही प्रतिष्ठा है" इस वाक्यशेष से पाई जाती है, यदि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होता तो अधिष्ठानरूप वर्णन न किया जाता, ननु–यदि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं तो एक के जानने से सब का जानना कैसे हो सकता है? उत्तर–तुम्हारे मत में भी एक के जानने से सब का जानना मनोरथमात्र है, यदि आपके कथनानुसार एक के जानने से सब का जानना बनसक्ता है तो सबके सुख दुःख का ज्ञान एक को होना चाहिये, यदि कहो कि सुख दुःख का ज्ञान उपाधि से है तो तुम्हारे मत में भी तो सब का ज्ञान उपाधि से ही है, फिर भी उक्त दोष ज्यों का त्यों बना रहता है, वैदिक द्वैतपक्ष में तो एक के ज्ञान से सबके ज्ञान की यह व्यवस्था है कि परा अपरा इन दो विद्याओं का उपदेश करने के अभिप्राय से उद्दालक ने श्वेतकेतु से पूछा कि तुमने इसप्रकार का उपदेश गुरु से श्रवण किया कि जिस से बिना सुना सुना जाता और बिना देखा देखा जाता है, यह बात व्याप्तिरूप ज्ञान के अभिप्राय से कहीगई है जैसे एक शरीर नाश के ज्ञान से सब शरीरों के नाश का ज्ञान होजाता है, सर्व शब्द का कथन बहुत के अभिप्राय से है, क्योंकि असीम पदार्थों शब्द का ज्ञान जीव को नहीं होसकता, और जो यह कहा गया है कि "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः"=

जिस अवस्था में सबको एक देखता है उस अवस्था में ब्रह्मवेत्ता को शोक मोह नहीं रहता, यह मंत्र सबको आत्मा मानने से शोक मोह की निवृत्ति कथन करता है ? उत्तर—यह कथन ठीक नहीं, उक्त मंत्र अवस्थाविशेष में शोक मोह की निवृत्ति दिखलाता है अर्थात् जिस अवस्था में ऊंच नीच भाव नहीं रहता वस्तुमात्र में एक बुद्धि होजाती है उस अवस्था में कोई शोक मोह नहीं रहता, क्योंकि शोक मोह का कारण राग है और वैराग्य उसकी निवृत्ति का हेतु है, यदि एकता का ज्ञान ही शोक मोह की निवृत्ति का कारण होता तो जिसको मिट्टी के एकत्व का ज्ञान है उसको घट के टूट जाने से शोक न होना चाहिये और नाही मृत पुत्र का शोक होना चाहिये,क्योंकि कार्य्य कारण का एकत्व ज्ञात है,ननु—"आरम्भण शब्दादिभ्यः" यहां से लेकर "तत्त्वमसि" तक एक प्रकरण है और "तत्त्वमसि"वाक्य से जीव को ब्रह्मभाव बोधन कियागया है और यह ब्रह्मभाव स्वाभाविक होने से किसी अवस्थाविशेष के कारण नहीं होता और नौबार "तत्त्वमसि" का उपदेश जीव के ब्रह्मभाव को बोधन करता है, क्योंकि बार २ कहना उस अर्थ की दृढ़ता के लिये होसक्ता है न्यूनता के लिये नहीं, उत्तर—यह बात ठीक है कि सूत्रस्थ आदि शब्द छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक के अन्त तक का ग्रहण कराता है परन्तु "तत्त्वमसि" वाक्य जीव को ब्रह्मभाव बोधन नहीं करता किन्तु पुनर्जन्म के अभिप्राय से जीवात्मा का सदा रहना बोधन करता है, यहां प्रष्टव्य यह है कि "तत्त्वमसि" स्वाभाविक ब्रह्मात्मभाव का उपदेश करता है अथवा नैमित्तिक ब्रह्मात्मभाव का ? प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि स्वभावसिद्ध का बोधन करना निष्फल होता है

और दूसरे पक्ष में यह दोष है कि ब्रह्मस्वरूप में कोई अतिशय नहीं होसकता, इसलिये उसको नैमित्तिक कथन करना उचित नहीं, यद्यपि अद्वैतवादियों के मत में सब असम्भव वस्तुओं के सिद्ध करने वाली एक अविद्या के स्वीकार से किसी न किसी प्रकार जीव को ब्रह्मभाव का उपदेश हो भी सके तथापि "तत्त्वमसि" इस वाक्य में पुरुष का अस्तित्व स्पष्ट रीति से वर्णन किये जाने के कारण जीव को ब्रह्मबोधन करने रूप अर्थाभास का अवकाश ही नहीं होसक्ता, क्योंकि इस प्रकरण में जड़ से भिन्न जीवात्मा का होना स्पष्ट रूप से पायाजाता है, जैसाकि यह उपदेश कियागया है कि "हे सौम्य ! षोड़शकला वाला यह पुरुष है, पन्द्रह दिन केवल पानी पी क्योंकि जलमय प्राण है नाश नहीं होंगे" श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया, तब पिता ने कहा कि अब पढ़ेहुए वेद को सुना, श्वेतकेतु ने कहा कि भूल गया, तब उद्दालक ने कहा कि "हे सौम्य ! खद्योत मात्र यह पुरुष है" फिर सुषुप्ति के दृष्टान्त से श्वेतकेतु को बतलाया कि हे सौम्य ! सुषुप्ति काल में यह जीव सत के साथ मिलजाता है और वहां स्वस्वरूप सम्पन्न होजाता है, निद्रादोष से नहीं जानता कि मैं क्या हूं इसी बात को बाज के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है कि "हे सौम्य ! जैसे सूत्र के साथ बांधा हुआ बाज इधर उधर घूमकर भी अपने स्थान में आजाता है इसी प्रकार आत्मा सुषुप्ति स्थान में अपने स्वरूप को प्राप्त होता है" इस प्रकार जीवात्मा को जड़ से भिन्न निरूपण करके उसका शरीर से निकलना निरूपण किया है कि "हे सौम्य ! जब

यह जीवात्मा शरीर को छोड़ता है तब वाणी मन में लय होजाती है, मन प्राण में लय होजाता है, प्राण तेज में लय होजाते हैं, तेज परादेवता में और जो यह अणुमात्र पुरुष रहता है वही सत्य है इसी का यह भाव है जो ज्ञानादि सब व्यवहार हैं" इस प्रकार जीवात्मा का निरूपण किया जाना उसके ब्रह्मत्व को बोधन नहीं करता किन्तु जीवात्मा के पुनर्जन्म को वर्णन करता है।

ननु—"ऐतदात्म्यमिदंसर्वं"=यह सब इस आत्मा का भाव है, इस वाक्य में सबको आत्मभाव विधान किये जाने से जगत् ब्रह्म का ऐक्य होना पाया जाता है, इसलिये "तत्त्वमसि" का यही अर्थ है कि "वह ब्रह्म तू है" उत्तर-आत्मा के भाव को "ऐतदात्म्य" कहते हैं और जो आत्मा के भाव अन्नमय आदि कोषों से पृथक् करके बतलाये गये हैं वह सब जीवात्मा के गुण हैं, इसी अभिप्राय से कहा है कि हे श्वेतकेतु! "ऐतदात्म्यमिदंसर्वं"=यह सब आत्मा का भाव है, वह सत्य है और वह आत्मा तू है, इस प्रकार आठ दृष्टान्तों से जीवात्मा का अविनाशी होना वर्णन किया गया है, यद्यपि प्रलयकाल में जीवात्मा के भिन्न रहने का विवेक नहीं रहता तथापि उसका अस्तित्व रहता है, अतएव यह कथन किया है कि "हे सौम्य! जैसे मधु में नाना वृक्षों का रस नहीं जाना जाता कि कौन किसका रस है इसी प्रकार प्रलयकाल में नहीं जाना जाता कि कौन किसका जीवात्मा है" फिर व्याघ्र कीट पतङ्गादि जन्मों में उसके भाव

[illegible] होते हैं "हे श्वेतकेतो ! जो अणुस्वरूप आत्मा है वह तू है" यदि "तत्त्वमसि" वाक्य का तात्पर्य्य "तू ब्रह्म है" इसी अर्थ में होता तो आत्मा को अणुरूप से वर्णन न किया जाता किन्तु विभुरूपता से वर्णन किया जाता, दूसरी बात यह है कि यदि अणु कथन करने से ब्रह्म का ही ग्रहण होता तो कीटादि योनियों का निरूपण करके अणु कथन न किया जाता प्रत्युत ऐसा होता कि "यह सब तू ही है" पर ऐसा कथन नहीं किया गया, इससे सिद्ध है कि उक्त कथन ठीक नहीं, अणु के भाव को "अणिमा" कहते हैं, जैसाकि "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इस श्रुति में सूक्ष्म होने के अभिप्राय से ब्रह्म को अणु कथन किया गया है, इस प्रकार यहां अणु से ब्रह्म का ग्रहण नहीं, क्योंकि उक्त उपनिषद् वाक्य में "अणोरणीयान्" = सूक्ष्म से सूक्ष्म कथन करके "महतोमहीयान्" = बड़े से बड़ा ब्रह्म है, यह कथन किया है परन्तु "तत्त्वमसि" वाक्य में ऐसा कथन नहीं किया "एषोणुरात्मातपसावेदितव्यः" इस उपनिषद् वाक्य में जीवात्मा का ही ग्रहण है, इसलिये यहां "अणु" पद जीवात्मा का विशेषण मानना चाहिये ब्रह्म का नहीं, महर्षि व्यास ने भी जीवात्मा को अणु कथन किया है, और जो स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने महर्षि व्यास के कथन को पूर्वपक्ष माना है सो ठीक नहीं, क्योंकि आग्रिम सूत्रों में इसका खण्डन नहीं किया गया, इससे सिद्ध है कि यहां अणु से जीवात्मा का ग्रहण है और इसीको मधु के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है, यहां नदी समुद्रादिकों के दृष्टान्त की भांति एकता नहीं लीजासकती, यदि यह अर्थ इष्ट होता तो कीट

पतङ्गादि रूप से पुनर्जन्म का कथन न किया जाता, क्योंकि नदी समुद्रादिकों के दृष्टान्त से मायावादी ब्रह्म के साथ मिलकर फिर पुनरावृत्ति नहीं मानते और यहां पुनरावृत्ति होना स्पष्ट है, वैदिक द्वैतपक्ष में जगत् और ब्रह्म का एकत्व इष्ट नहीं, इसलिये जीव ब्रह्म की एकता मानना ठीक नहीं जिससे फिर लौट आना असम्भव हो, यहां मायावादी यह नहीं कहसकते कि यह जीव ब्रह्म का मिलना प्रलयकाल का मिलाप है मुक्ति दशा में नहीं, इसलिये लौट आना लिखा है, क्योंकि उनके मत में ब्रह्म के साथ मिलजाना मुक्ति के तुल्य है, यदि उपनिषत्कारों को यह अर्थ अभीष्ट होता कि प्रलय और मूर्च्छा काल में ब्रह्म के साथ मिलकर लौट आते हैं और मुक्ति काल में नहीं तो उपनिषत्कार स्पष्ट लिख देते कि मुक्ति से जीवात्मा लौटकर नहीं आता, प्रत्युत इससे विरुद्ध इन आठ दृष्टान्तों में यह लिखा है कि सत के साथ मिलकर भी फिर जीवात्मा लौट आता है और तीसरे दृष्टान्त में जीव का नाम लेकर कथन किया गया है कि "हे श्वेतकेतो ! जीव रहित होने से यह शरीर मरता है जीव नहीं मरता और वह अणुरूप जीव तू है" इस प्रकार इस वाक्य का जीव के वर्णन में तात्पर्य था जिसको "अद्वैतवादियों" ने "वह ब्रह्म तू है" इस विषय में लगादिया है, चौथे दृष्टान्त में वट के बीज को तोड़कर पिता ने कहा कि देख इसमें कुछ दीखता है पुत्र ने कहा कुछ नहीं, पिता ने कहा यह जो सूक्ष्मता है "इसी प्रकार तू है" इस दृष्टान्त से जीवात्मा की सूक्ष्मता वर्णन की है, नमक के दृष्टान्त से सर्वदा जीवात्मा का रहना बोधन कियाहै कि परिणामी नित्य होने के कारण नमकादि स्थूल पदार्थों का भी नाश नहीं होता तो कूटस्थ नित्य

जीवात्मा की तो कथा ही क्या, इस प्रकार नौ बार "तत्त्वमसि" कहा गया है, यहां अद्वैतवादी यह कथन करते हैं कि नौबार कहना जीव को ब्रह्म होना बतलाया हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि नौबार कथनरूप अभ्यास आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करता है, दूसरी बात यह है कि अद्वैतवादियों के मत में न केवल जीव ब्रह्म की एकता है किन्तु जगत् ब्रह्म की भी एकता है और जगत् ब्रह्म की कार्य्यकारण रूपता से एकता होने पर अभ्यास व्यर्थ होजायगा, क्योंकि सूक्ष्मार्थ बोधन करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है, "यह सब जगत् ब्रह्म है" इस मोटे अर्थ के बोधन करने के लिये अभ्यास की क्या आवश्यकता ? हमारे द्वैतपक्ष में तो जीवात्मा के सूक्ष्म होने के कारण अभ्यास=बार २ पढ़ने की आवश्यकता है, इसलिये मायावादियों के मत में नौबार "तत्त्वमसि" का अभ्यास असङ्गत है वैदिक द्वैतपक्ष में नहीं।

इस प्रकार पूर्वोत्तर विचार करने से ब्रह्म सूत्रों में अद्वैतवाद का नाममात्र भी नहीं पाया जाता, ज्यों २ इस मायावाद की परीक्षा कीजाय त्यों२ ही केले के स्तम्भ की भांति निस्सार प्रतीत होता है, मायावादियों के मत में उपाधिकृत भेद केवल जीव ईश्वर काही नहीं किन्तु ईश्वर ब्रह्म का भी है, इनके मत में माया उपाधि के बिना ब्रह्म कुछ नहीं करसकता, इसलिये माया उपाधि वाला ईश्वर है वही सर्वज्ञ और वही जगत् कर्त्ता है, शुद्ध ब्रह्म न सर्वज्ञ और न जगत् कर्त्ता होसक्ता है, संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के लिये ईश्वर और मुक्ति में ब्रह्म के साथ जीव मिलजाता है इस तात्पर्य से सर्वभाव रहित ब्रह्म का स्वीकार है, इस प्रकार उनके मत में ईश्वर और ब्रह्म भी भिन्न २ हैं, पर यह बात ब्रह्म सूत्रों

से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र में ब्रह्म की जिज्ञासा करके उसी को दूसरे सूत्र में सृष्टि का कर्त्ता कथन किया गया है, यदि मायावादियों की भांति महर्षि व्यास के मत में भी ब्रह्म और ईश्वर भिन्न २ होते तो वह ब्रह्म का लक्षण जगत् कर्त्ता न करते किन्तु ऐसा करते कि "ब्रह्म सर्व क्रिया रहित है" पर उन्होंने इससे उलटा ब्रह्म का लक्षण यह किया है कि वह संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण है, इससे स्पष्ट है कि महर्षि व्यास के मत में ब्रह्म और ईश्वर एकही पदार्थ के नाम हैं और वेद में भी सृष्टि का कर्त्ता ब्रह्म ही कथन किया गया है, जैसाकि "द्यावाभूमी जनयन्देव एकः" यजु० १७।१९=सर्वशक्तिमान् एक देव ही संसार को उत्पन्न करता है,मायावादियों के मत में माया का कार्य्य होने से जगत् की भांति ईश्वर भी मिथ्या है, केवल ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है और वह जगत्कर्त्ता नहीं,मायोपाधि वाला ईश्वर जगत् कर्त्ता है,ऐसा मानने पर न केवल "जन्मादि" सूत्र के साथ विरोध आता है अपितु सम्पूर्ण वेदान्तदर्शन के साथ बिरोध है, जैसाकि "भेद के कथन किये जाने से ब्रह्म सर्वोपरि है" इस सूत्र से लेकर "वह सर्वशक्तिमान् है" इस सूत्र तक निरुपाधिक ब्रह्म का ही जगत् कर्त्ता होना कहा गया है, यहां यह शङ्का होती है कि यदि जगत् वास्तव में हो तो उसका कारण ब्रह्म कहाजाय किन्तु जगत् तो चेतन का विवर्त्त है, इसलिये निरुपाधिक ब्रह्म का कार्य्य नहीं कहाजासकता ? इसका उत्तर यह है कि जो वास्तव में पदार्थ का अन्यथाभाव न हो और अन्यथा प्रतीत हो उसको "विवर्त्त" कहते

हैं, ऐसा भ्रम के वश से होता है पर शुद्ध ब्रह्म में तो भ्रम ही नहीं होसकता, इसलिये जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है यह कथन असङ्गत है, और "**बिना कारणरूप सामग्री से भी दूध से दधि भाव की भांति ईश्वर जगत् को बनाता है**" इत्यादि सूत्रों में परिणामवाद के स्पष्ट पाये जाने से रज्जुसर्प की भांति अवास्तव अन्यथाभावरूप विवर्त्त सूत्रकार को इष्ट नहीं, इसलिये जगत् चेतन का विवर्त्त है, यह मायावादियों की विवर्त्त प्रक्रिया वेदान्त सूत्रों से सिद्ध नहीं होती, क्योंकि परिणामवाद मायावाद से सर्वथा विरुद्ध है और ब्रह्म का विवर्त्त जगत् है यह बात तर्क से भी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि विवर्त्त तभी होता है जब कुछ रूप का सादृश्य मिलता हो, रज्जु में हस्ती की भ्रान्ति कभी नहीं होती सर्प की होती है, इस प्रकार ब्रह्म और जगत् का आपस में सादृश्य न पाये जाने से ब्रह्म का विवर्त्त जगत् नहीं होसकता "**प्रलय काल में कार्य्यजगत् ब्रह्म में मिल जाने से ब्रह्म भी जगत् की भांति अशुद्ध होजायगा**" यह सूत्र विवर्त्तवाद का खण्डन करता है, यदि जगत् ब्रह्म का विवर्त्त होता तो प्रलयकाल में जगत् के ब्रह्म में लय होने से ब्रह्म भी दूषित होजाता परन्तु वह दूषित नहीं होता, क्योंकि विवर्त्त का लय अधिष्ठान को दूषित नहीं करता, फिर अधिष्ठान को दूषित करने वाला लय मानना इस बात को सिद्ध करता है कि महर्षि व्यास जगत् को विवर्त्त नहीं मानते, यदि यह कहाजाय कि ज्ञान से निवृत्त होने के कारण रज्जु सर्प की निवृत्ति भी लय कही जासकती है और वह प्रतीति मात्र होने के कारण अपने अधिष्ठान

को दूषित नहीं करती,यह ठीक नहीं,क्योंकि कार्य्य के लय होने से उपादान को दूषित मानना विवर्त्तवाद का सर्वथा खण्डन करता है और विवर्त्तवाद के खण्डन होने से मायावाद का भी खण्डन होजाता है, ननु—"वास्तव में उसका स्वरूप न होने से सृष्टि मायामात्र है" इस सूत्र में सृष्टि के मायामात्र कथन करने से विवर्त्तवाद पाया जाता है फिर कैसे कहते हैं कि सूत्रकार को सृष्टि का विवर्त्त होना अभिप्रेत नहीं ? उत्तर—यह सूत्र स्वप्न की सृष्टि को मायामात्र कहता है न कि जाग्रत् को, क्योंकि इस पाद के प्रथम सूत्र से स्वप्न की सृष्टि का प्रकरण चला आता है अर्थात् जैसे जाग्रत् की सृष्टि में जीव पुण्य पाप का भागी होता है इसीप्रकार स्वप्नसृष्टि में भी होता है वा नहीं, क्योंकि स्वप्नसृष्टि भी सृष्टि है और उपनिषत्कार वर्णन करते हैं कि "वहां न रथ होते हैं,न घोड़े होते हैं, न मार्ग होते हैं, जीव स्वयं सब कुछ रचलेता है" इस प्रकरण में सूत्रकार ने कहा है कि वह स्वप्न की सृष्टि मायामात्र=मनोरथमात्र है, ऐसे स्पष्टार्थ वाले सूत्रों का मिथ्या अर्थ करना मायावादियों की माया नहीं तो क्या है, इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों में कहीं भी संसार के मिथ्या होने का कथन नहीं पाया जाता प्रत्युत मिथ्या होने का खण्डन पाया जाता है, जैसाकि "इस जाग्रत् सृष्टि का अभाव नहीं कहा जासकता, क्योंकि इसकी उपलब्धि पाईजाती है" इससूत्र में मायावाद का खण्डन किया गया है, सूत्रकार ने जाग्रत् के अर्थ को सत्य माना है पर मायावादियों की माया की विचित्रता यह है कि वह इस सूत्रसे जगत् को सत्य सिद्ध करते हैं और अन्यत्र संसार को मायामात्र बतलाते हैं, और जो इनका यह कथन है कि

"उपलब्धि होने से सृष्टि का अभाव नहीं" यह सूत्र विज्ञानवादी बौद्ध जो वाह्य अर्थ का अभाव मानते हैं उनके लिये कहा गया है और यह कथन मायावादियों के पाण्डित्य को कलङ्कित करता है, जैसा कोई कथन करे कि बौद्धों के लिये नीम कड़वा है मायावादियों के लिये नहीं, इस प्रकार तर्क की शिथिलता और पूर्वोत्तर विरोध इनके भाष्यों में जगह २ पाया जाता है, जैसाकि साकार और निराकार दोनों प्रकार के ब्रह्म मानने वालों का खण्डन ब्रह्म को कूटस्थ नित्य मानकर किया है फिर वाचारम्भण न्याय से सब दृश्यमात्र का ब्रह्म के साथ एकत्व मानकर यह कहा हैं कि परमार्थ के अभिप्राय से सब जगत् को ब्रह्म कहा गया है, यह कथन सगुणोपासन में उपयोग रखने के कारण परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि प्रथम दोनों प्रकार के ब्रह्म मानने वाले का खण्डन करना फिर आप दृश्यमात्र को ब्रह्म कथन करके उपासना में उपयोग बतलाना, इस प्रकार अद्वैतवादियों की गहन माया है, वैदिक द्वैतपक्ष में तो "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्"=माया को प्रकृति जानो,इस उपनिषद् वाक्य के अनुसार उपादान कारण को माया कहते हैं और इसका कथन महर्षि व्यास ने "प्रकृति जगत् का उपादान है" इस सूत्र में किया है और इससे पहले ईश्वर का निमित्तकारण होना कथन किया गया है, माया के साथ मिला हुआ ब्रह्म ही निमित्त और उपादान कारण है, इस प्रकार मायामात्राश्रित मायावाद का ब्रह्मसूत्रों में लेश भी नहीं।

ननु-अवैदिक मायावाद सूत्रों के प्रतिकूल रहे पर श्रीभाष्य तो ब्रह्मसूत्रों के अनुकूल है फिर और भाष्य की क्या आवश्यकता? उत्तर-यद्यपि श्रीभाष्याचार्य्य का मत अन्य स्थानों में ब्रह्म सूत्रों के अनुकूल है तथापि एकही पदार्थ से सब जगत् की

उत्पत्ति मानने के कारण मायावादियों से शिक्षा ग्रहण किय हुआ विशिष्टाद्वैतवाद है, जैसाकि ब्र० सू० १।४।२३ से ज्ञात होता है, इस सूत्र में मायावादी और विशिष्टाद्वैतवादियों का अधिक भेद नहीं प्रत्युत ईश्वर को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण मानने से विशिष्टाद्वैतवाद और मायावाद समान हैं, क्योंकि मायावादियों के मत में ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा निमित्त है, और विशिष्टाद्वैतवादियों के मत में जड़ चेतन वस्तुमात्र शरीर वाला ब्रह्म उपादान और निमित्त है, यद्यपि विशिष्टाद्वैतवाद में ब्रह्मस्थ जो प्रकृति वह जगत् का उपादान कारण है और शरीरी परमात्मा निमित्तकारण है, इस प्रकार विशिष्टाद्वैत और मायावाद का बहुत भेद है तथापि एकही ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानने में कुछ भेद नहीं, विशिष्टाद्वैतवाद का बीज "यथोर्णनाभिः" यह उपनिषद् वाक्य है, विशिष्टाद्वैतवादयों का कथन है कि इस वाक्य में ईश्वर अभिन्ननिमित्तापादान कारण कथन किया गया है,यह उनकी भ्रान्ति है,क्योंकि इस वाक्य में ईश्वर को अक्षर वर्णन किया है, और अक्षर निमित्तकारण ही होसकता है उपादान नहीं, जैसाकि इस कारिका में कहा है कि:—

इच्छापूर्वककर्तृत्वं प्रभुत्वमस्वरूपता ।
निमित्तकारणेष्वेवनोपादानेषुकर्हिचित् ॥

अर्थ—इच्छापूर्वक कर्त्ता होना, प्रभु होना और कार्य्य के समान रूपवाला न होना, यह गुण निमित्तकारण में ही पाये जाते हैं उपादान में नहीं, इसलिये इच्छापूर्वक कर्तृत्वादि गुणों वाला अक्षर निमित्तकारण ही होता है,यहां विशिष्टाद्वैतवादियों का उपनिषद् तात्पर्य्य से विरुद्ध ईश्वर को निमित्त और उपादान दोनों

प्रकार का कारण मानना ठीक नहीं,जैसे कारणवाद में विशिष्टाद्वैतवादियों का मत वैदिक नहीं इसी प्रकार इनके मत में मुक्ति को अनुष्ठान साध्य मानकर नित्य मानना भी अवैदिक है, क्योंकि मुक्ति का नित्य मानना तर्क से सिद्ध नहीं होता,संसारवर्ग से रहित होने तथा ब्रह्मभावों को प्राप्त होने का नाम अपवर्ग, मुक्ति, अमृत तथा ब्रह्मभाव है, और वह जीव की अवस्था विशेष है स्वरूप नहीं,क्योंकि मुक्ति कर्मों का फल है और फल स्वरूप नहीं हो सकता,यदि स्वरूप माना जाय तो मुक्ति के साधन निष्फल होजायंगे,क्योंकि स्वरूप स्वयंसिद्ध होता है, इस प्रकार साधनों से सिद्ध हुई मुक्ति मानकर फिर उसका नित्य मानना मायावादियों का अनुकरण है और यह ठीक नहीं, इसलिये विशिष्टाद्वैतवाद कहीं २ मायावाद के समान होने से सर्वथा वैदिक नहीं होसक्ता ।

मायावादियों के मत में तो अपवर्ग ब्रह्म का स्वरूप होने से स्वाभाविक है साधनों से केवल आवरणनिवृत्ति कीजाती है; यह उनका मन्तव्य मुक्त जीवों की पुनरावृत्ति को दूर नहीं कर सकता, क्योंकि उनके मत में ब्रह्म माया का आश्रय होने से पुनरावृत्ति का मूल है, एक अद्वितीय ब्रह्म से संसार उत्पन्न होता है, जब मुक्त होकर सब जीव उसी ब्रह्म में जामिलेंगे फिर उस ब्रह्म से संसार न होगा इसमें क्या प्रमाण और मुक्ति का मुक्तिपन तो यही है कि फिर लौटकर न आना, यह बात अज्ञानियों के प्रसन्न करने के लिये केवल अर्थवाद है, इसमें कोई प्रमाण नहीं यदि मायावादी मुक्ति को नित्य कहें तो कुछ अनुपयुक्त नहीं क्योंकि उनके मत में असम्भव अर्थों के ठीक करने वाली माया विद्यमान है,आश्चर्य यह है कि विशिष्टाद्वैतवादी भी मोक्ष को नित्य, मानते हैं, उनके मत में जीव भिन्न २ होने के कारण संख्या वाले

है फिर एक २ करके सबके सब मुक्त होने पर संसार का मूलोच्छेद होजायगा, अधिक क्या सब वादियों के मत में मोक्ष का नित्य मानना "पाषाण तैरते हैं" इस वाक्य की भांति अर्थवाद है, क्योंकि मुक्ति में जीव का सामर्थ्य परमित होता है, निरवधिक ऐश्वर्य्य तो केवल नित्य मुक्त परमेश्वर का ही है अन्य का नहीं, और आरम्भणाधिकरण में यह कहा गया है कि "मुक्त जीव भोगमात्र में ईश्वर के समान होता है और वह भोगतत्व सातिशय ऐश्वर्य्य है ब्रह्म की भांति निरतिशय ऐश्वर्य्य नहीं" इस प्रकार जीव ब्रह्म की भोगमात्र में समता कथन करना जीव को नित्यमुक्त सिद्ध नहीं करता, यदि जीव की मुक्ति नित्य होती तो केवल भोगमात्र ही में सूत्रकार जीव ब्रह्म की समता न दिखलाते किन्तु नित्यतामें भी कथना करते, यहां और प्रष्टव्य यह है कि मुक्ति में ईश्वर जीव का स्वामी होता है वा नहीं ? यदि होता हैं तो ईश्वर के अधीन होना ही पुनरावृत्ति का कारण हैं, यदि मुक्ति में जीव ईश्वर के अधीन नहीं रहता तो ईश्वर को सर्वस्वामी नहीं कहसकते, इस तर्क से भी मुक्त जीव ईश्वर के समान नित्यमुक्त नहीं होसकता ।

ननु–"अनावृत्ति शब्दात्, अनावृत्ति शब्दात्"= फिर लौटकर नहीं आता, फिर लौटकर नहीं आता, इस सूत्र में पुनरावृत्ति का स्पष्ट खण्डन पायाजाता है फिर वेदान्तशास्त्र विरुद्ध पुनरावृत्ति मानना ठीक नहीं ? उत्तर–उक्त सूत्र भोगमात्र की समता में हेतु हैं मुक्ति की नित्यता विधान करने में नहीं, इस प्रकार इस अन्तिम सूत्र की पूर्वसूत्र से सङ्गति है, जीव और ईश्वर की भोगमात्र में समता नहीं होसकती, क्योंकि ईश्वर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव होने से उसका ज्ञानमात्र

ही भोग है और जीव नित्यज्ञानस्वरूप नहीं, इसलिये उसका निदिध्यासनरूप ब्रह्मध्यान ही भोग है "आत्मावारे द्रष्टव्यो मन्तव्यः श्रोतव्यः निदिध्यासितव्यः"=हे मैत्रेयी आत्मा द्रष्टव्य है, मन्तव्य है, श्रोतव्य है और निदिध्यासन करने योग्य है, इस प्रकार जीवात्मा का बार २ ईश्वरचिन्तनरूप भोग वर्णन किया है, यह दोनों के भोग की विषमता है, इस प्रकार आशंका करके कहा है कि "अनावृत्ति शब्दात्, अनावृत्ति शब्दात्" अनावृत्ति के अर्थ बार २ ब्रह्मध्यान के हैं, मुक्ति अवस्था में ब्रह्मचिन्तनरूप भोग नहीं होता किन्तु अनावृत्तिरूप भोग होता है "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं" यजु० ३१।१८=मैं उस महान् पुरुष को जानता हूं जिसका एकमात्र ज्ञान ही मुक्ति का साधन है "ब्रह्मवेदब्रह्मैवभवति" मुण्ड० ३।२।९ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म के समान हो जाता है, इत्यादि प्रमाणों से अनावृत्तिरूप ज्ञानमात्र ही भोग वर्णन किया है अर्थात् ज्ञानमात्र की समता से ही ब्रह्म होना कथन कियागया है स्वरूप से एक होने के अभिप्राय से नहीं, यही भाव जैमिनि आचार्य्य का है कि "ब्राह्मेण जैमिनि"=ब्रह्म के स्वभावमात्र से ही उसके समान होना कहा जाता है नकि स्वरूप के एक होने से, इस प्रकार पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र का समन्वय है, और जो मायावादियों ने इस प्रकार इस सूत्र का व्याख्यान किया है कि भोगमात्र की समता विशेषता वाली होने के कारण मोक्ष कार्य्य होजाता है, यह शङ्का करके पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र की सङ्गति है, इसलिये सूत्रकार ने कहा है कि "अनावृत्तिशब्दात्"=मुक्त जीव का फिर जन्म नहीं होता, जैसाकि "नच पुनरावर्त्तते, न च पुनरावर्त्तते" छा० ८।१५।१=वह लौटकर नहीं आता, वह लौटकर

नहीं आता, और "यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम" गी० ८।२१=जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता वह मेरा परमपद है, यह अद्वैतवाद का व्याख्यान सर्वथा सूत्रकार के आशय से विरुद्ध है, क्योंकि भोगमात्रसाम्य के साथ इसकी सङ्गति नहीं मिलती, भोगमात्र में "मात्र" शब्द अन्य समता की व्यावृत्ति करता है अर्थात् जिनके मत में मोक्ष से पुनरावृत्ति नहीं उनके मत में अजन्मा होने के कारण जन्माभाव में भी ईश्वर के बराबर जीव होजाता है, ऐसा होना सर्वथा वेदविरुद्ध है, जैसाकि "यस्मान्नजात इत्येषः" यजु० ३२।३ इस मन्त्र में ईश्वर काही जन्माभाव निरूपण किया है, और जो जीव भी अजन्मा है इत्यादि कथन पाये जाते हैं वह जीव के स्वरूप को उत्पत्तिशून्य कथन करते हैं शरीर के साथ संयोगरूप जन्म के अभाव को बोधन नहीं करते, इससे सिद्ध है कि शरीर रहित होने से केवल ईश्वर ही अजन्मा है।

और तर्क यह है कि जीव का भोग कार्य्य होने के कारण उसका अनित्य होना आवश्यक है, यदि अनावृत्ति शब्द से व्यास का अभिप्राय मुक्ति के नित्य बोधन में होता तो पूर्वोक्त तर्क के साथ विरोध आता, इससे सिद्ध है कि मुक्ति नित्य नहीं।

वैदिक द्वैतपक्ष में तो "आवृत्ति" शब्द प्रत्यावृत्ति रूपज्ञान को बोधन करता है और उससे विरुद्ध मुक्ति में ईश्वर का तदाकार ज्ञान एकरस होता है, इसलिये प्रथम सूत्र के साथ विरोध नहीं प्रत्युत उसके साथ सङ्गति अनुकूल प्रतीत होती है, क्योंकि ब्रह्म की भांति मुक्ति अवस्था में एकरस ज्ञान से ही जीव ब्रह्म के समान है, और जो यह कहा है कि वह "लौटकर नहीं आता, लौटकर नहीं आता" इस अभिप्राय से यह सूत्र रचा है इसका

प्रथम ही खण्डन कर आये हैं. यदि इस सूत्र का यही छान्दोग्य विषयवाक्य हो तब भी मुक्ति की नित्यता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इस वाक्य में "यावदायुषं" कथन से आयुपर्य्यन्त मोक्ष को नित्यत्व विधान किया गया है, चैतन्य की आयु अवस्थाविशेष है और वह मुक्ति है, यदि ऐसा न होता तो विना आयु वाले जीवात्मा का आयु विधान करना व्यर्थ होजाता "जहां जाकर लौटना नहीं होता वह मेरा धाम है" यह गीता वाक्य दृढ़ निश्चय को बोधन करता है अन्यथा कृष्णजी यह कथन न करते कि ब्रह्मलोक के मुक्त पुरुष भी लौट आते हैं "आब्रह्मभुवना" के अर्थ हैं ब्रह्मलोक तक पुनरावृत्ति=पुनर्जन्म वाले हैं, इस वाक्य से "यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" इस वाक्य का अभिप्राय वर्णन किया है, मुझको प्राप्त होकर फिर जन्म नहीं होता, यह अपने आप में श्रद्धा की दृढ़ता कराने के अभिप्राय से कहा है, इस प्रकार ब्रह्मलोकस्थ मुक्त पुरुषों की गीता में भी पुनरावृत्ति कथन कीगई है, ननु—ब्रह्मलोकस्थों की पुनरावृत्ति हो पर "तत्त्वमस्यादि" वाक्यजन्य ज्ञान से जिनको ब्रह्मात्मभाव का ज्ञान होगया है उनकी पुनरावृत्ति तो नहीं होसक्ती, यदि इस प्रकार सम्यक् ज्ञानियों की पुनरावृति निरोधक यह सूत्र मानाजाय तो फिर इसका विषयवाक्य कोई नहीं रहता, क्योंकि वेद और उपनिषदों में कोई मन्त्र इस प्रकार का नहीं जिससे यह जानाजाय कि सम्यक् ज्ञान वालों की पुनरावृत्ति नहीं होती, इसलिये मुक्तों की पुनरावृति निषेध के लिये यह सूत्र है, यह व्याख्यान सर्वथा असङ्गत है, मायावादियों ने केवल सूत्रों काही अन्यथा व्याख्यान नहीं किया किन्तु गीता का भी किया है, जैसाकि "ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहता है" इस

श्लोक का व्याख्यान यह किया है कि यह श्लोक मायोपाहित ईश्वर को बोधन करता है, ऐसा अर्थ सर्वथा गीता के अभिप्राय से विरुद्ध है क्योंकि अर्जुन को श्रीकृष्ण यह बोधन करते हैं कि यदि अहङ्कार के कारण तुम यह मानो कि मैं युद्ध न करूंगा तब भी तुम सर्वथा स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि 'ईश्वरःसर्वभूतानांहृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति'= हे अर्जुन ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में विराजमान है और तुम उसके अधीन हो, इस प्रकार सर्वथा व्यास के आशय से विरुद्ध व्याख्यान करना मायावादियों की माया है, हमने अपने "गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य" में सब स्थलों को भले प्रकार स्पष्ट किया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें, प्रायः विशिष्टाद्वैतवादियों ने भी उक्त सूत्र का व्यास के अभिप्राय से अन्यथा व्याख्यान किया है, जैसाकि यदि मुक्ति में जीव ईश्वर के अधीन रहता है तो ईश्वर फिर भी उसकी पुनरावृत्ति करदेगा, इसलिये व्यास ने कहा है कि "अनावृत्ति शब्दात, अनावृत्ति शब्दात्" यह व्याख्यान असङ्गत है, क्योंकि यह जो कहागयाहै कि लौटकर नहीं आता यह कथन ईश्वर के अधीन होने में नहीं बनसक्ता, क्योंकि इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये वैदिकवाक्य मे अनावृत्ति सिद्ध कीगई है? इसका उत्तर यह है कि जैसे अनादि होना ईश्वर की अनाधीनता को सिद्ध नहीं करता, इसी प्रकार अनावृत्ति वाले का ईश्वराधीन होना किसी से हटाया नहीं जासकता, इसलिये इनकी पूर्वसूत्र से सङ्गति ठीक नहीं, इस प्रकार सूत्रों का व्याख्यान मायावादियों के समान व्याख्यानाभास है, यद्यपि जीव ईश्वर प्रकृति को भिन्न २ स्वीकार करने मे विशिष्टाद्वैत वैदिकद्वैतवाद से भिन्न नहीं तथापि इस प्रकारके सूत्रों का अन्यथा व्याख्यान करने तथा एक ही ब्रह्म को सब सृष्टि का उपादान कारण मानने और परिच्छिन्न जीवों के एक २ करके सब की मुक्ति

होने पर संसार का मूलोच्छेदरूप दोष के कारण महर्षि बोधायन मत के प्रतिकूल होने से ग्राह्य नहीं, केवल वैदिकद्वैत पक्ष ही ग्राह्य है इसलिये वैदिकद्वैत दर्शन में वर्णित जो फलचतुष्टय में शिरोमणि मोक्ष उसके यथार्थबोधन के लिये "आर्य्यभाष्य" किया जाता है, क्योंकि :—

१—ब्रह्मसूत्रों पर वही भाष्य प्रामाणिक होसक्ता है जो दर्शनों के पूर्वोत्तर सिद्धान्तों से संगति रखता हो।

२—सूत्रों में ग्रन्थन किये गये विषयवाक्यों से विरुद्ध न हो॥

३— वेदाविरोधि वैदिक युक्तियों से युक्त हो।

४—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रमाणित हो।

भाष्य के प्रामाणिक होने में यह चार मूल हैं जिनको आश्रय करके हमने किसी और आश्रय को आश्रित नहीं किया, उक्त आशय से श्रेष्ठ और सनातन होने के कारण हमने इस भाष्य का नाम "आर्य्यभाष्य" रखा है किसी विशेष सम्प्रदाय के अभिप्राय से नहीं, इसलिये वैदिकों की सम्पूर्ण सन्तान इसका निम्न लिखित श्लोक के आशय से आश्रयण करे :—

लब्धंव्यासपयोनिधेर्निमथनाद्रत्नंमयासुप्रभं।
यस्यालोकविलोकनेनमनसि ब्रह्मप्रभाजायते॥
यस्मात् पक्षपरिग्रहोनघटतेवेदैकवेद्यपथि।
तद्दृश्यंसुविवेचकैः सुमतिभिः स्वार्थेषुकोमत्सरः॥

आर्य्यमुनिः

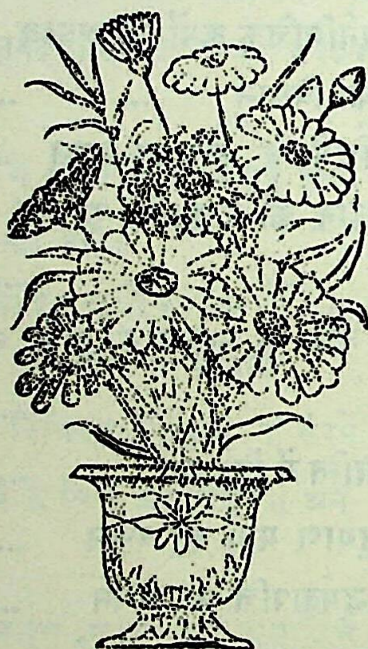
वेदान्तार्य्यभाष्य की विषयसूची

प्रथमाध्याय

द्वितीयाध्याय

तृतीयाध्याय

चतुर्थाध्याय



ओ३म्

अथ वेदान्तार्य्यभाष्यं प्रारभ्यते

सङ्गति—महर्षिव्यास मोक्ष के हेतुभूत ब्रह्मज्ञान का विस्तार पूर्वक निरूपण करने के लिये ब्रह्ममीमांसाशास्त्र का आरम्भ करते हुए प्रथम ब्रह्मजिज्ञासा कथन करते हैं:—

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

पद०—अथ। अतः। ब्रह्मजिज्ञासा।

पदा०—(अथ) वेदाध्ययनपूर्वक वैराग्यादि साधनों के अनन्तर (ब्रह्मजिज्ञासा) ब्रह्म के जानने की इच्छा कीजाती है (अतः) इसलिये कि अन्य सब फल तुच्छ हैं।

भाष्य—"अथ" शब्द अधिकारादि अनेक अर्थों का वाचक होने पर भी प्रकृत में आनन्तर्य्य अर्थ के अभिप्राय से आया है, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा नियमानुसार पूर्व होने वाले साधनों की अपेक्षा करती है, यदि ऐसा न होता तो वैराग्यादि साधनों के बिना भी "ब्रह्मजिज्ञासा" होती पर ऐसा नहीं, इसलिये "अथ" शब्द को अनन्तरार्थक मानना ही ठीक है, "अतः" शब्द हेत्वर्थक है, "ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा"= जानने की इच्छा का नाम "जिज्ञासा" और "ब्रह्मणोजिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा"=ब्रह्म की जिज्ञासा को "ब्रह्मजिज्ञासा" कहते हैं, ब्रह्मजिज्ञासा, ब्रह्ममीमांसा और ब्रह्म

विचार यह सब पर्य्यायशब्द हैं, स्वाभाविक ज्ञानक्रियाशक्तिवाला निरतिशय असंख्येय कल्याणगुणाकर परमात्मा "ब्रह्म" पद का मुख्यार्थ है, क्योंकि महत् गुणों के साथ योग ही ब्रह्म शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है जो ईश्वर के विना अन्य किसी चिदचिद्वस्तु में मुख्यरूप से नहीं पायाजाता, इसप्रकार "कर्त्तव्या" पद के अध्याहार करने से सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न हुआ कि यथेष्ट ब्रह्मानन्दोपभोगरूप ब्रह्मप्राप्ति की अपेक्षा ऐहिक तथा पारलौकिक कर्मफल तुच्छ तथा अल्पकाल-स्थायी होने के कारण कर्मकाण्ड के अनुष्ठानपूर्वक वैराग्यादि साधनों के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्य है, यद्यपि "जिज्ञासा" पद सन्प्रसयान्त होने से ज्ञानेच्छा का वाची है तथापि "कर्त्तव्या" पद के अध्याहार द्वारा लक्षणावृत्ति=उपचार से विचार का बोधक जानना चाहिये, और जो "विज्ञानभिक्षु" ने "अथ" शब्द को आरम्भार्थक मानकर यह अर्थ किया है कि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र से लेकर प्रधा-नतया जिसमें ब्रह्म का विचार हो उस शास्त्र का आरम्भ किया जाता है, यहां विचारणीय यह है कि "जिज्ञासा" पद शक्तिवृत्ति द्वारा ज्ञानेच्छा का वाची है अथवा ब्रह्मविचाररूप अर्थ का लक्षणावृत्ति से बोधक है ? यदि प्रथमपक्ष में "अथ" शब्द को आरम्भार्थक मानाजाय तो सूत्रार्थ यह होगा कि ब्रह्मज्ञान की इच्छा का आरम्भ कियाजाता है सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक अधिकरण में ब्रह्मज्ञान की इच्छा नहीं पाई जाती प्रत्युत इच्छापूर्वक ब्रह्म का विचार पायाजाता है, यदि उक्त पद को ज्ञानेच्छा का वाची न मानकर विचार का बोधक

मानें अर्थात् "ब्रह्ममीमांसा का आरम्भ कियाजाता है" यह अर्थ करें तो "कर्त्तव्या" पद के अध्याहार से आरम्भार्थ की सिद्धि होने पर उक्त अर्थ के बोधनार्थ "अथ" शब्द का निवेश ही व्यर्थ होजायगा, इसलिये यथोचित साधनसम्पत्ति के अनन्तर अधिकारी को ब्रह्मविचार कर्त्तव्य है यही मानना ठीक है, स्वामी "रामानुज" ने "अथ" शब्द के अर्थ वेदाध्ययनानन्तर और स्वामी "शङ्कराचार्य्य" ने साधन चतुष्टय के अनन्तर के किये हैं, इन दोनों अर्थों में कोई विशेष भेद नहीं, क्योंकि प्रायः अधीतशास्त्र पुरुष ही साधनचतुष्टय सम्पन्न होता है परन्तु "श्रीभाष्याचार्य्य" का यह कथन कि उत्तरमीमांसा पूर्वमीमांसा का एकभाग है अर्थात् १२ अध्याय पूर्वमीमांसा और चार अध्याय उत्तरमीमांसा यह दोनों मिलकर एकशास्त्र है सो ठीक नहीं, क्योंकि इसप्रकार षट्शास्त्र की प्रसिद्धि नहीं रहती, हां इतने अंश में "श्रीभाष्याचार्य्य" का कथन ठीक प्रतीत होता है कि भिन्न २ विषय पायेजाने से दोनों मीमांसाओं का परस्पर विरोध नहीं, क्योंकि कर्मकाण्ड का अनुष्ठान ही पुरुष को ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी बनाता है।

ननु-"प्रयोजनमनभिसन्धायमन्दोपि न प्रवर्त्तते"= प्रयोजन के विना मन्द पुरुष भी किसी कार्य्य में प्रवृत्त नहीं होता, इस न्याय के अनुसार ब्रह्मज्ञान का कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिये जिससे ब्रह्ममीमांसा के श्रवणार्थ पुरुष की प्रवृत्ति हो, यदि मुक्ति ही प्रयोजन मानाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि वह केवल कर्मों के अनुष्ठान से भी होसक्ती है, जैसाकि "अपाम

सोममम्रृता अभूम " ऋ०८।४८।३=सोमपान करने से पुरुष अमृत होजाता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है, फिर उसकी प्राप्ति के लिये ब्रह्मज्ञान प्रधान उत्तरमीमांसा का आरम्भ करना निष्फल है ? उत्तर—अपहतपाप्मादि गुणों के धारणपूर्वक ब्रह्मानन्दोपभोगरूपमुक्ति ही इस शास्त्र का प्रयोजन है और वह एकमात्र ब्रह्मज्ञान से ही प्राप्त होती है अन्यथा नहीं, जैसाकि " य इत्तद्विदुस्तेऽमृतत्वमानशुः "ऋ०२।३।१८।२३= ब्रह्म के साक्षात्कार से ही पुरुष अमृतपद को प्राप्त होता है, " तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय " यजु०३१।१८=परमात्मा को जानकर ही पुरुष अमृत को प्राप्त होता है अन्य कोई मार्ग नहीं " तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योः" अथर्व० १।९।४४=ब्रह्मवेत्ता पुरुष मृत्यु के भय से रहित होजाता है, इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है, और इसी भाव को मुण्ड० २।२।९ में इस प्रकार वर्णन किया है कि :—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्चसर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥

अर्थ—जिस सर्वान्तर्यामी परमात्मा में द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्षादि सब लोक ओतप्रोत हैं और सब इन्द्रियों के साथ मन भी जिसमें ओतप्रोत है उसी एक आत्मा को जान उससे

भिन्न अन्य सब अनात्मपरायण वाणियों को छोड़दे, क्योंकि मृत्युरहित अमृत पद की प्राप्ति का वही एकमात्र उपाय है, "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" तै० २। १ =ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही परमपद=मोक्ष को प्राप्त होता है,इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से सिद्ध है कि एकमात्र ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति का साधन है।

और जो पूर्वपक्षी का कथन है कि "अपामसोमममृता०" इत्यादि मंत्रों में केवल कर्मों द्वारा मोक्ष की सिद्धि कथन की है वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त मन्त्र में "अमृता" पद मोक्ष के अभिप्राय से नहीं आया किन्तु उपचार से केवल कर्मानुष्ठानियों की प्रशंसा बोधन करता है, यदि केवल कर्मानुष्ठान ही मोक्ष का हेतु होता तो "तमेवविदित्वा०" इत्यादि मन्त्रों में ब्रह्मज्ञान को मोक्ष का हेतु कथन न किया जाता और नाही "नान्यः पन्था०"इस वाक्य में यह प्रतिपादन किया जाता कि ब्रह्मज्ञान से भिन्न अन्य कोई मुक्ति का साधन नहीं, और इसी भाव को महर्षि "कपिल" ने इसप्रकार स्फुट किया है कि "ज्ञानान्मुक्तिः" सां० ३। २३=परमात्मज्ञान से ही मुक्ति और "बन्धोविपर्य्ययात्" सां० ३। २४=मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है, अतएव केवल कर्म ही मोक्ष का साधन नहीं किन्तु ज्ञान और कर्मों का समुच्चय मुक्ति का साधन अभिप्रेत है, अन्तरङ्ग होने से ज्ञान मुख्य और कर्म गौण हैं।

इस सूत्र के विषयवाक्यों की सङ्गति इसप्रकार है कि "याज्ञवल्क्य" के परिव्राजक होने समय "मैत्रेयी" ने पूछा कि

हे भगवन् ! आप किसलिये इस संसारवर्ग को छोड़कर जाते हैं तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि "नवारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्" वृहदा० ४ । ६ = हे मैत्रेयी ! यह संसार आत्मा के लिये ही प्यारा है अन्य के लिये नहीं, इसलिये वही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है अर्थात् द्रष्टव्य=तत्वज्ञान द्वारा साक्षात् करने योग्य, श्रोतव्य=श्रुतिवाक्यों से श्रवण करने योग्य, मन्तव्य=वेदाविरोधि तर्कों से मनन करने योग्य और निदिध्यासितव्य=निदिध्यासन=चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा बारम्बार अभ्यास करने योग्य है, और वही आत्मशब्द वाच्य ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसी के श्रवण, मननादिकों से सब कुछ जाना जाता है, इसलिये उसी के जानने की जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

स्वामी शङ्कराचार्य्यजी अध्यास की भूमिका बांधकर इस सूत्र का इस प्रकार लापन करते हैं कि त्रैकालाबाध्य=तीनो कालों में एकरस सर्वगत अहंप्रतीतिसिद्ध आत्मा पदार्थमात्र का प्रकाशक होने से " विषयी " तथा आत्मा से अतिरिक्त अहङ्कारादि अनात्म पदार्थ " विषय " कहलाते हैं, यद्यपि तम तथा प्रकाश की भांति परस्परविरुद्धस्वभाव वाले आत्मा और अनात्मा का इतरेतरभाव=एक दूसरे का रूप होजाना

नहीं बनसक्ता तथापि अनादि अनिर्वचनीय ब्रह्माश्रित अविद्या द्वारा अनात्मा में आत्मा तथा आत्मा में अनात्मा और उनके चेतनता जड़तादि धर्मों का अन्योऽन्याध्यास पायाजाता है जिससे सम्पूर्ण अविद्यानिमित्तक अनादि अनन्त प्रमाणप्रमेयरूप व्यवहार शुक्तिरजतादिकों की भ्रममात्र प्रतीति होरही है और इसी का नाम "संसार" है, इसी कर्तृत्वभोक्तृत्वरूप अनर्थ के हेतुभूत अविद्या के वाधपूर्वक ब्रह्मात्मैकत्वरूप विद्या की प्राप्ति के लिये वेदान्तशास्त्र का आरम्भ किया गया है, यहां विचारणीय यह है कि अविद्या किसका आश्रय लेकर संसाररूप भ्रान्ति को उत्पन्न करती है ? यदि जीवाश्रित होकर उत्पन्न करती है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जब अविद्या बने तो जीव की सिद्धि हो और जब जीव सिद्ध हो तब अविद्या बने, इसप्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष पायेजाने से अविद्या को जीवाश्रित मानना सर्वथा भ्रान्तिमूलक है, यदि अविद्या को ब्रह्म के आश्रित मानकर संसाररूप अनर्थ का हेतु मानाजाय तो उत्तर यह है कि जिसप्रकार प्रकाश अंधकार का विरोधी होने से उसका आश्रय नहीं इसी प्रकार स्वयंप्रकाश ब्रह्म अविद्या का विरोधी होने के कारण उसका आश्रय नहीं होसक्ता, और जो इन्होंने इस सूत्र में अध्यास की भूमिका बांधकर वेदशास्त्र को भी अविद्या की कोटी में रखा है अर्थात् वेदशास्त्र को भी स्वप्नज्ञान के समान आविद्यक मानकर कहा है कि उस अविद्या की निवृत्ति के लिये शास्त्र प्रवृत्त हुआ है, भला अविद्या की निवृत्ति इस

आविद्यक शास्त्र से कैसे ? इत्यादि तर्क से तुलना भी न करें तब भी यह बात सूत्रकार के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, सूत्र के अक्षरों से यह बात नहीं पाई जाती कि यह प्रमाणप्रमेय सब अध्यास हैं, अस्तु इस विषय पर जो मायावादी भाष्यकार ने लिखा है उस का खण्डन करना हमारा प्रयोजन नहीं, हमारा मुख्य प्रयोजन यह है कि सूत्रों का अभिप्राय क्या है और आपस में सूत्रों की सङ्गति कैसे लगती है, इसी भाव को आगे स्फुट करते हैं ।

सं०—अब जिज्ञासितव्य ब्रह्म का लक्षण कथन करते हैं :—

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

पद०—जन्मादि । अस्य । यतः ।

पदा०—(यतः) जिससे (अस्य) इस संसार के (जन्मादि) उत्पत्ति आदि होते हैं वह ब्रह्म है ।

भाष्य—जिसके आदि में जन्म हो उसको "जन्मादि" कहते हैं, इस बहुव्रीहि समास से उत्पत्ति, स्थिति तथा लय इन तीनों का ग्रहण होता है, "यस्मात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वरात्सृष्टिस्थितिप्रलयाः प्रवर्त्तन्ते तद्ब्रह्म"=अनेक प्रकार की विचित्र रचना वाले इस चराचर संसार के जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् से उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं वह "ब्रह्म" है, इस सूत्र का विषय वाक्य यह है कि :—

यतो वाइमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ॥

तै० ३ । १

अर्थ—जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते, जिसमें स्थिर रहते, जिसकी सत्ता से जीते और अन्त में जिसमें लय होते हैं वह "ब्रह्म" है उसीकी जिज्ञासा कर, इस सूत्र में ब्रह्म का लक्षण किया गया है जिसका आशय यह है कि जो जगत् का निमित्तकारण है वही ब्रह्म है, क्योंकि इच्छापूर्वक कर्त्ता होना निमित्तकारण-में ही पाया जाता है उपादान में नहीं ।

यह सूत्र शङ्करमत में इस हेतु से नहीं घटता कि उनके मत में ईश्वर और ब्रह्म भिन्न २ हैं, जो शुद्ध है वह ब्रह्म, और जो मायो-पहित अर्थात् माया उपाधि वाला है वह ईश्वर है, यदि महर्षि व्यास का भी यही अभिप्राय होता कि ब्रह्म और ईश्वर दोनों भिन्न २ हैं तो वह ब्रह्मलक्षणविषयक प्रश्न उठाकर ईश्वर का लक्षण न करते, क्योंकि उक्त मत में जगज्जन्मादिकों का हेतु तो ईश्वर है न कि ब्रह्म, हमारे विचार में सूत्रकार के मत में ब्रह्म और ईश्वर एकही है, इसीलिये ब्रह्म को जगत्कर्त्ता माना है।

यह भेद तो मायावादियों के मत में है कि ब्रह्म और ईश्वर भिन्न २ हैं, इस विषय में वेद और आर्ष ग्रन्थों का कोई प्रमाण उनके अनुकूल नहीं और जो उन्होंने इस सूत्र में ब्रह्म का तटस्थ लक्षण मानकर खेंचतान से अपना अभिप्राय सिद्ध किया है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार भी तो ईश्वर

का ही लक्षण सिद्ध होता है, उनके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म में जगत्कर्तृत्व ही नहीं फिर उसका उक्त लक्षण कैसे ?।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

पद०—एकपद० ।

पदा०—(शास्त्रयोनित्वात्) ब्रह्म ऋग्वेदादि शास्त्र का रचयिता होने से जगत् का निमित्तकारण है ।

भाष्य—पूर्वसूत्र में जो ब्रह्म का यह लक्षण कियागया है कि वह जगत् का कारण है, ऐसा कथन करने पर पञ्चमी विभक्ति से यह सन्देह बना रहता है कि वह जगत् का उपादान कारण है वा निमित्तकारण ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये इस अधि-करण का आरम्भ कियागया है, जिसप्रकार चेतन होने से ब्रह्म ऋग्वेदादिशास्त्र का कर्त्ता है इसीप्रकार जगत् का निमित्त कारण है उपादान नहीं, यदि यह कहाजाय कि उपादान-कारण में ही पञ्चमी होती है, यह नियम नहीं, जैसाकि "पुत्रात्प्रमोदो जायते"=पुत्र से प्रमोद होता है, इत्यादि स्थलों में पञ्चमी निमित्तकारण में देखीजाती है, क्योंकि पुत्र प्रमोद का उपादानकारण नहीं, इस सूत्र के विषयवाक्य यह हैं:—

"एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो य-जुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं श्लोको व्याख्यानान्यनुमानानि प्रमाणभूतानि" बृहदा०२।४।१०

" तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे "

यजु० ३१ । ७.

अर्थ—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और इनके व्याख्यानभूत इतिहास पुराण तथा श्लोकादि यह सब उस ब्रह्म के श्वासरूप हैं, उस यज्ञरूप परमात्मा से ऋग्वेदादिशास्त्र उत्पन्न होते हैं, इसप्रकार सर्वविद्या के भाण्डार वेदों का कर्त्ता होने से ब्रह्म चेतन जगत् का निमित्तकारण है और इच्छापूर्वक कर्त्ता होना निमित्तकारण में ही पाया जाता है उपादान में नहीं, जैसाकिः—

इच्छापूर्वक कर्तृत्वं प्रभुत्वमस्वरूपता ।
निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेषु कर्हिचित् ॥

अर्थ–इच्छापूर्वक कर्त्ता होना, प्रभु होना, कार्य्य के समान रूप वाला न होना, यह तीनों गुण निमित्तकारण में ही होते हैं उपादान में नहीं, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि ब्रह्म निमित्त कारण है उपादान नहीं ।

इस सूत्र का दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि "शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्मिन् तच्छास्त्रयोनिस्तस्य भावस्तत्वम्"= योनि का अर्थ "प्रमाण" और शास्त्र जिसमें प्रमाण हो अर्थात् जिस को शास्त्र निमित्तकारणरूप से कथन करे उसको "शास्त्रयोनि" कहते हैं, इस अर्थ में इस अधिकरण का विषयवाक्य यह है किः—

"स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धम-

पापविद्धं कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ-र्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" यजु० ४० । ८

अर्थ—वह परमात्मा पराक्रमयुक्त, शरीररहित, व्रणरहित, नाड़ियों से रहित और पाप के स्पर्श से रहित होकर सर्वत्र व्याप्त है और वह अपनी सत्ता से स्थिर होकर सब पदार्थों को रचता है, इस मन्त्र में स्पष्टरूप से परमात्मा की निमित्तकारणता विधान की है, क्योंकि बुद्धिपूर्वक कर्तृत्व निमित्तकारण में ही पायाजाता है अन्यत्र नहीं, और इसी भाव को ऋग्० २ । ३ । १७ में इसप्रकार वर्णन किया है कि:—

द्वासुपर्णासयुजासखायासमानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥

अर्थ—अनादि प्रकृतिरूप वृक्ष का आश्रय किये हुए दो चेतन हैं जिनमें जीव कर्मफल का भोक्ता और दूसरा ईश्वर अभोक्ता होकर साक्षीरूप से वर्त्तमान है अर्थात् जीव, ईश्वर और प्रकृति यह तीन पदार्थ अनादि हैं, जिनमें प्रकृति जगत् का उपादान-कारण और ईश्वर निमित्तकारण है।

और जो मायावादी ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानकर उसकी सिद्धि में यह प्रमाण देते हैं कि:—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्या-मोषधयः सम्भवन्ति । यथा सतः पुरुषः केशलोमा-नि जायन्ते तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" मुण्ड० १।७

अर्थ-जिस प्रकार मकड़ी अपने आपसे तन्तुओं को उत्पन्न करके अपने में ही लय करलेती है अथवा जैसे पृथिवी से ओषधियां, जीवित पुरुष से केश, लोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है, यहां मकड़ी आदि तन्तु आदि के स्वयं उपादान तथा निमित्तकारण पायेजाते हैं ? उनका यह कथन उक्त श्रुतिवाक्य से विरुद्ध है, क्योंकि मकड़ी चेतनत्वेन निमित्तकारण तथा शरीर द्वारा उपादान कारण है, यदि मकड़ी तन्तु के प्रति अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होती तो उसके मृतशरीर से भी तन्तुओं का निकलना पायाजाता पर ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य में भिन्न २ कारणता इष्ट हैं और इसी भाव को मुण्ड० १।६ में इसप्रकार वर्णन किया है कि:—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रंतदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

अर्थ-जो ब्रह्म रूपादि रहित होने से ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों का विषय नहीं और जो किसी वंश में उत्पन्न न होने के कारण अगोत्र है वही सर्वव्यापक, अतिसूक्ष्म, उपादानादि विकाररहित भूतयोनि=जगत् का निमित्तकारण है, जिसको विवेकी पुरुष ही सर्वत्र ज्ञानदृष्टि से देखते हैं अन्य नहीं, यदि ब्रह्म उपादानकारण होता तो उसको कल्याणगुणों का आकर

कदापि कथन न कियाजाता और नाही उपनिषत्कार उसको अव्ययादि शब्दों से वर्णन करते, परन्तु किया है, इससे सिद्ध है कि ब्रह्म को जगज्जन्मादिकों का निमित्तकारण मानना ही ठीक है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषदार्य्यभाष्य" में कियागया है इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०—ननु-शास्त्रों में नानादेवताओं की उपासना पाईजाती है, इसलिये निराकार ब्रह्म शास्त्र का विषय नहीं होसकता? उत्तरः—

तत्तु समन्वयात् ॥४॥

पद०—तत्। तु। समन्वयात्।

पदा०—(समन्वयात्) समन्वय पायेजाने से (तत्) वह निराकार ब्रह्म ही शास्त्र का विषय है।

भाष्य—सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, "सम्यगन्वयः समन्वयः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः"=उपक्रम तथा उपसंहार की रीति से प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध का नाम "समन्वय" है, वेद तथा सम्पूर्ण आर्षग्रन्थों में एक निराकार ब्रह्म का ही समन्वय पाये जाने से वही शास्त्र का विषय है अर्थात् वेद और उपनिषद् मुख्यतया निराकार ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं नाना देवताओं का नहीं, जेसाकि यजु० १७। १७ में वर्णन किया है कि:—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखोविश्वतोवाहुरुताविश्वतस्पात्।
स वाहुभ्यांधमतिसंपतत्रैर्द्यावाभूमिं जनयन्देव एकः ॥

अर्थ—वह जगदीश्वर जगदुत्पत्ति प्रलय का कारण सर्वतः देखने की सामर्थ्य रखता है, सर्वतः बोलने का सामर्थ्य रखता है, इसी प्रकार सर्व ओर बाहु और पाद का सामर्थ्य रखता है वह अपने वीर्य्य से संसार को उत्पन्न करता हुआ एक देव है, इत्यादि अनेक मन्त्र वेद में पायेजाते हैं जिनमें स्पष्ट लिखा है कि जगदुत्पत्ति प्रलय का कारण एकमात्र परमात्मा ही है, और जो पूर्वपक्षी का यह कथन है कि अग्नि आदि जड़ देवता वेदान्तशास्त्र का विषय हैं, यह इसलिये ठीक नहीं कि समन्वयाध्याय में विस्तारपूर्वक निराकार ब्रह्म में शास्त्र का तात्पर्य्य दिखलाया है जड़देवताओं में नहीं, इसीलिये सूत्रकार ने कहा है कि "समन्वयात्"= वेदान्तशास्त्र में ब्रह्म का ही समन्वय पायाजाता है और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं, इस भाव को सूत्रकार स्वयं समन्वयाध्याय में सिद्ध करेंगे "सहस्रशीर्षापुरुषः" यजु० ३१।१ इत्यादि मन्त्र ब्रह्म के सर्वव्यापक और सर्वाधारत्व के अभिप्राय से हैं और "द्वेवाव ब्रह्मणोरूपेमूर्त्तञ्चैवाऽमूर्त्तञ्च" बृहदा० २।३।१ इत्यादि वाक्य ब्रह्म को मूर्त्तामूर्त्त परस्परविरुद्ध स्वरूप वाला वर्णन नहीं करते किन्तु यह वर्णन करते हैं कि ब्रह्म स्थूल और सूक्ष्म भूतों का स्वामी है और वह इन स्थूल तथा सूक्ष्म भूतों के रूपों से निरूपण किया जाता है, इसलिये उक्त मूर्त्तामूर्त्त भूतों को ब्रह्म का रूप कहा गया है, और वह सच्चिदानन्दस्वरूप

स्वसत्ता से केवल निराकार है, इस विषय में उपनिषदों के सहस्रों प्रमाण हैं, जैसाकिः—

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्। अनाद्यनन्तं महतः परंध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" कठ० ३।१५

अर्थ-वह परमात्मा शब्दरहित होने के कारण श्रोत्रग्राह्य नहीं, त्वचा आदि इन्द्रियों का विषय नहीं और वह परम सूक्ष्म अनन्तादि विशेषणयुक्त है उसको जानकर ही पुरुष मुक्ति को प्राप्त होता है अन्यथा नहीं।

दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणोह्यमनः शुभ्रोह्यक्षरात्परतः परः॥

मुण्ड० २।१।२

अर्थ—वह परमात्मा दीप्तिवाला, मूर्त्तधर्म से रहित, सर्वत्र व्यापक और प्रत्येक पदार्थ के बाहिरभीतर है, उत्पत्ति तथा प्राण रहित है, मन से रहित है, अतएव प्रकाशस्वरूप और प्रकृति से भी परमसूक्ष्म है, इत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म की निराकारता सिद्ध है, इस प्रकार वेदान्तशास्त्र में निराकार ब्रह्म का समन्वय पायेजाने से स्पष्ट है कि वह जगत् का निमित्तकारण है उपादान नहीं।

और जो इस सूत्र के भाष्य में शङ्कर सम्प्रदायी टीकाकारों ने मीमांसा का प्रकरण चलाकर समुच्चयवाद का खण्डन किया है वह सूत्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध है और जो यह सिद्ध किया है कि

वेदान्त में जीव ब्रह्म की एकता का वर्णन पाया जाता है, इस समन्वयप्रदर्शनार्थ यह सूत्र है, उक्त दोनों बातों का यहां गन्धमात्र भी नहीं पाया जाता, क्योंकि तीसरे सूत्र में यह निरूपण किया है कि जगत् के कारण ब्रह्म में शास्त्र प्रमाण है, जिसमें यह पूर्वपक्ष था कि निर्गुणब्रह्म शास्त्र का विषय नहीं किन्तु भिन्न २ देवता और साकारब्रह्म शास्त्र का विषय है ? जिसके उत्तर में यह चौथा सूत्र है, यहां जीव ब्रह्म की एकता का प्रकरण ही क्या, यदि मान भी लियाजाय कि इस सूत्र में सूत्रकार ने यही वर्णन किया है कि जीव ब्रह्म की एकता का समन्वय वेदान्तशास्त्र में पाया जाता है तो इस समन्वयाध्याय में जीव ब्रह्म की एकता का वर्णन होना चाहिये था नकि सब जड़ वस्तुओं का खण्डन करके एक निराकार ब्रह्म को कारण निरूपण किया जाता, इस अध्याय में स्पष्टरूप से अग्नि, वायु, आकाशादिकों की कारणता का खण्डन करके निराकार ब्रह्म को कारण निरूपण किया गया है, जिसका विषय वाक्य यह है कि:—

"एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च" श्वेता० ६ । ११

अर्थ—सच्चिदानन्दादि दिव्यगुणयुक्त होने से देव परमात्मा सब भूतों में छिपा हुआ है, वह सर्वव्यापक सब भूतों का अन्तर्यामी, पुण्य पाप रूप फल देने का स्वामी, सब भूतों का अधिष्ठान, साक्षी चेतन और केवल निर्गुण है, इस प्रकार इस सूत्र क उक्त विषय वाक्य से प्रतिपादित ब्रह्म की जगत्कारणता बोधन की गई है, इसलिये वह शास्त्र का विषय है, और जो कर्मोपासन

का खण्डन करके इस सूत्र को मुक्तिपरक लगाया है यह उनकी खेंच है, इसलिये निराकार ब्रह्म ही शास्त्र का विषय होसक्ता है अन्य नहीं।

सं०—अब निराकार ब्रह्म में शास्त्र का समन्वय कथन करते हैं:—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

पद०—ईक्षतेः। न। अशब्दम्।

पदा०—(ईक्षतेः) इच्छा पायेजाने से (अशब्दं) ब्रह्म शब्दप्रमाण रहित (न) नहीं।

भाष्य—"न शब्दः प्रमाणं यस्मिंस्तदशब्दम्"=जिस में शब्दप्रमाण न हो उसको "अशब्द" कहते हैं, शब्दप्रमाण से सृष्टि रचने की इच्छा चेतन में पायेजाने के कारण ब्रह्म शब्दप्रमाण रहित नहीं, जैसाकि "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" छा० ६।२।३=उसने इच्छा की कि मैं बहुत संसार रचना वाला होकर जगत् में व्याप्त होऊं, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि उक्त ब्रह्म में ही शास्त्र का समन्वय है, इच्छा वाला कथन करने से सूत्रकार का अभिप्राय यह है कि नाना प्रयोजनवाला यह जगत् किसी जड़ पदार्थ से स्वाभाविक ही नहीं बना किन्तु चेतन कर्त्ता की इच्छा से इस जगत् के सूर्य्यादि लोकों में आकर्षण, प्रकाशन और औष्ण्य प्रदानादि प्रयोजन रक्खे गये हैं जिससे चेतन ही कर्त्ता सिद्ध होता है जड़ नहीं।

कई एक भाष्यकारों ने इस सूत्र के यह अर्थ किये हैं कि नहीं है

शब्दप्रमाण जिसमें उसको "अशब्द" कहते हैं, सो ऐसा सांख्य-मत प्रकल्पित प्रधान जगत् का कारण नहीं होसक्ता, यह अर्थ महर्षि व्यास के अभिप्रायानुकूल नहीं, क्योंकि उन्होंने कोई सूत्र सांख्य-मत की प्रकृति के विरुद्ध नहीं कहा, और ब्रह्म को निर्विकार मानना भी तभी ठीक होसक्ता है जब जगत् का उपादान कारण प्रकृति मानीजाय, और सूत्रकार ने भी प्रकृत्यधिकरण में प्रकृति को उपादान कारण माना है फिर उसका खण्डन कैसे करसकते थे, अतएव सिद्ध है कि यहां प्रकृति की निमित्तकारणता का खण्डन है उपादान कारणता का नहीं।

सं०-ननु "तत्तेज ऐक्षत" इत्यादि वाक्यों द्वारा जड़ में इच्छा कथन कीगई है, फिर कैसे कहाजाता है कि जड़ में इच्छा नहीं ? उत्तरः—

गौणश्चेन्नात्म शब्दात् ॥६॥

पद०-गौणः । चेत् । न । आत्मशब्दात् ।

पदा०-(चेत्) यदि (गौणः) जड़ पदार्थों में गौण इच्छा मानकर अपना पक्ष सिद्ध करो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (आत्मशब्दात्) उक्त प्रकरण में आत्मा शब्द पायाजाता है।

भाष्य-तत्तेज ऐक्षन्त, ता आप ऐक्षन्त" छान्दो० ६ । २ । ३=तेज ने इच्छा की, जल ने इच्छा की, इत्यादि वाक्यों में तेजोगत तथा जलगत गौण इच्छा की भांति प्रकृति में गौण इच्छा मानकर उसको स्वतन्त्रकारण मानना ठीक नहीं, क्योंकि उस प्रकरण में "आत्मा" शब्द पाया जाता है, जैसाकि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'

छान्दो० ६ । ३ । २=इस जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके नामरूप को करूं, यह कथन तभी सङ्गत होसक्ता है जब ईक्षणकर्त्ता चेतन हो, क्योंकि जड़ पदार्थ के लिये "आत्मा" शब्द का प्रयोग नहीं होसक्ता, अतएव सिद्ध है कि परमात्मा ही इस जगत् का निमित्तकारण है प्रकृति नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

पद०—तन्निष्ठस्य । मोक्षोपदेशात् ।

पदा०—(तन्निष्ठस्य) उस आत्मा में निष्ठावाले पुरुष के लिये (मोक्षोपदेशात्) मोक्ष का उपदेश पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति" छा० ६ । १४ । २=उस पुरुष के लिये तभी तक चिर है जबतक वह मुक्त नहीं होता अर्थात् जबतक उसके प्रारब्ध कर्म क्षय नहीं होते तब तक ही उसकी मुक्ति में बिलम्ब है, इस वाक्य में पूर्वप्रकृत आत्मा के ज्ञान से मुक्ति का उपदेश कथन कियागया है और:—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यःपन्थाविद्यतेऽयनाय॥

यजु० ३१ । १८

अर्थ—वह महान् परमात्मा जो आदित्यवर्ण=स्वतःप्रकाश है उसको जानकर ही पुरुष अतिमृत्यु=मोक्ष को प्राप्त होता है

अन्यथा नहीं, इससे यह भी पाया गया कि परमात्मज्ञान से ही मोक्ष होती है जड़ परायण होने से नहीं, इससे सिद्ध है कि यह चेतन कर्त्ता का ही प्रकरण है जड़ का नहीं ॥

सं०–अब और हेतु कथन करते हैं:—

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

पद०–हेयत्वावचनात् । च ।

पदा०–(च) और (हेयत्वावचनात्) हेयत्व वचन के न पाये जाने से भी सिद्ध है कि यहां जड़ का प्रकरण नहीं ।

भाष्य–यदि जड़ प्रकृति द्वारा मोक्ष होने का प्रकरण होता तो अरुन्धति न्याय से उसको "हेय" कथन किया जाता पर ऐसा कथन न करके "तस्य तावदेव चिरम्" इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को उपादेय कथन किया है, अतएव उसी का प्रकरण है जड़ का नहीं ।

सं०–अब निम्नलिखित तीन सूत्रों से उक्त अर्थ को स्पष्ट कहते हैं:—

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

पद०–एकपद०—

पदा०–(स्वाप्ययात्) परमात्मा में लय सुने जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य–"सतासोम्य तदा सम्पन्नो भवति" छा०

६।८।१ इत्यादि वाक्यों द्वारा उसी चेतनरूप सत् कारण में लय कथन किया गया है, क्योंकि जीवात्मा का जड़ प्रकृति में लय होना नहीं बनसक्ता, इससे भी चेतन ही जगत् का कारण पाय।जाता है जड़ नहीं।

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(गतिसामान्यात्) उपनिषदों में सर्वत्र चेतन कर्त्ता की ही गति पायेजाने से प्रकृति निमित्तकारण नहीं।

भाष्य-उपनिषदों में सर्वत्र चेतन ही निमित्तकारण कथन कियागया है, जैसाकि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" तैत्ति० २।१=उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ "आत्मन एवेदं सर्वम्" छा० ७।२६।१= आत्मा से ही यह सब उत्पन्न हुआ "आत्मन एष प्राणो जायते" प्रश्न० ३।३=आत्मा से ही प्राण उत्पन्न हुए, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि प्रकृति स्वतन्त्रकारण नहीं, इसी भाव को मुण्ड० १।९ में इस प्रकार वर्णन किया है किः—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते ॥

अर्थ-जिस सर्वज्ञ का ज्ञानरूप तप है उसी परब्रह्म परमात्मा से यह ब्रह्म नाम विराट्रूप जगत् उत्पन्न हुआ है, इत्यादि प्रमाणों से सर्वत्र चेतनकर्त्ता की ही गति पाई जाती है,इसी अभिप्राय

से श्वेता० ६।९ में भी वर्णन किया है किः—

नतस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्। सकारणं करणाधिपाधिपो नतस्य कश्चिज्जानिता न चाधिपः॥

अर्थ—उसका जगत् में कोई स्वामी नहीं, न कोई प्रेरक और न उसका साकार पदार्थों की भांति कोई चिह्न है, वह सब का कारण तथा करणाधिपाधिपः=जीवों का भी स्वामी है, उसका कोई उत्पन्न करने वाला नहीं, अतएव सिद्ध है कि ब्रह्म ही जगत् का कर्त्ता है प्रकृति नहीं।

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

पद०—श्रुतत्वात्। च।

पदा०—(च) और (श्रुतत्वात्) वेद में सुने जाने से ब्रह्म ही जगत् का कर्त्ता है।

भाष्य—वेद ब्रह्म को ही जगत् का कर्त्ता प्रतिपादन करता है, जैसाकि "ततो विराडजायत्" यजु० ३१।५=उसी परमात्मा से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ, इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध है कि परमपिता परमात्मा ही जगत् का निमित्तकारण है, स्वभाववादी चारवाक की मानी हुई जड़प्रकृति स्वतन्त्र कारण नहीं।

सं०—अब ब्रह्म को जीव से भिन्न कथन करते हैंः—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

पद०—आनन्दमयः। अभ्यासात्।

पदा०-(अभ्यासात्) अभ्यास पायेजाने से (आनन्दमयः) परमात्मा आनन्दमय है।

भाष्य-आनन्दमय केवल ईश्वर है जीव नहीं, क्योंकि उपनिषदों में पुनः २ ईश्वर को ही आनन्दमय कथन किया है, जैसाकि "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः" तैत्ति० ब्रह्मा० ५। ११=उस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न परमात्मा आनन्दमय है, इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है।

ननु-इस अधिकरण के विषय वाक्यों में यह सन्देह होता है कि "आनन्दमय" पद जीव का वाचक है किंवा ब्रह्म का? यहां प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन है कि "तस्यैष एव शारीर आत्मा" इस वाक्यशेष से आनन्दमय के साथ शरीर सम्बन्ध पाये जाने के कारण प्रकृत में उक्त पद शारीर जीवात्मा का वाचक है? इसका सिद्धान्ती यह समाधान करता है कि उक्त वाक्य से लेकर "यतोवाचो निवर्त्तन्ते"=जहां मन बाणी की गति नहीं, इस वाक्य पर्य्यन्त उत्तरोत्तर मनुष्य, देव तथा गन्धर्वादिकों के आनन्द की अपेक्षा सौगुणा अधिक कल्याण गुणाकर ब्रह्म का आनन्द वर्णन किया गया है, इसलिये वही आनन्दमय होसक्ता है जीव नहीं।

और तर्क यह है कि "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय"

छा० ६ । २ । ३=उसने सङ्कल्प किया कि मैं बहुत रूप होजाऊं, इसी सङ्कल्प से "तत्तेजोऽसृजत" छान्दो० ६।२।३=उसने तेज को उत्पन्न किया, इत्यादि वाक्यों में जो सङ्कल्पपूर्वक सृष्टिरचना पाईजाती है वह अल्पज्ञ जीव मे नहीं होसक्ती और मुक्त जीव का ऐश्वर्य्य सातिशय होने के कारण वह भी जगज्जन्मादिकों का हेतु नहीं होसक्ता, जैसाकि "जगद्व्यापार वर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" ब्र० सू० ४ । ४ । १७ इत्यादि सूत्रों में वर्णन कियागया है, जब सृष्टि निर्माणादि का मुक्तों में अभाव कथन किया है तो फिर साधारण पुरुषों की तो कथा ही क्या, इससे सिद्ध है कि आनन्दमय केवल परमात्मा ही है जीव नहीं।

सं०-ननु-ब्रह्म भी आनन्दमय नहीं होसक्ता, क्योंकि "मयट्" प्रत्यय विकार में होता है ? उत्तरः—

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

पद०-विकारशब्दात् । न । इति । चेत् । न । प्राचुर्यात् ।

पदा०-(विकारशब्दात्) विकारवाची आनन्दमय शब्द के पायेजाने से ब्रह्म निर्विकार (न) न रहेगा (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (प्राचुर्यात्) "मयट्" प्रचुर अर्थ में आया है।

भाष्य-ब्रह्म का विकारी होना इसलिये ठीक नहीं कि प्रकृत में "आनन्दमय" पद विकारार्थक मयट् प्रत्ययान्त नहीं किन्तु "तत्प्रकृत वचने मयट्" अष्टा० ५।४।२१ इस सूत्र से प्रचुर

अर्थ में मयट् प्रत्यय किया है जिसके अर्थ निरतिशय आनन्द के हैं, इससे सिद्ध है कि निरतिशय आनन्दवाले परमात्मा को ही आनन्दमय मानना सङ्गत है जीव को नहीं, प्रचुर, प्रभूत, निरतिशय, अधिक, यह सब पर्य्याय शब्द हैं।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :—

तद्धेतु व्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

पद०—तद्धेतुव्यपदेशात् । च ।

पदा०—(च) और (तद्धेतुव्यपदेशात्) परमात्मा को आनन्द का हेतु कथन कियेजाने से भी जीव आनन्दमय नहीं।

भाष्य—"रसंह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" तैत्ति० २।७= ब्रह्म को प्राप्त होकर ही जीव आनन्द होता है, इत्यादि वाक्यों में जीव को ब्रह्मप्राप्तिद्वारा आनन्दलाभ कथन कियागया है, यदि जीव स्वयं आनन्दमय होता तो ब्रह्मप्राप्तिद्वारा उसको आनन्दित कथन न कियाजाता, इससे सिद्ध है कि ब्रह्म ही आनन्दमय है जीव नहीं।

सं०—अब वेद द्वारा ब्रह्म को आनन्दमय कथन करते हैं :—

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

पद०—मान्त्रवर्णिकं । एव । च । गीयते ।

पदा०—(च) और (मान्त्रवर्णिकं) मन्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्म (एव) ही (गीयते) गायाजाता है।

भाष्य—जिस ब्रह्म को वेद में आनन्दस्वरूप कथन

कियागया है उसी को उपनिषदों में "आनन्दमय" वर्णन किया है; जैसाकि "कस्मैदेवाय हविषा विधेम" यजु० १.३ । ४= उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म की उपासना करें, "नमः शम्भवाय च मयोभवाय च" यजु० १६ । ४०=उस सुख के देनेवाले आनन्दस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है. इत्यादि मंत्रों में परमात्मा को आनन्दस्वरूप वर्णन किया है और उसी को "तस्माद्वा एतस्मा०" तैत्ति० ५ । १.१=इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में उपनिषत्कार आनन्दमय शब्द से प्रतिपादन करते हैं, वही अपने आनन्द से सबको आनन्दित करता है, इसलिये जीव को आनन्दमय मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब जीव में आनन्द की अनुपपत्ति कथन करते हैं:—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६॥

पद०— न । इतरः । अनुपपत्तेः ।

पदा०—(अनुपपत्तेः) कोई युक्ति न पायेजाने से (इतरः) जीव आनन्दस्वरूप (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—जीव के आनन्दस्वरूप होने में कोई युक्ति नहीं पाई जाती, यदि वह आनन्दस्वरूप होता तो संसार में दुःख का अभाव पायाजाता पर संसार में नाना दुःखों की उपलब्धि पाये जाने से स्पष्ट है कि ईश्वर के आनन्द से ही जीव आनन्दित होता है स्वतन्त्र सत्ता से आनन्दस्वरूप नहीं, जैसाकि स्वा०शङ्कराचार्य्य जी ने भी लिखा है कि "इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा

नेतरः, इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः" शं० भा० १।१।१६=ब्रह्म ही आनन्दमय है उससे भिन्न जो जीव है वह आनन्दमय नहीं, इस सूत्र के भाष्य में उक्त स्वामीजी ने जीव ब्रह्म के भेद को बिना किसी ननु नच के स्पष्ट माना है, स्वामी रामानुज इस सूत्र के यह अर्थ करते हैं कि मुक्त जीव भी ब्रह्म के समान आनन्दवाला नहीं होता, यद्यपि मुक्तजीव और संसारीजीव विषयक यहां दोनों भाष्यकारों के मत में कुछ अर्थभेद है तथापि जीव ईश्वर के भेद में दोनों आचार्य्यों के मत में यह सूत्र भेदवाद को सिद्ध करता है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

पद०—भेदव्यपदेशात्। च।

पदा०—(च) और (भेदव्यपदेशात्) जीव ब्रह्म का भेद पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने इस सूत्र के भाष्य में जीव ब्रह्म के भेद को इसप्रकार अविद्याकृत माना है कि जैसे घटोपाधिवाले घटाकाश से महाकाश भिन्न होता है इसी प्रकार जीव ईश्वर का अविद्या उपाधिकृत भेद है वास्तव भेद नहीं, परन्तु ईश्वर का अविद्या उपाधि से भूलकर जीव बनजाना ब्रह्मसूत्रों में कहीं भी नहीं पाया जाता, इससे सिद्ध है कि स्वा० शं० चा० जी ने अपनेमायावाद की सिद्धि के लिये उक्त भाष्य किया है,

जहां २ सूत्रकार जीव ईश्वर के भेद को कथन करते हैं वहां २ सर्वत्र अद्वैतवादी भाष्यकार की यही शैली है कि वह अविद्या के आश्रय से जीव ब्रह्म की एकता का मण्डन करते हैं, पर स्मरण रहे कि इस आनन्दमयाधिकरण के आठो सूत्रों में माया, अविद्या का कहीं नाम तक नहीं पायाजाता, प्रत्युत इस अधिकरण में जीव ब्रह्म का भेद स्पष्टतया वर्णन कियागय है, और श्रीभाष्याचार्य्य रामानुज ने भी इस अधिकरण को भेदपरक ही लापन किया है।

सं०—अब जीव में आनन्द के अनुमान का निषेध करते हैं:—

कामाच्चनानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

पद०—कामात् । च । न । अनुमानापेक्षा ।

पदा०—(च) और (कामात्) जीव में आनन्द की कामना पायेजाने से (अनुमानापेक्षा) अनुमान द्वारा कल्पना करने की आवश्यक्ता (न) नहीं।

भाष्य—"जीव आनन्दमयश्चित्त्वादीश्वरवत्"= जो चेतनस्वरूप होता है वह आनन्दस्वरूप होता है, इस नियमासार जिसप्रकार चेतन होने से ब्रह्म आनन्दमय है इसी प्रकार चैतन्यधर्म के पाये जाने से जीव भी आनन्दस्वरूप है, इस अनुमान से जीव का आनन्दस्वरूप होना इसलिये ठीक नहीं कि जीव में आनन्दलाभ करने की कामना पाईजाती है, यदि वह आनन्द-स्वरूप होता तो सुखोपलब्धि के लिये कदापि यत्न न करता पर करता है, इसमे उक्त अनुमान बाधित होने के कारण स्पष्ट है

कि जीव आनन्दमय नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से कथन करते हैं:—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१९॥

पद०-अस्मिन् । अस्य । च । तद्योगं । शास्ति ।

पदा०-(च) और (अस्मिन्) ब्रह्म में (अस्य) जीव का (तद्योगं) आनन्द के साथ योग (शास्ति) शास्त्र कथन करता है।

भाष्य-ब्रह्म में जीव का आनन्द के साथ योग शास्त्र कथन करता है, जैसाकि:—

"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति, यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति" तैत्ति० ब्रह्मा० ७।१८

अर्थ-जब यह जीव अदृश्य=इन्द्रियागोचर, अनात्म्य=इन्द्रियादि अवयव रहित ब्रह्म में अभयरूप प्रतिष्ठा पाता है तब अभय को प्राप्त होता है और जब उसमें थोड़ा भी भिन्न रहता है अर्थात् अपनी चित्तवृत्ति का भेद करता है तब उसको भय होता है, इत्यादि वाक्यों में परमात्मयोग से जीव के संसाररूप भय की निवृत्ति तथा भिन्नता से भय निरूपण किया है, जिससे सिद्ध है कि जीवात्मा आनन्दमय नहीं ।

इस सूत्र के भाष्य में स्वा० रामानुज यों लिखते हैं कि "आनन्दीभवतीत्युच्यमाने यल्लाभाद्य आनन्दी

भवति स स एवेत्यनुन्मत्तःकोऽब्रवीति"=उस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को लाभ करके जीवात्मा आनन्दवाला होता है पर यह कथन किये जाने पर कि जिसके आनन्दलाभ से जो आनन्दवाला होता है वह भी आनन्दस्वरूप होने से ब्रह्म है, इस प्रकार उन्मत्त पुरुष के बिना अन्य कौन कह सक्ता है अर्थात् ब्रह्म के आनन्द से आनन्दित होने वाला जीव ब्रह्म कदापि नहीं होसक्ता और जो उसको ब्रह्म कथन करते हैं वह उन्मत्तप्रलापी हैं।

सं०—ब्रह्म को आनन्दमय सिद्ध करके अब पूर्वप्रकृत निराकार ब्रह्म में शास्त्र का समन्वय दर्शाने के लिये अन्तराधिकरण का आरम्भ करते हैं:—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

पद०—अन्तः। तद्धर्मोपदेशात्।

पदा०—(तद्धर्मोपदेशात्) परमात्मसम्बन्धी धर्मों का उपदेश पाये जाने से (अन्तः) आदित्य में हिरण्मय पुरुष परमात्मा है।

भाष्य—परमात्मसम्बन्धी धर्म उससे बिना अन्य किसी में नहीं होसक्ते, इसलिये हिरण्मयादि पद परमेश्वर की स्वयंप्रकाशता को बोधन करते हैं, जैसाकि:—

"अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्वएव सुवर्णः"

छां० १।६।६

अर्थ—जो आदित्य में हिरणमय पुरुष है वह सुवर्ण की दाढ़ीवाला सुनहरी केशोंवाला और नख से लेकर सम्पूर्ण सुवर्णमय है, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण के विषय वाक्य हैं, यहां यह सन्देह होता है कि सूर्य्यमण्डल में वस्तुतः आकारवाला कोई देवविशेष उपास्य है किंवा परमात्मा ? यहां प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन है कि "अथाकारचिन्तनं देवानां पुरुषविधाःस्युः"=देवताओं के आकारचिन्तन का आरम्भ करते हैं, वह देवता पुरुषों के समान आकार वाले होते हैं, इत्यादि वाक्यों द्वारा अन्य वेद सम्बन्धी शास्त्रों में देवों का आकार पाया जाता है, इसलिये वेदसम्बन्धी उपनिषद् वाक्यों में भी उक्त आकार के पायेजाने से सूर्य्यलोक का अधिष्ठाता साकार विशेष उपास्य है ईश्वर नहीं, क्योंकि निराकार होने से उनमें हिरण्यश्मश्रु आदि पदों की सङ्गति नहीं होसक्ती अथवा उक्त हिरण्य केशादि पदों के पायेजाने से साकारब्रह्म ही वेदान्त का विषय है निराकार नहीं ! इसका उत्तर यह है कि "तस्य धर्माः तद्धर्माः ज्योतिर्मयत्वादयस्तदुपदेशादादित्यमण्डले परमात्मैवोपास्यो नान्यः कश्चिद्देवविशेषो नापि स्वमतिपरिकल्पितं साकारंब्रह्म"=आदित्य पुरुष के भीतर परमात्मसम्बन्धी ज्योतिर्मयत्वादि धर्मों के पायेजाने से निराकार ब्रह्म ही उपास्य देव है उससे अतिरिक्त कोई देवविशेष वा पौराणिक साकारब्रह्म

नहीं अर्थात् हिरण्मयादि विशेषण केवल अलङ्काररूप से ईश्वर की स्वयंप्रकाशता बोधन करने के लिये दिये गये हैं साकारता के अभिप्राय से नहीं, जैसाकि स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने इसी सूत्र के भाष्य में वर्णन किया है कि "नच परमेश्वरस्यरूपवत्त्वं युक्तमशब्दास्पर्शमरूपमव्ययमितिश्रुतेः"= परमेश्वर रूपवाला नहीं होसक्ता, क्योंकि उसको श्रुतिवाक्यों में शब्द, स्पर्श, रूपादिकों से रहित अव्यय प्रतिपादन किया है, इसलिये आदित्यमण्डल में निराकार ब्रह्म का मानना ही समीचीन है।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

पद०-भेदव्यपदेशात्। च। अन्यः।

पदा०-(च) और (भेदव्यपदेशात्) आदित्य से ब्रह्म का भेद पायेजाने के कारण (अन्यः) आदित्यभिन्न ब्रह्म ही उपास्य है।

भाष्य-अन्तर्यामी ब्राह्मण में आदित्यमण्डल तथा उसके नियन्ता का भेद वर्णन कियागया है, जैसाकि:—

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्याऽऽदित्यः शरीरं। य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ॥ बृहदा० ३।७।९

अर्थ-जो आदित्य में रहता है जिसको आदित्य नहीं जानता जिसका आदित्य शरीर है और जो आदित्य के अन्तर व्यापक

होकर उसको नियम में रखता है वही तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है,इसी प्रकार जो सूर्य्य में रहता है और जिनको सूर्य्य जड़ होने के कारण नहीं जानता, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट सिद्ध है कि आदित्यपुरुष से सूर्य्य की उपासना नहीं पाईजाती किन्तु ज्योतिर्मय ब्रह्म की ही पाईजाती है।

सं०-अब छान्दोग्य पठित "आकाश" शब्द से ब्रह्म का ग्रहण कथन करते हैं:—

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२॥

पदा०-आकाशः। तल्लिङ्गात्।

पदा०-(तल्लिङ्गात्) जगदुत्पत्ति आदि ब्रह्म के लिङ्ग पाये जाने से (आकाशः) आकाश ब्रह्म का नाम है।

भाष्य-जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय आदि ब्रह्म के लिङ्ग पाये जाने से यहां आकाश ब्रह्म का नाम है, जैसाकि "आसमन्तात्काशते प्रकाशते सूर्य्यादीन्यः स आकाशः"=जो सूर्य्यादि लोकों का प्रकाशक हो उसको "आकाश" कहते हैं, सो सूर्य्यादि लोकों का प्रकाशक ब्रह्म आकाश शब्द वाच्य है, इसी भाव को छान्दो० १।९।१ में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

आकाश इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशदेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥

अर्थ-आकाश से ही सब भूत उत्पन्न होते, आकाश में ही लय होते, आकाश ही इन सब से बड़ा और सब का यही अधिकरण है, इत्यादि वाक्यों में जगज्जन्मादि ब्रह्म के लिङ्ग पाये जाने से "आकाश" शब्द ब्रह्म का वाची है, क्योंकि सब लोकों का प्रकाशक=उत्पत्तिकर्त्ता परमात्मा ही है अन्य नहीं, इसलिये आकाश से ब्रह्म का ग्रहण करना ही समीचीन है।

सं०-अब प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण कथन करते हैं:—

अतएव प्राणः ॥ २३ ॥

पद०-अतएव। प्राणः।

पदा०-(अतएव) पूर्वोक्त हेतुओं के पायेजाने से (प्राणः) प्राण ब्रह्म का वाचक है।

भाष्य-"आकाश" शब्द की न्याईं "प्राण" शब्द भी ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि इसमें भी पूर्वोक्त हेतु पायेजाते हैं, जैसाकि:—

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते॥
छान्दो० १।११।५

अर्थ-यह सम्पूर्ण प्राणी प्राण से ही प्रकट होते और उसी में लय होते हैं, इत्यादि वाक्यों में प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है, क्योंकि उत्पत्ति आदि लिङ्ग ब्रह्म से भिन्न प्राण, अपानादिकों में नहीं होसक्ते, इसी अभिप्राय से बृहदा० ४।४।१८ में ब्रह्म को "प्राणस्यप्राणम्"=प्राण का भी प्राण कथन कियागया है,

अतएव सिद्ध है कि प्राण नाम ब्रह्म का है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "छान्दोग्यार्य्यभाष्य" के इसी स्थल में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

सं०—अब परमात्मा को "ज्योतिः" शब्द से कथन करते हैं:—

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

पद०—ज्योतिः । चरणाभिधानात् ।

पदा०—(चरणाभिधानात्) चार पाद कथन कियेजाने से (ज्योतिः) ज्योति शब्द ब्रह्म का वाचक है ।

भाष्य—"अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते०" छान्दो० ३ । १३ । ७=गायत्री वर्णन के अनन्तर स्वर्गलोक से ऊपर जो प्रकाशमान ज्योति है वही ज्योति पुरुष के अन्तर है, इस वाक्य में यह सन्देह है कि "ज्योतिः" शब्द सूर्य्यादि ज्योति का वाचक है किंवा परमात्मा का वाचक है ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये इस अधिकरण का प्रारम्भ किया गया है कि चारपाद कथन किये जाने से प्रकृत में ज्योतिः नाम ब्रह्म का है जैसाकिः—

एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥

यजु० ३१ । ३

अर्थ—यह सब संसार उस पुरुष का महत्व है, वह इससे बड़ा है, विश्व के सब भूत इसके एकपाद स्थानीय और तीन पाद

अमृतरूप हैं, इस प्रकार चार पाद कथन किये जाने से ज्योति शब्द यहां ब्रह्म का बोधक है, यही मंत्र छान्दो० ३।१२।६ में उद्धृत कियागया है जिसकी विशेष व्याख्या वहीं "छान्दोग्यार्य्यभाष्य" में देखलें।

सं०—ननु, गायत्री छन्द के भी चारपाद कथन कियेगये हैं फिर ज्योतिः शब्द से गायत्री का ग्रहण क्यों नहीं? उत्तरः—

छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पण-निगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

पद०—छन्दोभिधानात्। न। इति। चेत्। न। तथा। चेतोऽर्पणनिगदात्। तथा। हि। दर्शनम्।

पदा०—(छन्दोभिधानात्) छन्द के कथन कियेजाने से प्रकृत में ज्योतिः शब्द ब्रह्म का वाचक (न) नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (तथा, चेतोऽर्पणनिगदात्) गायत्री द्वारा ब्रह्म में चित्त का अर्पण करना कथन किया है, और (हि) निश्चय करके (तथा) ऐसा ही (दर्शनं) शास्त्र विधान करते हैं।

भाष्य—"गायत्री वा इदं सर्वमिति" छान्दो० ३।१२।१= यह सब कुछ गायत्री है, इस पूर्व वाक्य से गायत्री छन्द का उपक्रम करके उपसंहार में "सैषा चतुष्पदा गायत्री"= यह चतुष्पाद् गायत्री है, इस प्रकार गायत्री के चारपाद कथन

किये हैं, अतएव यहां ब्रह्म का प्रकरण न होने से "ज्योति" शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं होसक्ता? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि इस प्रकरण में गायत्री द्वारा ब्रह्म में चित्त का स्थिर करना पायाजाता है और ब्रह्म ही व्यापक होने से सर्वात्मक होसक्ता है अक्षरस्थ गायत्री नहीं, इसलिये यह ब्रह्म का प्रकरण होने के कारण प्रकृत में ज्योतिः शब्द ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य पदार्थ का वाचक नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:—

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

पद०-भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः। च। एवम्।

पदा०-(च) और (भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः) भूत आदि चार पादों का व्यपदेश पाये जाने से भी (एवं) उक्त अर्थ की ही सिद्धि होती है।

भाष्य-पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि"=पृथिवी आदि भूत ईश्वर के एकपादस्थानीय और तीन पाद अमृतरूप हैं, इस मंत्र में जो पृथिवी आदि भूतों को ईश्वर का एकपादस्थानीय कथन किया है वह ब्रह्मपक्ष में ही घटसक्ता है अन्यत्र नहीं, क्योंकि अक्षररूप गायत्री जगत् का आधार नहीं होसक्ती, इसलिये ज्योतिः शब्द को छन्द अर्थ में ग्रहण करना सर्वथा असङ्गत है।

सं०-अब २४ वें सूत्र के भाष्य में वर्णित "यदतः परो-

दिवो०" और "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इन दोनों विषय-वाक्यों के परस्परविरोध का परिहार करते हैं:—

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्य-विरोधात् ॥२७॥

पद०—उपदेशभेदात् । न । इति । चेत् । न । उभयस्मिन् । अपि । अविरोधात् ।

पदा०—(उपदेशभेदात्) उपदेशभेद से ब्रह्म का ग्रहण (न) नहीं कियाजासक्ता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (उभयास्मिन्) उक्त दोनों वाक्यों में (अपि) ही (अविरोधात्) विरोध नहीं ।

भाष्य—"यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते"=द्युलोक से परे दिव्यस्वरूप ज्योति विराजमान है,इस वाक्य में "दिव"शब्द का पञ्चमी विभक्ति द्वारा ज्योति का द्युलोक से परे होना कथन किया है और "त्रिपादस्यामृतं दिवि"=द्युलोक में तीन पाद अमृत हैं, इस वाक्य द्वारा द्युलोक को ज्योति का आधार कथन किया है, इस प्रकार दोनो वाक्यों में विरोध होने के कारण प्रकृत में "ज्योति" शब्द से ब्रह्म का ग्रहण नहीं होसक्ता ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि उक्त विरोध आभासमात्र हैं अर्थात् जिसप्रकार लोक में वृक्ष के अग्रभाग सम्बन्धी पक्षी का पंचमी तथा सप्तमी दोनों विभक्तियों द्वारा कथन पाया जाता है, जैसाकि "वृक्षाग्रे पक्षी"=वृक्ष के अग्रभाग में पक्षी है अथवा 'वृक्षागात्

परतः पक्षी"=वृक्ष के अग्रभाग से परे पक्षी है, जिसप्रकार यह विरोध विरोधाभास है इसी प्रकार एक ही "ज्योति" शब्द का उक्त दोनों प्रकार से कथन पायेजाने पर भी ब्रह्म के परामर्शक होने में कोई बाधा नहीं ।

सं०—अब प्राणाधिकरण द्वारा इन्द्रप्रतर्दन संवादगत "प्राण" शब्द से ब्रह्म का ग्रहण कथन करते हैं:—

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

पद०—प्राणः । तथा । अनुगमात् ।

पदा०—(प्राणः) प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है, क्योंकि (तथा, अनुगमात्) पूर्वापर प्रकरण से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य—कौषीतकी ब्राह्मण में जो इन्द्र प्रतर्दन का संवाद आया है वहां "प्राण" शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है भौतिक प्राण वाय्वादि पदार्थों का नहीं, क्योंकि विचारपूर्वक देखने से पूर्वोत्तर प्रकरण ब्रह्मविषयक अर्थ में ही सङ्गत होता है अर्थात् इन्द्र ने राजा प्रतर्दन को कहा कि "**प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतामित्युपास्व**" कौषी० ३ । २=मैं प्राणरूप प्रज्ञात्मा हूं, तुम मेरी उपासना करो, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, यहां यह सन्देह होता है कि "प्राण" शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है किंवा प्राणवायु का ? इसका उत्तर यह है कि "**तुममेरी उपासना करो**" इस वाक्यशेष से ईश्वर की ही उपासना का विधान किया है प्राणवायु की नहीं, यदि यहां प्राणवायु का

ग्रहण होता तो पूर्वोत्तर प्रकरण से ब्रह्म की उपासना न पाईजाती, इससे सिद्ध है कि यहां प्राण शब्द ब्रह्म के अभिप्राय से आया है प्राणवायु के अभिप्राय से नहीं ।

सं०—ननु, "इन्द्र" शब्द से पौराणिक देवताविशेष की उपासना क्यों न मानीजाय ? उत्तरः—

न वक्तुरात्मोपदेशादितिचेदध्यात्मसम्बन्ध भूमाह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

पद०—न । वक्तुः । आत्मोपदेशात् । इति । चेत् । अध्यात्मसम्बन्धः । भूमा । हि । अस्मिन् ।

पदा०—(वक्तुः) वक्ता इन्द्र का (आत्मोपदेशात्) अपने आत्मा को लक्ष्य रखकर उपदेश किये जाने से ब्रह्म का ग्रहण (न) नहीं होसक्ता (इति, चेत्) यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि (हि) निश्चयकरके (अस्मिन्) इस प्रकरण में (अध्यात्मसम्बन्धः, भूमा) परमात्मा के साथ विशेष सम्बन्धमानकर उपासना का विधान कियागया है ।

भाष्य—वक्ता इन्द्र ने अपने आत्मा का उपदेश नहीं किया किन्तु परमात्मा के साथ विशेषसम्बन्ध प्राप्त करके उसी की उपासना कथन की है अर्थात् परमपिता परमात्मा की ओर से उपासना करने की आज्ञा दी है, इसलिये "इन्द्र" शब्द से पौराणिक देवताविशेष की उपासना मानना ठीक नहीं, इसी अभिप्राय से स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने अपने भाष्य में कथन किया

है कि "ब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेशः"= इस प्रकरण में ब्रह्म का उपदेश किया गया है किसी देवता विशेष का नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ को दृष्टान्त से उपपादन करते हैं:—

शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

पद०-शास्त्रदृष्ट्या। तु। उपदेशः। वामदेववत्।

पदा०-(वामदेववत्) वामदेव की भांति (शास्त्रदृष्ट्या) शास्त्रदृष्टि द्वारा (उपदेशः) परमात्मा की ओर से उपदेश है।

भाष्य-सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, शास्त्रद्वारा होने वाले निर्भ्रान्त ब्रह्म साक्षात्कार का नाम "शास्त्रदृष्टि" है, जिसप्रकार शास्त्रदृष्टि से वामदेव ने परमात्मा के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके यह कथन किया है कि "अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेति" बृहदा० १।४।१०=मैं मनु हूं, मैं ही सूर्य्य हूं, इत्यादि, इसीप्रकार अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके इन्द्र ने उपचार से अपने आपको ब्रह्म समझकर परमात्मा की ओर से उपदेश किया है कि मैं ही प्राण हूं, मैं ही प्रज्ञात्मा हूं, तू मेरी उपासना कर, इसलिये प्रकरणस्थ "प्राण" शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण करना समीचीन है किसी देवताविशेष का नहीं।

सं०-अब शङ्कापूर्वक उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हुए पाद को समाप्त करते हैं:—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतद्योगात् ॥ ३१ ॥

पद०-जीवमुख्यप्राणलिङ्गात् । न । इति । चेत् । न । उपासात्रैविध्यात् । आश्रितत्वात् । इह । तद्योगात् ।

पदा०-(जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्) जीव और प्राणवायु का लिङ्ग पायेजाने से (न) ब्रह्म का ग्रहण नहीं होसक्ता (चेत्) यदि (इति)ऐसा कहो तो (न)ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने मे (उपासात्रैविध्यात्) त्रिविध उपासना के प्रसङ्ग की आपत्ति होगी, इसलिये (आश्रितत्वात्, इह, तद्योगात्) अन्य स्थलों की भांति यहां भी प्राण शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण है ।

भाष्य-जीव तथा प्राण का लिङ्ग पायेजाने पर भी यहां ब्रह्म का ही ग्रहण करना ठीक है, क्योंकि इस प्रकरण में एकमात्र ब्रह्म की ही उपासना का विधान किया गया है, यदि ऐसा न मानाजाय तो जीव, प्राण तथा ब्रह्म तीनों की पृथक्२ उपासना माननी पड़ेगी, और ऐसा मानने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होंगे, इसलिये "प्राणस्य प्राणः" केन० १।२= जीवनदाता होने से परमात्मा प्राण का भी प्राण और वही उपासनीय है अन्य नहीं ।

स्मरण रहे कि इसी वाक्य के अनुसार आजकल के मायावादी जो माया में फसकर अपने आपको ब्रह्म समझ बैठते हैं

यह उनकी भूल है, उक्त वाक्य का यह तात्पर्य्य नहीं जो वह समझे हैं, और इस अधिकरण से यह भी सिद्ध होगया कि जो श्रीकृष्णजी ने गीता में कहा है कि "मैं ब्रह्म हूं" मुझे जानो, यह कथन भी इसी रीति पर किया गया है जैसाकि ऊपर इन्द्र और वामदेव ने कहा है, इसका विशेषरूप से समाधान "गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य" में कियागया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें ॥

इति प्रथमःपादः समाप्तः

अथ द्वितीयःपादः प्रारभ्यते

सं०—प्रथम पाद में आकाश, प्राण, ज्योति तथा सूर्य्यादि जड़ पदार्थों से ब्रह्म को भिन्न वर्णन करके, अब शमविधि के अभिप्राय से समानाधिकरण वाक्यों का निराकार ब्रह्म में समन्वय दिखलाने के लिये इस पाद का आरम्भ करते हुए प्रथम जगत् का ब्रह्म से भेद कथन करते हैं:—

सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

पद०—सर्वत्र । प्रसिद्धोपदेशात् ।

पदा०—(सर्वत्र) वेद और उपनिषदों में सर्वत्र (प्रसिद्धोपदेशात्) यह उपदेश पाया जाता है कि ब्रह्म जगत् से भिन्न है।

भाष्य—वेदादि शास्त्रों में जड़ जगत् और ब्रह्म का स्पष्टतया भेद पायेजाने से दोनों एक नहीं होसक्ते, ननु—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्" छान्दो० ३। १४। १=यह सब जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता और ब्रह्म में ही स्थिर होकर उसी में लय होता है, इसलिये यह सब प्रपञ्च ब्रह्मरूप ही है, इसप्रकार शमविधिपूर्वक सबको ब्रह्म समझकर उपासना करे ? इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये इस अधिकरण का आरम्भ कियागया है कि वेद और उपनिषदों में जगत् ब्रह्म का भेद पायाजाता है, जैसाकिः—

ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

यजु० ४० । १

अर्थ—जो कुछ चराचर जगत् है सो यह सब परमात्मा से व्याप्त है, इसको वैराग्यभाव से भोग, किसी के भी धन की इच्छा मतकर, इस मंत्र में स्पष्ट प्रकार से व्याप्य व्यापक का भेद वर्णन कियागया है अर्थात् व्याप्य व्यापकभाव भेद होने पर ही होसक्ता है अन्यथा नहीं, और बृहदा० ३ । ८ । ९ में यह भेद इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि-
सूर्य्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ॥

अर्थ—हे गार्गि ! इस अक्षर=अविनाशी परमात्मा के नियम में यह सब सूर्य्य चन्द्रमादि स्थिर हैं, इत्यादि वाक्यों में सर्वत्र जड़ चेतन का भेद पायाजाता है।

और जो कई एक भाष्यकारों ने जीवोपासना का पूर्वपक्ष करके इस सूत्र का ब्रह्मोपासनापरक व्याख्यान किया है वह सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि जीवोपासना का गन्ध किसी विषय वाक्य में नहीं पायाजाता, और जो समानाधिकरण वाक्यों में सर्वात्मवाद=यह सब संसार ब्रह्मरूप है, यह सन्देह था, जिसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया, और जो यह शङ्का थी कि "सर्वंखल्विदं ब्रह्म तज्जलान्०"

इस विषयवाक्य में चराचर जगत् को ब्रह्म कथन किया गया है? इसका उत्तर यह है कि यह विषयवाक्य जड़ चेतन सबको ब्रह्म नहीं कथन करता किन्तु यह कथन करता है कि शमविधि=शान्ति के लिये सब पदार्थों को ब्रह्माश्रित समझकर ब्रह्मोपासना करे, उक्त औपनिषद वाक्य का वाक्यार्थ यह है कि "तस्माज्जायतेति तज्जं तस्मिन्लीयते इति तल्लं तस्मिन् अनितिचेष्टत इति तदनम् एतेषांसमाहार इति तज्जलान्"=उसी ब्रह्म से सब पदार्थ उत्पन्न होते, उसी में लय होते, और उसी में सब प्राणी प्राणादि चेष्टा करते हैं, इस अंश में ब्रह्माश्रित होने से सब पदार्थ ब्रह्म कहे जाते हैं, यदि जड़ चेतन सब ब्रह्म ही इस वाक्य का आशय होता तो "उपासीत" कथन करने से यह उपासना किसको विधान की जाती? हमारे मत में यह दोष नहीं आता, क्योंकि हम तो इस उपदेश को साम्यभाव का उपदेश मानते हैं, और समता प्रकट करने के लिये यह रीति अन्य ग्रन्थकारों ने भी लिखी है, जैसाकि:-

विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

गी० । ५ । १८

अर्थ-विद्या से नम्रता पाये हुए ब्राह्मण में, गौ, हाथी, कूकर और चाण्डाल, इन सब में जो समदर्शी है वह पण्डित है, मायावादी इस श्लोक के यह अर्थ करते हैं कि यह सब पदार्थ

ब्रह्म का विवर्त्त * होने के कारण सब ब्रह्मरूप हैं, पर यह इस श्लोक का भाव कदापि नहीं, क्योंकि ग्रन्थकार इस श्लोक में स्वयं स्पष्ट लिखते हैं कि:—

इहैव तैर्जितःसर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समंब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिता ॥

गी० ५ । १९

अर्थ—उन लोगों ने यहां ही संसार को जीत लिया है जिनका मन समता में स्थिर है, क्योंकि निर्दोष समरूप ब्रह्म है, इसलिये वह लोग ब्रह्म में स्थिर हैं, इस आशय वाले वाक्यों को अर्थाभास से बिगाड़कर "सब ब्रह्म है" इस मिथ्यावाद का प्रचार स्वा० शङ्कराचार्य्य और उनके शिष्य करते हैं, जैसाकि "सर्वंखल्विदंब्रह्म" इस वाक्य में किया गया है, इसी अर्थाभास के निरासार्थ उक्त सूत्र की सङ्गति जाननी चाहिये ।

सं०—अब जड़ जगत् में कर्तृत्वादि गुणों का अभाव कथन करते हैं:—

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

पद०—विवक्षितगुणोपपत्तेः । च ।

पदा०—(च) और (विवक्षितगुणोपपत्तेः) ब्रह्म में कथन करने योग्य गुण इस जगत् में न होने के कारण जगत् और ब्रह्म एक नहीं होसक्ते ।

---

* जो वास्तव में अन्यथा न हो और अन्यथा होकर प्रतीत हो उसको "विवर्त्त" कहते हैं, जैसे रज्जु में सर्प, सीप में चांदी ॥

भाष्य—यदि जगत् और ब्रह्म एक होते तो ब्रह्म की भांति जगत् में भी कर्तृत्वादि तथा आनन्दादि गुण पाये जाते परन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि जगत् ब्रह्म एक नहीं।

सं०— ननु, जगत् ब्रह्म का भेद रहो पर आनन्दादि गुणों वाले जीव का ब्रह्म से अभेद क्यों न मानाजाय ? उत्तरः—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

पद०—अनुपपत्तेः। तु। न। शारीरः।

पदा०—(अनुपपत्तेः) जीव में आनन्दादि गुणों की उपपत्ति न पायेजाने से (शारीरः) जीव (न) ब्रह्म नहीं होसक्ता।

भाष्य—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, जीव के आनन्दादि गुणों वाला होने में कोई उपपत्ति=युक्ति नहीं पाई जाती प्रत्युत "अहं दुःखी"=मैं दुखी हूं, इत्यादि प्रतीतियों से जीव में दुःखानुभव स्पष्ट पाया जाता है, इसलिये आनन्दादि गुणों से रहित होने के कारण जीव ब्रह्म नहीं होसक्ता।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं:—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

पद०—कर्मकर्तृव्यपदेशात्। च।

पदा०—(च) और (कर्मकर्तृव्यपदेशात्) कर्म तथा कर्त्ता रूप से जीव ब्रह्म का भेद कथन कियेजाने से दोनों एक नहीं।

भाष्य—उपासना प्रकरण में जीव को उपासना क्रिया का कर्त्ता और ब्रह्म को कर्मरूप से वर्णन कियागया है, जैसाकिः—

एकोवशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजंबहुधा यःकरोति।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

श्वेताश्व० ६। १२

अर्थ—सबका नियन्ता परमात्मा जो एक प्रकृतिरूप बीज को अपनी रचना से अनेक प्रकार का करदेता है, जो पुरुष उसको अन्तरात्मा समझकर ध्यान करते हैं उन्हीं को निरन्तर सुख होता है अन्यों को नहीं, यदि जीव ब्रह्म एक होते तो उक्त वाक्य में एक को कर्म और दूसरे को ध्यान क्रिया का कर्त्ता कदापि वर्णन न कियाजाता पर कर्त्ता कर्म का स्पष्टतया भिन्न व्यपदेश होने से सिद्ध है कि उक्त दोनों एक नहीं, और न वह किसी अवस्था में एक होसक्ते हैं।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

शब्दविशेषात् ॥५॥

पद०—एकपद०।

पदा०—(शब्दविशेषात्) शब्दविशेष के पायेजाने से भी जीव ब्रह्म का भेद है।

भाष्य—शब्द प्रमाण भी विशेषरूप से जीव ब्रह्म के भेद ही को प्रतिपादन करता है, जैसाकि:—

"अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" छान्दो० ६।३।२

अर्थ—इस जीवरूप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नामरूप को करूं, यहां "जीवेनात्मना" इस पद से जीव ईश्वर का भेद प्रतिपादन किया है।

कई एक लोग यहां यह आशङ्का करते हैं कि क्या ब्रह्म जीवरूप होकर अपने आप शरीर में प्रविष्ट हुआ ? इसका उत्तर यह है कि जीव को आत्मा यहां इस अभिप्राय से कहागया है कि जीव ब्रह्म का स्वत्व=अपना है, इसलिये आत्मा शब्द से कथन कियागया है।

और स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने जहां जीव को अनादि मानकर पुण्यपाप की व्यवस्था की है वहां उन्होंने भी जीव को अनादि काल से भिन्न माना है, अस्तु प्रकृत यह है कि उक्त विषयवाक्य में कर्त्ता, भोक्ता संसारी आत्मा के लिये विशेष= असाधारण जीव शब्द पायाजाता है और परमात्मा के ब्रह्म, ईश्वर तथा सर्वज्ञादि नाम हैं, जैसाकिः---

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
मुण्ड० २ । ४

अर्थ—प्रणवरूप धनुष को लेकर संस्कृत मन द्वारा विषयरूप प्रमाद से रहित एकाग्रचित्त होकर ब्रह्मरूप लक्ष्य को वेधन करे, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म शब्द से ईश्वर का ग्रहण करके ब्रह्म रूप लक्ष्य वेधन करने वाले जीव को ब्रह्म से पृथक् प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये।

सं०—अब जीव ईश्वर के भेद में स्मृति प्रमाण कथन करते हैंः—

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

पद०—स्मृतेः । च ।

पदा०—(च) और (स्मृतेः) स्मृति से भी जीव ईश्वर का भेद पायाजाता है।

भाष्य—स्मृति में जीव ईश्वर का भेद स्पष्ट वर्णन किया गया है, जैसाकिः—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥
मनु० १२।१२२

अर्थ—प्रकृत्यादि सूक्ष्म पदार्थों की अपेक्षा से अतिसूक्ष्म, सब के नियन्ता निर्विकार ब्रह्म को शुद्ध मन से चिन्तन करे, यहां ध्यान करने वाले जीव तथा ध्येय परमेश्वर का स्पष्ट भेद कथन किया है, यदि मनोमय वाक्य के निर्णयार्थ यह अधिकरण होता तो स्मृति से भेद बोधन न कियाजाता, दूसरी बात यह है कि जीव ईश्वर के स्मार्त्त भेद में स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने भी निम्नलिखित श्लोक प्रमाण दिया है किः—

ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
गी० १८।६१

अर्थ—हे अर्ज्जुन ! ईश्वर सब जीवों के हृदय में विराजमान है और अपनी माया से सबको स्वनियम में भ्रमाता है, इसप्रकार भेद का स्पष्ट वर्णन करके उक्त स्वामीजी लिखते हैं कि यह भेद काल्पित है अर्थात् वह ब्रह्मसूत्र और गीता में कल्पित भेद मानते हैं, पर जब उनमें यह कहाजाता है कि जहां उपनिषदों में अभेदोपासना कथन कीगई है वह शान्ति के लिये है वस्तुतः उन वाक्यों में अभेद विधान नहीं कियागया तो फिर उनको यह प्रत्युत्तर क्यों बुरा लगता है ।

सं०-ननु, "अणोरणीयान्" कठ० १। २०=इत्यादि वाक्यों में सब प्राणियों के हृदय में अणुरूप होकर स्थित ब्रह्म को जीव भाव से वर्णन किया है फिर जीव ईश्वर का भेद कैसे ? उत्तरः—

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

पद०-अर्भकौकस्त्वात्। तद्व्यपदेशात्। च। न। इति। चेत्। न। निचाय्यत्वात्। एवं। व्योमवत्। च।

पदा०-(अर्भकौकस्त्वात्) अल्प स्थानवाला होने (च) और (तद्व्यपदेशात्) अणीय शब्द द्वारा कथन कियेजाने से जीव ईश्वर का भेद (न) नहीं होसक्ता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (निचाय्यत्वात्) ध्यान करने के लिये ब्रह्म को (एवं) उक्त प्रकार से हृदय देश में कथन किया है (च) और यह बात (व्योमवत्) आकाश की भांति बन सक्ती है।

भाष्य-"एष म आत्मान्तर्हृदये" छान्दो० १।१४।३= यह मेरा आत्मा हृदय के भीतर है, और "अणोरणीयान्"= वह अणु से भी अणु है, इत्यादि वाक्यों में जो परमात्मा को जीवरूप मानकर दोनों का अभेद कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि हृदयरूप अल्पदेश में ध्यान करने के लिये ब्रह्म को "अर्भकौक"=अल्पस्थान वाला कहागया है, वही जीवभाव को प्राप्त होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ इस अभिप्राय से उसको

अर्भकौक नहीं कहा किन्तु उसी परमात्मा को जीवात्मा के अन्तःकरणरूपी गुहा में अल्पस्थान वाला कथन किया गया है, वस्तुतः "अर्भकौक" इसलिये नहीं कथन किया गया कि वह सर्वव्यापक है, इसी प्रकार परमसूक्ष्म होने के अभिप्राय से ब्रह्म के लिये "अणीयः" शब्द का प्रयोग किया है, परमात्मा जीवरूप होकर अल्पदेशी वा अणुपरिमाण वाला होगया, यह भाव उपनिषद् का कदापि नहीं, क्योंकि "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" ऋग्० २।३।१७=ईश्वर कर्मफल के भोग से रहित होकर साक्षीमात्र है, इत्यादि मंत्रों में उसको अभोक्ता प्रतिपादन किया गया है, इसलिये कर्मफल भोक्ता जीव तथा अभोक्ता ईश्वर का भेद मानना ही समीचीन है।

सं०—ननु, यदि परमात्मा हृदयदेश में है तो उसको सुखदुःख की प्राप्ति भी होनी चाहिये ? उत्तरः—

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥८॥

पद०—सम्भोगप्राप्तिः। इति। चेत्। न। वैशेष्यात्।

पदा०—(संभोगप्राप्तिः) जीव देश में स्थित होने से परमात्मा को सुखादि भोग की आपत्ति होगी (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (वैशेष्यात्) परमात्मा की जीव से विशेषता पाईजाती है।

भाष्य—जीव के हृदयदेश में व्याप्त होने पर भी परमात्मा

को जीव के सुख दुःख की आपत्ति इसलिये नहीं होसक्ती कि उन दोनों का परस्पर अत्यन्त वैलक्षण्य=भेद है अर्थात् जीव सुख दुःख का भोक्ता और ब्रह्म साक्षीरूप से स्थिर है, इस सूत्र के भाष्य में स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने "वैशेष्यात्" पद के यही अर्थ किये हैं जो ऊपर वर्णित हैं पर जो उन्होंने इस प्रकार की आशङ्का उठाकर कि "एकात्मवाद में जीव ब्रह्म का भेद कहां से आया" भेदवादियों को "देवानां प्रिय प्रष्टव्यः" इत्यादि शब्दों से मूर्ख दुराग्रही कथन किया है, सो यह केवल अद्वैताचार्य्य के सिद्धान्त की शिथिलता को प्रकट करता है अर्थात् भेदवादी के प्रश्न करने पर स्वामी का यह प्रश्न कि "तुमने एकात्मा कैसे समझा"? यदि कहो कि तत्त्वमस्यादि महावक्यों से एकात्मभाव जानागया तो फिर यह "अर्धजरतीय न्याय" क्यों करते हो, स्वामीजी की यह प्रश्नोत्तर परिपाटी उन्हीं को उक्त न्याय का लक्ष्य बनाती है, क्योंकि पारमार्थिक भेदवादी कभी भेद कभी अभेद का आश्रयण नहीं करता, यह तो मायावादियों की ही लीला है जो स्पष्ट भेद बोधक वाक्यों में व्यावहारिक भेद तथा शमविधि विधायक वाक्यों में पारमार्थिक अभेद मानते हैं, इसलिये आधी बात को मानना और आधी बात को छोड़देना, यह "अर्धजरतीय-न्याय" भेदवादी के मत में कथन करना केवल साहसमात्र है।

तात्पर्य्य यह है कि स्वा० शङ्कराचार्य्य का यह उत्तर सूत्र के अक्षरों से सर्वथा विरुद्ध ही नहीं किन्तु अत्यन्त शिथिल है, क्योंकि भेदवादी अर्धजरतीय नहीं करता, अर्धजरतीय तो

अद्वैतवादियों के मत में है जो उसी ब्रह्म को जीव मान लेते हैं और उसी को अभोक्ता मानते हैं "स्वामी रामानुज" ने सङ्गति के अनुसार यथावस्थित अर्थ किये हैं कि पुण्यपापरूप कर्मों के वशीभूत न होने से ईश्वर भोक्ता नहीं ।

सं०-यदि ब्रह्म भोक्ता नहीं तो उसको कठ में अत्ता क्यों कथन कियागया है ? उत्तरः—

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

पद०-अत्ता । चराचरग्रहणात् ।

पदा०-(चराचरग्रहणात्) चराचर का ग्रहण करने वाला होने से परमात्मा को (अत्ता) अत्ता कथन किया है ।

भाष्य-चराचर का ग्रहण करने वाला होने से परमात्मा का नाम अत्ता है, जैसाकि:—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनं ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्रसः ॥
कठ० १ । २ । २५

अर्थ-जिस ब्रह्म के ब्राह्मण क्षत्रियादि मनुष्यमात्र ओदन स्थानीय हैं और सबको भक्षण करने वाला मृत्यु जिसका शाकादिरूप है उस ब्रह्म को दुराचारी पुरुष नहीं जानसक्ता, वह दुर्विज्ञेय है, इस वाक्य में जो ब्रह्म को "अत्ता" कथन किया है वह भोक्ता होने के अभिप्राय से नहीं कहागया किन्तु परमात्मा सबका संहार करने वाले हैं इस भाव से कथन किया है, क्योंकि कठोपनिषद् में इस वाक्य से पूर्व इसी बात का प्रकरण है कि

उसको दुराचारी पुरुष नहीं जानसक्ता अर्थात् आचारभ्रष्ट होने से दुराचारी का मन और दृष्टि ऐसी नहीं होती जिससे वह सदाचारियों की भांति उसको जानसके, इसी अभिप्राय से यजु० ४० । ५ में वर्णन किया है कि "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके"=वह ईश्वररूप आत्मतत्त्व चलता है और नहीं चलता वह दुराचारियों से दूर और सदाचारियों के समीप है, इस प्रकार यह निराकार ब्रह्म का प्रकरण है जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि यहां भक्षण से तात्पर्य्य चराचर के ग्रहण का है, जीव की भांति भोक्ता होने के अभिप्राय से नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

पद०-प्रकरणात्। च।

पदा०-(च) और (प्रकरणात्) प्रकरण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति"=विवेकी पुरुष ब्रह्म को सर्वान्तरात्मा जानकर शोक मोह से रहित होजाता है, इत्यादि वाक्यों में परमात्मसम्बन्धी प्रकरण पाये जाने के कारण "अत्ता" शब्द का अर्थ चराचर का ग्रहणकर्त्ता है भोक्ता नहीं।

सं०-अब गुहाधिकरण में स्पष्ट रूप से जीव ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करते हैं:—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

पद०—गुहां । प्रविष्टौ । आत्मानौ । हि । तद्दर्शनात् ।

पदा०—(गुहां, प्रविष्टौ) अन्तःकरणरूप गुहा में (आत्मानौ) दो आत्मा हैं (हि) क्योंकि (तद्दर्शनात्) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य—अन्तःकरणरूपी गुहा में जीव और ईश्वर दोनों को विराजमान कथन करके भिन्न वर्णन किया है, जैसाकि:—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे-पराद्धें । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ कठ० ३ । १

अर्थ—हृदयरूपी आकाश तथा बुद्धि में प्रविष्ट शरीररूप लोक में अपने किये हुए शुभकर्मों के फल को भोगते हुए छाया और आतप के समान जीव, ईश्वर दोनों भिन्न २ रहते हैं ब्रह्मवेत्ता और जिन्होंने तीन वार नाचिकेताग्नि का चयन किया है वह पंचयज्ञों के करने वाले कर्मकाण्डी लोग भी ऐसा ही कथन करते हैं, इत्यादि वाक्यों में छाया और आतप के दृष्टान्त से दोनों के अभेद का स्पष्टतया अभाव कथन किया है ।

सं०—अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:—

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

पद०—विशेषणात् । च ।

पदा०(च) और (विशेषणात्) जीव ईश्वर दोनों के विशेषण भी भिन्न २ होने से दोनों का भेद है ।

भाष्य—जीव ईश्वर दोनों के विशेषण भिन्न २ पाये जाने

से दोनों का भेद स्पष्ट है, जैसाकि "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" कठ० ३।३=इत्यादि वाक्यों में जीव को शरीररूप रथ वाला कथन किये जाने से जीवात्मा का शरीरी विशेषण है और "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" कठ० ३।१५ इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को अशरीरी अव्यय कथन किया गया है, इसी प्रकार उक्त वाक्यों में परमात्मा का "गन्तव्य" और जीव का गन्तृ=प्राप्त होने वाला विशेषण होने से दोनों का भेद है।

विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरःसोऽध्वनः।
पारमाप्नोति तद्विष्णोःपरमं पदम् ॥ कठ० ३।९

अर्थ–जो बुद्धिमान् विज्ञानी पुरुष शुद्ध बुद्धिरूपी सारथि रखता हुआ शुद्ध मनरूपी रासों को अपने अधीन रखता है अर्थात् जो विवेक को अपना सारथि बनाकर मनरूपी रासों को दृढ़ता से पकड़े हुए है वह पुरुष इस संसार मार्ग से पार होकर परमात्मा के परमपद को प्राप्त होता है, इस वाक्य में स्वाधीन मन वाला जीवात्मा का विशेषण और परमात्मा को परमपदरूप संसार मार्ग का पार कथन किया गया है, इस प्रकार विशेषणों के भेद से जीव ईश्वर का भेद है, इसी भाव को कठ० २।१२ में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

तन्दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

अर्थ—जो परमात्मा अनादि, अनन्त, प्रकाशस्वरूप तथा अति-सूक्ष्म होने के कारण दुर्विज्ञेय और हृदयाकाश में गह्वरेष्ठ=गुप्त रूप से विराजमान है उसको धीर=विवेकी पुरुष अध्यात्मयोग द्वारा जानकर हर्ष शोक से रहित होजाते हैं, यदि जीव ईश्वर का अभेद होता तो इस वाक्य में एक को ज्ञाता और दूसरे को ज्ञेय वर्णन न कियाजाता, इससे सिद्ध है कि उपनिषत्कार को जीव ईश्वर दोनों भिन्न २ अभिप्रेत हैं एक नहीं, अधिक क्या इसी भाव को ऋग्वेद में इस प्रकार स्पष्ट किया है कि:—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्वत्यनश्नन्नन्योभिचाकशीति ॥
ऋ० २ । ३ । १७

अर्थ—जिस प्रकार फलार्थी पक्षी वृक्ष का आश्रय करता है इसी प्रकार जीव, ईश्वर रूपी पक्षियों ने प्रकृतिरूप वृक्ष का आश्रय किया हुआ है, यहां यह शङ्का होती है कि क्या जीव की भांति ईश्वर भी फल भोक्ता है? इसका उत्तर मन्त्र के उत्तरार्द्ध में यह दिया गया है कि दोनों में से जीव कर्मफल का भोक्ता और ईश्वर साक्षीरूप से स्थिर रहता है, उक्त वेद मन्त्र में जीव का भोक्ता होना विशेषण और ईश्वर का साक्षीरूपेण नियन्ता होना विशेषण है, इस कथन से "ऋतंपिबन्तौ" इस वाक्य का भी उत्तर आगया कि यहां द्विवचन से यह भाव नहीं कि दोनों फल के भोक्ता हैं किन्तु "छत्रिणोयान्ति"=छाते वाले जाते हैं, इस प्रकार जीव फलभोक्ता होने के कारण ईश्वर में भी उपचार से भोक्तृत्व कथन कियागया है वास्तव में नहीं ।

कई एक लोग इस मन्त्र में बुद्धि और जीव के अर्थ करते हैं कि बुद्धि=अन्तःकरण भोक्ता और जीव चेतन साक्षी है, पर ऐसा अर्थ करने से "सयुजौ, सखायौ" यह दोनों विशेषण व्यर्थ होजाते हैं, क्योंकि "सयुजौ" के अर्थ दोनों अनादि और "सखायौ" के अर्थ उपास्य उपासक रूप से दोनों मित्र हैं, बुद्धि सादि होने के कारण सदा नहीं रहती तथा जड़ होने से उपास्य उपासक रूप मित्रता वाली भी नहीं होसक्ती, कैसा ही कोई अर्थाभास क्यों न करे उक्त वेद मंत्र के अर्थ यही होते हैं कि एक प्रकृतिरूप वृक्ष में जीव ईश्वर रूप दो पक्षी अनादि काल से निवास करते हैं जिनमें जीव भोक्ता और ईश्वर साक्षीरूप है, यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुण्डकोपनिषद् के क्रम से उत्तर श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि अविद्या के कारण जीव में भोक्तृत्व है वास्तव में नहीं ? जैसाकिः—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ मुण्ड० ३ । १ । २

अर्थ—प्रकृतिरूप वृक्ष में स्थिर जीवात्मा अज्ञान से मोह को प्राप्त हुआ शोक करता है, जब अपने से भिन्न ईश्वर और उसकी महिमा को जानलेता है तब शोक से रहित होजाता है।

मायावादियों का कथन है कि "अनीशया" पद जीव ईश्वर के औपाधिक भेद को कथन करता है अर्थात् दोनों चेतन जो मंत्र में भिन्न रूप से वर्णन किये गये हैं वह उपाधिवशात्

भिन्न२ हैं वस्तुतः उनमें कोई भेद नहीं, उनका यह अर्थ उपनिषद् के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि इस श्लोक के "यदा पश्यत्यन्यमीशम्" इस उत्तरार्द्ध में "जब अपने से भिन्न ईश्वर को देखता है तब वीतशोक होता है" इस प्रकार भेद ज्ञान ही शोक मोहादि की निवृत्ति का कारण वर्णन कियागया है, फिर यह कैसे मानाजाय कि प्रथमावस्था में ईश्वर अविद्या से मुह्यमान था, और श्लोक के उत्तरार्द्ध में ज्ञानावस्था वर्णन कीगई है, क्योंकि उनके मत में भेदज्ञान अविद्यक है, इससे विपरीत "तत्र कोमोहः कः शोकः" यजु० ४०।७इत्यादि मन्त्रों के भाष्य में मायावादी भाष्यकार आत्मत्वेन ईश्वर ज्ञान मानते हैं अर्थात् "मैं ब्रह्म हूं" इस ज्ञान को शोक मोह की निवृत्ति का कारण बतलाते हैं, इस प्रकार यह उपनिषदर्थ उनके अनुकूल नहीं पड़ता, यदि यह शङ्का कीजाय कि "यदापश्यः" मुण्ड० ३।३ इत्यादि श्लोकों में अभेद ज्ञान से जीव का ब्रह्मरूप होना कथन कियागया है, और दूसरे श्लोक में केवल शोक की निवृत्ति मात्र कथन की है जो भेदज्ञान से ही बन सक्ती है अन्यथा नहीं, और "तदाविद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमसाम्युमुपैति"=जब सब जगत् के ब्रह्मयोनि अभिन्ननिमित्तोपादनकारण ब्रह्म को सर्वात्मरूपेण कार्य्यकारणरूप समझ लेता है तब निरञ्जन=निष्कलङ्क होकर ब्रह्मरूप होजाता है, इस प्रकार अभेद ही वास्तव कथन किया है? इसका उत्तर यह है कि इस तृतीय श्लोक में जो "कर्त्तारमीशं पुरुषं

ब्रह्मयोनिम्" यह वाक्य पढ़ा है जिसका अर्थ यह है कि जगत्कर्त्ता ईश्वर को जानकर ब्रह्म की समता को प्राप्त होता है, मायावादियों के मत में जगत्कर्तृत्व ब्रह्म में नहीं, इसलिये यह श्लोक उनके अद्वैतवाद के सर्वथा विरुद्ध है।

भाव यह है कि मुण्ड० ३। ३ में तत्त्ववेत्ता की तद्धर्मतापत्ति का वर्णन आया है, इससे इसमें ब्रह्म के साथ मिलकर एक होजाने का भाव नहीं पायाजाता, जैसाकि:—

यदा पश्यःपश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्
तदाविद्वान्पुण्यपापेविधूयनिरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

अर्थ—जब मुमुक्षु पुरुष जगत् के निमित्तकारण ब्रह्म को ज्ञानदृष्टि से अनुभव कर लेता है तब तत्त्ववेत्ता होने के कारण पुण्य पाप से रहित होकर ब्रह्म के स्वाभाविक आनन्दादि गुणों को उपलब्ध करके ब्रह्मवत् होजाता है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषदार्य्यभाष्य" में कियेजाने से यहां विशेष व्याख्यान की आवश्यक्ता नहीं, इसी अभिप्राय से श्रीभाष्याचार्य्य स्वामी रामानुज ने भी इस सदृशभाव को "तद्धर्मतापत्ति" शब्द से कथन किया है, कई एक वादी देह के विलय को, कोई ज्ञाना भाव को, मायावादी उपाधिनिमित्तक जीवपन के लय को, मुक्ति कथन करते हैं, पूर्वोक्त सब वादियों के मत की मुक्ति का खण्डन करके स्वामी "रामानुज" वेदान्तियों की मुक्ति यह निरूपण करते हैं कि अनन्त कल्याण गुणों की राशि ब्रह्म के तत्वज्ञान से जो जीव में ब्रह्मसदृश भाव आते हैं जिनसे जीव के अज्ञानादि मल

नाश होजाते हैं उन भावों से संयुक्त होकर ब्रह्मस्थ होने का नाम ही मुक्ति है, यही मुक्ति "ममसाधर्म्यमागता" इस गीता वाक्य से भी पाई जाती है, यदि कोई यह आशङ्का करे कि गीता में तो श्रीकृष्णजी ने अपने भाव को प्राप्त होने वाले पुरुष को मुक्ति की प्राप्ति कही है और वह स्वयं अवतार रूप होने से साकार थे तो साधर्म्य से भी साकारोपासक की ही मुक्ति सिद्ध होती है ? इसका उत्तर यह है कि कृष्णजी का "मम" शब्द से अपना तात्पर्य्य नहीं किन्तु ईश्वर का है, जैसाकि पीछे इन्द्र प्रतर्दनाधिकरण में "न वक्तुरात्मोपदेशात्" ब्र०सू० १।१।२९ इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट कर आये हैं अर्थात् अस्मच्छब्द के अर्थ यहां ईश्वर के हैं, और इसी भाव से गीता में कृष्णजी ने अपने आपको ईश्वर कथन किया है, जिसका भलेप्रकार विचार "गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य" में किया गया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें॥

सं०—ननु, जब ईश्वर और जीव का साधर्म्य वैधर्म्य से सालक्षण्य वैलक्षण्य मानाजाता है तो शङ्का यह होती है कि सविशेष ईश्वर सर्वगत न रहेगा, यदि सर्वगत है तो उसका जीव से भेद नहीं होसक्ता ? उत्तरः—

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

पद०—अन्तरे । उपपत्तेः ।

पदा०—(उपपत्तेः) युक्ति पायेजाने से (अन्तरे) ईश्वर सब के अन्तर्गत है ।

भाष्य—परमात्मा सब पदार्थों के अन्तर्गत है, इसमें ... यह है कि दो मूर्त्त पदार्थ एक स्थान में नहीं समासक्ते ... परमात्मा अमूर्त्त होने के कारण उसमें उक्त दोष नहीं आ... अर्थात् परमात्मा के सर्वगत होने पर भी उसका जीव के ... अभेद नहीं होता ।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं:—

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

पद०—स्थानादिव्यपदेशात् । च ।

पदा०—(च) और (स्थानादिव्यपदेशात्) स्थाना... व्यपदेश पायेजाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में पृथि... आदि स्थानों में परमात्मा का व्यपदेश=सर्वव्यापक होना वर्णन कियागया है, जैसाकि:—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथि... वेद यस्य पृथिवी शरीरम्" बृहदा० ३ । ७ । ३

अर्थ—जो पृथिवी में रहता है तथा जो पृथिवी ... होकर नियमन करता है, जिसको पृथिवी नहीं जा... जिसके वशीभूत होने से पृथिवी आदि उसके ... आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इत्यादि अनेक वाक्यों ... व्यापकभाव पूर्वक ईश्वर का पृथिव्यादि पदार्थों से ... के कारण जीव ईश्वर का परस्पर भेद मानना ही ... और जो स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने इस सूत्र

सिद्ध की है कि जिसप्रकार पृथिवी में परमात्मा व्यापक है इसी प्रकार शालिग्रामादि प्रतिमाओं में भी व्यापक है, इसलिये शालिग्रामादि मूर्त्तियों में ईश्वर बुद्धि से पूजन करना उचित है ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि सर्वव्यापक होना जड़वस्तुओं के साथ ईश्वर के तादात्म्य का प्रयोजक नहीं होसक्ता, क्योंकि यह अधिकरण ईश्वर की व्यापकतापरक है जड़पूजन के अभिप्राय से नहीं ।

सं०—अब दो सूत्रों से उक्त अर्थ का समर्थन करते हैं:—

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

पद०—सुखविशिष्टाभिधानात । एव । च ।

पदा०—(च) और (सुखविशिष्टाभिधानात, एव) सुखविशिष्ट कथन किये जाने से भी ईश्वर का जड़ पदार्थों के साथ तादात्म्य नहीं होसकता ।

भाष्य—यदि ईश्वर का जड़ पदार्थों के साथ तादात्म्य माना जाय तो परमात्मा आनन्दादि गुणविशिष्ट न रहेगा और यह बात वादी को भी इष्ट न होने से सिद्ध है कि सर्वव्यापक होने पर भी परमात्मा असङ्ग है ।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

पद०—श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात । च ।

पदा०—(च) और (श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात्) परमात्मा उपनिषद् सुनने वाले पुरुषों की गति होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—उपनिषद् श्रोता का नाम "श्रुतोपनिषत्क" है, श्रुतोपनिषत्क पुरुष की गति परमात्मा में विधान कीगई है, इससे भी अन्तर्यामी सर्वान्तर्गत पुरुष का तादात्म्य सब पदार्थों के साथ नहीं पायाजाता. इससे यह बात भी स्पष्ट होगई कि "स्थानादिव्यपदेशाच्च" सूत्र में शालिग्रामादि प्रतीकों में ईश्वर पूजा करने का अभिप्राय नहीं, यदि मूर्त्तिपूजा का अभिप्राय होता तो इस सूत्र में यह कथन न कियाजाता कि श्रुतोपनिषद् पुरुषों की गति परमात्मा है ।

भाव यह है कि यदि मूर्त्तिपूजा से तात्पर्य्य ईश्वरपूजा होता तो मूर्ख से मूर्ख की भी गति परमात्मा में पाईजाती पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि उपनिषद् श्रोताओं की गति का विधान करना इस बात को सिद्ध करता है कि परमात्मा की विभुता स्थापन करने के लिये ही इस अधिकरण का प्रारम्भ कियागया है किसी प्रतीकविशेष में ईश्वर पूजा करने के अभिप्राय से नहीं ।

सं०—ननु, निराकार चेतन होने से जीव भी सर्वगत क्यों नहीं ? उत्तरः—

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

पदः—अनवस्थितेः । असम्भवात् । च । न । इतरः ।

पदा०—(अनवस्थितेः) सब स्थानों में न होने (च) और (असम्भवात्) असम्भव होने से (इतरः) जीवात्मा सर्वगत (न) नहीं होसक्ता ।

भाष्य—अणु होने के कारण जीवात्मा की सर्वत्र स्थिति नहीं पाई जाती और नाहीं उसके व्यापक होने में कोई युक्ति उपलब्ध होती है; इसलिये वह चेतन होने पर भी व्यापक नहीं होसक्ता अर्थात् जो चेतन है वह व्यापक होता है, यह व्याप्ति सं...धिक होने के कारण जीवात्मा में नहीं घट सक्ती, क्योंकि जो चेतन होकर व्यापक हो वह सर्वज्ञ होता है, जैसाकि विभु चेतन सर्वज्ञ ईश्वर है परन्तु जीवात्मा चेतन होने पर भी सर्वज्ञ नहीं, अतएव जीववृत्ति चेतनता उसके सर्वगत होने का प्रयोजक नहीं होसक्ती, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण "वैशेषिकार्य्य-भाष्य" में किया गया है और आगे द्वितीयाध्याय के तृतीय पाद में सूत्रकार स्वयं स्फुट करेंगे, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यक्ता नहीं।

सं०—अब पृथिव्यादि स्थानों में ईश्वर को अन्तर्यामी सिद्ध करने के लिये अन्तर्याम्यधिकरण का आरम्भ करते हैं:—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्।१८।

पद०—अन्तर्यामी। अधिदैवादिषु। तद्धर्मव्यपदेशात्।

पदा०—(अधिदैवादिषु) अधिदैवादिकों में (तद्धर्मव्यपदेशात्) परमात्मा सम्बन्धी धर्मों का व्यपदेश पायेजाने से (अन्तर्यामी) परमात्मा अन्तर्यामी है।

भाष्य—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरम्"=जो पृथिवी में स्थिर होकर पृथिवी का अन्तरात्मा है, जिसको पृथिवी नहीं जानती

पृथिवी जिसका शरीर है, इत्यादि अधिदैव वाक्य इस अधिकरण का विषय है, यहां यह सन्देह होता है कि अन्तर्यामी ब्राह्मण में पृथिव्यादिकों का अभिमानी देवताविशेष अन्तर्यामी है किंवा उक्त वाक्यप्रतिपाद्य परमात्मा अन्तर्यामी है? इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन है कि "पृथिव्येव यस्यायतनम्"=पृथिवी जिसका स्थान है, इस वाक्यशेष से नियमनकर्त्ता पृथिव्यभिमानी देवता है परमात्मा नहीं, क्योंकि जो तक्षा=बढ़ई आदि कुठारादि के नियमन कर्त्ता देखे जाते हैं वह शरीर धारी होते हैं और परमात्मा शरीरधारी नहीं, इसलिये शरीरधारी अभिमानी देवता ही अन्तर्यामी मानना ठीक है? इसका उत्तर यह है कि उक्त ब्राह्मण में जो सर्वज्ञत्व, नियमनकर्तृत्व आदि धर्म वर्णन किये गये हैं वह परमात्मभिन्न किसी देवविशेष के नहीं होसक्ते, क्योंकि शरीरी देवताओं के होने में कोई प्रमाण नहीं और जो वाक्य "मृद्ब्रवीत्"=मिट्टी बोली, इत्यादि वाक्य अभिमानी देवताओं के बोधक माने गये हैं उनका आशय तदभिमानी परमात्मा से है पौराणिक देवताओं के प्रतिपादनार्थ उक्त वाक्यों की सङ्गति नहीं, इस भाव को सूत्रकार ब्र सू० २।१।६ में स्वयं स्फुट करेंगे, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यक्ता नहीं, इस प्रकार प्रकरणगत तात्पर्य्य से परमात्मा ही अन्तर्यामी सिद्ध होता है शरीरधारी पृथिव्यादि अभिमानी देवता नहीं।

सं०—ननु, कारणरूपेण सब विकारों का नियमन करने से प्रकृति को अन्तर्यामी क्यों न मानाजाय? उत्तरः—

नच स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

पद०—न । च । स्मार्त्तं । अतद्धर्माभिलापात् ।

पदा०—(अतद्धर्माभिलापात्) प्राकृतधर्मों का कथन न किये जाने से (स्मार्त्त) स्मृतिप्रतिपाद्य प्रधान (न,च) अन्तर्यामी शब्द का वाच्य नहीं होसक्ता ।

भाष्य—"अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः" मनु० १ । ५ इत्यादि स्मृति निरूपित अव्यक्त अन्तर्यामी ब्राह्मण का विषय नहीं, क्योंकि अव्यक्त के परिणामित्वादि धर्म अन्तर्यामी ब्राह्मण में कथन नहीं कियेगये किन्तु "आत्मा" शब्द से उस अन्तर्यामी पुरुष का वर्णन कियागया है जो अपनी अपारशक्ति से चिदचिद्वस्तुओं का नियमन करने वाला है, इसलिये यहां "आत्मा" शब्द परमात्मा का बोधक है जड़ प्रधान=प्रकृति का नहीं ।

सं०—ननु, जड़ प्रधान नियन्ता न हो पर योगी पुरुष के जीवात्मा को अन्तर्यामी मानने में क्या हानि ? उत्तरः—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

पद०—शारीरः । च । उभये । अपि । हि । भेदेन एनं । अधीयते ।

पदा०—(च) और (शारीरः) जीवात्मा (अपि) भी अन्तर्यामी नहीं होसक्ता (हि) क्योंकि (उभये) दोनों शाखाओं वाले (एनं) इसको (भेदेन) अन्तर्यामी से भिन्न (अधीयते) पढ़ते हैं ।

भाष्य–दोनों शाखाओं में जीव और परमात्मा का भेद वर्णन कियेजाने से योगी पुरुष का आत्मा भी अन्तर्यामी नहीं होसक्ता, जैसाकिः—

"य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मान वेद यस्यात्मा शरीरम्" बृहदा० ३।७।२२

अर्थ– जो आत्मा में रहता है, जिसको जीवात्मा नहीं जानता, जिसका जीवात्मा शरीर है और जो जीवात्मा को अन्तः=आभ्यन्तर से प्रेरणा करके नियमन कराता है वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत=मृत्यु से रहित है, यह माध्यन्दिनी शाखा वाले मानते हैं और काण्व शाखा वाले "यो विज्ञाने तिष्ठन्" यह पढ़कर जीव ईश्वर का भेद कथन करते हैं, इस प्रकार उभय शाखाओं में जीव तथा ब्रह्म का भेद प्रतिपादन कियागया है अभेद नहीं, इसलिये योगी पुरुष परमात्मा नहीं होसक्ता किन्तु जो अन्तर्यामी ब्राह्मण में निरूपण कियागया है वही परमात्मा है।

सं०–अब समन्वयाधिकरणस्थ निराकार ब्रह्म की प्रतिज्ञा समर्थन करने के लिये अदृश्यत्वाधिकरण का प्रारम्भ करते हैंः—

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

पद०–अदृश्यत्वादिगुणकः। धर्मोक्तेः।

पदा०–(धर्मोक्तेः) निराकारादि धर्मों के कथन किये जाने से परमात्मा (अदृश्यत्वादिगुणकः) अदृश्यत्वादि गुणों वाला है।

भाष्य–निराकारादि धर्मों के कथन कियेजाने से परमात्मा

को अदृश्य,अगोत्रादि गुणों वाला कथन कियागया है,जैसाकिः-

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तद-पाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।। मुण्ड० १।१।६

अर्थ-वह परमात्मा चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय न होने के कारण हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों से ग्रहण नहीं कियाजासक्ता. अवर्ण=रूपादिकों से रहित है, चक्षुः श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से रहित है, एवं हस्त पादादि कर्मेन्द्रियों से रहित है, नित्य, सर्व-व्यापक, सर्वगत और अतिसूक्ष्म है, वह अव्यय=विकार से रहित सब भूतों की योनि=कारण है,जिसको ज्ञानी पुरुष दिव्य-दृष्टि से देखते हैं, इत्यादि इस अधिकरण के विषयवाक्य हैं, यहां यह शङ्का होती है कि इससे पूर्व अन्तर्यामी अधिकरण में पृथिव्यादिकों को परमात्मा का शरीर कथन कियागया है, और "तत्तुसमन्वयात्" ब्र० सू० १।१।४ इस अधि-करण द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का निराकार ब्रह्म में समन्वय सिद्ध किया है, फिर पूर्वोत्तर विरोधी उक्त विषयवाक्य में परमात्मा अदृश्यत्वादि धर्मों वाला नहीं होसक्ता, इसलिये अदृश्यत्वादि धर्म प्रकृति के मानने चाहियें ब्रह्म के नहीं ? इसका समाधान यह है कि परमात्मा अदृश्यत्वादि धर्मों वाला होने के कारण साकार नहीं और नाही उक्त धर्म प्रकृति के होसक्ते हैं, क्योंकि प्रकृति विकारी होने से कार्य्यावस्था में दृष्टिगत भी होती है.और जो अन्तर्याम्यधिकरण में पृथिव्यादिकों को ईश्वर का शरीर

निरूपण कियागया है उसका तात्पर्य्य यह है कि पृथिवी आदि उस पुरुष के साधन हैं, जैसे कर्म करने के लिये जीव का शरीर साधन है, वास्तव में ब्रह्म अशरीरी है, जैसाकि कठ० ३ । १२ में बर्णन किया है कि:—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति ॥

अर्थ—अनन्त देहधारी जीवों के शरीर में अशरीरी, अस्थिर पदार्थों में स्थिर है, जो इस प्रकार विभु आत्मा को जानता है वह शोक नहीं करता, इत्यादि वाक्य ईश्वर के निराकार होने में प्रमाण हैं, श्रीभाष्याचार्य्य स्वा० रामानुज ने भी अपने भाष्य में शरीर शब्द के यही अर्थ किये हैं कि पृथिवी आदि परमात्मा के अधीन चेष्टा करने के कारण शरीर कहे जाते हैं वास्तव में ब्रह्म अशरीरी है, इस प्रकार पूर्वोत्तर अधिकरणों का विरोध न पायेजाने के कारण समन्वयाधिकरणस्थ निराकार ब्रह्म की प्रतिज्ञा ज्यों की त्यों बनी रहती है और परमात्मा के साकार होने का दोष भी मिटजाता है, इसलिये अदृश्यत्वादि धर्मों को ब्रह्मवृत्ति मानने में कोई बाधा नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

पद०—विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां । च । न । इतरौ ।

पदा०—(च) और (विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां) विशेषण तथा भेद का व्यपदेश पायेजाने से (इतरौ) जीव और प्रकृति परमात्मा (न) नहीं ।

भाष्य—विशेषण तथा भेद का व्यपदेश पायेजाने से जीव और प्रकृति परमात्मा नहीं होसक्ते, जैसाकि:—

दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः ।
अप्राणोह्यमना शुभ्रोह्यक्षरात्परतः परः ॥

मुण्ड० २ । २

अर्थ- वह दीप्ति वाला, मूर्त्तधर्म से रहित और सर्वत्र व्यापक है वह प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर है, उत्पत्ति रहित होने के कारण प्राण तथा मन से रहित है, प्रकाशस्वरूप और अव्याकृतरूप प्रकृति से भी परम सूक्ष्म है, इत्यादि वाक्यों में "अमूर्त्त" आदि परमात्मा के विशेषण होने और अक्षर शब्द वाच्य प्रकृति का ब्रह्म से निरालापन कथन कियेजाने से वास्तव में परमात्मा ही यहां अशरीरी कथन किया गया है जीव तथा प्रकृति नहीं ।

सं०-यदि पृथिवी आदिक वास्तव में ब्रह्म के शरीर नहीं तो उनको शरीररूप से क्यों वर्णन कियागया है ? उत्तरः-

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

पद०-रूपोपन्यासात् । च ।

पदा०-(च) और (रूपोपन्यासात्) रूपकालङ्कार द्वारा पृथिवी आदिकों को शरीररूप से वर्णन कियागया है ।

भाष्य-रूपकालङ्कार से पृथिवी आदि परमात्मा के शरीर कथन किये गये हैं वास्तव में नहीं, जैसाकिः—

अग्निर्मूर्द्धाचक्षुषीचन्द्रसूर्य्यौदिशः श्रोत्रेवाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येषसर्वभूतान्तरात्मा ॥ मुण्ड० २ । ४

अर्थ-अग्नि जिस परमात्मा का मुखरूप है, चन्द्रमा और

सूर्य्य नेत्र हैं, पूर्वोत्तरादि दिशायें श्रोत्र हैं, वेदरूप वाणी खुला हुआ मुख है, वायु प्राण स्थानी है, यह सम्पूर्ण विश्व उसका हृदय स्थानी है और पादरूप पृथिवी है, वह परमात्मा सब भूतों का अन्तरात्मा है, इत्यादि विषय वाक्यों में रूपकालङ्कार=उपचार से अग्नि आदि परमात्मा के मुखादि अवयव वर्णन किये गये हैं वास्तव में वह निराकार है।

सं०-यदि परमात्मा निराकार है तो फिर उसको वैश्वानर रूप से क्यों वर्णन कियागया है? उत्तरः—

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

पद०-वैश्वानरः। साधारणशब्दविशेषात्।

पदा०-(साधारणशब्दविशेषात्) साधारण वैश्वानर शब्द से विशेषता पायेजाने के कारण (वैश्वानरः) परमात्मा का नाम वैश्वानर है।

भाष्य-वैश्वानर परमात्मा का नाम है, क्योंकि जाठराग्नि में साधारण जो वैश्वानर शब्द उससे विषयवाक्य में उसकी विशेषता पाई जाती है, यहां प्रसङ्ग यह है कि वैश्वानरोपासना का मर्म समझने के लिये पांच ऋषि मिलकर उद्दालक के पास गये, तब उद्दालक ने कहा कि हम सब मिलकर कैकेय नाम राजा के पास चलें वह वैश्वानरोपासना का तत्त्व समझता है, राजा ने वायु आदि जड़ देवताओं की उपासना का खण्डन करके वैश्वानरोपासना का इस प्रकार वर्णन किया किः—

यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ छा० ५।१८।१

अर्थ–जो उपासक प्रादेशमात्र सूक्ष्म स्थूल सब भूतों में व्यापक परमात्मा की उपासना करता है वही अन्नादिकों का भोक्ता होता है अर्थात् उसी का जीना सफल है उससे भिन्न और सब निष्फल ही अन्नादिकों का भक्षण करते हैं, इससे आगे स्वर्ग को वैश्वानर का सिर और सूर्य्य को चक्षुःरूप से वर्णन किया गया है, इस प्रकार उक्त विशेषता पाये जाने के कारण वैश्वानर शब्द से यहां परमात्मा का ग्रहण है जड़ जाठराग्नि का नहीं।

सं०–अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैंः—

स्मर्य्यमाणमनुमानं स्यात् ॥२८॥

पद०–स्मर्य्यमाणं। अनुमानं। स्यात्।

पदा०–(स्मर्य्यमाणं) स्मृतिप्रतिपाद्य (अनुमानं) लिङ्ग भी (स्यात्) उक्त अर्थ के साधक हैं।

भाष्य–स्मृति में कथन किया है कि द्यु आदि लोक जिसके मूर्द्धास्थानीय हैं वही परमात्मा है, जैसाकिः—

द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रावदन्ति खं वै नाभिं चन्द्र-सूर्य्यौ च नेत्रे, दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिञ्च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूत प्रणेता ॥

अर्थ–ब्राह्मण लोग द्युलोक को परमात्मा का मुख, आकाश को नाभि, चन्द्र सूर्य्य को नेत्र, दिशाओं को श्रोत्र और पृथिवी को पाद वर्णन करते हैं, वह परमात्मा सब भूतों का नियमन करने वाला है, इत्यादि स्मृतियों मे सिद्ध है कि जिसके प्रकाशमय द्युलोकादि मुर्द्धा हैं वह परमात्मा है, इसलिये प्रकाशाग्नि को उस पुरुष का अवयव वर्णन कियेजाने से वह उपास्य नहीं होसकती।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त कथन करते हैं:—

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्चनेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

पद०—शब्दादिभ्यः । अन्तः । प्रतिष्ठानात् । च । न । इति । चेत् । न । दृष्ट्युपदेशात् । असम्भवात् । पुरुषं । अपि । च । एनं । अधीयते ।

पदा०—(शब्दादिभ्यः) अग्नि आदि शब्दों से (च) और (अन्तः, प्रतिष्ठानात्) अन्दर स्थिति कथन करने से वैश्वानर शब्द जाठराग्नि का बोधक है (चेत्) यदि (इति)ऐसा कहो तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (तथा, दृष्ट्युपदेशात्) परमात्मा की सर्वान्तर दृष्टि का उपदेश कियागया है और (असम्भवात्) जाठराग्नि में उक्त अर्थ का सम्भव नहीं होसक्ता (अपि, च) दूसरी बात यह है कि (एनं) इसी वैश्वानर को कई एक शाखावाले (पुरुषं) पुरुषरूप से (अधीयते) पढ़ते हैं।

भाष्य—"**एषोऽग्निर्वैश्वानरः**"=यह वैश्वानर अग्नि है,इस प्रकार अग्नि का वैश्वानर शब्द से सामानाधिकरण्य कथन करके "**पुरुषे अन्तः प्रतिष्ठितं वेद**"=जो पुरुष के भीतर स्थिर है उस वैश्वानर को जानता है यह कथन किया है, इससे स्पष्ट है कि अग्नि आदि शब्दों तथा अन्तःप्रतिष्ठित कथन करने से वैश्वानर शब्द जाठराग्नि का बोधक है ? इसका उत्तर यह है कि "**दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः**" इत्यादि

वाक्यों में परमात्मा की सर्वान्तर दृष्टि का प्रतिपादन किया है, इसलिये वही वैश्वानर होसक्ता है अन्य जाठराग्नि नहीं, क्योंकि वह जठर में रहने के कारण परिच्छिन्न है सर्वान्तर नहीं, और बात यह है कि रूपकालङ्कार से सूर्य्यादिकों को चक्षुरादि स्थानीय कथन करना जाठराग्नि पक्ष में नहीं घटसक्ता और आचार्य्य लोग भी वैश्वानर को पुरुष शब्द से ही कथन करते हैं इससे परमात्मा को ही वैश्वानर मानना समीचीन है।

सं०—अब वैश्वानर के भूत तथा देवता होने का खण्डन करते हैं:—

अतएव न देवताभूतञ्च ॥ २७ ॥

पद०—अतएव । न । देवता । भूतं । च ।

पदा०—(च) और (अतएव) उक्त युक्तियों से वैश्वानर (देवता, भूतं) किसी देवता तथा भूत विशेष का वाचक (न) नहीं ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में जैमिनि आचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पद०—साक्षात् । अपि । अविरोधं । जैमिनिः ।

पदा०—(जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य (साक्षात्, अपि) साक्षात् ही (अविरोधं) वैश्वानर पद के ईश्वरार्थक होने में विरोधाभाव कथन करते हैं ।

भाष्य—जैमिनि ऋषि यह मानते हैं कि साक्षात्=प्रकरण और इतर हेतुओं पर यदि ध्यान न भी दियाजाय तो भी वैश्वानर शब्द ईश्वर का बोधक है, विश्व शब्द के अर्थ ब्रह्माण्ड के हैं, ब्रह्माण्ड का जो नर=स्वामी हो उसको "विश्वानर" कहते हैं,

विश्वानर एव वैश्वानरः=विश्वानर ही "वैश्वानर" कहाता है, इस प्रकार साक्षात् भी यह शब्द ईश्वर का वाचक है।

सं०-अब उक्त अर्थ में आश्मरथ्य आचार्य्य का मत कथन करते हैं:-

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

पद०-अभिव्यक्तेः। इति। आश्मरथ्यः।

पदा०-(आश्मरथ्यः) आश्मरथ्याचार्य्य का कथन है कि (अभिव्यक्तेः) परमात्मा की अभिव्यक्ति के लिये (इति) वैश्वानरोपासना का विधान है।

भाष्य-अश्मरथी के पुत्र आश्मरथ्याचार्य्य यह मानते हैं कि वैश्वानरोपासना परमात्मा की अभिव्यक्ति=प्रकाश के लिये है अर्थात् जैसे अग्नि प्रकाशमयत्वेन अभिव्यक्त है इसी प्रकार परमात्मा अपनी स्वयंप्रकाशता से सर्वत्र अभिव्यक्त है, इसी अभिप्राय से छान्दोग्य में वैश्वानरोपासना का प्रकरण आया है, जिसका विस्तार "छान्दोग्यभाष्य" में किया गया है।

सं०-अब बादरि आचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

पद०-अनुस्मृतेः। बादरिः।

पदा०-(अनुस्मृतेः) निदिध्यासन के लिये वैश्वानरको प्रादेशमात्र कथन किया गया है यह (बादरिः) बादरि आचार्य्य मानते हैं।

भाष्य-बादरि आचार्य्य का कथन है कि अपरिच्छिन्न वैश्वानर परमात्मा को प्रादेशमात्र हृदय के अभिप्राय से कथन किया गया है और वह निदिध्यासन रूप भक्ति के लिये है॥

सं०—अब उक्त अर्थ में जैमिनि आचार्य्य की सम्मति कथन करते हैं:—

सम्पत्तेरितिजैमिनिस्तथाहिदर्शयति।३१।

पद०—सम्पत्तेः। इति। जैमिनिः। तथाहि। दर्शयति।

पदा०—(सम्पत्तेः) सम्पत्ति के लिये परमात्मा को प्रादेश-मात्र कथन कियागया है (तथाहि) वैसा ही (दर्शयति) शास्त्र में दिखलाया है (इति) यह मत (जैमिनिः) जैमिनि आ-चार्य्य का है।

भाष्य—जैमिनि आचार्य्य का कथन है कि वैश्वानर शब्द वाच्य अपरिच्छिन्न कथन करना सम्पत्तिनिमित्तक है, जैसाकि वाजसनेयि ब्राह्मण में कथन किया है कि "प्रादेशमात्रमिव ह वै देवा सुविदिता अभिसम्पन्नाः"=अपरिच्छिन्न परमा-त्मा को देवताओं ने ध्यानार्थ सम्पत्ति द्वारा प्रादेशमात्र अनुभव किया अर्थात् हृदयदेश में प्राप्त होने के कारण उसको प्रादे-शमात्र कथन किया है,इसी अभिप्राय से कैकेय राजा ने उद्दालक आदि ऋषियों को कहा कि अब मैं वैश्वानर के सिर आदि अङ्गों का वर्णन करता हुआ प्रादेशमात्र ही सम्पादन करूंगा, इत्यादि इस प्रकार देशादि परिच्छेद रहित वैश्वानर परमात्मा के सम्पत्ति-हेतुक प्रादेशमात्र व्यवहार में कोई बाधा नहीं,सम्पत्ति तथा सम्पत् यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं।

सं०—अब उक्त अर्थ में सर्वसम्मत सिद्धान्त कथन करते हैं :—

आमनन्तिचैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

पद०—आमनन्ति । च । एनं । अस्मिन् ।

पदा०—(च) और अन्य आचार्य्य (अस्मिन्) दोनों भ्रुवों के मध्य (एनं) इस वैश्वानर का (आमनन्ति) ध्यान करना कथन करते हैं ।

भाष्य—अन्य आचार्य्य भी इस वैश्वानर पुरुष का दोनों भ्रुवों के मध्यभाग में ध्यान कियाजाना कथनकरते हैं, इसीलिये सर्वव्यापक वैश्वानर को प्रादेशमात्र कथन किया गया है ।

कईएक आचार्य्य इन सूत्रों से मूर्त्तिपूजा का भाव निकालते हैं कि जिसप्रकार भ्रू प्रदेश में वैश्वानर का ध्यान विधान किया है इसी प्रकार मूर्त्ति प्रदेश में भी ईश्वर का ध्यान कियाजाता है, इसी अभिप्राय से प्रादेशमात्र की उक्ति है ? सो ठीक नहीं, क्योंकि सर्वव्यापकत्वेन परमात्मा के सभी प्रदेश कहे जासक्ते हैं, इस से मूर्त्तिपूजा सिद्ध नहीं होसक्ती और भ्रू प्रदेश तो केवल चित्त वृत्ति निरोध करके ईश्वरोपासना सिद्ध करता है नकि इतर वस्तुओं को ईश्वर समझकर ईश्वरोपासन का विधायक है, और जो सूर्य्य चन्द्रमा उसके नेत्र वर्णन किये हैं इस सेभी परमेश्वर एकदेशी सिद्ध नहीं होता किन्तु रूपकालङ्कार से सूर्य्यादिकों को जिसके नेत्र स्थानी वर्णन किया गया है वह सर्वगत है, यदि यह तर्क मान भी लिया जाय कि एकदेशी मूर्त्ति आदिकों में भी उसकी उपासना होसक्ती है तब भीउपसंहार में इस उक्त सूत्र ने यह स्पष्ट करदिया कि औप-

निषद् लोग उस पुरुष को सर्वव्यापक मानते हैं इसीलिये पाषाणादि किसी मूर्त्ति में उसकी उपासना उपनिषदों में विधान नहीं कीगई, इस विषय को महर्षि सूत्रकार फलाध्याय के प्रतीकाधिकरण में "न प्रतीके न हि सः" ब्र० सू० ४।१।४ इत्यादि सूत्रों में विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे, यहां ग्रन्थगौरवभय से विस्तार की आवश्यकता नहीं ॥

इति द्वितीयःपादः समाप्तः

अथ तृतीयःपादः प्रारभ्यते

सं०-द्वितीय पाद में वैश्वानरादि शब्दों का निराकार ब्रह्म में समन्वय प्रतिपादन किया, अब इस पाद में ब्रह्म को द्यौ आदि लोकों का आश्रय प्रतिपादन करने के लिये प्रथम "द्युभ्वाद्यधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

द्युभ्वाद्यायतनंस्वशब्दात् ।१।

पद०-द्युभ्वाद्यायतनं । स्वशब्दात् ।

पदा०-(स्वशब्दात्) स्वशब्द पाये जाने से ब्रह्म (द्युभ्वाद्यायतनं) द्यौ, पृथिवी आदि लोकों का अधिकरण है ।

भाष्य-प्रकृत में "स्व" शब्द श्रुतिस्थ परमात्मवाची आत्मा शब्द के अभिप्राय से आया है "आत्मा" शब्द के पाये जाने से निराकार ब्रह्म ही द्युलोक पृथिवीलोक आदि सब

लोक लोकान्तरों का आयतन=अधिकरण है, जैसाकि मुं० २। २। ५ में वर्णन किया है किः—

यस्मिन् द्यौः पृथिवीचान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्चसर्वैः तमेवैकंजानथ । आत्मानमन्यावाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥

अर्थ-जिसमें द्यु=सुख प्रधान लोक, पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक और सब प्राणों के साथ जिसमें मन ओतप्रोत है उसी एकमात्र ब्रह्म को जानो और उससे भिन्न अन्य देवताओं के उपासना विधायक वाक्यों को छोड़दो, इस विषय वाक्य में "आत्मानं" पद से ब्रह्म ही सब का आश्रय बोधन कियागया है, इसलिये उसी की उपासना कर्त्तव्य है अन्य किसी देवताविशेष की नहीं, इत्यादि अनेक वाक्य इस अधिकरण के विषय जानने चाहियें।

सं०-ननु, "प्राणशरीरनेता" मुण्ड० २। २। ७=प्राण और शरीर का स्वामी है, इस कथन से यह प्रकरण जीव का पाया जाता है ईश्वर का नहीं? उत्तर:—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च ॥ २ ॥

पद०-मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्। च।

पदा०-(च) और (मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्) मुक्त पुरुषों का प्राप्य स्थान कथन किये जाने से ब्रह्म ही सब का आयतन है।

भाष्य–मुक्त पुरुषों का प्राप्य स्थान परमात्मा कथन किया है, जैसाकिः—

भिद्यतेहृदयग्रन्थिश्छिद्यन्तेसर्वसंशयाः ।
क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे ॥

मुण्ड० २ । २ । ८

अर्थ–उस परमात्मा के ज्ञान से हृदयग्रन्थि=दुर्वासना रूप ग्रन्थि भेद को प्राप्त होकर सब संशय दूर होजाते और उस पुरुष के कुसंस्कार रूपी अशुभकर्म्म क्षय होजाते हैं, इस प्रकार ब्रह्म मुक्त पुरुषों के ज्ञान का विषय कथन किया गया है, इसलिये मुं०२। २। ७ श्लोक के प्रकरण का विषय ब्रह्म है जीव नहीं, यदि जीव होता तो इस प्रकरण में उसी के ज्ञान से दुर्वासनाओं का क्षय कथन किया जाता पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि जो सब लोकों का आधार है वही मुक्त पुरुषों की प्राप्ति का स्थान और शरीर प्राणादिकों का नियन्ता निराकार ब्रह्म उक्त प्रकरण का विषय है।

सं०–ननु, परस्पर आकर्षण शक्ति द्वारा सूर्य्यादि पदार्थों को ही द्यु आदि लोकों का आधार क्यों न मानाजाय ? उत्तरः—

नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च ॥ ३ ॥

पद०–न । अनुमानं । अतच्छब्दात् । प्राणभृत् । च ।

पदा०–(अतच्छब्दात्) सूर्य्यादि पदार्थों के आयतन होने में कोई शब्द प्रमाण न पाये जाने से (अनुमानं) अनुमानसिद्ध सूर्य्यादि द्युभ्वादि लोकों के (न) आधार नहीं होसक्ते (च)

और (प्राणभृत्) जीव के आधार होने में भी कोई शब्द प्रमाण नहीं पाया जाता ।

भाष्य—यदि अनुमानसिद्ध परस्पर आकर्षण शक्ति द्वारा सूर्य्यादि लोक ही एक दूसरे का आधार होते तो अवश्य इस प्रकरण में उक्त अर्थ का बोधक कोई शब्द प्रमाण पायाजाता और जीव को भी सबका आधार वर्णन किया जाता पर सूर्यादि के आधार होने में कोई शब्द प्रमाण उपलब्ध न होने से सिद्ध है कि ब्रह्म ही द्युभ्वादि लोकों का आयतन है सूर्य्यादि जड़ पदार्थ नहीं ।

सं०—ननु, जब जीव मुक्त होकर ब्रह्म में मिलजाता है तब द्युभ्वादिकों का आयतन होसकेगा ? उत्तर :—

भेदव्यपदेशात् ॥ ४ ॥

पद०—एकपद० ।

पदा०—(भेदव्यपदेशात्) भेद का कथन पाये जाने से मुक्त जीव और ब्रह्म का अभेद नहीं होसक्ता ।

भाष्य—मुक्ति अवस्था में जीव ब्रह्म नहीं होसक्ता, वहां पर भी भेद रहता है, जैसाकि :—

(१) " समानेवृक्षेपुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः " मुण्ड० ३ । १ । २

(२) "ज्ञाज्ञौद्वावजावीशानीशौ" श्वेता० १ । ९

(३) " प्राज्ञेनात्मना अन्वारूढः" बृ० ४ । ३ । ३५

(४) "नित्योनित्यानांचेतनश्चेतनानां" कठ० ५। १३

अर्थ-(१) प्रकृतिरूप वृक्ष में पुरुष निमग्न है जो अविद्या से मोह को प्राप्त हुआ शोक करता है।

(२) एक ज्ञानी और एक अज्ञानी ईश्वर और जीव दो हैं।

(३) यह जीवात्मा प्राज्ञ=परमात्मा के आश्रित है।

(४) प्रकृत्यादि नित्य पदार्थों में नित्य और जीव रूप चेतन पदार्थों में चेतन है, इत्यादि वाक्यों से जीव ब्रह्म का भेद उपनिषदों में स्पष्ट पाया जाता है, इसलिये मुक्ति अवस्था में भी जीव ब्रह्म नहीं होसक्ता और ब्रह्म न होने से द्युभ्वादिकों का आधार भी नहीं होसक्ता।

सं०-अब उक्त अर्थ को दो सूत्रों से स्पष्ट करते हैं:—

प्रकरणाच्च ॥ ५ ॥

पद०-प्रकरणात्। च।

पदा०-(च) और (प्रकरणात्) प्रकरण भी ब्रह्म का होने से वही द्युभ्वाद्यायतन होसक्ता है जीव नहीं।

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ६ ॥

पद०-स्थित्यदनाभ्यां। च।

पदा०-(च) और (स्थित्यदनाभ्यां) स्थिति तथा अदन क्रिया के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-साक्षीरूप होकर असङ्ग रहने का नाम "स्थिति" और कर्मफल के भोग का नाम "अदन" है, स्थिति तथा

अदन क्रिया का पृथक् २ वर्णन पाये जाने से जीव ईश्वर दोनों भिन्न २ हैं, जैसाकि मुण्ड० ३।१।१. में वर्णन किया है किः—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानंवृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यःपिप्पलंस्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकसीति ॥

अर्थ—अनादिकाल से एक साथ रहने वाले, परस्पर मैत्री वाले ईश्वर और जीवरूप दो पक्षी प्रकृतिरूप वृक्ष को आश्रय किये हुए हैं, उनमें से जीव कर्मफल का भोक्ता और परमात्मा कर्मफल न भोगता हुआ साक्षीरूप से स्थित है, अतएव सिद्ध है कि अल्पशक्ति वाला जीव द्युभ्वाद्यायतन नहीं होसक्ता।

सं०—अब ब्रह्म को भूमा कथन करने के लिये "भूमाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ७ ॥

पद०—भूमा। सम्प्रसादात्। अध्युपदेशात्।

पदा०—(सम्प्रसादात्) प्राण से (अध्युपदेशात्) अधिक होने के कारण (भूमा) भूमा पद से ब्रह्म का ग्रहण है।

भाष्य—छान्दोग्य के सप्तम प्रपाठक में यह कथा है कि नारद ने सनत्कुमार को कहा कि हे भगवन्! अध्ययन कराओ, सनत्कुमार ने कहा कि जो तुम जानते हो सो कहो उससे आगे हम कहेंगे, नारद ने कहा कि भगवन्! मैं केवल ऋग्वेदादि विद्या जानता हूं, इसलिये मंत्रवेत्ता हूं, और मैंने सुना है कि "तरतिशोकमात्मवित्"=आत्मवेत्ता पुरुष शोक को तरता है, मैं शोक को प्राप्त हूं सो मुझको आप

शोक से पार करें,सनत्कुमार ने कहा यह जो ऋग्वेदादि विद्या तुमने अध्ययन की है यह नाम है और नाम ही ब्रह्म है,तुम इसीकी उपासना करो, नारद ने कहा नाम से भी कोई उत्तम है ? सनत्कुमार बोले कि नाम से वाणी बड़ी है, इस प्रकार वाणी से मन, मन से संकल्प, संकल्प से चित्त, चित्त से ध्यान, ध्यान से विज्ञान,विज्ञान से बल, बल से अन्न और अन्न से जल, जल से तेज, तेज से आकाश, आकाश से स्मर=स्मृति, उससे आशा=कामना, आशा से आगे प्राण को ब्रह्मरूप से उपास्य विधान किया, जैसाकि:—

"प्राणो वाव आशाया भूयान् यथा वाव अरा नाभौ समर्पिता एतस्मिन् सर्वं समर्पितमिति" छा० ७। १५। १

अर्थ—प्राण आशा से बड़ा है, जिस प्रकार रथ की नाभि में आरे लगे हुए होते हैं इसी प्रकार सब इन्द्रियें प्राण के आश्रित हैं, इसके अनन्तर सनत्कुमार ने नारद को सत्य का उपदेश किया, सत्य से आगे विज्ञान का, विज्ञान से मति का, मति से श्रद्धा का श्रद्धा से आगे निष्ठा का, उससे कृति=यत्न का, कृति से आगे सुख का, सुख के अनन्तर यह उपदेश किया कि:—

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति" छा० ७। २३। १

अर्थ—जो भूमा है वही सुख है अर्थात् जो सब से बड़ा है वही सुखरूप है अल्प में सुख नहीं, इसलिये भूमा की ही जिज्ञासा करनी चाहिये, तब नारद ने सनत्कुमार से कहा कि आप मुझको भूमा का उपदेश करें, सनत्कुमार ने यह उपदेश किया कि:—

"यत्र न अन्यत्पश्यति न अन्यच्छृणोतिनान्यत् विजानाति स भूमा" छा० ७। २३। २४

अर्थ–सर्वोपरि=सबसे बड़े पदार्थ का नाम "भूमा" है, क्योंकि बहुत के भाव को "भूमा" कहते हैं, इस विषय वाक्य में यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि "भूमा" पद से प्राण का ग्रहण है किंवा परमात्मा का ? उक्त सन्देह की निवृत्ति के लिये सूत्रकार ने कथन किया है कि प्राण से अधिक उपदेश पाये जाने के कारण "भूमा" नाम परमात्मा का है प्राण का नहीं अर्थात् जिस अवस्था में जीव सर्वथा सुखी होजाता है उस सुषुप्ति अवस्था को "सम्प्रसाद" कहते हैं, और सुषुप्ति में प्राणों की चेष्टा ज्यों की त्यों बनी रहने के कारण प्रकृत में प्राण भी "सम्प्रसाद" कहलाता है, जिसप्रकार "नाम" आदि से उत्तरोत्तर "वाक्य" आदि को अधिक वर्णन करते हुए सनत्कुमार ने "प्राण" को बड़ा कथन किया है इसीप्रकार प्राण की अपेक्षा से भी "भूमा" को जानने योग्य कथन करके उसके उत्तर किसी अन्य पदार्थ को बड़ा कथन नहीं किया प्रत्युत "नाल्पेसुखं"=अल्प में सुख नहीं, इस वाक्यशेष से ब्रह्म की अपेक्षा अत्यन्त अल्प प्राण आदि में सुख का निषेध किया है, इसलिये जो महान् सुखराशि जिसके साक्षात्कार से रागद्वेषादि के हेतु अविद्या की निवृत्तिद्वारा जिज्ञासु वीतशोक होकर ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है वही ब्रह्म "भूमा" पद का वाच्यार्थ है प्राण नहीं, क्योंकि प्राण के उपदेश से शोक का निवृत्त होना सर्वथा असम्भव है

और इस प्रकरण में "तरतिशोकमात्मवित्"=आत्मवेत्ता शोक से पार होजाता है, इस वाक्य द्वारा "भूमा" परमात्मा के ज्ञान से शोकनिवृत्ति का प्रतिपादन किया है, इसलिये "भूमा" नाम परमात्मा का जानना चाहिये।

सं०–अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

पद०–धर्मोपपत्तेः। च।

पदा०–(च) और (धर्मोपपत्तेः) धर्मों के पाये जाने से "भूमा" नाम परमात्मा का है।

भाष्य–परमात्मा में कथन किये गये जो धर्म, उनकी उपपत्ति=सिद्धि पाए जाने से यहां "भूमा" परमात्मा का नाम है अर्थात् विभुत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वान्तर्यामित्व, और सर्वाधारत्वादि धर्म जो अल्प पदार्थ में नहीं होसक्ते वह उसमें पाये जाने के कारण भूमा नाम परमात्मा का है परमात्मा की अपेक्षा अत्यन्त अल्प प्रकृति के विकारभूत प्राण का वाची नहीं॥

एक समय गार्गि ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि स्वर्ग, पृथिवी आदि सब पदार्थ किसमें ओत प्रोत हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि आकाश में, गार्गि ने कहा आकाश किसमें ओत प्रोत है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि:—

"सहोवाचैतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाभिवदन्ति, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम-

तमोऽवायु अनाकाशंअसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कम-श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कं अप्राणिमुखममात्रं अनन्त-रमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥ एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावा पृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः" बृहदा० ३।८।८-९

"यो वा एतदक्षरं गार्गि अविदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति स कृपणोऽथ वा एतदक्षरं गार्गि विदित्वा अस्मात् लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः। तद्वा एत-दक्षरं गार्गि अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ नान्यत् अतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यत अतोऽस्ति श्रोतृ नान्यत् अतोऽस्ति मन्तृ नान्यत् अतोऽस्ति विज्ञातृ एतस्मिन्नु खलु अक्षरे गार्गि आ-काश ओतश्च प्रोतश्च इति" बृहदा० ३।८।२३

अर्थ—हे गार्गि! जो तुम ने पूछा कि आकाश किसमें ओत प्रोत है सो वह "अक्षर" है जिसको ब्रह्मवेत्ता लोग इस प्रकार वर्णन करते हैं कि वह न स्थूल, न अणु, न ह्रस्व, न दीर्घ है अर्थात् जो उक्त परिमाण वाला जड़ द्रव्य है उससे वह भिन्न है, और वह लोहित=लाल, स्नेह=चिकना, छाया. तम,

वायु और आकाशरूप भी नहीं, वह असङ्ग है, रस, गंध, नेत्र, श्रोत्र, वाक्, मन, तेज, प्राण, मुख और इन्द्रियों वाला नहीं अर्थात् किसी मान से मापा नहीं जासक्ता, वह केवल अन्दर वा बाहर ही नहीं किन्तु सर्वत्र एकरस व्यापक है, वह किसी को खाता नहीं और न उसको कोई खासक्ता है, उस अक्षर की प्रशासना=आज्ञा में सूर्य्य चन्द्रमादि तथा स्वर्ग पृथिव्यादि स्थित हैं, वह अक्षर अदृष्ट=देखा नहीं जासक्ता पर वह सबको देखता है, और वह स्वयं अश्रुत है पर आप सब सुनता है, वह अमन्ता=मन का विषय नहीं, अविज्ञात=बुद्धि का विषय नहीं, आप सबका ज्ञाता है, उस अक्षर में आकाशादि सब ओत प्रोत हैं, यहां जो यह कहा गया है कि वह मन आदिकों का विषय नहीं, इसका यह अभिप्राय है कि वह असंस्कारी मन, बुद्धि आदिकों का विषय नहीं ॥

अद्वैतवादी इसके यह अर्थ करते हैं कि वह एक ही चेतन है जीव उससे भिन्न नहीं, इसलिये उसका ज्ञाता कोई नहीं और नाही उसका कोई श्रोता होसक्ता है ? पर यह भाव उक्त विषय वाक्य से नहीं पाया जाता, क्योंकि विषय वाक्य में उसको आकाशादिकों का अधिकरण कहा गया है और आकाशादिकों का अधिकरण जीव नहीं होसक्ता, इस प्रकार जिसमें आकाशादिकों की धारणा पाई जाती है वही "अक्षर" पद वाच्य ब्रह्म है ।

सं०—अब परमात्मा को अक्षर पद वाच्य कथन करते हैं:—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ ९ ॥

पद०—अक्षरं । अम्बरान्तधृतेः ।

पदा०—(अम्बरान्तधृतेः) आकाशादिकों की धारणा पाये जाने से (अक्षरं) अक्षर नाम परमात्मा का है ।

सं०—ननु, "नक्षरतीत्यक्षरं"=जिसका नाश न हो उसको "अक्षर" कहते हैं, इस अर्थ से अक्षर नाम प्रकृति का भी है, क्योंकि वह भी नाश नहीं होती, केवल रूपान्तरों में बदल जाती है फिर यहां अक्षर से प्रकृति का ग्रहण क्यों न किया जाय ? उत्तरः—

सा च प्रशासनात् ॥ १० ॥

पद०—सा । च । प्रशासनात् ।

पदा०—(च) और (सा) आकाशादिकों की धृति (प्रशासनात्) प्रशासन करने वाले चेतन परमेश्वर में ही पाई जाती है ।

भाष्य—"एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" बृहदा० ३ । ८ । ९=हे गार्गि ! इस अक्षर=अविनाशी परमात्मा के प्रशासन में सूर्य्य, चन्द्रमा अपनी मर्यादा में स्थिर हैं, इस वाक्य से सूर्यादि लोकों का प्रशासनपूर्वक धारण करना चेतन में पायाजाता है, इसलिये जड़ प्रकृति आकाशादिकों का धारण करने वाली न होसकने के कारण अक्षर पद का वाच्य नहीं होसक्ती ।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि स्वरूप से सर्वथा प्रच्युत न होने और आकाशादि कार्य्यमात्र का उपादानकारण होने से प्रकृति भी स्वकार्य्यभूत आकाशादिकों का धारण करने वाली होसक्ती है

परन्तु प्रशासन=नियन्ता होकर धारण करना प्रकृति का धर्म नहीं, क्योंकि नियन्तृत्व धर्म जड़ में नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त विषय वाक्य में "अक्षर" पद परमेश्वर का ही वाचक जानना चाहिये प्रकृति का नहीं ।

सं०-यद्यपि अक्षर से यहां ब्रह्म ही वाच्य समझा गया है तथापि यहां उसके वाचक ओङ्कारादि वर्णों का ग्रहण क्यों न किया जाय ? उत्तरः—

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ ११ ॥

पद०-अन्यभावव्यावृत्तेः । च ।

पदा०-(च) और (अन्यभावव्यावृत्तेः) दूसरे पदार्थों से व्यावृत्ति पायेजाने के कारण अक्षर पद से यहां ब्रह्म का ही ग्रहण है ।

भाष्य-अन्यभाव=ओंकारादि वर्णों का जो भाव अथवा उसकी बोधक प्रतीकों का जो भाव उनकी व्यावृत्ति=निषेध पाये जाने से अक्षर यहां ब्रह्म का ही नाम है किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, वह व्यावृत्ति "नमस्यप्रतिमाऽस्ति" यजु० ३२।३= उसकी कोई प्रतिमा नहीं, इत्यादि मंत्रों में स्पष्ट है ॥

भाव यह है कि "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" बृहदा० ३।८।११=हे गार्गि ! जो इस अक्षर को न जानकर प्राणों का त्याग करता है वह कृपण है, "अथ एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" बृहदा० ३।८।१२=और जो अक्षर

ब्रह्म को जानकर इस लोक से पयान करता है वह ब्राह्मण=ब्रह्म वेत्ता होने के कारण ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इत्यादि विषय वाक्यों में अक्षर शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण है प्रकृति तथा ओङ्कारादि वर्णों का नहीं।

सं०-अब ईक्षत्यधिकरण का आरम्भ करते हुए जीव ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करते हैं:—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः । १२ ।

पद०-ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् । सः ।

पदा०-(ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्) ईक्षति का कर्म कथन किये जाने से (सः) वह जीव ब्रह्म नहीं होसक्ता।

भाष्य-प्रश्नोपनिषद् के पञ्चम प्रश्न में पिप्पलाद गुरु से सत्य काम ने पूछा कि मरणपर्य्यन्त जो ओंकार का ध्यान करता है उसको किस लोक की प्राप्ति होती है ? इसके उत्तर में पिप्पलाद ने कहा कि:—

"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्य्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं हवै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्मात् जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषं ईक्षतोति" प्रश्न० ५। ५

अर्थ-जो पुरुष त्रिमात्रिक ओंकार अक्षर द्वारा उस परम पुरुष परमात्मा का ध्यान करता है वह तेजोमय प्रकाशस्वरूप

परमात्मा को प्राप्त होता है, जैसे सर्प अपनी केंचुली को छोड़कर पृथक् होजाता है इसी प्रकार ओङ्कार का ध्यान करने वाला संसार के बन्धनों से छूटकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है अर्थात् जीव से परे जो प्रकृति उससे परे जो सूक्ष्म पुरुष परमात्मा है उसका साक्षात्कार करता है, इस विषय वाक्य में यह सन्देह हुआ कि वह जीवात्मा उस ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर ब्रह्म बनजाता है वा उससे भिन्न रहता है ? इसका उत्तर सूत्रकार ने यह दिया है कि ब्रह्म ईक्षति=दर्शन क्रिया का कर्म कथन किये जाने से जीव ब्रह्म नहीं बनसक्ता, यदि ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर जीव ब्रह्म बन जाता तो "परात्परं पुरिशयं पुरुषं ईक्षते"=जीव समुदाय से परे जो प्रकृति उससे परे पुरुष को देखता है, ऐसा न कहा जाता परन्तु उक्त श्रुति वाक्य में ईक्षति क्रिया तथा उसके कर्मभूत ईश्वर का पृथक् निर्देश पाये जाने से जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट है, इसलिये मायावादियों का उक्त कथन ठीक नहीं ॥

सं०—अब ब्रह्म को "दहराकाश" पद का वाच्यार्थ कथन करते हैं:—

दहर उतरेभ्यः । १३ ।

पद०—दहरः । उत्तरेभ्यः ।

पदा०—(उत्तरेभ्यः) वाक्यशेषगत उत्तर हेतुओं से (दहरः) दहर नाम ब्रह्म का है ।

भाष्य—छान्दोग्य में वर्णन किया है कि:—

"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति (१) तं चेद्ब्रूयु यदि-

दमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् (२) यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते इति"

छा० ८।१।१-२-३

अर्थ--यह जो ब्रह्मपुर नाम शरीर इसमें दहर नामक कमल स्थान है उसके भीतर जो सूक्ष्माकाश वह जानने योग्य है, यदि गुरु को शिष्य यह कहे कि यह जो ब्रह्मपुर है उसमें दहर नाम कमल स्थान और उसके भीतर दहर नाम अन्तराकाश है, सो यहां क्या जिज्ञासा करने योग्य है ? इसके उत्तर में गुरु यह कहे कि जैसे यह आकाश है वैसाही हृदय के भीतर आकाश है और उसके भीतर स्वर्ग तथा पृथिवी दोनों स्थित हैं, इस वाक्य में हृदय के अन्दर जो सूक्ष्माकाश कथन किया है वह भूताकाश है किंवा ब्रह्म है ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये दहराधिकरण का इस प्रकार आरम्भ किया गया है कि दहराकाश ब्रह्म का नाम है ? क्योंकि वाक्यशेषगत हेतुओं से ऐसा ही पाया जाता है ! जैसाकिः—

"एष आत्मा अपहतपाप्माविजरोविमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प इति"

छा० ८।१।५

अर्थ—यह आत्मा=ब्रह्म अपहतपाप्मा=पाप से रहित, विजर=जरावस्था से रहित, विमृत्यु=मृत्यु से रहित, विशोक=शोक से रहित, अविजिघत्स=खाने की इच्छा से रहित, अपिपास=पिपासा रहित और सत्यकाम तथा सत्य संकल्प है, इस वाक्यशेष में जो अपहतपाप्मादि विशेषण कथन किये गये हैं वह भूताकाश में न बनसकने के कारण परमात्मा के हैं, इसलिये वही "दहराकाश" पद का वाच्यार्थ है भूताकाश नहीं ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

गतिशब्दाभ्यांतथाहि दृष्टंलिङ्गं च ॥१४॥

पद०—गतिशब्दाभ्यां। तथाहि। दृष्टं। लिङ्गं। च।

पदा०—(गतिशब्दाभ्यां) गति तथा शब्द द्वारा उक्त अर्थ की सिद्धि होती है (च) और (तथाहि) वैसा ही (दृष्टं, लिङ्गम्) उक्त अर्थ का साधक लिङ्ग भी पाया जाता है।

भाष्य—ब्रह्म में जीवों की प्रतिदिन गति पाये जाने और इसी प्रकार ब्रह्म में लय होने का लिङ्ग पाये जाने से यहां "दहराकाश" पद ब्रह्म का बोधक है, जैसाकि ब्रह्म में गति विधायक विषयवाक्य में वर्णन किया है कि:—

"तथापि हिरण्यरूपनिधिंनिहितं अक्षेत्रज्ञा। उपरि उपरि संचरन्तो न विन्देयु एवमेव इमाः सर्वाः प्रजाः अहर अहर गच्छन्त्यहृताः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः इति" छा० ८।३।२

अर्थ-जिस प्रकार खेत में गड़े हुए सुवर्णरूप धन को न जानकर खेत के स्वामी ऊपर २ घूमते हैं और उस धन को नहीं पासक्ते इसी प्रकार यह सब प्रजा प्रतिदिन ब्रह्मलोक को प्राप्त होती हुई उसको नहीं पासक्ती, क्योंकि यह अनृत=अज्ञान से ढकी हुई है, इस वाक्य द्वारा ब्रह्म में जीवों की गति प्रतिपादन करने और "ब्रह्मलोक" शब्द के पाये जाने से सिद्ध है कि यहां दहराकाश का प्रकरण ब्रह्म के अभिप्राय से आया है भूताकाश के अभिप्राय से नहीं, उक्त अर्थ का साधक लिङ्ग वाक्यान्तर द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है कि "सतासोम्य तदा सम्पन्नो भवति" छां० ६ । ८ । १=हे सोम्य ! सुषुप्ति अवस्था में जीव ब्रह्म के साथ मिलजाता है, यहां ब्रह्म के साथ मिलनारूप लिङ्ग "दहराकाश" के ब्रह्मार्थक होने में गमक जानना चाहिये ।

स्वामी शङ्कराचार्यजी के अनुयायी "ब्रह्मलोक" शब्द के यह अर्थ करते हैं कि "ब्रह्मैवलोकः ब्रह्मलोकः"=ब्रह्म ही लोक है, "ब्रह्मलोकः ब्रह्मणो लोकः"=ब्रह्म का जो लोक नाम दर्शन उसको "ब्रह्मलोक" कहते हैं, यह अर्थ नहीं करते, इस अर्थ के न करने का कारण यह है कि उन्होंने जीव को ब्रह्म बनाना है, और यह आशय ब्रह्म के लोक अर्थ करने से नहीं निकल सक्ता, हम यहां और क्या कहें, "स्वामी शङ्कराचार्य्य" का यह अर्थ सम्पूर्ण पौराणिक मर्य्यादा से

विरुद्ध है, क्योंकि पौराणिक सम्प्रदाय में ब्रह्म का लोकविशेष माना गया है, और "एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" बृहदा० ३।८ ९=हे गार्गि! इस अक्षर की प्रशासना में सूर्य्य चन्द्रमा ठहरे हुए हैं, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म में ही संसार की धृति पाये जाने से दहराकाश ब्रह्म का नाम है।

सं०—अब उक्त अर्थ को दो सूत्रों से स्पष्ट करते हैं:—

धृतेश्चमहिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः॥१६॥

पद०—धृतेः। च। महिम्नः। अस्य। अस्मिन्। उपलब्धेः।

पदा०—(धृतेः) संसार का धारण पाये जाने (च) और (अस्य) संसार की (महिम्नः) महिमा (अस्मिन्) ब्रह्म में (उपलब्धेः) उपलब्ध होने से दहराकाश ब्रह्म का नाम है।

भाष्य—"अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय" छां० ८।४।१=ब्रह्म ही सब लोकों की मर्य्यादा तथा उनकी यथाधिकार स्थिति के लिये विधृति=धारण करने वाला है, इस प्रकार आत्मा का प्रकरण चलाकर उसको संसार मात्र का धारण करने वाला कथन करना दहराकाश के ब्रह्मार्थक होने में प्रमाण है, यदि प्रकृत में भूताकाश ही "दहर" पद का वाच्यार्थ होता तो उसको विधृतिरूप कथन न किया जाता, क्योंकि भूताकाश में लोकमात्र के धारण करने का सामर्थ्य प्रमाण बाधित तथा युक्ति रहित है और संसाररूप महिमा की

उपलब्धि भी ब्रह्म में पाई जाती है, जैसाकि "एतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पूरुषः"=यह संसाररूप महिमा उसके एकदेश में है और पुरुष उससे अधिक है, इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट है, इसलिये सम्पूर्ण महिमा का आधारभूत ब्रह्म ही "दहराकाश" पद का वाच्यार्थ जानना चाहिये ।

प्रसिद्धेश्च ॥ १६ ॥

पद०-प्रसिद्धेः । च ।

पदा०-(च) और (प्रसिद्धेः) प्रसिद्धि से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-दहराकाश इसलिये भी ब्रह्म का नाम है कि आकाश शब्द परमेश्वर में प्रसिद्ध है, जैसाकि "आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता" छा० ८।१४।१=आकाश ही नाम रूप को धारण करने वाला है "सर्वाणि ह वा इमानि-भूतानि आकाशादेवसमुत्पद्यन्ते" छा० १।९।१=सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, इत्यादि प्रयोग देखे जाने से आकाश नाम की ब्रह्म में प्रसिद्धि पाई जाती है ।

सं०-अब जीवविषयक पूर्वपक्ष करके उसका समाधान करते हैं:—

इतरपरामर्शात्सइतिचेन्नासम्भवात् ॥ १७ ॥

पद०-इतरपरामर्शात् । सः । इति । चेत् । न । असम्भवात् ।

पदा०—(इतरपरामर्शात्) जीव का परामर्श पाये जाने से (सः) वही "दहर" पद का वाच्यार्थ है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (असम्भवात्) उसमें उक्त अर्थ सम्भव नहीं ।

भाष्य—यदि वाक्यशेष के बल से "दहर" पद द्वारा परमेश्वर का ग्रहण किया जाय तो जीव विषयक परामर्श=वाक्यशेषद्वारा सम्बन्ध पायेजाने के कारण उक्त पद का अर्थ जीव ही क्यों न मानाजाय अर्थात् "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाच" छा० ८।३।४=यह जीव इस शरीर को छोड़कर परंज्योति को प्राप्त हो स्वरूप में स्थिर होजाता है, यह आत्मा अमृत है, इस वाक्य में जीव का परामर्श पायेजाने से उसी का नाम "दहराकाश" है ब्रह्म का नहीं ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि उपनिषद् में कथन किये हुए अपहतपाप्मादि गुणों का जीव में असम्भव है, अल्पज्ञ अल्प शक्ति वाला पाप पुण्य के अनुसार सुख दुःख का भोक्ता जीव परमेश्वर की भांति अपहतपाप्मादि गुणों वाला नहीं होसक्ता, इसलिये दहराकाश पद परमेश्वर का ही वाचक जानना चाहिये, और जो उक्त उपनिषद् में जीव को अमृत, अभय तथा ब्रह्म कहा गया है यह भाव जीव में तब आते हैं जब वह उस परंज्योति को प्राप्त होता है, इससे सिद्ध है कि जीव ब्रह्म नहीं ।

सं०—ननु, प्रजापति वाक्य से जीव में अपहतपाप्मादि गुण कथन किये गये हैं फिर दहराकाश पद से जीव का ही ग्रहण क्यों न किया जाय? उत्तरः—

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १८ ॥

पद०—उत्तरात्। चेत्। आविर्भूतस्वरूपः। तु।

पदा०—(चेत्) यदि (उत्तरात्) उत्तर वाक्य से जीव का ग्रहण मानकर उसको दहराकाश पद का अर्थ मानें तो ठीक नहीं, क्योंकि (आविर्भूतस्वरूपः) उस वाक्य में प्रकट स्वरूप वाले जीव का ग्रहण है।

भाष्य—सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, और "उत्तर" पद से प्रजापति वाक्य अभिप्रेत है, प्रजापतिवाक्यगत अपहत पाप्मत्वादि गुणों से जीव का ग्रहण मानकर उसको दहराकाश पद का वाच्यार्थ मानना इसलिये ठीक नहीं कि उक्त वाक्य से जीव का निर्मलस्वरूप=ईश्वरोपासना से प्राप्त होने वाली अवस्था मानी गई है परमेश्वर की भांति सर्वथा पाप्मादि दोषों से रहित होना अभिप्रेत नहीं।

इसका विषयवाक्य छां० ८। ७। १ में इस प्रकार है कि "य आत्मा अपहतपाप्मा०"=जो आत्मा पाप्मादि दोषों से राहित, विजर=जरावस्था रहित, अमृत=शोकराहित, और खाने की इच्छा तथा प्यास से रहित है, सत्य काम है, सत्य सङ्कल्प है, वही ढूंढ़ने योग्य है, जो उक्त गुणों वाले परमात्मा को जानता है वह सब लोकों को प्राप्त होता और सब कामनाओं को पाता

है, इस वाक्य को सुनकर इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास गये और उन्होंने वहां ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य्य किया तब प्रजापति ने कहा तुम किस इच्छा से आये हो, वह बोले कि आत्मज्ञान की इच्छा से आये हैं, तब प्रजापति ने उनको यह उपदेश किया कि:—

"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मा होवाच एतत् अमृतमभयं एतत् ब्रह्म इति" छा०८।७।४

अर्थ—जो यह पुरुष अक्षि में दीखता है वह आत्मा है और वही अमृत, अभय तथा ब्रह्मरूप है, इस वाक्यको सुनकर वह छाया को आत्मा निश्चयकर चले गये, विरोचन फिर लौटकर नहीं आया और इन्द्र उक्त आत्मा में "दोष" समझकर फिर प्रजापति के पास गया, प्रजापति ने कहा ३२ वर्ष पर्य्यन्त और तप कर जब तप करचुका तब यह उपदेश किया कि:—

"य एषः स्वप्ने महीयमानश्चरति एष आत्मा इति होवाच एतदमृतमभयं एतद् ब्रह्म इति" छा० ८।१०।१

अर्थ—जो स्वप्नावस्था में अनेक प्रकार के स्वाप्न पदार्थों को देखता हुआ विचरता है वही आत्मा अमृत, अभय तथा ब्रह्मरूप है, इसमें भी इन्द्र ने दोष कहे, तब प्रजापति ने यह कथन किया कि:—

"तद्यत्र एतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रपन्नःस्वप्नं न विजानाति एष आत्मा इति होवाच एतदमृतमभयं एतत् ब्रह्म इति" छा० ८। ११ ।१।

अर्थ—जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष आनन्द में मग्न होकर स्वप्न को नहीं देखता अर्थात् जो सुषुप्ति अवस्था का साक्षी आत्मा है वही अमृतादि विशेषणों वाला ब्रह्म है, इसमें भी इन्द्र ने दोष कहे तब प्रजापति ने यह उपदेश किया कि:—

"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः, अशरीरो वायुः अभ्रं विद्युतस्तनयित्नुः अशरीराणि एतानि तद्यथाएतानिअमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यन्ते, एवमेव एष सम्प्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुष इति" छा० ८। १२। १–२

अर्थ—अशरीरी को सुख दुःख स्पर्श नहीं करते, वायु अशरीर है, मेघ अशरीर है, बिजुली अशरीर है और बिजुली की चमक अशरीर है, जिस प्रकार यह सब इस आकाश से उठकर उस परं ज्योति को प्राप्त होके अपने २ रूप में स्थित होजाते हैं इसी प्रकार यह सम्प्रसाद नाम जीव इस शरीर से उठकर उस परंज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप में स्थित होजाता है, इस अवस्था को प्राप्त हुआ जीव उत्तम पुरुष कहलाता है, यहां यह शङ्का होती है कि जब "सम्प्रसाद" शब्द से जीव का ग्रहण पाया जाता है तो फिर जीव के दहराकाश होने में क्या बाधा? इसका उत्तर सूत्र के "आविर्भूतस्वरूपस्तु" इस पाद द्वारा इस प्रकार

दिया गया है कि ज्ञानावस्था से प्रथम जीव का स्वरूप अविद्यादि दोषों से ढका हुआ होता है जो ज्ञान होने पर निर्मल होजाता है, इसी अभिप्राय से जीव को ब्रह्म के समान अपहतपाप्मादि गुणों वाला कथन किया है परन्तु परमेश्वर का स्वरूप कदापि अविद्यादि दोषों से आच्छादित न होने के कारण वही "दहराकाश" पद द्वारा व्यवहार करने योग्य है जीव नहीं, इसलिये ब्रह्म को ही दहराकाश मानना समीचीन है।

यहां भी स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने "अहंब्रह्मास्मि" तथा "तत्त्वमसि" लगाकर जीव को ब्रह्म बना दिया है, जैसाकिः—

"यावदेव हि स्थाणाविवपुरुषबुद्धिंद्वैतलक्षणामविद्यां निवर्त्तयन् कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वम्"

शं० भा० ब्र० सू० १ । ३ । ९

अर्थ—स्थाणु में पुरुष बुद्धि की भांति इस द्वैत लक्षण वाली अविद्या को जब तक पुरुष निवृत्त नहीं करता तब तक इस जीव का जीवपन बना रहता है, फिर आगे लिखा है कि जब श्रुति से यह बोध होजाता है कि तू संसारी नहीं किन्तु कूटस्थ नित्य ब्रह्म है तब कूटस्थ नित्य ब्रह्म ही यह जीव होजाता है।

स्वामी "रामानुज" लिखते हैं कि सर्व लोक लोकान्तरों की मर्य्यादा स्थिर करने के गुण जीव में कदापि नहीं आसक्ते, और "जगद्व्यापारवर्ज्जमित्यत्रोपपादयिष्यामः" श्री०भा०

ब्र०सू०१ । ३ । १८=मुक्त जीव का ऐश्वर्य भी ईश्वर के समान नहीं होसक्ता, यह हम "जगद्व्यापारवर्ज्ज" इस सूत्र में कहेंगे, इस कथन से विशिष्टाद्वैतवादी भाष्यकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि इस सूत्र में जीव के ब्रह्म बनने का गन्धमात्र भी नहीं।

सं०-यदि जीव के ब्रह्म होने का इस प्रकरण में कथन नहीं तो जीव का वर्णन क्यों कियागया है? उत्तरः—

अन्यार्थश्चपरामर्शः ॥ १९ ॥

पद०-अन्यार्थः । च । परामर्शः ।

पदा०-(च) और (अन्यार्थः) मुक्त जीव के अभिप्राय से (परामर्शः) यह प्रकरण है।

भाष्य-अन्य=मुक्त जीव का कथन करने के लिये यह परामर्श है कि उस परमात्मा की दहर विद्या को जानकर जीव निष्पाप होजाता है, इस अभिप्राय से यहां जीव का कथन है।

सं०-ननु, "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः"=इस ब्रह्मपुर में जो आकाश वह दहराकाश है, इस प्रकार उसको अल्प कथन किया गया है फिर वह अल्पदेशी परिच्छिन्न पदार्थ ब्रह्म कैसे होसक्ता है? उत्तरः—

अल्पश्रुतेरितिचेत्तदुक्तम् ॥ २० ॥

पद०-अल्पश्रुतेः । इति । चेत् । तत् । उक्तम् ।

पदा०-(अल्पश्रुतेः) अल्पदेशी का श्रवण होने से ब्रह्म का ग्रहण नहीं होसक्ता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं (तत्, उक्तम्) इसका उत्तर पूर्व कथन कर आये हैं।

भाष्य-यदि यह कहाजाय कि अल्पकथन कियेजाने से दहराकाश ब्रह्म का नाम नहीं तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उसको व्योम के सम होने से अल्प कथन किया गया है अर्थात् सब पदार्थों के भीतर होने से आकाश के सम अल्प है, इसका उत्तर ब्र० सू०१। २।७ में दिया गया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०-ननु, "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" मुं० ३। ३=मुक्त जीव ब्रह्म के समान होजाता है, इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्म के भाव जीव में पायेजाने से जीव ब्रह्म क्यों नहीं ? उत्तरः—

अनुकृतेस्तस्यच ॥ २१ ॥

पद०-अनुकृतेः। तस्य। च।

पदा०-(च) और (तस्य) ब्रह्म का (अनुकृतेः) अनुकरण करने से मुक्त जीव ब्रह्म के समान होता है ब्रह्म नहीं।

भाष्य-उस ब्रह्म की अनुकृति=अनुकरण करने से वह मुक्त पुरुष "अपहतपाप्मा"=निष्पाप होजाता है अर्थात् उस परमात्मा के सद्गुणों को अपने में धारण करने से वह ब्रह्म के समान कहा गया है सर्वथा ब्रह्मरूप होजाने के अभिप्राय से नहीं, इसलिये उस असीम परमात्मा के गुणों को अनुकरण करनेवाला तुच्छ जीव ब्रह्म कदापि नहीं होसक्ता, इसी अभिप्राय से मुं० ३।३ में वर्णन किया है कि:—

यदा पश्यःपश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशंपुरुषंब्रह्मयोनिम्-
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजनःपरमंसाम्यमुपैति।

अर्थ-जब द्रष्टा जीव स्वयंप्रकाश जगत्कर्त्ता परमात्मा को जानलेता है तब वह तत्ववेत्ता पुण्यपाप से रहित होकर निरंजन= सर्व क्लेशों से मुक्त हुआ २ परमेश्वर की समता को प्राप्त होता है, इस प्रकार यहां केवल तद्धर्मतापत्ति को स्पष्ट किया है जीव ब्रह्म बनजाता है इस भाव को नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रमाणान्तर से स्पष्ट करते हैं:—

अपिचस्मर्य्यते ॥ २२ ॥

पद०-अपि। च। स्मर्य्यते।

पदा०-(च) और (स्मर्य्यते,अपि) स्मरण भी कियाजाता है।

भाष्य-"तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" मुण्ड० २।२।१०=उसी परब्रह्म के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं अर्थात् उस स्वप्रकाश के प्रकाश का अनुकरण करते हैं, और गी० १४। २ में भी वर्णन किया है कि:—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता।
सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

अर्थ-इस ब्रह्मज्ञान को पाकर मेरे समान धर्म को प्राप्त होते हैं अर्थात् जैसे मैं ब्रह्मज्ञानी हूं वैसे वह भी ब्रह्मज्ञानी होजाते हैं,फिर न सृष्टि की उत्पत्ति में उत्पन्न होते और न प्रलय में लय होते हैं,

यह कथन ज्ञान के महत्व की दृढ़ता के लिये है, इस श्लोक से भी यही सिद्ध हुआ कि मुक्त पुरुष निष्पाप होने से ब्रह्म के धर्म्मों को प्राप्त होता है ब्रह्म कदापि नहीं बनसक्ता।

सं०-अब कठोपनिषद् के "अंगुष्ठमात्र" इत्यादि वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय दिखलाने के लिये प्रमिताधिकरण का आरम्भ करते हैं:—

शब्दादेवप्रमितः ॥ २३ ॥

पद०-शब्दात्। एव। प्रमितः।

पदा०-(शब्दात्) शब्द प्रमाण पायेजाने के कारण (प्रमितः, एव) अंगुष्ठमात्र पद से परमात्मा का ही ग्रहण है।

भाष्य-"अंगुष्ठमात्र" कथन से परमात्मा का ही ग्रहण है जीवात्मा का नहीं, क्योंकि "ईशान" इत्यादि शब्द प्रमाणों से ऐसा ही पाया जाता है, जैसाकि:—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनितिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥
अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्वः॥

कठ० ४।१२-१३

अर्थ-अंगुष्ठमात्र पुरुष प्रत्येक जीवात्मा के भीतर व्यापक है, वही सब भूत भविष्यत् पदार्थों का ईश्वर है, जो जिज्ञासु उस पुरुष को स्वयं जानलेता है उससे फिर वह अपने आपको

नहीं छिपाता, अंगुष्ठमात्र पुरुष जो विना धूमवाली ज्योति के समान है वह कालकृतपरिच्छेद से रहित है, वही आज है, वही कल होगा उसी को सदा एकरस कूटस्थ नित्य जानना चाहिये, इस प्रकार भूत भविष्यत् में सब पदार्थों पर ईशन करने वाला ब्रह्म ही अंगुष्ठमात्र पद से ग्रहण करने योग्य है, ईशनयोग्यता न पायेजाने के कारण जीव नहीं, इसी अभिप्राय से विशिष्टाद्वैत भाष्यकार स्वा० "रामानुज" का कथन है किः—

"नच भूतभव्यस्य सर्वस्येशितृत्वं कर्मपरवशस्य जीवस्योपपद्यते" श्री० भा० ब्र० सू० १।३।२४

अर्थ—अपने कर्मों के अधीन जीव भूत भविष्यत् पदार्थों का ईश्वर कदापि नहीं होसक्ता, और जो यह शङ्का रह जाती है कि व्यापक ब्रह्म को अंगुष्ठमात्र क्यों कहा है ? इसका उत्तर यह है कि अंगुष्ठ परिमाण वाला जो मनुष्य का हृदय उसमें जीवात्मा का निवास होने और परमात्मा को भी उसमें व्यापक होने से अंगुष्ठमात्र कहा गया है, यह बात सर्वसम्मत है कि यहां परमात्मा का प्रकरण है, इसलिये परमात्मा को ही यहां अंगुष्ठमात्र मानना चाहिये, स्वामी शङ्कराचार्य्यजी भी यहां यही मानते हैं कि ब्रह्म विषयक प्रश्न होने से यहां ब्रह्म का ही ग्रहण है, जैसाकिः—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥

कठ० २।१४

अर्थ-हे यम! जो आप धर्माधर्म के फल से अतिरिक्त जानते हैं उसका कथन करो, इस प्रकार यहां नचिकेता ने ब्रह्म विषयक प्रश्न किया है, इसलिये "अंगुष्ठमात्र" पद द्वारा ब्रह्म का ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं।

यदि कोई साकारवादी यह प्रश्न करे कि जब हृदय की उपाधि से अंगुष्ठमात्र कहलासक्ता है तो मूर्त्तिरूप उपाधि से मूर्त्तमात्र क्यों नहीं कहलासक्ता? इसका उत्तर सूत्रकार ने "स्थानादिव्यपदेशाच्च" ब्र०सू० १।२।१४ में इस प्रकार दिया है कि ब्रह्म का स्थानादि कथन व्याप्यव्यापकभाव से है तादात्म्यभाव * के अभिप्राय से नहीं।

सं०-ननु, पशु पक्षी, मनुष्यादि सब का हृदय एक परिमाण वाला न होने से ब्रह्म को अंगुष्ठमात्र कथन करना ठीक नहीं? उत्तरः—

हृद्यपेक्षयातुमनुष्याधिकारत्वात् ॥२४॥

पद०-हृदि। अपेक्षया। तु। मनुष्याधिकारत्वात्।

पदा०-(मनुष्याधिकारत्वात्) आत्मविद्या में मनुष्यों का अधिकार पायेजाने के कारण (हृदि) हृदयदेश में अंगुष्ठमात्र कथन (अपेक्षया) अपेक्षा से है वस्तुतः नहीं।

भाष्य-ब्रह्मविद्या में मनुष्यों का अधिकार होने के कारण मनुष्य के हृदय की अपेक्षा परमात्मा को अंगुष्ठमात्र कथन किया है, इसलिये उक्त कथन में पशु, पक्षी के हृदय की अपेक्षा नहीं॥

---

* तादात्म्यभाव-जैसे रुई में कपड़ा और मिट्टी में घड़ा।

सं०—अब देवभाव को प्राप्त हुए पुरुषों का कर्म में अधिकार कथन करने के लिये "देवताधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

तदुपर्यपिबादरायणः सम्भवात् ॥ २६ ॥

पद०—तदुपरि । अपि । बादरायणः । सम्भवात् ।

पदा०—(सम्भवात्) योग्यता पायेजाने के कारण (तदुपरि) मनुष्य पदवी से ऊपर (अपि) भी कर्म का अधिकार बना रहता है (बादरायणः) ऐसा बादरायण आचार्य्य मानते हैं ।

भाष्य—बादरायण आचार्य्य यह मानते हैं कि मनुष्य पदवी से ऊपर देव, ऋषि, मुनि, पदवियों में भी कर्म का अधिकार बना रहता है, जैसाकि यजु० ४० । २ में वर्णन किया है कि:—

कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवंत्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अर्थ—वैदिक यागादि कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ ही सौ वर्ष पर्य्यन्त जीने की इच्छा करे, ऐसा करने पर ही पाप से लिपायमान नहीं होता अन्यथा कोई उपाय नहीं, इत्यादि मन्त्रों द्वारा सब अवस्थाओं में कर्मानुष्ठान का विधान पायेजाने के कारण देवादि पद प्राप्त होने पर भी कर्माधिकार बना रहता है ।

स्मरण रहे कि देवता, ऋषि तथा मनुष्य कोई भिन्न जाति नहीं किन्तु एक ही मनुष्यजाति के अवान्तर भेद हैं अर्थात् विद्यादि गुणों की आधिकता से मनुष्यजाति की अवस्था

विशेष हैं, इसी अभिप्राय से बृहदा० १।४।१. में वर्णन किया है कि "ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहंमनुरभवं सूर्य्यश्चेति"= ब्रह्मभाव की उपलब्धि होने पर वामदेव ने कहा कि मैं ही मनु तथा मैं ही सूर्य्य हूं, जब यहां मनुष्यजाति में से ही तत्वज्ञान के आधिक्य होने से वामदेव को ऋषि कथन किया गया है तो फिर ब्रह्मविद्यादि दिव्य गुणों की अधिकता के कारण देवता भी मनुष्य जाति में से ही क्यों न मानेजायें, हमारे विचार में तो यह पौराणिक भाव की झलक है जो देवताओं को अलौकिक माना जाता है, और गीता भी देवताओं को मनुष्यवर्ग से पृथक् वर्णन नहीं करती, जैसाकिः—

"द्वौभूतसर्गौलोकेस्मिन् दैव आसुर एव च" गी० १६।६० में वर्णन किया है कि मनुष्यों में दो श्रेणी हैं एक देव और दूसरे असुर, और जो स्वामी "शङ्कराचार्य्य" तथा स्वामी "रामानुज" ने देवताओं को यहां पौराणिकभाव से अलौकिक माना है, इसका उत्तर यह है कि उक्त आचार्य्यों के हृदय में पौराणिकभाव की झलक पड़ चुकी थी, यह उनका आत्मिकबल है जो पौराणिकभाव के पड़ने पर भी सहस्रों स्थानों पर उक्त भाव को मर्दन करके आगे बढ़ जाते हैं, यह उनका न केवल आत्मिकबल है प्रत्युत औपनिषद ज्ञान का भी यह बल है जो उक्त आचार्य्य पौराणिक सीमा को तोड़कर निराकार "एकमेवाद्धितीयं" मानने में शङ्कराचार्य्य और "निरवधिकातिशय" कल्याणगुणाकर मानने में "स्वामी रामानुज आगे बढ़ते हैं ॥

और जो कहीं २ पौराणिक भावों के भक्त बनने के भाव उक्त आचार्यों में हैं, इस विषय को सतर्क हमने इसी भाष्य की भूमिका में लिखा है सो उसी भक्ति के भाव से उक्त आचार्यों ने इस देवताधिकरण में देवताओं को अलौकिक माना है ।

सूत्रकार का आशय इस अधिकरण में यह है कि देहधारी मनुष्य, देव, ऋषि आदि किसी पदवी में क्यों न हों उनको सब अवस्थाओं में कर्म का अधिकार रहता है ॥

सं०—ननु, कर्मों के अनुष्ठान तथा निषेध का परस्पर विरोध होने से देवताओं को कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं ? उत्तरः—

विरोधःकर्मणीतिचेन्नानेक-
प्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २६ ॥

पद०—विरोधः । कर्मणि । इति । चेत् । न । अनेकप्रतिपत्तेः । दर्शनात् ।

पदा०—(कर्मणि) तत्त्ववेत्ता के कर्मानुष्ठान में (विरोधः) विरोध है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अनेकप्रतिपत्तेः, दर्शनात्) अनेक प्रकार की प्रतिपत्ति पाईजाती है ।

भाष्य—कहीं २ शास्त्र में कर्मफल को अनित्य कथन करते हुए कर्मानुष्ठानियों की निन्दा की है और तत्त्वज्ञान से सब कर्मों का क्षय भी प्रतिपादन किया है, जैसाकि:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

मुण्ड० २ । २ । ८

प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरंयेषुकर्म। एतच्छ्रेयोयेऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति मुण्ड० १।२।७

अर्थ—उस परावर ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा जब अविद्यारूपी हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है तब सब संशय नष्ट होकर उसके सब कर्म क्षय होजाते हैं, यह यज्ञरूप नौकायें अदृढ़ हैं जिनमें अठारह प्रकार के कर्म कहे गये हैं, जो मूढ़ उक्त यज्ञादि कर्मों की श्रेष्ठता वर्णन करते हैं वह पुनः २ जन्म मरण को प्राप्त होते हैं, इत्यादि वाक्यों में कर्म का खण्डन और "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" छान्दो० ८।१५।१=इन्द्रिय संयमादि कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में कर्मों का मण्डन पाया-जाता है, इस प्रकार परस्पर विधि निषेध का विरोध होने के कारण देवताओं के लिये कर्मानुष्ठान की आवश्यक्ता नहीं, क्योंकि वह तत्त्व ज्ञान के बल द्वारा मनुष्यभाव को छोड़कर देवभावको प्राप्त होचुके हैं? इसका उत्तर यह है कि अनेक प्रकार की प्रतिपत्ति=व्यवस्था पाये-जाने से उक्त विरोध नहीं होसक्ता अर्थात् "भिद्यतेहृदयग्रन्थिः" इत्यादि वाक्यों का अभिप्राय ब्रह्मदर्शी पुरुष सम्बन्धी पापादि कर्मों की निवृत्ति में और "प्लवाह्येते अदृढा" का आशय केवल यज्ञादि कर्मों को प्रधान मानने वालों की मूढ़ता बोधन में है, क्योंकि वेद कर्म्म ज्ञान का समुच्चय विधान करता है, जैसाकि उक्त छान्दोग्य वाक्य से स्पष्ट है कि

ज्ञान दृष्टि से इन्द्रिय संयमादि कर्म करता हुआ चित्तवृत्तियों को परमात्मा में लय करके मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

सं०—ननु, उक्त रीति से कर्मसम्बन्धी विधि निषेध वाक्यों में विरोध न हो पर अग्न्यादि अनित्य पदार्थों को वर्णन करनेवाले वेद में तो अवश्य विरोध है, क्योंकि वह अनित्य पदार्थों के वर्णन करने से स्वतःप्रमाण नहीं होसक्ता ? उत्तरः—

शब्द इतिचेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानु-मानाभ्याम् ॥ २७ ॥

पद०—शब्दे । इति । चेत् । न । अतः । प्रभवात् । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

पदा०—(शब्दे) वेद में विरोध आता है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अतः, प्रभवात्) वेद से अग्न्यादि पदार्थों की उत्पत्ति मानी गई है, और (प्रत्यक्षानुमानाभ्यां) श्रुति स्मृति से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य—"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेनसम्बन्धः०" पू०मी० १ । १ । ५=शब्द=वेद का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध होने से इतर प्रमाणों की अपेक्षा विना ही यागादि कर्मों का प्रतिपादक वेद स्वतःप्रमाण है, इस प्रकार समानतन्त्र= पूर्वमीमांसा में जो वेद को स्वतःप्रमाण सिद्ध किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि यागादि अनित्य कर्म तथा उनके साधनभूत अग्न्या-

दि लौकिक पदार्थ अनित्य हैं और अनित्य पदार्थ को प्रतिपादन करने वाला वेद भी भारतादि की भांति पौरुषेय होने से स्वतःप्रमाण नहीं होसक्ता, और नाही उसमें भ्रम, प्रमादादि दोषों का अभाव होसक्ता है जिससे वह प्रमाण मानाजाय, इस-प्रकार श्रौत अर्थ को निरूपण करने के लिये दोनों मीमांसाओं के स्वतःप्रामाण्य रूप सिद्धान्त में विरोध से कर्मविधि में मनुष्य देवताओं का आश्वास न रहने के कारण वैदिकमार्ग का लोप होजायगा ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि जिन सूर्य्यादि जगदन्तर्वर्त्ती पदार्थों तथा यागादि कर्मों का वेद में वर्णन पाया-जाता है उनकी उत्पत्ति वेद से होती है अर्थात् वेद में सूर्य्यादि का नाम आने से भारतादि की भांति अनित्यता तथा परतःप्रामा-ण्यापत्तिरूप दोष नहीं आता, क्योंकि उक्त पदार्थों की उत्पत्ति प्रथम कईवार होचुकी है जिसके प्रवाह का कोई आरम्भ नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि वेद में जिन पदार्थों का वर्णन आया है उनकी व्यक्ति अभिप्रेत नहीं किन्तु सत्तामात्र अभि-प्रेत है, इस प्रकार सूर्य्यादि पदार्थ और यागादिकर्म उस २ आकृतिमात्र के बोधक हैं, यदि शब्दों से किसी एक व्यक्ति का अभिप्राय होता तो उस व्यक्ति की उत्पत्ति के अनन्तर ही वेद उस पदार्थ के स्वरूप को बोधन करता, जैसाकि पिता अपने पुत्रोत्पत्ति के उत्तरकाल में नाम करणादि विधान द्वारा उसका बोधन करता कराता है

परन्तु वेद में ऐसा न होने से अनित्यता द्वारा परतःप्रामाण्यरूप आपत्ति का दोष नहीं आसक्ता, इससे सिद्ध है कि वैदिक पद पदार्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है पिता पुत्रादि के नामकरणादि की भांति सांकेतिक नहीं, क्योंकि सिद्धान्त में वैदिक शब्दों को आकृति=पदार्थ की सत्ताविशेष के साथ सम्बन्ध माना है व्यक्तिविशेष के साथ नहीं।

सार यह निकला कि जिसप्रकार कोई शिल्पी अपने इष्ट पदार्थ के बनाने से प्रथम उसके वाचक शब्द का स्मरण करके पीछे उसको वैसा ही बनाता है जैसाकि प्रथम चिन्तन करलेता है इसी प्रकार जगत्स्रष्टा परमात्मा भी जगदुत्पत्ति से पूर्व प्रथम सृष्टि की भांति उन २ पदार्थों को अपने ज्ञानरूप वेद से चिन्तन करके सूर्य्यादि पदार्थों को बनाता तथा यागादि कर्मविधि का उपदेश करता है, इसी अभिप्राय से तै० ब्रा० २।२।४।२ में वर्णन किया है कि "स भूरिति व्याहरद्भूमिमसृजत"=उसने "भू०"इस प्रकार उच्चारण करके पृथिवी को उत्पन्न किया, इत्यादि, यहां शब्द का उच्चारण करना औपचारिक है मुख्य नहीं, एवं वैदिक शब्दों द्वारा सूर्य्यादि पदार्थों के उत्पन्न होने से उक्त दोष नहीं पायाजाता, यह बात प्रत्यक्ष=श्रुति तथा अनुमान=स्मृति प्रमाण से इस प्रकार सिद्ध है कि "समनसा वाचं मिथुनं समभवत्" बृहदा० १।२।४=प्रजापति ने मन वाणी के जोड़े को बनाया अर्थात् वेदों से प्रकाशित सृष्टि का आलोचन किया।

सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥

मनु० १ । १३

अर्थ–सृष्टि के आदि में प्रजापति=परमेश्वर ने वेद शब्दों द्वारा सब के नाम, कर्म तथा लोकमर्य्यादा को नियमपूर्वक रचा इसी अर्थ को ऋ० ८ । ८ । ४९ । ४८ में यों स्पष्ट किया है कि "सूर्य्याचन्द्रमसौधातायथापूर्वमकल्पयत्"=परमात्मा ने पूर्व कल्प की न्याईं सूर्य्यादि लोकों को निर्माण किया, इससे सिद्ध है कि इस अपूर्व उपदेश का कर्त्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा होने से वेद पौरुषेय नहीं, अतएव उनका स्वतःप्रमाणत्व बना रहने के कारण यागादि विधियों में कोई विरोध नहीं होसक्ता, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः" वै० २ । १ । १९ में किया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें ॥

सं०–अब वेद की नित्यता स्पष्टतया कथन करते हैं:—

अतएवचानित्यत्वम् ॥ २८ ॥

पद०–अतः । एव । च । नित्यत्वम् ।

पदा०–(च) और (अतः, एव) प्राकृत पुरुष कर्त्ता न होने के कारण (नित्यत्वं) वेद नित्य हैं ।

भाष्य–जिसप्रकार भारतादि के कर्त्ता व्यासादि अपने ग्रन्थों की रचना में स्वतन्त्र हैं इस प्रकार वेद का कर्त्ता कोई पुरुष नहीं, उसका उपदेष्टा परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है और वह पूर्वकल्प के अनुसार ही वेद का उपदेश करता है अन्यथा नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि वैदिक शब्दार्थ सम्बन्ध का क्रमविशेष जैसा पूर्व कल्प में था वैसा ही अब है वैसा ही भविष्य कल्प में ज्यों का त्यों बना रहेगा, उसमें किसी प्रकार की विषमता नहीं होसक्ती पर भारतादि ग्रन्थों की रचना में यह नियम नहीं पाया जाता, यही वेद में अपौरुषेयत्व है, और अपौरुषेय होने से ही वह नित्य है, जैसाकि ऋग्० १०। ७१ । ३ में वर्णन किया है किः—

यज्ञेन वाचःपदवीमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्

अर्थ—पूर्वजन्मोपार्जित पुण्यविशेष से वेद की योग्यता को प्राप्त होने वाले याज्ञिक लोगों ने ऋषियों में प्राप्त हुई वाणी=वेद को उपलब्ध किया अर्थात् याज्ञिक लोग ऋषियों द्वारा वेद उपलब्ध करके यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करते थे ।

सं०—अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से कथन करते हैंः—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ २९ ॥

पद०—समाननामरूपत्वात् । च । आवृत्तौ । अपि । अविरोधः । दर्शनात् । स्मृतेः । च ।

पदा०—(च) और (समाननामरूपत्वात्) नाम रूप के समान होने से (आवृत्तौ) आवृत्ति में (अपि) भी (अविरोधः) विरोध नहीं (च) क्योंकि (दर्शनात्, स्मृतेः) श्रुति स्मृति से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-प्रत्येक कल्प में वेदों का नाम, रूप समान होने और उसी प्रकार की रचना पायेजाने से उनके नित्यत्व में कोई विरोध नहीं, जैसाकिः—

"सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्"

ऋ० ८।४८।२

अर्थ-सूर्य्य और चन्द्रमा को धाता=परमात्मा ने पूर्वसृष्टि के समान ही बनाया, यह प्रमाण वेदों का उपलक्षण है अर्थात् वेदों का भी पूर्व कल्प के समान ही प्रकाश किया, इत्यादि नाम रूप की समान आवृत्ति देखे जाने से वेदों के नित्यत्व में कोई दोष नहीं, और "अनादिनिधनानित्यावागुत्सृष्टास्वयंभुवा" मनु० १।२१ इत्यादि स्मृतियों से भी पाया जाता है कि वेद अनादि अनन्त होने से नित्य हैं, इसीलिये अपौरुषेय= किसी पुरुष प्रणीत न होने के कारण परमात्मा का ज्ञान मानना ही समीचीन है।

सं०-अब पूर्वप्रकृत देवताओं के अधिकार में पुनः आशङ्का करते हैंः—

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारंजैमिनिः।३०।

पद०-मध्वादिषु। असम्भवात्। अनधिकारं। जैमिनिः।

पदा०-(मध्वादिषु) मधु आदिकों में (असम्भवात्) सम्भव न होने से (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य (अनधिकारं) देवताओं का अधिकार नहीं मानते।

भाष्य—छान्दोग्य में जहां यह निरूपण किया है कि यह आदित्य देवताओं का मधु है, इसकी मधुरूप से उपासना करे, इस स्थल में जब आदित्य स्वयं देवता है तो फिर वह अपने आपकी आप उपासना कैसे करेगा, इसलिये देवताओं का उपासना में अधिकार मानना ठीक नहीं ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में और आशङ्का करते हैं:—

ज्योतिषिभावाच्च ॥ ३१ ॥

पद०—ज्योतिषि । भावात् । च ।

पदा०—(च) और (ज्योतिषि) ज्योति वाले पदार्थों में (भावात्) देवता शब्द के पाये जाने से उपासना में देवताओं का अधिकार नहीं ।

भाष्य—"सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता" इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रकाशक पदार्थों में देवता शब्द के पाये जाने से सिद्ध है कि सूर्य्यादि देवों का उपासना में अधिकार नहीं होसक्ता, क्योंकि एक तो मधुविद्या में वह स्वयं उपासक नहीं होसक्ते और दूसरे जड़ होने से उपासना नहीं करसक्ते, इसलिये उनका अधिकार मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३२ ॥

पद०—भावं । तु । बादरायणः । अस्ति । हि ।

पदा०—(बादरायणः) बादरायण आचार्य्य (भावं) देवों का उपासना में अधिकार मानते हैं (हि) क्योंकि (अस्ति) देव शब्द का प्रयोग मनुष्यों में होता है ॥

भाष्य—सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है "तद्योयोदेवानां प्रत्यबुध्यत, स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्"=जो २ देव, मनुष्य तथा ऋषियों में जागा वह २ ब्रह्म के भावों को प्राप्त हुआ, इससे सिद्ध है कि देव केवल सूर्य्यादिकों का ही नाम नहीं किन्तु दिव्यशक्ति वाले मनुष्यों का नाम देव है, और ऐसे मनुष्यों का उपासना तथा ब्रह्मविद्या में अधिकार होसक्ता है इसमें कोई दोष नहीं ॥

सं०—अब प्रसङ्गसङ्गति से ब्रह्मविद्या विषयक शूद्र के अधिकारानधिकार पर विचार करने के लिये "अपशूद्राधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदा-
द्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३३ ॥

पद०—शुक् । अस्य । तदनादरश्रवणात् । तदा । द्रवणात् । सूच्यते । हि ।

पदा०—(तदनादरश्रवणात्) उसका अनादर युक्त वाक्य श्रवण करने से (अस्य) जानश्रुति को (शुक्) शोक हुआ (तदा) तब वह (द्रवणात्) ब्रह्मविद्या के लिये रैक्व के पास गया (हि) निश्चयकरके (सूच्यते) प्रकरण से ऐसा ही पाये जाने के कारण शूद्र को अधिकार है ।

भाष्य—छान्दोग्य के चतुर्थ प्रपाठक में यह गाथा है कि एक जानश्रुति राजा था वह ब्रह्मविद्या के लिये ब्रह्मवेत्ता रैक के पास गया और बहुत से गौ रथादिक भेट करके उनसे कहा कि आप इनको ग्रहण कर मुझको ब्रह्मविद्या का उपदेश करो, रैक ने यह सुनकर कहा कि "अहहारेत्वा-शूद्रतवैवसहगोभिरस्तु" छा० ४ । २ । ३=हे शूद्र ! यह हारयुक्त जो रथ और गौ हैं यह तुम्हारे ही लिये हों, ऐसा प्रत्युत्तर सुन राजा घर को चला गया और पुनः बहुतसी भेट लेकर ऋषि के समीप आने पर उसको ब्रह्मविद्या का अध्ययन कराया, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषदा-र्य्यभाष्य" में किया गया है, यहां यह सन्देह होता है कि शूद्र को ब्रह्मविद्या में अधिकार है वा नहीं ? इस बात को सूत्रकार ने इस सूत्र में प्रतिपादन किया है कि उस जानश्रुति को जो रैक ने अनादर सूचक शब्द कहा उसको श्रवण कर पुनः आजाने से यह पाया जाता है कि शूद्र से यहां अध्ययनादि सामर्थ्यरहित असंस्कारी पुरुष का ग्रहण है, इसलिये शूद्र के अधिकार में कोई बाधा नहीं ।

सं०—अब सामर्थ्य से वर्ण होने में और युक्ति कथन करते हैं:—

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्रचैत्ररथेनलिङ्गात् ।३४।

पद०—क्षत्रियत्वगतेः । च । उत्तरत्र । चैत्ररथेन । लिङ्गात् ।

पदा०-(च) और (उत्तरत्र) आगे (चैत्ररथेन) चैत्ररथ नामा क्षत्रिय के साथ (लिङ्गात्) समन्यवहार पायेजाने से (क्षत्रियत्वगतेः) क्षत्रियत्व का निश्चय रैक्व ने किया।

भाष्य-जानश्रुति को शूद्र कथन करने के अनन्तर रैक्व ने उसका व्यवहार चैत्ररथ के साथ समझकर यह निश्चय किया कि यह क्षत्रिय के गुण कर्म स्वभाव वाला है, क्योंकि परस्पर स्वभाव मिलने वालों की ही मैत्री होती है, इससे सिद्ध है कि यह शूद्र नहीं।

सं०-अब संस्कारों द्वारा शूद्रत्वादि धर्मों का कथन करते हैं:—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ।३५॥

पद०-संस्कारपरामर्शात् । तदभावाभिलापात् । च ।

पदा०-(च) और (संस्कारपरामर्शात्) संस्कारों के परामर्शद्वारा (तदभावाभिलापात्) सामर्थ्य का अभाव पाये जाने से अधिकार का निषेध है।

भाष्य-गुरु उपनयन काल में यह निश्चय करलेता है कि इसको पठन पाठन का अधिकार है वा नहीं, यदि उसमें योग्यता नहीं देखता तो उसका उपनयन नहीं कराता, इससे भी स्पष्ट पायाजाता है कि शूद्रत्वादि औपाधिक धर्म हैं जाति नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:—

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३६ ॥

पद०-तदभावनिर्धारणे। च। प्रवृत्तेः।

पदा०-(तदभावनिर्धारणे) उसके ब्राह्मण होने के अभाव का निश्चय होने पर (च) भी (प्रवृत्तेः) प्रवृत्ति पायेजाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-छान्दोग्य के चतुर्थ प्रपाठक में यह आख्यायिका है कि सत्यकाम नामक एक बालक ने अपने पिता की मृत्यु के अनन्तर अपनी माता से पूछा कि मैं ब्रह्मचर्य्य करना चाहता हूं मेरा गोत्र क्या है ? उसकी माता ने कहा मुझको कुछ पता नहीं, मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है, सत्यकाम ने गौतम ऋषि के पास जाकर कहा कि हे भगवन् ! मैं आपके समीप आया हूं मुझको ब्रह्मचारी बनाओ, गौतम ने कहा तुम्हारा क्या गोत्र है ? सत्यकाम ने उत्तर दिया कि मैंने अपनी माता से पूछा था उसने कहा कि युवावस्था में मैं बहुत भ्रमण करती रही इसलिये तुम्हारे पिता का गोत्र मुझे याद नहीं, सत्यकाम तुम्हारा नाम है, सो मैं सत्यकाम जाबाल हूं, गौतम ने यह विचारा कि:—

"नैतदब्राह्मणोविवक्तुमर्हतिसमिधंसोम्याऽऽहरोपत्वानेष्ये न सत्यादगाः" छा० ४।४।५।

अर्थ-इस बात को अब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण से भिन्न अन्य नहीं कहसक्ता, हे सोम्य ! तू समिधा ला मैं तुम्हारा उपनयन कराऊं, क्योंकि तुमने सत्य नहीं छोड़ा, सार यह निकला कि

जब गौतम ने उसको सत्यभाषण से ब्राह्मण निश्चय किया और गोत्र की कुछ अपेक्षा नहीं की इससे पायाजाता है कि स्वभाव से ही शूद्रत्व और ब्राह्मणत्व का निश्चय कियाजाता है अर्थात् उसके गोत्र के निश्चय न होने पर भी जब ऋषि ने ब्राह्मण मानकर उसका उपनयन करादिया तो इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ब्राह्मणत्वादि धर्म हैं जाति नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हुए गुण कर्म स्वभाव से शूद्र को शास्त्र का अनधिकार कथन करते हैंः—

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥३७॥

पद०—श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्। स्मृतेः। च।

पदा०—(च) और (स्मृतेः) स्मृति से भी (श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्) श्रवण तथा अध्ययन का प्रतिषेध पायाजाता है।

भाष्य—स्मृतियों में जो शूद्र के श्रवण तथा अध्ययन का निषेध कथन किया गया है वह "शोचतीति शूद्रः"=जो शोक करे उसका नाम "शूद्र" है, इस निरुक्ति के अनुसार जो तमोगुणावृतान्तःकरण पुरुष है वही शूद्र है, शूद्र कोई जाति विशेष नहीं, इस भाव से शूद्र का शास्त्र में अनधिकार कथन कियागया है, यदि पौराणिकभाव के अनुसार शूद्र कोई जाती विशेष अभिमत होता तो गौतम तथा रैक आदि ऋषि जाबा-

लादिकों को ब्राह्मण पदवी कदापि न देते, इससे स्पष्ट है कि गुण कर्म स्वभाव सिद्ध शूद्र को शास्त्र का अधिकार नहीं।

भाव यह है कि स्वभाव प्राप्त शूद्रत्वधर्म वाले को श्रवण तथा अध्ययन का निषेध है और स्मृति से भी यही पाया जाता है कि गुण कर्म स्वभाव से ही ब्राह्मण क्षत्रियादि भेद हैं, जैसाकि गी० ४। १३ में वर्णन किया है कि "चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्मविभागशः"=ब्राह्मणादि चारो वर्ण मैंने गुणकर्मानुसार बनाये हैं, अस्मच्छब्द के यहां वही अर्थ हैं जो हम पीछे "प्राणाधिकरण" में निरूपण कर आये हैं।

सं०-प्रसङ्गसङ्गति से ब्रह्मविद्या के पठनपाठन का विचार समाप्त करके अब पूर्वप्रकृत वेदान्तों के ब्रह्मविषयक समन्वय का पुनः वर्णन करते हैं:—

कम्पनात् ॥ ३८ ॥

पद०-कम्पनात्।

पदा०-(कम्पनात्) कम्पन के पाये जाने से प्राण शब्द ब्रह्मवाची है।

भाष्य-यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

कठ० ६। २

अर्थ-यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होकर प्राण में चेष्टा करता है, और वह प्राण उठाये हुए वज्र के समान महद्भयरूप है अर्थात्

बड़े से बड़े पदार्थों को भी भयप्रद है, उक्त विषय वाक्य में यह सन्देह है कि यहां प्राण शब्द से प्राणवायु का ग्रहण है अथवा "प्रकर्षेण अनति चेष्टते स प्राणः"=जिसकी सत्ता से यह सब जगत् चेष्टा करता है वह प्राण है ? उक्त सन्देह की निवृत्ति के लिये सूत्रकार यहां यह निर्णय करते हैं कि "एजृ-कम्पने" कम्पनार्थक एजृ धातु का अर्थ परमात्मा में पाये जाने से यहां "प्राण" नाम परमात्मा का है, क्योंकि सबको कम्पाने वाला परमात्मा ही होसक्ता है अन्य नहीं, वही परमात्मा दुराचारी पुरुषों के लिये हाथ में उठाये हुए शस्त्र के समान अत्यन्त भयरूप और सदाचारी पुरुषों के लिये शान्तिदायक हैं, जो पुरुष इस ब्रह्म को जानते हैं वह मृत्यु से रहित होजाते हैं।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥

कठ० ५।५

अर्थ-न कोई प्राणवायु से जीता और न कोई अपान वायु से जीता है जिस परमात्मा के सहारे उक्त वायु हैं उसी से सब कोई जीता है, और इसी उपनिषद् के अन्य स्थलों में भी कथन किया है कि:—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

कठ० ६।३

अर्थ—उसी ब्रह्म के भय से अग्नि तपती, उसी के भय से सूर्य्य गति करता और उसी के भय से वायु, इन्द्र, विद्युत और मृत्यु चेष्टा करते हैं, इससे सिद्ध है कि प्राणादि वायुओं का नियन्ता परमात्मा ही है इसलिये यहां प्राण से उसी का ग्रहण है अन्य का नहीं ॥

सं०—अब ज्योतिः शब्द का ब्रह्म में समन्वय कथन करते हैंः—

ज्योतिर्दर्शनात् ॥३९॥

पद०—ज्योतिः । दर्शनात् ।

पदा०—(दर्शनात्) ब्रह्म में पाये जाने से (ज्योतिः) ज्योति शब्द भी ब्रह्म का वाचक है ॥

भाष्य—"एषः संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायपरं-ज्योतिरुपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" छा० ८।१२।३

अर्थ—यह सम्प्रसाद=जीव इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त होकर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त होजाता है, इस विषय वाक्य में परंज्योति ब्रह्म का नाम है और इसी वाक्य में आगे "स उत्तमः पुरुषः" उस परंज्योति का उत्तम पुरुष का विशेषण दिया गया है, यदि यहां ज्योति शब्द भौतिक ज्योतिवाचक होता तो उसको उत्तम विशेषण कदापि न दियाजाता, इससे सिद्ध है कि ज्योतिः नाम परमात्मा का है ।

सं०—अब छा० ८।१४।१ का ब्रह्म में समन्वय दिखलाने के लिये "अर्थान्तरत्वाधिकरण" का आरम्भ करते हैंः—

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।४०।

पद०—आकाशः । अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।

पदा०—(अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्) नाम रूप से भिन्न का व्यपदेश पायेजाने के कारण (आकाशः) आकाश नाम ब्रह्म का है ॥

भाष्य—"आकाशो वै नाम रूपयोर्निर्वाहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा" छा० ८।१४।१= आकाश ही नाम और रूप को धारण करने वाला है वे दोनों नाम और रूप जिसके आश्रित हैं वह ब्रह्म है, वही अमृत और वही आत्मा है, यह वाक्य इस अधिकरण का विषय है, इससे पूर्व मुक्त पुरुष का वर्णन आचुका है, जैसाकि:—

"अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति" छा० ८।१३।१

अर्थ—जिसप्रकार घोड़ा अपने शरीर को कम्पाकर शरीरगत धूलि आदि सब वस्तुओं को गिरा देता है, और जिसप्रकार चन्द्रमा ग्रहणरूप कलङ्क से छूटकर निर्मल होजाता है इसी प्रकार यह जीवात्मा शरीर को त्यागकर कृतकृत्य हो ब्रह्मलोक का अनुभव करता है, अशरीरी और सूक्ष्म होने के कारण इसको आकाश नाम से कथन किया गया है, इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये सूत्रकार ने कथन किया है कि "आकाश" यहां ब्रह्म का नाम है, क्योंकि नामरूप का निर्वाहिता=

प्राप्त करानेवाला ब्रह्म ही है नामरूप का कर्तृत्व जीव में कदापि नहीं होसक्ता, बद्धावस्था में इसलिये नहीं होसक्ता कि वह बन्धनयुक्त होने से स्वयं नाम रूप को धारण कररहा है और मुक्तावस्था में जीव इसलिये नामरूप का निर्वाहक नहीं होसक्ता कि मुक्त का ऐश्वर्य्य जगद्रूप व्यापार के विना होता है अर्थात् मुक्त पुरुष को जगत् रचनादि सामर्थ्य मुक्ति अवस्था में भी नहीं होसक्ता, एवं मुक्त पुरुष नाम रूप का कर्त्ता नहीं, इसलिये नाम रूप का निर्वहितारूप अर्थान्तर के होने से उक्त विषयवाक्य में आकाश ब्रह्म का नाम है मुक्त जीव का नहीं।

सं०-ननु, "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि" छा० ६। ३। २=इस जीवरूप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नामरूप को करूं, इससे पायाजाता है कि जीव रूप से ब्रह्म ही सब शरीरों में प्रवेश हुआ और उस रूप से ब्रह्म ने नाम रूप को बनाया, इस वाक्य से जीव ब्रह्म की एकता पाई जाती है फिर जीव नाम रूप का कर्त्ता कैसे नहीं? क्योंकि शुद्धावस्था को प्राप्त होकर वह जीव ही ब्रह्मभाव को प्राप्त होजाता है? उत्तरः—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४१ ॥

पद०-सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः। भेदेन।

पदा०-(सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः) सुषुप्ति तथा उत्क्रान्ति अवस्था में (भेदेन) भेद पायेजाने के कारण जीव ब्रह्म नहीं।

भाष्य-सुषुप्ति अवस्था और उत्क्रान्ति=मरणावस्था इनमें

जीव और ब्रह्म का भेद वर्णन कियागया है, इसलिये एक नहीं होसक्ते, जैसाकिः—

प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" बृहदा० ४ । ३ । २१

"प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जनयातीति" बृ० ४ । ३ । ३५

अर्थ—सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ=परमात्मा के साथ सम्बन्ध पाकर वाहर और भीतर की किसी वस्तु को जीव नहीं जानता और परमात्मा के अन्वारूढ=आश्रित होकर जीव इस शरीर को छोड़ता है, इस प्रकार उक्त दोनों अवस्थाओं में जीव ब्रह्म का भेद कथन किया गया है, इसलिये जीव ब्रह्म से भिन्न होने के कारण नाम रूप का कर्त्ता जो आकाश शब्द से कहा गया है वह ब्रह्म है जीव नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैंः—

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४२ ॥

पद०—एकपद ।

पदा०—(पत्यादिशब्देभ्यः) पति आदि शब्दों के पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—पति आदि शब्द भी परमात्मा में पायेजाते हैं जीव में नहीं, इससे जीव ब्रह्म का भेद है, जैसाकि बृहदा० ४।४। २२ में वर्णन किया है कि "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्या-

धिपतिः"=वह परमात्मा सब का अधिपति=स्वामी, सबका नियन्ता और सबका ईश्वर है, न वह अच्छे कर्मों से बड़ा बनता और न छोटे कर्मों से छोटा होता है, वह सबका ईश्वर तथा सब लोक मर्यादा का सेतु है, उसी को वेद द्वारा ब्राह्मण लोग जानने की इच्छा करते हैं और उसी को जानकर मुनि होता है, इस प्रकार जीवात्मा से भिन्न पत्यादि नामों वाला परमात्मा है, इस प्रकार भेद पाये जाने से नाम रूप का कर्त्ता ब्रह्म है जीव नहीं, इस "अर्थान्तराधिकरण" में सूत्रकार ने जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट वर्णन कर दिया है, फिर भी श्रीशङ्करमतानुयायी "वाचस्पतिमिश्रादि" इसी सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं कि जीवात्मा का अनुवाद यहां अभेद बोधन के अभिप्राय से किया गया है. जैसाकिः—

"तस्माज्जीवात्मानं मानान्तरसिद्धमनूद्यतस्य ब्रह्म भावप्रतिपादनपरोयोयं विज्ञानमय इत्यादि वाक्यसंदर्भः"

अर्थ—जीवात्मा का अनुवाद करके उसको ब्रह्मभाव बोधन करने के लिये "योयंविज्ञानमयः" इत्यादि वाक्य रचना है, इस अधिकरण में रामानुज आचार्य्य का यह मत है किः—

"ऐक्योपदेशस्तुसर्वस्यचिदचिदात्मकस्य ब्रह्मकार्य्यत्वेनतदात्मकत्वायत्त इतिसर्वंखल्विदंब्रह्म तज्जलानित्यादिभिर्वाक्यैः प्रतिपाद्यत इति पूर्वमेवोक्तं द्वैतप्रतिषेधाश्चंततएवेत्यनवद्यम्" श्री० भा० ब्र० सू० १।३।४३

अर्थ—यह सब दृश्यमान प्रपञ्च ब्रह्म है, इत्यादि वाक्यों में जो एकता का उपदेश है वह इस अभिप्राय से है कि सब जड़ चेतन प्रपञ्च ब्रह्म का कार्य्य है अर्थात् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता, ब्रह्म में ही लय होता और ब्रह्म में ही स्थिति पाता है, इस प्रकार शमविधि के भाव से एकता का उपदेश किया गया है वास्तव में एकता नहीं।

यहां उक्त आचार्य्य का अभिप्राय यह है कि जगदुत्पत्ति काल में प्रकृति तथा जीवरूप शरीराविशिष्ट ब्रह्म जगत् का कारण और स्थूल जगदाकारशरीराविशिष्ट कार्य्य कहलाता है अर्थात् जीव और प्रकृति के साथ मिले हुए ब्रह्म का जो एकत्व वही "विशिष्टाद्वैत" है, इस प्रकार विशिष्टाद्वैत कथन करने से तीन पदार्थ अनादि पाये जाते हैं, माया में परिणामित्व, जीव में दुःखित्व और ब्रह्म में कल्याणगुणाकरत्व धर्म है, इस प्रकार उक्त गुणों से तीनों पदार्थ भिन्न २ हैं, इसलिये अद्वैतवाद के समान तीनों के मिल जाने से सङ्कर होने का दोष विशिष्टाद्वैत में नहीं आता, यह अर्थ स्वामी रामानुज ने ब्र० सू० २।१।२३ के भाष्य में प्रतिपादन किया है॥

इति तृतीयःपादः समाप्तः

अथ चतुर्थःपादः प्रारभ्यते

सं०—प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद में श्रुतिवाक्यों का निर्विशेष ब्रह्म में विस्तारपूर्वक समन्वय प्रतिपादन किया, अब इस पाद में केवल प्रकृतिवाद के निरासार्थ तथा जीव, प्रकृति को ब्रह्म से भिन्न बोधन करने के लिये "आनुमानिक अधिकरण" का आरम्भ करते हुए प्रथम प्रकृतिवाद का खण्डन करते हैंः—

आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्नशरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

पद०—आनुमानिकं। अपि। एकेषां। इति। चेत्। न। शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः। दर्शयति। च।

पदा०—(एकेषां) कई एक आचार्य्यों के मत में (आनुमानिकं) अनुमानसिद्ध प्रकृति का स्वभाव ही जगत् का कारण है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः) शरीररूप रथ का अलङ्कार वर्णन किया गया है (च) और (दर्शयति) श्रुतिवाक्य से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य—कई एक वादी ऐसा मानते हैं कि आनुमानिक=अनुमान सिद्ध जो प्रकृति का स्वभाव उसी से यह जगत् बन जाता है और जीवात्मा भी प्रकृति का परिणाम है ? यह इसलिये ठीक

नहीं कि शरीर को रथरूप अलङ्कार से वर्णन किया गया है अर्थात् जिसप्रकार रथ सारथि के विना नहीं चल सक्ता इसी प्रकार जड़ प्रकृति का नियमन करने वाले सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन की आवश्यकता पाई जाती है अर्थात् नियन्ता के विना स्वाभाविक सृष्टि नही होसक्ती और नाही शरीररूप रथ के नियन्ता विना यह शरीर चेष्टा कर सक्ता है, जैसाकि कठ० ३।३ में वर्णन किया है किः—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

अर्थ—आत्मा को रथ वाला और शरीर को रथ रूप जानों, बुद्धि को सारथी=रथ के चलाने वाला और मन को घोड़ों के नियमन रूप रज्जु जानना चाहिये, इस विषयवाक्य में जीवात्मा को शरीरादि इन्द्रिय संघात का नियन्ता प्रतिपादन करके आगे यह कहा है किः—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसश्च पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

कठ० ३।१०

अर्थ—इन्द्रियों से उनके अर्थ, शब्द, स्पर्श, रूपादिक सूक्ष्म हैं उनसे मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्व और महत्व से अव्यक्त परे है, अव्यक्त को इसलिये सूक्ष्म कहागया है कि वह प्रकृति अवस्था में सर्वथा अलक्षण रहता है, जैसाकि

"आसीदिदंतमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्" मनु० १ । ५ में वर्णन किया है कि सृष्टि से पूर्व यह कार्य्यकारण रूप संघात अप्रज्ञात=प्रत्यक्ष न था और नाही यह अलक्षण=अनुमान का विषय था, और इससे आगे यह वर्णन किया है कि:—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यतेत्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
कठ० ३ । १२

अर्थ—वह परमात्मा सब भूतों में छिपा हुआ है, इसलिये अज्ञानियों को उपलब्ध नहीं होता, और सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्मदर्शियों को दीखता है, इस प्रकार रूपकालङ्कार द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता शास्त्र ने कथन की है, अतएव यह जगत् आनुमानिक=स्वभाव सिद्ध नहीं, और नाही जीवात्मा आनुमानिक है, क्योंकि उक्त विषय वाक्यों में शरीररूपी रथ का स्वामी जीवात्मा कथन किया गया है, इसलिये भौतिक जीवात्मवादी चार्वाक के मत का खण्डन उक्त सूत्र में जानना चाहिये ।

ननु—"अनुपपत्तेस्तु न शारीरः" ब्र० सू० १ । २ । ३ और "नानुमानमतच्छब्दात्" ब्र०सू०१।३।३ में जीव तथा परमात्मा को प्रकृति से भिन्न सिद्ध किया गया है फिर उनको यहां पुनः भिन्न वर्णन करने से पुनरुक्ति दोष आता है ?
उत्तर—यहां जीव तथा प्रकृति का अस्तित्व विस्तार पूर्वक वर्णन

करने के लिये यह पाद प्रारम्भ किया गया है, इसलिये उक्त दोष नहीं ।

स्वामी "शङ्कराचार्य्य" तथा "स्वामी रामानुज" ने इस पाद को प्रकृति के खण्डन में लगाया है सो ठीक नहीं, क्योंकि उनके मत से "ईक्षतेर्नाशब्दम्" ब्र० सू० १ । १ । ५ में प्रकृति का खण्डन किया गया है और पुनः खण्डन किये जाने से पुनरुक्ति दोष आता है, पर हमारे सिद्धान्त में यहां तीनों पदार्थों का विस्तारपूर्वक समर्थन करने से उक्त दोष नहीं, यही अपूर्वता है ॥

सं०—ननु, जब शरीररूपी रथ का जीवात्मा रथी है तो सबको शरीर से भिन्न आत्मज्ञान क्यों नहीं ? उत्तरः—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

पद०—सूक्ष्मं । तु । तदर्हत्वात् ।

पदा०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (तदर्हत्वात्) योग्यता पायेजाने से (सूक्ष्मं) जीवात्मा सूक्ष्म है ।

सं०—जब जीवात्मा सूक्ष्म है, नित्य है, कभी उसके स्वरूप का उत्पत्ति विनाश नहीं होता तो फिर वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इस फलचतुष्टय का अर्थी कैसे होसक्ता है ? उत्तरः—

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

पद०—तदधीनत्वात् । अर्थवत् ।

पदा०—(तदधीनत्वात्) परमात्मा के अधीन होने से (अर्थवत्) जीव अर्थवाला है ।

भाष्य-उस परमात्मा के अधीन होने से वह अविनाशी जीव अर्थ वाला है, अतएव उसमें फलचतुष्टय की कामना होने पर कोई बाधा नहीं ।

सं०-ननु, जब वह स्वरूप से नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है तो फिर उसमें और ईश्वर में क्या भेद है ? उत्तरः—

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

पद०-ज्ञेयत्वावचनात् । च ।

पदा०-(च) और (ज्ञेयत्वावचनात्) परमात्मा के समान ज्ञेय न कथन किये जाने के कारण जीव ईश्वर का भेद है ।

भाष्य-जीव को परमात्मा के समान ज्ञेय कथन नहीं किया गया अर्थात् जिस प्रकार परमात्मा के विषय में वर्णन किया गया है कि "तद्विष्णोः परमंपदं सदा-पश्यन्ति सूरयः" अथर्व० ७ । ३ । ७=उस विभु परमात्मा के स्वरूप को ज्ञानी लोग सदा देखते हैं, इस प्रकार जीव को ज्ञानियों का विषय कहीं नहीं कथन किया गया, इसलिये नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होनेपर भी जीव ईश्वर नहीं होसक्ता ॥

सं०-ननु, "आत्मावारेद्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" बृहदा० ४ । ५ । ६ इस वाक्य में यह वर्णन किया गया है कि आत्मा ज्ञेय है फिर कैसे कहा जाता है कि जीवात्मा को ज्ञेय नहीं कहागया ? उत्तरः—

वदतीतिचेन्नप्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

पद०-वदति । इति । चेत् । न । प्राज्ञः । हि । प्रकरणात् ।

पदा०-(वदति) श्रुति में जीव को ज्ञेय कथन किया है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं (हि) क्योंकि यहां (प्रकरणात्) प्रकरण से (प्राज्ञः) ईश्वर का ग्रहण है ॥

भाष्य-यदि यह कहाजाय कि "आत्मावारे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुतियों में जीवात्मा को ज्ञेय कथन किया गया है तो ठीक नहीं, क्योंकि यहां प्रकरण से परमात्मा पाया जाता है जीवात्मा नहीं, जैसाकि इसी प्रकरण के उपसंहार में कहा है कि "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" बृहदा० ६ । ४ । ३=जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जाने अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञाता कौन होसक्ता है, इससे परमात्मा को दुर्विज्ञेय कथन किया गया है जीवात्मा को नहीं ॥

सं०-अब सृष्टि के स्वाभाविक न होने में और हेतु कथन करते हैं:—

त्रयाणामेवचैवमुपन्यासःप्रश्नश्च ॥ ६ ॥

पद०-त्रयाणां । एव । च । एवं । उपन्यासः । प्रश्नः । च ।

पदा०-(च) और (त्रयाणां) तीनों का (एव) ही (एवं) इसप्रकार (उपन्यासः) लेख (च) और (प्रश्नः) प्रश्न भी पाया जाता है ।

भाष्य—जीव, ईश्वर, प्रकृति इन तीनों का उपन्यास=लेख वेदान्त में पाया जाता है इससे सिद्ध है कि सृष्टि की रचना स्वभावसिद्ध नहीं और इसी भाव को मुण्ड० ३। १। २ में इस प्रकार वर्णन किया है कि:—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

अर्थ—प्रकृतिरूप वृक्ष में भोक्ता जीवात्मा निवास करता है जो अज्ञान से निमग्न है, प्रकृति की आवरणात्मक शक्ति से मोह को प्राप्त हुआ शोक करता है और जब व्याप्यव्यापक भाव से अपने साथ मिले हुए ईश्वर को साक्षात् कर उसके महत्व को जान लेता है तब शोकरहित होजाता है, यहां प्रकरण यह है कि "अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मात्" कठ० २। १४ इस श्लोक में नचिकेता यम से यह प्रश्न करता है कि जो धर्माधर्म से भिन्न पदार्थ मेरे उपदेश योग्य समझते हो सो कहो अर्थात् धर्माधर्म तो गुण हैं इनका आधारभूत जो आप पदार्थ जानते हो सो कहो ? इस प्रश्न के उत्तर में यम ने जीव ईश्वर के स्वरूप को भली भांति वर्णन किया है कि:—

एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ कठ० ५। १२

अर्थ—एक ही परमात्मा सब भूतों का अन्तरात्मा=नियन्ता है और वही कारणरूप प्रकृति को बहुत प्रकार से कार्य्य रूप बनाता है, जो धीर पुरुष उसको अपने में व्यापक देखते हैं उनको निरन्तर सुख की प्राप्ति होती है अन्यों को नहीं।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

कठ० ६। १४

अर्थ—जब जीव के सब प्रारब्ध कर्म क्षय होजाते हैं, फिर वह अमृत होकर उस अवस्था में ब्रह्म के आनन्दादि धर्म्मों को भोगता है, इस प्रकार जीव, ईश्वर और प्रकृति इन तीनों पदार्थों को प्रश्नोत्तर से स्पष्ट किया गया है इसलिये केवल प्रकृति-वादियों का सृष्टि को स्वाभाविक कथन करना साहसमात्र जानना चाहिये।

सं०—ननु, प्रकृति का उपनिषदों में कहीं स्पष्ट नाम नहीं पाया जाता, फिर कैसे समझाजाय कि तीनों अनादि हैं? उत्तरः—

महद्वच्च ॥७॥

पद०—महद्वत्। च।

पदा०—(च) और (महद्वत्) महत् शब्द की भांति उपनिषदों में प्रकृति का निश्चय होसक्ता है।

भाष्य—जिस प्रकार प्रकरण द्वारा निश्चय किया जाता है कि अमुक अर्थ में यहां "महत्" शब्द आया है, इसी प्रकार उपनिषदों में अजादि शब्दों द्वारा निश्चय किया जाता है कि यहां प्रकृति का ग्रहण है जैसाकिः—

"बुद्धेरात्मामहान्परः" कठ० १। १०=बुद्धि से परे महत्तत्व है, यहां प्रकृति की प्रथम कार्य्यावस्था को जिसका नाम सांख्यशास्त्र की परिभाषा में महत्तत्व है उसके विषय में "महत्" शब्द आया है और "महान्तं विभुमात्मानं" कठ० २। २२=महान्, विभु आत्मा को जानकर शोक से रहित होजाता है, "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्" श्वे० ३। ८ इत्यादि स्थलों में परमात्मा के लिये "महत्" शब्द का प्रयोग किया गया है, और:—

अजामेकांलोहितशुक्लकृष्णांबह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेतेजहात्येनांभुक्तभोगामजोऽन्यः॥ श्वे० ४।५

अर्थ—एक अजा=प्रकृति है जो रक्त, शुक्ल, कृष्ण इन तीन वर्ण वाली है और नाना प्रकार की प्रजा को अपने समान रूप वाली बनाती है, उस प्रकृतिरूप अजा को अज्ञानी पुरुष प्रीति वाला होकर सेवन करता तथा विवेकी पुरुष छोड़ देता है, अतएव यहां "अजा" शब्द से उपनिषद् मूलक ही प्रधान=प्रकृति की कल्पना कीगई है अन्यार्थ की नहीं, क्योंकि लोहित से रजोगुण, शुक्ल से सत्वगुण और कृष्ण से तमोगुण का ग्रहण है अर्थात् उक्त तीनो गुणों की साम्यावस्था वाली जो सांख्य शास्त्र ने प्रकृति मानी है उसका वर्णन यहां "अजा" शब्द से कियागया है।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

पद०-चमसवत् । अविशेषात् ।

पदा०-(चमसवत्) चमस की भांति (अविशेषात्) कोई विशेषता न पायेजाने से "अजा" शब्द को प्रकृत्यर्थक मानना ठीक नहीं ।

भाष्य-जिसप्रकार "यथा अर्वाग्बिलश्चमसऊर्ध्वबुध्नः" बृहदा० २ । २ । ३=नीचे जिसका मुख हो, ऊपर से मोटा हो वह "चमसपात्र" है, यहां उक्त लक्षण करने पर "चमस" पद से पात्र ही का ग्रहण नहीं किन्तु प्रकरण से तत्सदृश मूर्द्धा का ग्रहण है इसी प्रकार "नजायते इत्यजा"=जो उत्पन्न न हो उसको "अजा" कहते हैं, इस अर्थ से केवल प्रकृति का ही ग्रहण नहीं किन्तु जो २ उत्पत्तिशून्य हो उसको अजा कहसक्ते हैं, इसलिये "अजामेकां०" इत्यादि वाक्य प्रधानार्थ के ही प्रतिपादक हैं इसमें कोई नियामक नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथाह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

पद०-ज्योतिरुपक्रमा । तु । तथा । हि । अधीयते । एके ।

पदा०-(ज्योतिरुपक्रमा) अजा शब्द से तेजादि जगत् के उपादानकारण का ग्रहण है (हि) निश्चय करके (तथा) ऐसा ही (एके) कई एक शाखावाले (अधीयते) पढ़ते हैं ।

भाष्य—सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, तेज का प्रकरण चलाकर छान्दोग्य शाखा वाले प्रकृति का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं, तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य" छान्दो० ६।४।१=जो लाल रूप है वह अग्नि का, जो शुक्ल है वह जल का और जो काला है वह अन्न=पृथिवी का रूप है, इस प्रकार यहां प्रकरण से लोहित, शुक्ल, कृष्ण रूप वाली प्रकृति का वर्णन है, इसलिये जो उत्पन्न न हो उसको अजा कहते हैं, इस यौगिक अर्थ से केवल उत्पत्तिशून्य पदार्थ का ही "अजा" शब्द से ग्रहण नहीं किन्तु जगत् के उपादान कारण प्रकृति का ग्रहण है।

और जो मायावादी "अजा" शब्द के अर्थ "माया" करते हैं कि "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्" छा० ४।१०।११ इस वाक्य में "माया" नाम प्रकृति का है अर्थात् यहां प्रकृति शब्द माया के ही अर्थ देता है कि "प्रक्रियते अनया इति प्रकृतिः"=जिससे यह कार्य्य रूप प्रपञ्च कियाजाय वह "प्रकृति"=माया ही ब्रह्म में जगत् को उद्भावन कराती है, इसलिये माया का नाम ही यहां प्रकृति है? इसका उत्तर यह है कि "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विध्यनादि उभावपि" गी० १३।१९ इस श्लोक में व्यासजी ने सांख्यशास्त्र की मानी हुई प्रकृति का स्पष्ट वर्णन किया है, फिर उसको "माया" कैसे कहसक्ते हैं।

दूसरी बात यह है कि इनके मत में माया, अज्ञान एक ही वस्तु के नाम हैं पर यहां उक्त गीता श्लोक में प्रकृति शब्द का अर्थ अज्ञान नहीं, क्योंकि इसी प्रकरण के श्लो० २१ में जीव रूप पुरुष को प्रकृति के गुणों का भोक्ता कथन किया गया है, और "य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह" गी० १३।२३=जो इस प्रकार सत्त्वादि गुणों के साथ प्रकृति को जानता है, इसमें प्राकृतिक गुणों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति का निरूपण किया है जिससे पाया जाता है कि प्रकृति से माया का ग्रहण नहीं, क्योंकि मायावादियों के मत में मायिक गुणों के जानने से मुक्ति कहीं विधान नहीं की प्रत्युत माया की निवृत्ति से मुक्ति कथन की है, फिर यहां प्रकृति से माया का ग्रहण कैसे होसक्ता है,और ऐसा मानने से मायावाद के साथ गीता का भी विरोध आता है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य" में कियागया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

सं०–ननु,प्रकृतिभूत "अजा" लोहित, शुक्ल, कृष्ण रूप वाली क्यों वर्णन कीगई है ? उत्तरः—

कल्पनोपदेशाच्चमध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

पद०–कल्पनोपदेशात् । च । मध्वादिवत् । अविरोधः ।

पदा०–(च) और (मध्वादिवत्) मध्वादि दृष्टि की भांति (कल्पनोपदेशात्) कल्पना का उपदेश पायेजाने से (अविरोधः) कोई विरोध नहीं ।

भाष्य-प्रकृति को रूपकालङ्कार द्वारा यहां अजा कल्पना कियागया है, जिसप्रकार मधुविद्या में "असौ वा आदित्यो देवमधु"= निश्चय करके यह आदित्य देवताओं के लिये मधु है, और "वाचं धेनुमुपासीत" बृ० ५।८।१=वाणी को गौ रूप से चिन्तन करे, यहां आदित्य की मधुरूप से और वाणी की गौरूप से कल्पना की है, इसीप्रकार प्रकृत में प्रकृति को अजा के अलङ्कार से वर्णन कियागया है, इसलिये कोई दोष नहीं।

सं०-अब अवान्तर सङ्गति से "यस्मिन्पञ्च०" बृ० ४। ४।१७ इत्यादि वाक्य का निर्णय करने के लिये "संख्योपसंग्रहाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

न संख्योपसंग्रहादपि नाना-भावादतिरेकाच्च ॥११॥

पद०-न। संख्योपसंग्रहात्। अपि। नानाभावात्। अतिरेकात्। च।

पदा०-(संख्योपसंग्रहात्) संख्या का ग्रहण होने पर (अपि) भी सांख्यशास्त्र का श्रुति से विरोध (न) नहीं, क्योंकि (नानाभावात्) अनेक पदार्थों का वर्णन (च) तथा (अतिरेकात्) आकाश का पृथक् ग्रहण पाया जाता है।

भाष्य-ननु, "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" बृहदा० ४।६।३=जिसमें पांच पञ्चजन तथा

आकाश भी प्रतिष्ठित है, इस वाक्य में पांचवार गुणन रूप अर्थवाले "पञ्चजन" शब्द द्वारा सांख्यशास्त्र के माने हुए पचीस तत्त्वों का वर्णन पाया जाता है फिर उनसे भिन्न "आकाश" का पृथक् निर्देश करने से सांख्यशास्त्र तथा उपनिषद् का परस्पर विरोध आता है ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि प्रकृत में "पञ्चजन" शब्द नानापदार्थों के अभिप्राय से आया है पांच के साथ पांच गुणन के अभिप्राय से नहीं, इसलिये उक्त विरोध का उद्भावन करना भ्रममात्र है अर्थात् "पञ्चजन" पद से पृथक् आकाश तथा आत्मा का कथन करना ही सांख्यशास्त्रोक्त पचीस तत्त्वों के विरोधाभाव को बोधन करता है ।

सं०-ननु, प्रकृत में पञ्चजन शब्द से किसका ग्रहण है ? उत्तरः—

प्राणादयोवाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

पद०-प्राणादयः । वाक्यशेषात् ।

पदा०-(वाक्यशेषात्) वाक्यशेष से (प्राणादयः) प्राणादि पांच पदार्थों का ग्रहण है ।

भाष्य-"प्राणस्यप्राणमुतचक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नंमनसोमनो ये विदुः" बृहदा० ४। ४।१८

अर्थ-जो प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है उसको जानने वाले ब्रह्म को जानते हैं, इस वाक्यशेष से पाया जाता है कि ब्रह्म के आश्रय जो प्राणादिक हैं उन्हीं को पञ्च २ जना शब्द से कहा गया है

अर्थात् प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, अन्न और मन यह पांच पदार्थ ही पञ्चजन शब्द से अभिप्रेत हैं, सांख्योक्त पचीस तत्त्व नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में शाखान्तर का मत कथन करते हैं:—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

पद०-ज्योतिषा। एकेषां। असति। अन्ने।

पदा०-(एकेषां) कई एक शाखावाले (अन्ने, असति) अन्न का पाठ न होने पर (ज्योतिषा) तेज से पांचवीं संख्या पूर्ण करते हैं।

भाष्य-काण्वशाखा वालों के मत में अन्न का पाठ न होने से ज्योति=अग्नि से वहां पञ्च संख्या पूर्ण करते हैं और वह विषयों के प्रकाशक इन्द्रिय लिये गये हैं, प्राण शब्द से स्पर्शेन्द्रिय का ग्रहण है, क्योंकि वह वायु सम्बन्धि है, और ज्योतिः शब्द से चक्षु, श्रोत्र से श्रोत्र इन्द्रिय तथा अन्न शब्द से घ्राणेन्द्रिय और मन, यह उक्त पञ्चजना=पांच इन्द्रिय तथा आकाश जिसमें है उसको आत्मा जानो।

सं०-अब प्रकारान्तर से ब्रह्मकारणवाद में आक्षेपपूर्वक समाधान करने के लिये "कारणत्वाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा-व्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

पद०-कारणत्वेन। च। आकाशादिषु। यथाव्यपदिष्टोक्तेः।

पदा०-(च) और (आकाशादिषु) आकाशादिकों में (कारणत्वेन) कारणभाव से (यथाव्यपदिष्टोक्तेः) एकरस कथन किये जाने के कारण ब्रह्मकारणवाद में कोई दोष नहीं ।

भाष्य—सब वेदान्त वाक्य ब्रह्म को ही जगत् का कारण निरूपण करते हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि "सदेवसोम्येदमग्र आसीत्" छा० ६।७।१=हे सोम्य ! सृष्टि से प्रथम यह सत् ही था, इस वाक्य में सत्पूर्वक सृष्टि सुनी गई है, और "असद्वाइदमग्र आसीत्" तै० २। ७=सृष्टि के पूर्व यह असत् ही था, इसमें असत्पूर्वक सृष्टि कथन कीगई है, इस प्रकार कहीं सत् और कहीं असत् कथन करने से ब्रह्म जगत् का कारण नहीं होसक्ता ? यह आक्षेप इसलिये ठीक नहीं कि कारणत्वेन=सर्वज्ञत्वादि धर्मोंवाला ब्रह्म ही जगत् का कारण है, और इसी प्रकार वेदान्त में सर्वज्ञ ब्रह्म आकाशादिकों का कारण कथन किया गया है, जैसाकि "तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" तै० २। १=उस ब्रह्म से जो सबका अन्तरात्मा है आकाश उत्पन्न हुआ "तत्तेजोऽसृजत"=उसी ने तेज को उत्पन्न किया, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म को ही कारण वर्णन किया गया है, और सदसद् का विरोध इसलिये नहीं कि सत् का कथन सत्कारणवाद के अभिप्राय से है और कार्य्यावस्था के अभिप्राय से असत् कथन किया गया है अर्थात् कारणरूप से यह जगत् सत् था और कार्य्यरूप से असत् था, इसलिये कोई विरोध

नहीं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "वैशेषिकार्य्यभाष्य" तथा "न्यायार्य्यभाष्य" में किये जाने से यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

सं०-अब उक्त विरोध का हेत्वन्तर से परिहार करते हैं:—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(समाकर्षात्) समाकर्ष=सम्बन्ध होने के कारण कोई विरोध नहीं।

भाष्य-"असद्वा इदमग्र आसीत्" तैत्ति० २।७ इस वाक्य में सद्रूप ब्रह्म का सम्बन्ध करलिया जाता है जिसका वर्णन तैत्ति० २।५ में इसप्रकार किया गया है कि "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्मा आनन्दमयः" "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय"=उस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न दूसरा अन्तरात्मा आनन्दमय है, उसने संकल्प किया कि मैं अनेक प्रकार का होजाऊं, इत्यादि वाक्यों से आनन्दमय पदवाच्य ब्रह्म की अनुवृत्ति "असद्वा०" इत्यादि वाक्यों में किये जाने से विरोध की सम्भावना न होने के कारण औपनिषद ब्रह्मकारणवाद निर्भ्रान्त जानना चाहिये।

सं०-अब कौषीतकि ब्राह्मण का ब्रह्म में समन्वय दिखलाने के लिये "बलाक्यधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

पद०—एकपद० ।

पदा०—(जगद्वाचित्वात्) कर्म शब्द जगद्वाचि होने से ब्रह्म के कर्त्ता होने को बोधन करता है ।

भाष्य—"सहोवाच यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणा कर्त्ता यस्य वै तत् कर्म स वेदितव्यः" कौ० ब्रा० ४ । १९=अजातशत्रु ने कहा कि हे बालाके ! जो इन पुरुषों का कर्त्ता है और जिसका यह कर्म है उसको जानना चाहिये, यहां पर जो कर्त्ता कथन किया गया है वह प्राण है किंवा जीव अथवा ब्रह्म है ? इस सन्देह में प्रथम दोनों पक्ष पूर्वपक्षी और तीसरा पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है कि "अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति"=सुषुप्ति अवस्था में एक प्राण ही शेष रहजाता है, इस वाक्यशेष द्वारा प्राण का प्रकरण पायेजाने तथा कर्म=क्रियामात्र प्राण के अधीन होने से आदित्यादिकों में पञ्च पुरुषों का कर्त्ता प्राण बनसक्ता है अथवा अपूर्व=अदृष्टरूप कर्मफल का भोक्ता होने के कारण भोगसम्पादक आदित्यादि पांचों का कर्त्ता जीव है ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि कर्म शब्द जगद्वाची होने से ईश्वर को कर्त्ता बोधन करता है अर्थात् "क्रियत इति कर्म"=जो कियाजाय उसको "कर्म" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से कर्म का अर्थ जगत् है और उसका कर्त्ता ईश्वर के विना और कोई नहीं होसक्ता, इस

लिये ब्रह्म ही जिज्ञासतव्य है जीव तथा प्राण नहीं, इस प्रकार बालाकि ब्राह्मण का समन्वय ब्रह्म में जानना चाहिये ।

सं०-ननु, उक्त वाक्य में जीव तथा मुख्यप्राण का लिङ्ग पायेजाने से उन्हीं का वर्णन पाया जाता है ब्रह्म का नहीं ? उत्तरः-

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति-चेत्तद्व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

पद०-जीवमुख्यप्राणलिङ्गात् । न । इति । चेत् । तत् । व्याख्यातम् ।

पदा०-(जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्) जीव तथा मुख्यप्राण का लिङ्ग होने से वही जिज्ञासतव्य हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (तत्) इसका उत्तर (व्याख्यातम्) पीछे कथन कर आये हैं ।

भाष्य-जो यह कहा गया है कि जीव के और मुख्य प्राण के लिङ्ग पाये जाने से यहां ब्रह्म का वर्णन नहीं ? यह ठीक नहीं, क्योंकि इसका उत्तर "उपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतद्योगात्" ब्र० सू० १।१।३१ में कथन किया गया है, और यहां भी अजातशत्रु के उपक्रम में यह वर्णन किया है कि "ब्रह्म ते ब्रवाणि"=अब तुमको मैं ब्रह्म का उपदेश करता हूं, इस प्रकार ब्रह्म का प्रकरण चलाकर फिर यह कहा है कि "यस्य च एतत् कर्मेति"=जिसका यह कर्म है, इससे पाया गया कि यहां जीव का वर्णन नहीं किन्तु निखिल जगत् के कर्त्ता ब्रह्म का वर्णन है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में जैमिनि ऋषि का मत कथन करते हैं:—

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्याना-भ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

पद०—अन्यार्थं । तु । जैमिनिः । प्रश्नव्याख्यानाभ्यां । अपि । च । एवं । एके ।

पदा०—(तु) और (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य का कथन है कि (प्रश्नव्याख्यानाभ्यां) ब्रह्मविषयक प्रश्नोत्तर पाये जाने से (अन्यार्थं) जीव तथा प्राण विषयक वर्णन (अपि) भी उसी को बोधन करता है (च) क्योंकि (एके) कई एक शाखावाले (एवं) ऐसा ही पढ़ते हैं।

भाष्य—जैमिनि आचार्य्य के मतानुसार इस वाक्य में जीव तथा प्राण का वर्णन ब्रह्मबोधन के लिये है, यह बात प्रश्न और व्याख्यान से स्पष्ट पाई जाती है, जैसाकि बालाकी के प्रति अजातशत्रु का यह प्रश्न कि:—

"क एष एतत बालाके पुरुषोवाऽशयिष्ट, क वा एतदभूत् कुत एतदागात्" कौ०ब्रा०४। १९=हे बालाके यह पुरुष कहां सोया हुआ था अथवा कहां था और कहां से आया ? जब अजातशत्रु के इन प्रश्नों का उत्तर बालाकी ने कुछ न दिया तो अजातशत्रु ने स्वयं कहा कि:—

"अस्मिन्प्राण एव एकधा भवाति तदेनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वैः रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं

सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति, स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वादिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन् एवमेव एतस्मादात्मनः प्राणा यथा आयतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" कौ० ब्रा० ४। २०

अर्थ–इस प्राणरूप परमात्मा में जब सब लय होकर एक होजाते हैं तब सब नामों के साथ वागेन्द्रिय, सब रूपों के साथ चक्षु, सब शब्दों के साथ श्रोत्र और सब ध्यानों के साथ मन का भी लय होजाता है, जब यह पुरुष जागता है तो जैसे जलती हुई अग्नि से चिनगारे निकल कर सब दिशाओं में फैलते हैं इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण, प्राणों से इन्द्रिय तथा इन्द्रियों से लोक निकलकर अपने स्थानों में स्थिर होते हैं, इस प्रकार जैमिनि के मत में सोये हुए पुरुष को जगाकर जो बालाकी के प्रति कहा कि यह कहां सोया हुआ था ? यह कथन जीव को ब्रह्म से भिन्न बोधन करने के लिये है।

सं०–अब मैत्रेयी ब्राह्मण का ब्रह्म में समन्वय कथन करने के लिये "वाक्यान्वयाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

पद०–एकपद०।

पदा०–(वाक्यान्वयात्) पूर्वोत्तर सम्बन्ध पाये जाने से मैत्रेयी ब्राह्मण में ब्रह्म का वर्णन है जीव का नहीं।

भाष्य—न वारे पत्युःकामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति, न वारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" बृहदा० ४।५।६

अर्थ—हे मैत्रेयि ! पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं किन्तु अपने लिये ही पति प्यारा है, यह कथन करके फिर कहा कि वस्तुमात्र किसी दूसरे के लिये प्रिय नहीं अपितु आत्मा के लिये ही प्यारे हैं, आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य तथा निदिध्यासितव्य है, उसी एक के जानने से सब कुछ जाना जाता है, इत्यादि वाक्यों में तो स्पष्टतया जीवात्मा का वर्णन पाया जाता है और उसी के जानने से सब का जानना कथन किया गया है, फिर कैसे कहा जाता है कि वेदान्त वाक्यों में ब्रह्म का ही समन्वय है जीव का नहीं ? इसका उत्तर यह है कि "वाक्यान्वय"=पूर्वोत्तर सम्बन्ध से यहां ब्रह्म का ही वर्णन है जीव का नहीं अर्थात् याज्ञवल्क्य के परिब्राजक होने समय मैत्रेयी ने पूछा कि हे भगवन् ! आप कहां जाते हैं ? इसका उत्तर याज्ञवल्क्य ने यह दिया कि मैं संन्यास लेकर वन में जाता हूं, और तेरा कात्यायनी से विभाग कर देता हूं तब मैत्रेयी ने कहा कि क्या इससे अमृतलाभ होगा ? तब याज्ञवल्क्य

ने उत्तर दिया कि "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" बृहदा० ४ । ५ । ५=अमृत=मुक्ति की आशा धन से नहीं होसक्ती, तब मैत्रेयी ने कहा कि "येनाहंनामृतास्यां किमहन्तेन कुर्याम् यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि" बृह० ४ । ५ । ६=जिससे मैं अमृत नहीं होती उसको मैं क्या करूं, अमृत का कारण जो आप जानते हैं वही मेरे प्रति वर्णन करें, तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि "आत्मवारे द्रष्टव्यः"=हे मैत्रेयी आत्मा दर्शन करने योग्य है, इत्यादि, इससे पाया गया कि मुक्ति का कारण परमात्मदर्शन ही है जीवात्मा नहीं, और दूसरी युक्ति यह है कि इस प्रकरण में उस एक के ज्ञान से ही सब कुछ जाना जाता है, इस कथन से एकमात्र परमात्म ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु वर्णन किया है इससे भी यहां परमात्मा का ही वर्णन पायाजाता है जीव का नहीं ।

इन्हीं प्रतीकों को लिखकर मायावाद के आचार्य्य यह सिद्ध करते हैं कि यह जो कुछ नानापन दीखता है यह सब आविद्यिक=अविद्या का विलास है, वास्तव में एक ब्रह्म ही है वही अविद्यावश से नानारूप होजाता है, जैसाकिः—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति ।
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् तत्केन कं पश्येत् ॥

बृहदा० ४ । ५ । १५

अर्थ—जहां द्वैत होता है वहां दूसरा दूसरे को देखता है और जहां इसका अपना आप ही हो वहां कौन किसको देखे ?

इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि यह सब कुछ ब्रह्म ही है ? इसका उत्तर यह है कि इस वाक्य में परमात्मा के सजातीय आदि भेदों का निषेध कियागया है, जहां परमात्मा से भिन्न कोई उस जैसा ज्ञाता हो वह उसको जानसके जहां कोई उस जैसा ज्ञाता ही नहीं वहां कौन किसको जाने, इन वाक्यों में परमात्मा को एक सिद्ध किया गया है जीव ब्रह्म की एकता नहीं ।

स्वामी शङ्कराचार्य्यजी उक्त वाक्यों का आशय यह लेते हैं कि यहां दूसरे चेतन का निषेध किया गया है अर्थात् वह एक ही चेतन है अन्य सब उपाधिकल्पित हैं, यह इस लिये ठीक नहीं कि "अस्यमहतो भूतस्यनिश्वसितमेत-द्यहृग्वेदोयजुर्वेदः" बृहदा० ४ । ५ । १५=इस महाभूत= सबसे बड़े परम सत्तारूप ब्रह्म से ऋग्वेदादि वेदचतुष्टय उत्पन्न हुए,और वेदचतुष्टय की योनि स्वामी शङ्कराचार्य्य भी ब्रह्म को ही "शास्त्रयोनित्वात" ब्र० सू० १ । १ । ३ में मान आये हैं, फिर कैसे कहा जाता है कि यहां जीव का प्रकरण है, यदि यह कहाजाय कि अस्तु यहां ईश्वर का प्रकरण रहो पर फिर भी अद्वैतवाद इस प्रकार सिद्ध होसक्ता है कि यहां उससे भिन्न जीव का निषेध किया है ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रकरण में जीव का निषेध नहीं, यहां परमात्मा को अद्वितीय कथन किया गया है, और जो यह कहा है कि "दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न वाह्याञ्छब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा

शब्दो गृहीतः" बृ० ४।४।८=दुन्दुभी बाजे के ग्रहण से दुन्दुभिगत नाना प्रकार के शब्दों का ग्रहण होजाता है, एवं सर्वाधिष्ठानरूप परमात्मा के ग्रहण से तदाश्रित सब पदार्थों का ग्रहण होजाता है, इससे परमात्मा को सर्वाधिष्ठान सिद्ध किया है न कि इतर पदार्थों का निषेध किया है, इसप्रकार उक्त विषयवाक्यों की सङ्गति अद्वैतवाद में नहीं लगसक्ती, यही मानना ठीक है।

सं०-अब उक्त अर्थ में "आश्मरथ्य" आचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

पद०-प्रतिज्ञासिद्धेः। लिङ्गम्। आश्मरथ्यः।

पदा०-(प्रतिज्ञासिद्धेः, लिङ्गं) दुन्दुभि का दृष्टान्त प्रतिज्ञा-सिद्धि का लिङ्ग है (आश्मरथ्यः) यह आश्मरथ्य का मत है।

भाष्य-आश्मरथ्याचार्य्य यह मानते हैं कि "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" मुण्ड० १। १।७=किसके जानने से यह सब जाना जाता है, इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिये दुन्दुभि का दृष्टान्त दिया गया है अर्थात् एक परमात्मा के जानने से ही सब कुछ जाना जाता है यह भाव उक्त दृष्टान्त का है॥

सं०-अब उक्त अर्थ में "औडुलोमि" आचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

पद०—उत्क्रमिष्यतः । एवंभावात् । इति । औडुलोमिः ।

पदा०—(उत्क्रमिष्यतः) पूर्व अवस्था को छोड़कर निकलने वाले जीव को (एवंभावात्) परमात्मभाव की प्राप्ति होने से एकता का कथन है (इति) ऐसा (औडुलोमिः) औडुलौमि आचार्य्य मानते हैं ।

भाष्य—औडुलोमि आचार्य्य यह मानते हैं कि परमात्मभावों के धारण करने से यह जीवात्मा अपनी पूर्व अवस्था को त्यागकर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है, जैसाकि:—

"एष—सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायपरंज्योतिरूपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" छा० ८ । १२ । ३

"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् नामरूपात् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" मुण्ड० ३ । २ । ८

अर्थ—यह सम्प्रसाद नाम वाला जीव इस शरीर को छोड़कर सर्वोपरि पुरुष जो ब्रह्म है उसको प्राप्त होता है, जैसे नदियें बहती हुई समुद्र को प्राप्त होजाती हैं एवं नाम और रूप को छोड़कर मुक्तपुरुष उस पूर्वोक्त दिव्यगुणयुक्त परमात्मा को प्राप्त होजाता है, इस प्रकार मुक्ति अवस्था के अभिप्राय से कहागया है कि वहां कौन किसको देखे और कौन किसको सुने, एकता के अभिप्राय से नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में "काशकृत्स्न" आचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

अवस्थितेरितिकाशकृत्स्नः ॥२२॥

पद०-अवस्थितेः । इति । काशकृत्स्नः ।

पदा०-(अवस्थितेः) सर्वत्र व्यापकता पायेजाने के कारण आत्मा को द्रष्टव्य कथन किया है (इति) ऐसा (काशकृत्स्नः) काशकृत्स्न आचार्य्य मानते हैं ।

भाष्य-काशकृत्स्नाचार्य्य यह मानते हैं कि "अततीत्यात्मा"=जो सब स्थानों में व्यापक हो उसको "आत्मा" कहते हैं, ब्रह्मरूप आत्मा सबका अन्तरात्मा माना गया है इसलिये "आत्मावारे द्रष्टव्यः" इत्यादि वाक्यों में आत्मा को द्रष्टव्य कहा है, एवं तीनों आचार्य्यों के मत में इस प्रकरण में ब्रह्म का वर्णन है अर्थात् ब्रह्म का ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन लिखा है जीव का नहीं ।

स्वामी "शङ्कराचार्य्य" जी उक्त सूत्रों का अद्वैतवाद के भाव से भाष्य करते हैं जिसमें नाना प्रकार के अर्थाभासों से जीव को ब्रह्म बनाने का यत्न किया है वह इस प्रकार कि परमात्मा जीवरूप बनकर सबमें स्थित है, जैसाकि इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि "अभेदाभिधानमितिकाशकृत्स्नाचार्य्यो मन्यते"=यह सूत्र जीव ब्रह्म के अभेद को कथन करता है, यह काशकृत्स्नाचार्य्य मानते हैं, क्योंकि:—

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" बृहदा० ४।५।१५

अर्थ—जहां द्वैत होता है वहां अन्य अन्य को देखता है और जिस अवस्था में इसका सब अपना आप है वहां कौन किसको देखे, इत्यादि वाक्यों में उसी एक ब्रह्म का वर्णन करके यह कथन किया है कि काशकृत्स्नाचार्य्य का मत ही श्रुतिसम्मत है, औरः—

"विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तोभेदो न पारमार्थिक इत्येषोऽर्थः सर्वैर्वेदान्तवादिभिरभ्युपगन्तव्यः" शं० भा०

अर्थ—अविद्याकृत जो देहादि उपाधि उसी से जीव ब्रह्म का भेद है वास्तव में नहीं, यह अर्थ सब वेदान्तियों को स्वीकार करने योग्य है, औरः—

"सदेवसोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" छा० ६।२।१=हे सोम्य! सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्म ही था, "आत्मैवेदंसर्वं" छा० ७।२५।२=यह सब आत्मा है, "ब्रह्मैवेदंसर्वं" मुण्ड० २।२।११=यह सब ब्रह्म है, "इदंसर्वंयदयमात्मा" बृहदा० २।४।६=यह सब कुछ आत्मा है, "नान्योतोस्ति द्रष्टा" बृहदा०३।७।२३=उससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं, "वासुदेवः सर्वमिति" गी० ७।१९=यह

सब वासुदेव है, "क्षेत्रज्ञंचापिमांविद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" गी० १३ । २=सब शरीरों में मुझको क्षेत्रज्ञ जानो, "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" गी० १३ । २७=सब भूतों में परमेश्वर एक है, "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानां" बृ० १।४।१०=वह और है मैं और हूं जो ऐसा जानता है वह देवताओं का पशु है, "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" बृ० ४।४।१९=वह मरण से मरण को प्राप्त होता है जो नानापन देखता है, "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" यजु० ४० । ७= उस अवस्था में एकत्व जानने वाले का शोक मोह नहीं रहता, इत्यादि श्रुति स्मृतियों से जीव ब्रह्म की एकतापूर्वक भेद का स्पष्ट निषेध किया गया है, इस प्रकार अनेक प्रतीकों से स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने एक ब्रह्म ही सिद्ध किया है, यहां पर सब प्रतीकों की समालोचना करने से ग्रन्थ बढ़ता है और भूमिका में कई एक वाक्यों की समीक्षा कर आये हैं केवल अद्वैतवादियों के अर्थाभास दिखलाने के लिये दोचार प्रतीकों के अर्थ किये जाते हैं जिनके अर्थ स्वामी "शङ्कराचार्य्य" ने यह किये हैं कि जो अपने से भिन्न ब्रह्म को मानता है वह पशु है, यह आशय उस वाक्य का नहीं, वाक्य का आशय यह है कि "योऽन्यांदेवतामुपास्ते"=जो परमात्मा से भिन्न देवता की उपासना करता है वह पशु है, क्योंकि इसके पूर्व

परमात्मा का प्रकरण है, दूसरे वाक्य का यह अर्थ है कि "अन्योऽसौ, अन्योऽहमस्मीति न स वेद यथापशुरेवं स देवानाम्"=जो यह नहीं जानता कि मैं अल्पज्ञादि गुणों वाला जीव और हूं और ईश्वर सर्वज्ञादि गुणों वाला अन्य है, वह भी देवानां=विद्वानों के मध्य पशु है, "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति०" इनके यह अर्थ हैं कि जो ईश्वर एक है उसमें नानापन नहीं, क्योंकि इससे पूर्व श्लोक का यह अर्थ है कि जहां से सूर्य्योदय होता है और जहां अस्त होता है वहां तक एक ही परमात्मा सर्वव्यापक है, फिर कहा है कि "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह"= जो परमात्मा यहां है वही परलोक में है, जो परलोक में है वही यहां है, इस प्रकार ईश्वर विषयक जो भेद अर्थात् ईश्वर के सजातीय आदि भेदों का निषेधक उक्त वाक्य था उसको जीव ईश्वर के भेदनिषेध में लगा दिया, और "वासुदेवः सर्वमिति" इस श्लोक का अभिप्राय गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध कथन किया है, वहां प्रकरण यह है कि आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, यह मेरे चार प्रकार के भक्त होते हैं, यद्यपि यह सब श्रेष्ठ हैं पर ज्ञानी मेरा आत्मा ही है और वह मुझे बहुत जन्मों के अनन्तर प्राप्त होता है, और वह अपनी ज्ञानावस्था में "यह देखता है कि परमात्मा ही परमात्मा है और कुछ नहीं" इसका नाम "शमविधि" है, इससे जीव ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं होता किन्तु शान्ति के लिये एक अभेदोपासना है।

कहां तक लिखें अद्वैतविद्याचार्य्य ने तो केवल प्रमाण देकर जीव ईश्वर का अभेद सिद्ध करना अपना मुख्य कर्तव्य समझा है, जैसाकि "समं सर्वेषुभूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" भला इससे जीव ब्रह्म की एकता कैसे सिद्ध हुई, सारा श्लोक इस प्रकार है किः—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्व विनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

गी० १३ । २७

अर्थ–जो परमात्मा को सर्वव्यापक जानता है और विनाश होने वाले पदार्थों में अविनाशी समझता है वही ठीक समझता है, इन अर्थों को छोड़कर जीव ब्रह्म की एकता में यह श्लोक लगा दिया है, इसी प्रकार अन्य सब प्रतीकें हैं जिनका कोई सम्बन्ध जीव ब्रह्म की एकता से नहीं, उन्हों ने केवल अपने मत की दृढ़ता दिखलाने के लिये इकट्ठी करदी हैं, उक्त स्वामी ने यहां यह भी लिखा है कि यह काशकृत्स्नाचार्य्य का मत ही श्रुति अनुसारी है, इस लिखने का आशय यह है कि पूर्व के दो आचार्य्यों के मत स्पष्टतया भेद को सिद्ध करते हैं और इस सूत्र में अर्थाभास करने से भेदवादी जिज्ञासु को सन्देह उत्पन्न होसक्ता है, इसलिये इसी पर अधिक बल दिया है कि ब्रह्म ही जीवरूप से सब शरीरों में स्थिर है, और प्रमाण इसके लिये यह

दिया है कि "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" छा० ६। ३। २=ब्रह्म हीं जीवरूप से प्रविष्ट हुआ, और इसी वाक्य के अर्थ "प्रयोजनवत्वाधिकरण" में इन्हों ने यह किये हैं कि जीवात्मा अनादि है, क्योंकि वहां अनादि मानने से विना पुण्य पाप की व्यवस्था नहीं बनसक्ती थी. हमारे विचार में काशकृत्स्नाचार्य्य का आशय यहां यह है कि ब्रह्म सर्वान्तरात्मा इस अभिप्राय से कहा जाता है कि वह सबके भीतर व्यापक होने से सबका आत्मा है, इसलिये "आत्मावारे द्रष्टव्यो मन्तव्यो" इस वाक्य में ब्रह्मरूप आत्मा का ग्रहण है जीवात्मा का नहीं।

स्वामी "रामानुज" ने इस सूत्र के भाष्य में बृहदारण्यक के अं० ब्रा० की प्रतीक का आशय इस प्रकार स्फुट किया है कि:—

"य आत्मनितिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरोयमयति स ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" ॥

अर्थ— जो जीवात्मा में रहता है, जीवात्मा जिसको पूर्ण रीति से नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है और जो जीवात्मा को नियम में रखने वाला है वह तुम्हारा अन्तर्यामी परमात्मा है, इससे जीव ईश्वर का भेद स्पष्ट सिद्ध है, और यह भी कहा है कि अपने शरीर रूप जीवात्मा में स्थिर होने

के कारण काशकृत्स्नाचार्य्य ने ब्रह्म की जीवरूप से स्थिति मानी है नकि मायावादियों के समान अविद्यावश जीव बन जाने से, और जो स्वामी शं० चा० ने यह माना है कि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव परमात्मा ही अविद्यारूप उपाधि द्वारा ढ़क जाने से जीव बन जाता है. इसका खण्डन इस सूत्र के भाष्य में स्वामी रामानुज ने बड़े बल से किया है और कहा है कि जो तुम तिरोधान=परमात्मा के स्वरूप का ढक जाना मानते हो वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा की प्रकाशानिवृत्ति ही हुआ, और प्रकाश ही उसका स्वरूप था, सो इसप्रकार अर्थ करने से ब्रह्म के स्वरूप नाश का प्रसङ्ग आता है,सार यह निकला कि इस त्रिसूत्री में स्वामी शङ्कराचार्य्य ने अविद्या का सहारा लेकर इन तीनों सूत्रों का भाष्य किया है जो सूत्रों के आशय से सर्वथा विरुद्ध है।

सं०-यहां तक जीव और ईश्वर के भेद का वर्णन करके अब जगत् के उपादान कारण प्रकृति का वर्णन करते हैं:—

प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

पद०-प्रकृतिः । च । प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ।

पदा०-(च) और (प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्) प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त की बाधा न पाये जाने से (प्रकृतिः) प्रकृति भी जगत् का कारण है।

भाष्य-ब्रह्म से भिन्न जगत् का कोई उपादान कारण मानने पर ही प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त ठीक रहसक्ते हैं इसलिये प्रकृति भी जगत् का कारण है,प्रतिज्ञा-यह है कि "अस्थूलमनण्वह्रस्व-मदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायं" बृहदा० ३ । ७ । ८

"दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"

मुण्ड० १।३।२

अर्थ-वह न स्थूल, न अणु, न दीर्घ, न ह्रस्व, न लाल, न चिकना और न उसकी कोई छाया है, वह दिव्य=प्रकाशस्वरूप तथा अमूर्त्त है, वह सब के बाहर भीतर और अज है, इस प्रकार ब्रह्म में स्थूलादि गुणों का अभाव कथन करके उसको निराकार सिद्ध किया है यही निराकार की प्रतिज्ञा है और दृष्टान्त यह है कि:—

"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्नलिप्यते चाक्षुषैर्बाह्य-दोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" कठ० ४।११

अर्थ-जिस प्रकार सूर्य्य प्रकाशक होने से सब लोकों का चक्षु है पर बाह्य दोषों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, इसी प्रकार सब भूतों का अन्तरात्मा बाह्य दुःखों से दुःखी नहीं होता, क्योंकि वह निर्लेप है, इस प्रकार प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से परमात्मा को निरवयव सिद्ध किया गया है, यह प्रतिज्ञा और दृष्टान्त तभी ठीक रहसक्ते हैं जब ब्रह्म से भिन्न उपादान कारण कोई अन्य मानाजाय जिसका परिणाम यह जगत् हो, और "जन्माद्यस्ययतः" ब्र० सू० १।१।२ में ब्रह्म को निमित्तकारण तथा प्रकृति को उपादान कारण कथन किया है, और जो स्वा०शं०चा०जी ने यह लिखा है कि पञ्चमी विभक्ति उपादान में ही होती है, यह ठीक नहीं, क्योंकि "आदित्याज्जायतेवृष्टिः" मनु० ३।७६ यहां निमित्तकारण में पञ्चमी है और "तस्मात्

यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" यजु० ३१। ७= उसी यज्ञरूप परमात्मा से सब ऋगादि वेद उत्पन्न होते हैं, यहां भी निमित्तकारण में ही पञ्चमी है, इसलिये उनका यह कथन कि जनि धातु के प्रयोग में उपादान में ही पञ्चमी होती है ठीक नहीं।

सं०-ननु, यह कैसे समझाजाय कि ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण ही है उपादान नहीं? उत्तरः—

अभिध्योपदेशाच्च ॥२४॥

पद०-अभिध्योपदेशात्। च।

पदा०-(च) और (अभिध्योपदेशात्) इच्छापूर्वक सृष्टि रचना पायेजाने से ब्रह्म निमित्तकारण है।

भाष्य-उस ब्रह्म से ईक्षणपूर्वक सृष्टिकी रचना पाई जाती है अर्थात् उसने ध्यानपूर्वक समझ सोचकर इस संसार को बनाया है, इससे सिद्ध है कि परमात्मा निमित्तकारण है उपादान नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ को तीन सूत्रों से स्फुट करते हैं:—

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥२५॥

पद०-साक्षात्। च। उभयाम्नानात्।

पदा०-(च) और (साक्षात्) साक्षात् ही (उभयाम्नानात्) दोनों का वर्णन होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-वेद तथा उपनिषदों में साक्षात् दोनों का वर्णन पाया जाता है अर्थात् ब्रह्म निमित्तकारण और प्रकृति उपादान कारण मानी गई हैं, जैसाकि पीछे "जन्माद्यधिकरण" आदि

कई अधिकरणों में स्पष्ट कर आये हैं, इसलिये दोनों को पृथक् २ कारण मानना ही ठीक है ।

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

पद०–आत्मकृतेः । परिणामात् ।

पदा०–(आत्मकृतेः) परमात्मा के यत्न तथा (परिणामात्) जगत्रूप परिणाम के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य–परमात्मा के यत्न और प्रकृति के परिणाम से यह जगत् उत्पन्न होता है, इस प्रकार प्रकृति को परिणामी उपादानकारण और ब्रह्म को कूटस्थ नित्य होने से केवल निमित्तकारण वर्णन किया गया है ।

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

पद०–योनिः । च । हि । गीयते ।

पदा०–(च) और (हि) निश्चय करके (योनिः) परमात्मा ही निमित्तकारण (गीयते) कथन किया गया है ।

भाष्य–और युक्ति यह है कि उस ब्रह्म को भूतयोनि कहा गया है अर्थात् सब भूतों का उसी को कारण कथन किया गया है, इससे भी वह केवल निमित्तकारण ही पाया जाता है, योनि शब्द के अर्थ यहां निमित्तकारण के हैं, जैसाकि निम्नलिखित विषयवाक्य से स्पष्ट है कि:—

" यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भू

तद्योनिं परिपश्यन्ति धीराः" मुण्ड० १।१।६

अर्थ-जो यह अदृश्य=रूपादि रहित, अग्राह्य=निरवयव होने से पकड़ा नहीं जाता, उत्पत्ति शून्य होने से अगोत्र है, नीरूप होने से अवर्ण है, अत्यन्त सूक्ष्म होने से रूप और शब्द के सम चक्षु श्रोत्र का विषय नहीं, वह हस्त पादादि अवयवों से रहित नित्य एकरस है, और वही सर्वव्यापक अतिसूक्ष्म विकार रहित है, जिसको भूतयोनि कथन किया है, इस प्रकार का ब्रह्म उपादान कारण नहीं होसक्ता, इसलिये यहां भूतयोनि के अर्थ निमित्तकारण के हैं उपादानकारण के नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ का अतिदेश कथन करते हैं:—

एतेन सर्वे व्याख्याताव्याख्याताः ॥२८॥

पद०-एतेन। सर्वे। व्याख्याताः। व्याख्याताः।

पदा०-(एतेन) इससे (सर्वे) सब सिद्धान्त (व्याख्याताः) व्याख्यान किये गये हैं।

भाष्य- "तत्तुसमन्वयात्" ब्र० सू० १।१।४ से लेकर इस सूत्र तक सब औपनिषद सिद्धान्त कथन किये गये अर्थात "भेदव्यपदेशाच्चान्यः" ब्र० सू० १।१।२१ इत्यादि सूत्रों में जीव ब्रह्म का भेद और "आकाशस्तल्लिङ्गात" ब्र० सू० १।१।१२ इत्यादिकों में आकाशादि सब ब्रह्म के नाम हैं और जड़ आकाशादि औपनिषद लोगों के उपास्य नहीं, इत्यादि सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान

जानलेना चाहिये, "व्याख्याताः" पद दोवार अध्याय की समाप्ति के लिये आया है।

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्ताऽनुपरोधात्" ब्र० सू० २।४।२३ इस सूत्र से लेकर इन सब सूत्रों में स्वामी शङ्कराचार्य्य ने ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादानकारण वर्णन किया है और प्रतिज्ञा यह रखी है कि:—

"एकस्मिन् विज्ञाते इदं सर्वं विज्ञातं भवति"

अर्थ—एक के जानने से यह सब कुछ जाना जाता है, पर एक के जानने से तभी सब कुछ जाना जाता है जब ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना जाय, इस तर्क से वह इस प्रकार ब्रह्म की अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता का मण्डन करते हैं कि "यथा पृथिव्यां ओषधयः सम्भवन्ति" मुण्ड० १।१।७=जिस प्रकार पृथिवी से ओषधियां निकलती हैं और जैसे पुरुष से केशादि रोम उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार ब्रह्म से यह विश्व निकला है, इस तर्क से इस मत की इस प्रकार निर्बलता दिखलाते हैं कि शङ्करमत में भी ब्रह्म उपादान कारण नहीं होसक्ता, क्योंकि वह निरवयव है, इसीलिये स्वामी शङ्कराचार्य्य ने उसको ब्र० सू० २।१।२७ में विवर्त्त उपादान कारण माना है, और परिणामी उपादान कारण शङ्करमत में अविद्या वा माया है, फिर यहां ब्रह्म को उपादान कारण कैसे कहा जाता है "विवर्त्त" के अर्थ यह हैं कि जो अपने स्वरूप को न त्यागे और अन्यथा प्रतीत हो, जैसे रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत, और "परिणाम" उसको

कहते हैं जो अपने स्वरूप को छोड़कर अन्य रूप धारण करले,जैसे दूध से दधि,पर ब्रह्म में ऐसा होना स्वामी शङ्कराचार्य्य को इष्ट नहीं, क्योंकि शास्त्र इसका निषेध करता है, फिर "आत्मकृतेः परिणामात्" ब्र०सू०१।४।२६में जगत् को ब्रह्म का परिणाम कैसे मानाजाता है, यदि इसका यह आशय लिया जाय कि यत्न परमात्मा में पाया जाता है और परिणाम किसी अन्य पदार्थ में, तो अर्थ वही हमारे आजाते हैं कि परिणाम वाली कोई भिन्न वस्तु सूत्रकार ने मानी है जिसका नाम यहां सूत्रों में होना चाहिये था, हमारे मत में वह प्रकृति है और उसका वर्णन ब्र० सू० १।४।२२ में है, इस प्रकार यहां शङ्करमत उक्त सूत्रों के आशय से विरुद्ध है, यद्यपि स्वामी "रामानुज" भी यहां प्रकृत्याधिकरण में इन्हीं के ढंग पर चलते हैं तथापि वह इतना भेद अवश्य करते हैं कि ब्रह्म का शरीर=प्रकृतिरूप विशेषणअंश उपादान कारण और चैतन्यरूप विशेष्य अंश निमित्त कारण है,जैसाकि "अचिद्वस्तुशरीरस्य ब्रह्मणोकारणत्वात्" ब्र०सू०१।४।२६ के भाष्य में उन्होंने अनादि की व्यवस्था अचिद्वस्तु=प्रकृति और चिद्वस्तु=जीव इन दोनों को ब्रह्म का शरीर माना है, एवं शरीर शरीरीभाव से उक्त दोनों वस्तुयें सदैव ब्रह्म के साथ रहती हैं अर्थात् अचिद्वस्तु जो ब्रह्म का शरीररूप प्रकृति है उसके परिणाम से यह संसार बना है, इसमें उन्होंने मनु का यह श्लोक दिया है कि "सोऽभिध्यायशरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः

प्रजाः" मनु० १।८=इस परमात्मा ने ध्यान करके अपने शरीर से बहुत प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने का विचार किया, शरीर से यहां आशय प्रकृति का है, क्योंकि इस बात को उपनिषद्कार ने स्पष्ट कर दिया है कि "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्याअन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्" बृहदा० ३।७।१=जो पृथिवी में रहता है जिसको पृथिवी नहीं जानती और पृथिंवी जिसका शरीर है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि पृथिव्यादि परमात्मा के शरीर हैं, यद्यपि उक्त अर्थ से यहां स्वामी रामानुज का मत "द्वासुपर्णा स-युजा सखाया" इत्यादि वैदिक मत से विरुद्ध नहीं तथापि ब्रह्म को दोनों प्रकार का कारण कथन करने और "योनि" शब्द को उपादान का वाचक मानने से यह मत भी वेद विरुद्ध है, क्योंकिः—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोष-धयः संभवन्ति । यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्" मुण्ड० १।१।७

अर्थ—जिस प्रकार ऊर्णनाभि=मकड़ी अपने जाल को आप ही रचती और आप ही ग्रहण कर लेती है, और जैसे पृथिवी

से ओषधियां होती हैं तथा जिसप्रकार जीते हुए पुरुष से केशादि होते हैं इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह संसार उत्पन्न होता है,इस वाक्यशेष से योनि शब्द उपादान कारण को इसलिये नहीं कहता कि यहां अक्षर ब्रह्म को निमित्तकारण माना गया है, और जो उक्त वाक्य से दोनों आचार्य्यों ने उपादानकारण का आशय लिया है सो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य उपादान कारण को सिद्ध नहीं करते किन्तु यह सिद्ध करते हैं कि जिस प्रकार मकड़ी से जाला और पृथिवी से औषधियां होती हैं इसी प्रकार परमात्मा भी अपने में स्थिर जो प्रकृति है उसी से सब कुछ बनाता है और इस बात को "स्वामी शङ्कराचार्य्य" भी अन्य स्थलों में इसी प्रकार मानते हैं कि परिणामको विधान करने वाली श्रुति का परिणाम के प्रतिपादन में तात्पर्य्य नहीं किन्तु ब्रह्मकी एकता प्रतिपादन में तात्पर्य्य है,जैसाकिः—

"नचेयं परिणामश्रुतिः परिणाम प्रतिपादनार्था तत्प्रतिपत्तौ फलानवगमात्" ब्र० सू० २।१।२७ शं० भा०

अर्थ—परिणाम को वर्णन करने वाली श्रुति परिणाम के प्रतिपादनार्थ नहीं, क्योंकि परिणाम के वर्णन में कुछ फल नहीं, और इससे आगे यह भी लिखा है कि ब्रह्म निरवयव है इसलिये भी उसका वर्णन नहीं होसक्ता "नेति नेति" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म में साकार का निषेध पायाजाता है इसी प्रकार हमारे मत में भी "यथोर्णनाभिः सृजते" यह वाक्य परमात्मा की स्वाधीनता प्रतिपादन करता है परिणाम नहीं,

और " एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः " इस सूत्र में स्वामी शङ्कराचार्य्य ने परमाणुओं का खण्डन किया है कि सांख्यमत की प्रकृति के खण्डन किये जाने से परमाणुओं का भी खण्डन जानना चाहिये।

इससे अधिक और क्या खींच होसक्ती है जो "व्याख्याता" शब्द को भी यहां खण्डन में लगादिया, है जिस का स्पष्ट अर्थ यह था कि इस अध्याय से पूर्वोक्त सब सिद्धान्त व्याख्यान किये गये, स्वामी रामानुज ने यहां इस अर्थ को यथावस्थित रखा है अर्थात् ठीक २ वही अर्थ किये हैं जो सूत्र के अक्षरों से स्पष्ट प्रतीत होते हैं, जैसाकि:—

एतेन पाद चतुष्टयोक्तार्थकलापेन सर्ववेदान्तेषु जगत्कारणप्रतिपादनपरः सर्वे वाक्यशेषाश्चेतनाऽचेतन विलक्षणसर्वज्ञसर्वशक्ति ब्रह्मप्रतिपादन परा व्याख्याता व्याख्याता इति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिद्योतनार्थः " श्री० भा० ब्र० सू० १।४।२८

अर्थ—इस अध्याय के पादचतुष्टय में जो युक्तियों का समूह कथन किया गया है उससे स्पष्ट है कि शेष वाक्य भी जड़ चेतन से विलक्षण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, यद्यपि कई एक स्थलों में "स्वामी रामानुज" भी परमाणुवाद का खण्डन करते हैं तथापि यहां उनका न्याय अत्यन्त श्लाघनीय है कि उन्होंने अर्थाभास नहीं किया, और जो एक विज्ञान से

सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा छान्दोग्यादि उपनिषदों में पाई जाती है वह ब्रह्म की अभिन्ननिमित्तोपादानकारणता को सिद्ध नहीं करती, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण आरम्भणाधिकरण में किया जायगा॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे वेदान्तार्य्य-
भाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः
समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्यायः प्रारभ्यते

सं०—प्रथमाध्याय में सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म को जगत् का निमित्तकारण तथा प्रकृति को उपादानकारण कथन किया, अब इस अध्याय में सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का निराकार ब्रह्म में अविरोध कथन करते हुए प्रथम स्मृतिवाक्यों का विरोध परिहार करने के लिये प्रथम पाद का प्रारम्भ करते हैं:—

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

पद०—स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः । इति । चेत् । न । अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ।

पदा०—(स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः) जगत्कारणवाद में स्मृत्यनवकाश दोष का प्रसङ्ग आता है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्) एक स्मृति के मानने पर दूसरी स्मृति का अनवकाशरूप दोष ज्यों का त्यों बना रहता है।

भाष्य—एक स्मृति के मानने पर उसी प्रकरण में दूसरी स्मृति के अर्थ की असङ्गति का नाम "स्मृत्यनवकाशदोष" तथा उसकी आपत्ति को "स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग" कहते हैं,

जगत्कारणवाद में "स्मृत्यनवकाशदोष" की आपत्ति इसलिये ठीक नहीं कि जो वादी एक स्मृति को मानकर दोष देता है उसके मत में भी वह दोष वैसा ही बना रहता है अर्थात् एक स्मृति में ब्रह्म को उपादानकारण और दूसरी में निमित्तकारण वर्णन किया है, जैसाकिः—

सोऽभिध्यायशरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव स सर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
मनु० ८ । १८

अर्थ—परमात्मा ने विचारशक्ति द्वारा अपने शरीर से जलादि कों को उत्पन्न किया, यहां ब्रह्म को उपादानकारण माना है, और गी० ८ । १८ में वर्णन किया है किः—

"अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे"

अर्थ—ब्राह्मदिन के आरम्भ में अव्यक्त=प्रकृति से सब व्यक्तियें उत्पन्न होती हैं, यहां प्रकृति को कार्य्यवर्ग का उपादान कारण वर्णन किया है, और इसके आगे गी० ८ । २० में उपादान कारण से पृथक् परमपुरुष परमात्मा को निमित्तकारण माना है, जैसाकिः—

"परस्तस्मात्तुभावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः"

अर्थ—उस अव्यक्तरूप प्रकृति से सूक्ष्म परमात्मा परे है, इस प्रकार एक ही विषय में स्मृतियों का परस्पर विरोध पाया-जाता है, या यों कहो कि जो स्मृति ब्रह्म को उपादान कारण कहती है उसमें निमित्तकारण कथन करने वाली स्मृति को अवकाश

नहीं, और जो निमित्तकारण को कहती है उसमें उपादान कारण कथन करने वाली स्मृति को अवकाश नहीं, इसका उत्तर यह है कि स्मृतिका अनवकाशरूप दोष उभयपक्षमें समानहै अर्थात् स्मृतियों में विरोध होने पर वेदानुकूल स्मृति माननीय और वेद विरुद्ध त्याज्य है, इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने अन्यस्मृत्यनवकाशरूप दोषका प्रसङ्ग कहा है, इस सूत्र के भाष्य में "स्वामी शङ्कराचार्य्यजी" ने भी इस अंश में यही आशय लिया है कि वेदानुकूल स्मृति माननीय है वेदविरुद्ध नहीं, जैसाकिः—

"वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिवरूपविषये पुरुषवचसान्तु मूलान्तरापेक्षम्" शं० भा० ब्र० सू० २।१।१

अर्थ—वेद ही अपने अर्थ प्रकाश करने में स्वतः प्रमाण है अन्य जितनी मनुष्यरचित वाणी हैं वह वेदमूलक होने से ही प्रमाण मानी जासक्ती है अन्यथा नहीं, इस कथन से स्वामी शं० चा० ने यह स्पष्ट मानलिया कि स्मृतियों के विरोध होने से सिद्धान्त की हानि नहीं होती, सिद्धान्त की हानि वेद विरोध होने से होती है, और जो उक्त स्वामीजी ने इस सूत्र में कपिल मत का खण्डन किया है वह सूत्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि कपिल मत के विषय में सूत्रकार ने सूचना तक नहीं की किन्तु " ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति" श्वेता० ५।२ इस वाक्य की व्यवस्था करते हुए उक्त स्वामीजी लिखते हैं कि इसमें कपिल ऋषि का महत्त्व कथन किया गया है, इसमें भी श्रुति से विरुद्ध जो कपिल का मत वह

श्रद्धा युक्त नहीं होसक्ता, क्योंकि इसमें इस बात का निर्णय नहीं किया गया कि वह कौनसा कपिल था ? जिसने सांख्य शास्त्र को लिखा है उस कपिल का उक्त उपनिषद् में वर्णन नहीं किन्तु उस कपिल का वर्णन है जिसने सगर के पुत्रों को शाप दिया था इससे सांख्यशास्त्र कर्त्ता कपिल का कोई महत्व न होने से उसका मत माननीय नहीं, और युक्ति यह है कि सांख्यशास्त्र का कर्त्ता कपिल भेदवादी है अर्थात् जीव ईश्वर को भिन्न २ मानता है, इसलिये भी उसका मत माननीय नहीं, इत्यादि सांख्यशास्त्र का खण्डन स्वामी शं० चा० जी ने अपने मायावाद के सिद्धान्त की पुष्टि के लिये किया है सूत्र में इसका आशय अंशमात्र भी नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में हेत्वन्तर कथन करते हैं:—

इतरेषांचानुपलब्धेः ॥ २ ॥

पद०-इतरेषां । च । अनुपलब्धेः ।

पदा०-(च) और (इतरेषां) अन्य तर्कों के (अनुपलब्धेः) न पायेजाने से ब्रह्म उपादानकारण नहीं ।

भाष्य-तर्कों के न पाये जाने से ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं अर्थात् ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानने में और कोई तर्क न पाये जाने से सिद्ध है कि ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, क्योंकि बिना चेतन नियन्ता से जगत् रचना कदापि नहीं होसक्ती ।

एतेनयोगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

पद०—एतेन । योगः । प्रत्युक्तः ।

पदा०—(एतेन) ब्रह्मकारणवाद के खण्डन किये जाने से (योगः) तत्त्वों की स्वतन्त्र मिलावट द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का भी (प्रत्युक्तः) खण्डन जानलेना चाहिये ॥

भाष्य—ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण का खण्डन किये जाने से परस्पर तत्त्वों की मिलावट द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति मानी है इससे उसका भी खण्डन जान लेना चाहिये, स्वामी शं० चा० ने इस सूत्र का खण्डन करते हुए यह लिखा है कि यद्यपि परमात्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन विषय में योग भी सम्यग्दर्शन से विरुद्ध नहीं तथापि द्वैतवादी होने के कारण योग भी वेदविरुद्ध होने से सांख्य के समान खण्डनीय है ॥

यहां शङ्करमत के परम श्रद्धालुओं की ओर से यह समाधान किया जाता है कि उक्त सूत्रों में स्वामीजी नें सांख्यस्मृति और योगस्मृति का खण्डन किया है सांख्य तथा योग शास्त्र का नहीं, यह समाधान आभासमात्र है, क्योंकि उपादानकारण प्रकृति और द्वैतवाद का खण्डन स्वामी शं० चा० जी ने उक्त सूत्रों में किया है जो सांख्य और योग दर्शन में स्पष्ट है ॥

और बात यह है कि सांख्यशास्त्र का खण्डन तो स्वामी स्पष्ट करते हैं रहा योगदर्शन सो उक्त सूत्र में कहीं योगस्मृति का नाम नहीं प्रत्युत सांख्य शास्त्र के सहचार से उनके अर्थों

में योगशास्त्र ही लिया जासक्ता है, इसलिये सांख्यदर्शन और योगदर्शन का खण्डन शङ्करभाष्य में स्पष्ट है ॥

सं०—अब ब्रह्म को उपादानकारण मानने वाले वादी के मत में कार्य्यकारणभाव की अनुपपत्ति कथन करते हैः—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥४॥

पद०—न । विलक्षणत्वात् । अस्य । तथात्वं । च । शब्दात् ।

पदा०—(विलक्षणत्वात्) विलक्षण होने से (अस्य) इस जगत् का उपादानकारण ब्रह्म (न) नहीं होसक्ता (च) और (शब्दात्) शब्द प्रमाण से भी (तथात्वं) ऐसा ही पाया जाता है ॥

भाष्य—विलक्षण होने से जगत् और ब्रह्म का कार्य्यकारण भाव नहीं अर्थात् जगत् और ब्रह्म में विलक्षणता पाये जाने से ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं होसक्ता, क्योंकि कार्य्यकारणभाव सालक्षण्य में ही होता है वैलक्षण्य में नहीं, जैसाकि मिट्टी से घट, तन्तुओं से कपड़ा, इत्यादि कार्य्य समानधर्म्म वाले द्रव्य से ही उत्पन्न होते हैं, और जड़ चेतन की विलक्षणता शब्द प्रमाण से भी पाई जाती है जो श्वेताश्व० १।१० में वर्णन कीगई है कि "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः"=प्रकृति विकारणी और ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है, इससे सिद्ध है कि जड़चेतन का वैलक्षण्य होने से ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं ॥

सं०—ननु, "ता आप ऐक्षन्त" छा० ६ । २ । ४=जलों ने इच्छा की, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि कार्य्यकारण का वैलक्षण्य नहीं ? उत्तरः—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

पद०-अभिमानिव्यपदेशः । तु । विशेषानुगतिभ्यां ।

पदा०-(विशेषानुगतिभ्यां) विशेष तथा अनुगति से (अभिमानिव्यपदेशः) चेतन कारण का व्यपदेश पाया जाता है ॥

भाष्य-सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है, "सेयंदेवतैक्षत, हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति" छा० ६ । ३ । २=ब्रह्म ने सङ्कल्प किया कि मैं अपने जीवरूप आत्मा द्वारा तेजादि तीन देवताओं में प्रवेश करके नामरूप का विस्तार करूं, इस वाक्य में जो ब्रह्म का ईक्षण कथन किया है उस का नाम "विशेष" और जीवरूप आत्मा द्वारा प्रवेश का नाम "अनुगति" है, इस विशेष और अनुगति से स्पष्ट है कि चेतन ब्रह्म में ही ईक्षण है जलादिकों में नहीं, क्योंकि अभिमानिव्यपदेश=अहङ्कारपूर्वक ईक्षण चेतन में ही होसक्ता है जड़ में नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं :—

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

पद०-दृश्यते । तु ।

पदा०-(तु) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (दृश्यते) ब्रह्म तथा प्रकृति का भिन्न २ कारण होना श्रुति से पाया जाता है ॥

भाष्य–"मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्" श्वे०।४।१०=माया=प्रकृति उपादानकारण और उसका नियन्ता परमात्मा निमित्तकारण है, "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" श्वेता० ६।१६=ईश्वर प्रधान तथा जीवात्मा का स्वामी है, इत्यादि वाक्यों में प्रकृति तथा परमात्मा का पृथक् २ वर्णन पाये जाने से स्पष्ट है कि प्रकृति ही जगत् का उपादानकारण है परमात्मा नहीं, इसी अभिप्राय से बृहदा० ३।७।१ में वर्णन किया है कि "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्"=जो पृथिवी में स्थिर होकर पृथिवी का नियन्ता है, जिसको पृथिवी नहीं जानती और जिसका पृथिवी शरीर है वह ब्रह्म है, यहां पृथिवी आदि जड़पदार्थों का ब्रह्म को नियन्ता कथन किया है और जो नियन्ता होता है वह उपादानकारण से भिन्न होता है, इसलिये ब्रह्म को उपादानकारण मानना समीचीन नहीं, और जो यह कथन किया है कि ब्रह्म ने ही जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके नामरूप का विस्तार किया, इसका यह आशय कदापि नहीं कि ब्रह्म ही जीव बनगया अथवा वही कार्य्यमात्र का उपादानकारण है किन्तु ईक्षण पाये से स्पष्ट है कि ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण है, क्योंकि इच्छापूर्वक सृष्टि का रचना उपादान कारण द्वारा नहीं बनसक्ता, इसलिये ब्रह्म को उपादानकारण मानना ठीक नहीं, इसका विशेष विचार "उपनिषदार्य्यभाष्य" में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें ॥

और जो स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि जैसे चेतन शरीर से जड़ केश नखादि उत्पन्न होते हैं और अचेतन गोवर से चेतन विच्छु आदि होजाते हैं इसी प्रकार विलक्षणों में भी कार्य्यकारणभाव बन जाता है, यह कथन उक्त स्वामीजी के सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि उनके सिद्धान्त में शरीर चेतन नहीं और नाही अचेतन गोवर आदि से चेतन विच्छु आदिकों की उत्पत्ति होती है किन्तु विच्छु के जड़ शरीर की उत्पत्ति होती है, विच्छु का जीवात्मा जीवरूप से वा ब्रह्मरूप से उनके मत में भी अनादि है, फिर विलक्षणों का कार्य्यकारणभाव कैसे ? हमारे मत में विलक्षणों के कार्य्यकारण का दोष इसलिये नहीं आता कि उक्त नियम उपादानकारण में ही घटता है निमित्तकारण में नहीं ॥

सं०—अब प्रसङ्ग सङ्गति से असत्कारणवाद का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:—

असदितिचेन्नप्रतिषेधमात्रत्वात् ॥७॥

पद०—असत् । इति । चेत् । न । प्रतिषेधमात्रत्वात् ।

पदा०—(असत्) सृष्टि के पूर्व असत् ही था (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (प्रतिषेधमात्रत्वात्) असत् शब्द से केवल कार्यावस्था का प्रतिषेध कियागया है ॥

भाष्य—" असदेवसोम्येदमग्र असीत् " छां० ६ । २ । १=सृष्टि के पूर्व असत् ही था, इत्यादि वाक्यों में असत् कथनसे यदि प्रकृति का निषेध किया जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि

असत् कथन से केवल कार्य्यावस्था का प्रतिषेध किया है कारणावस्था का नहीं, इसलिये प्रकृत में " असत् " पद से प्रकृति का ग्रहण करना ही ठीक है।

सं०—अब केवलजड़कारणवादी आशङ्का करता है:—

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥८॥

पद०—अपीतौ। तद्वत्। प्रसङ्गात्। असमंजसम्।

पदा०—(अपीतौ) प्रलयकाल में (तद्वत्प्रसङ्गात्) अशुद्ध्यादि दोषों का प्रसङ्ग होने से (असमञ्जसम्) ब्रह्म को कारण मानना ठीक नहीं।

भाष्य—प्रकृति को उपादानकारण मानकर उसके अधिष्ठानभूत ब्रह्म को निमित्तकारण मानने वाले के मत में जब यह जगत् लय होकर ब्रह्म में मिलजाता है तब वह अपने धर्मों से ब्रह्म को दूषित करेगा अर्थात् प्रलयकाल में ब्रह्म भी जगत् के अशुद्ध्यादि धर्मों वाला होजायगा, इसलिये केवल प्रकृति को ही कारण मानना ठीक है ब्रह्म को नहीं।

सं०—अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं:—

नतु दृष्टान्तभावात् ॥९॥

पद०—न। तु। दृष्टान्तभावात्।

पदा०—(दृष्टान्तभावात्) दृष्टान्त बनसकने से (न) उक्त कथन ठीक नहीं।

भाष्य—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है,

केवलप्रकृतिकारणवादी का यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि लयावस्था में कार्य्य के अशुध्यादि धर्मों से ब्रह्म कदापि मलिन नहीं होता, इसमें दृष्टान्त यह है कि जब किसी अशुध्यादि धर्म वाले पदार्थ के अवयव छिन्न भिन्न होजाते हैं फिर उसमें उक्त दोष नहीं रहता, जैसाकि जलादेने से उत्कर=कूड़ा कचारा आदि पदार्थों में देखाजाता है, इसलिये द्वैतवादियों के मत में यह दोष नहीं आता कि जब जगत् प्रलयकाल में अपने कारण में लय होगा तब उस समय स्वकारण को दूषित करेगा, हां यह दोष तो मायावादियों के मत में आता है जो प्रलयकाल में जगत् को ब्रह्मरूप मानते हैं और माया को सर्वदा अग्नि की उष्णता के समान ब्रह्म की शक्ति मानते हैं, इस प्रकार वैदिकसिद्धान्त को न समझकर जड़कारणवादी का उक्त आक्षेप केवल साहसमात्र है।

सं०-अब मायावाद में दोष कथन करते हैं:—

स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

पद०-स्वपक्षदोषात् । च ।

पदा०-(च) और (स्वपक्षदोषात्) स्वपक्ष में दोष पायेजाने से केवल ब्रह्मकारणवाद भी ठीक नहीं।

भाष्य-स्वपक्ष=मायावादियों के पक्ष में दोष पायेजाने से केवल ब्रह्म को ही कारण मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से ब्रह्म में अशुध्यादि दोषों की आपत्ति होगी अर्थात् केवल ब्रह्म को ही कारण मानाजाय तो अनेक दुःखों का आकर यह जगत् ब्रह्म में लय होता हुआ उसको भी दूषित करेगा, इसलिये केवल ब्रह्म को ही कारण मानना ठीक नहीं।

और जो मायावादी जगत् को ब्रह्म का विवर्त्त मानकर उक्त दोष का परिहार करते हैं वह इसलिये ठीक नहीं कि अनेक स्थलों में स्वा० शं० चा० जी ने जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना है, जैसाकि शं० भा० व० सू० २।१।२९ में वर्णन किया है कि "तस्मादेकस्यापिब्रह्मणोविचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद्विचित्रः परिणाम उपपद्यते"= एक ही ब्रह्म का विचित्र मायाशक्ति के योगद्वारा दूध से दधि के समान यह जगत्‌रूप विचित्र परिणाम होजाता है, इस कथन से प्रलयकाल में ब्रह्म के दूषित होने का दोष मायावादियों के मत में ही लगता है द्वैतवादियों के नहीं, इसलिये केवल ब्रह्म ही जगत् का कारण नहीं होसक्ता।

सं०—अब तर्क की अप्रतिष्ठा कथन करते हुए पूर्वपक्षद्वारा पुनः मायावाद का खण्डन करते हैं:—

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥ ११ ॥

पद०—तर्काप्रतिष्ठानात्। अपि। अन्यथा। अनुमेयं। इति। चेत्। एवं। अपि। अविमोक्षप्रसङ्गः।

पदा०—(तर्काप्रतिष्ठानात्) तर्क की अप्रतिष्ठा होने के कारण (अन्यथा, अपि) अन्य प्रकार से भी (अनुमेयं) मायावाद का अनुमान होसक्ता है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो (अपि) भी ठीक नहीं, क्योंकि (एवं) ऐसा मानने से (अविमोक्षप्रसङ्गः) उक्त दोष ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

भाष्य–तर्क की अप्रतिष्ठा होने से यदि यह अनुमान किया जाय कि मकड़ी आदि की भांति ब्रह्म अभिन्ननिमित्तो-पादान कारण है तोभी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार से भी मायावादी के मत में उक्त दोष ज्यों के त्यों बने रहते हैं, तर्क की अप्रतिष्ठा मानकर दोष दूर न होने का प्रकार यह है कि ऐसा कोई नहीं कह सक्ता कि कोई तर्क प्रतिष्ठित नहीं, क्योंकि तर्क को जो अप्रतिष्ठित कहाजाता है यह भी तर्क ही से कहाजाता है अर्थात् भूत तथा वर्त्तमान काल में जो कुछ देखाजाता है उसी के अनुभव से सब लोग व्यवहार करते हैं, इससे सिद्ध है कि यदि सब तर्कें अप्रष्ठित हों तो लौकिक व्यवहार ही न चले, और जब श्रुति के अर्थ में विवाद होता है तबभी अर्थाभास का खण्डन तर्क ही से किया जाता है, इससे सिद्ध है कि वेद विरोधी तर्क त्याज्य है वेदानुकूल नहीं, इसी अभिप्राय से मनुजी का कथन है कि:—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्य्यं धर्मशुद्धिमभीप्सिता ।
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

मनु० १२ । १०५ । १०६

अर्थ–प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, यह तीनों प्रमाण धर्म निर्णय करने वाले को मानने चाहियें, ऋषियों के सिद्धान्त और धर्मोपदेश इनको वेदशास्त्र अविरोधी तर्क से जो निर्णय करता है वही धर्म को जानता है अन्य नहीं ।

इस प्रकार तर्कमात्र की अप्रतिष्ठा नहीं किन्तु वेदविरोधी तर्क की अप्रतिष्ठा है तो फिर ब्रह्म को परिणामी कारण मानने के निषेध में जो तर्क "स्वपक्षदोषाच्च" सूत्र में दिये गये हैं वह अप्रतिष्ठित कैसे होसक्ते हैं, क्योंकि वह तर्क "द्वासुपर्णासयुजासखाया" ऋग्० २।३।२७ इत्यादि वेद मन्त्रों के अनुकूल है, इस मन्त्र में तीन पदार्थों को अनादि वर्णन किया गया है और जीव को भोक्ता तथा ईश्वर को अभोक्ता माना है, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं, इससे सिद्ध है कि परिणामी कारणत्व प्रकृति में है अभोक्ता ईश्वर में नहीं, इस प्रकार तर्क को अप्रतिष्ठित मानने से भी मायावादी का पीछा नहीं छूट सक्ता।

सं०—अब उक्त अर्थ का अतिदेश कथन करते हैं:—

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः॥१२॥

पद०—एतेन। शिष्टापरिग्रहाः। अपि। व्याख्याताः।

पदा०—(एतेन) इस कथन से (शिष्टापरिग्रहाः) जिनका शिष्ट लोगों ने ग्रहण नहीं किया उनका (अपि) भी (व्याख्याताः) व्याख्यान जानना चाहिये।

भाष्य—शिष्ट=आप्त पुरुषों ने जिन मतों का आदर नहीं किया उक्त कथन से उनका भी खण्डन जानना चाहिये अर्थात् एक ही प्रकृति से जीव और उसी की शक्ति से यह संसार रचना होती है, जैसाकि विरोचन मतानुयायी नास्तिक मानते हैं, और कोई मतवादी ऐसा मानते हैं कि प्रकृति और जीव ही हैं ईश्वर कोई नहीं, इत्यादि मत जिनको

शिष्ट लोगों ने ग्रहण नहीं किया उक्त कथन से उनका भी खण्डन जानना चाहिये, इस सूत्र को "स्वामी शङ्कराचार्य्य" और "रामानुज" ने परमाणुओं के खण्डन में लगाया है, पर यह अर्थ सूत्रकार के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि सूत्र में गन्धमात्र भी परमाणुओं के खण्डन का आशय नहीं पायाजाता।

सं०-ननु, जीव को भोक्ता माना गया है और भोक्ता तथा भोग्य एक देखे जाते हैं जैसे पार्थिव शरीर भोक्ता और पार्थिव शाकादि भोग्य हैं, एवं एक ही पदार्थ में भोग्य और भोक्तृत्व बनसक्ता है फिर जीव को प्रकृति से भिन्न मानना ठीक नहीं ? उत्तरः—

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् । १३ ।

पद०-भोक्त्रापत्तेः । अविभागः । चेत् । स्यात् । लोकवत् ।

पदा०-(भोक्त्रापत्तेः) उक्त प्रकार भोक्ता और भोग्य के एक होने से (चेत्) यदि (अविभागः) प्रकृति और जीव का अविभाग मानाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि यह बात (लोक-वत्) लोकदृष्ट की भांति (स्यात्) होसक्ती है ।

भाष्य-लोक में यह नियम देखा जाता है कि भोग्य जड़ पदार्थ होते हैं और भोक्ता चेतन, चेतन से बिना कभी भोक्ता नहीं होता, और जो शरीरादिकों में भोक्तृत्व प्रतीत होता है वह केवल अविवेक से भान होता है, क्योंकि शरीरादि भोक्ता होने के साधन हैं जड़ होने से स्वयं भोक्ता नहीं, इस प्रकार इस "भोक्त्रापत्त्याधिकरण" में यह सिद्ध किया गया है कि जीव

प्रकृति का अंश नहीं किन्तु प्रकृति से भिन्न स्वयंसिद्ध परिच्छिन्न चेतन पदार्थ है, स्वामी शं० चा० के मत में यह सूत्र इस प्रकार लगाया गया है कि अभिन्ननिमित्तोपादानकारण वादियों के मत में भोक्ता और भोग्य दोनों एक होजाते हैं अर्थात् जो जीव है वह भी ब्रह्म और जिन पदार्थों का भोग करता है वह भी ब्रह्म हैं,इस प्रकार भोक्ता और भोग्य एक होने का दोष लगेगा? इसका उत्तर अद्वैतवादी स्वामी नें यह दिया है कि यद्यपि हमारे मत में भोक्ता भी ब्रह्म ही है क्योंकि ब्रह्म ही जीवरूप होकर सब शरीरों में प्रविष्ट हुआ है तथापि उपाधि के वश से घटाकाशादिकों के समान भोक्ता और भोग्य का विभाग बनसक्ता है।

और "स्वामी रामानुज" के मत में उक्त सूत्र का आशय यह है कि जब स्थूलसूक्ष्मशरीरविशिष्ट ब्रह्म अद्वैत है तो ब्रह्म ही सुख दुःख का भोक्ता हुआ ? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार बड़ा महाराजा घोर युद्धादि सङ्कट में विद्यमान होने पर भी अपने सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमत्व के कारण दुःखी नहीं होता इसी प्रकार ब्रह्म के शरीर रूप जीवादिकों में दुःख होने से वह दुःखी नहीं होता।

उक्त दोनों आचार्य्यों के भाष्य इसलिये सङ्गत नहीं कि विशिष्टाद्वैत और अद्वैतवाद में भोक्ता और भोग्य के एक होजाने रूप दोष का कोई परिहार नहीं।

सं०—अब कार्य्यकारण का अभेद सिद्ध करने के लिये आरम्भणाधिकरण का आरम्भ करते हैं:—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

पद०—तदनन्यत्वं । आरम्भणशब्दादिभ्यः ।

पदा०—(आरम्भणशब्दादिभ्यः) आरम्भण आदि शब्दों के पायेजाने से (तदनन्यत्वं) कार्य्यकारण का अभेद है ।

भाष्य—कारण से कार्य्य का अभेद है, क्योंकि आरम्भण शब्दादिकों से ऐसा ही पाया जाता है, जैसाकिः—

यथा सोम्यैकेनमृतपिण्डेन सर्वंमृन्मयं विज्ञातंस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥

छा० ६ । १ । ३ ।

अर्थ—जब उद्दालक ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु पढ़कर आया तो उद्दालक ने पूछा कि तुमने ऐसी विद्या भी सीखी जिससे विना देखी वस्तु देखी जाय और विना सुनी सुनीजाय तब श्वेतकेतु ने उत्तर दिया कि मैंने ऐसी विद्या नहीं सीखी, फिर उद्दालक ने उसको कार्य्यकारण की एकता बतलाकर यह दर्शाया कि इस प्रकृति के जितने विकार हैं वह उससे भिन्न नहीं, हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड से सब मिट्टी के विकार जाने जाते हैं, क्योंकि विकार केवल वाणी का आरम्भमात्र हैं मिट्टी ही वास्तव में सत्य है, मिट्टी से आशय यहां उपादानकारण का है इसी अभिप्राय से छां० ६।४।१ में वर्णन किया हैकिः—

" अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारोनामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम् "

अर्थ—अग्नि का अग्निपन दूर होजाता है, क्योंकि वाणी का आरम्भमात्र ही अग्निरूप विकार है अर्थात् कार्य्यरूप अग्नि अपने उपादानकारण से भिन्न कोई वस्तु नहीं, वास्तव में तीनों रूप सत्य हैं, या यों कहो कि पृथिवी, अप, तेज यह तीनों सूक्ष्मभूत कारणरूप से सत्य हैं, उक्त तीनों भूतों को मुख्य होने के अभिप्राय से गिना है वास्तव में वायु, आकाश मिलाकर पांच भूत हैं, इस प्रकार प्रकृतिरूप उपादानकारण से कार्य्यमात्र भिन्न नहीं, श्वेतकेतु को इसके बोधन करने का फल यह है कि वह इस निखिल संसार को प्रकृति का कार्य्य समझले, आगे जाकर जीवात्मा को इस कार्य्यरूप संसारवर्ग से भिन्न बोधन किया है, जैसाकि :—

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवोम्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" छा० ६ । ८ । ७

अर्थ—जीव से रहित होकर ही यह शरीर मरता है जीव नहीं मरता, जो यह अणिमा सूक्ष्मरूप है उसी जीवात्मा के यह सब ज्ञानादि भाव हैं और वह चेतनस्वरूप सत्य है, हे श्वेतकेतो ! वही जीवात्मा है, इस प्रकार यहां जीवात्मा का अस्तित्व और अविनाशित्व श्वेतकेतु को उद्दालक ने बतलाया है, यहां " ऐतदात्म्यमिदं-सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि " छां० । ६ । ८ । ७ । " इदंसर्वंयदयमात्मा " बृ० २ । ४ । ६ " ब्रह्मैवेदंसर्वं " मुण्ड० २ । २ । ११ " आत्मैवेदंसर्वं " छां० ७ । २५ । २ " नेहनानास्तिकिञ्चन " बृ०४ । ४ । २५ इत्यादि प्रतीकें

लिखकर स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध की है, उक्त प्रतीकों के अर्थ "अवस्थितेरितिकाशकृतस्नः" ब्र० सू० १।४।२२ में कर आये हैं, यहां पुनः लिखने की आवश्यक्ता नहीं, इस अधिकरण में "तत्त्वमसि" से "स्वामी शङ्कराचार्य्य" जीव ब्रह्म की एकता इसप्रकार सिद्ध करते हैं कि जैसे मिट्टी के सब विकार मिट्टी से भिन्न नहीं, और जैसे घट मठादि आकाश महाकाश से भिन्न नहीं, एवं यह सब विकाररूप संसार ब्रह्म से भिन्न नहीं, यहां उक्त दृष्टान्तों का बल इसलिये काम नहीं आता कि सब कुछ ब्रह्म के विकार मानने पर ब्रह्म निर्विकार नहीं रहसक्ता और उक्त निर्विकार सिद्धि के लिये स्वामी शं० चा० ने इस अधिकरण में उभयलिङ्ग ब्रह्मवादी का इस प्रकार खण्डन किया है कि "मृत्तिकेत्येवसत्यम्"= मिट्टी ही सत्य है, इस प्रकृति मात्र के सत्यत्व निश्चय करने से पाया जाता है कि वाचारम्भण शब्द से विकारमात्र को मिथ्या कथन किया गया है, इस प्रकार स्वामी के कथन में विरोध आता है कि कहीं तो वाचारम्भण न्याय से कार्य्य कारण की एकता द्वारा इस सम्पूर्ण संसार को ब्रह्म बतलाते हैं और कहीं मिथ्या मानकर एक निर्विकार ब्रह्म को ही सत्य कथन करते हैं, अस्तु एवं अनेक विरोध हैं पर यहां विचारणीय यह है कि "तत्त्वमसि" से जो जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध की जाती है वह कहां तक ठीक है, उपनिषद् का आशय यहां जीव ब्रह्म की एकता का नहीं, जैसाकि हम "जीवापेतंकिलेदंम्रियते" इस वाक्य में दिखला आये हैं कि यहां जीव को

शरीर से भिन्न बोधन करने का अभिप्राय है एक बोधन करने का तात्पर्य्य नहीं ॥

शङ्करमत के अनुयायी यहां " भागत्यागलक्षणा " मानकर जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करते हैं, भागत्यागलक्षणा इस प्रकार है कि " तत् " पद वाच्य ईश्वर और "त्वं" पद वाच्य जीव है ईश्वर के सर्वज्ञतादि भाग को छोड़ देना और जीव के अल्पज्ञतादि भाग को छोड़कर चेतनमात्र से एकता सिद्ध करने का नाम " भागत्यागलक्षणा " है जैसाकि "सोऽयंदेवदत्तः"= यह वही देवदत्त है, इत्यादि स्थलों में तत्तद्देश कालादि उपाधि को त्यागकर देवदत्तमात्र में लक्षणा होती है परन्तु वेदान्तपरिभाषाकार ने यहां इस प्रकार उक्त लक्षणा नहीं मानी उनका कथन है कि शक्तिवृत्ति से उपस्थित जो जीव ईश्वर के विशेषणांश हैं उनके अभेदान्वय के असम्भव होने पर भी शक्तिवृत्ति से उपस्थित जो जीव ईश्वर का विशेष्यांश है उसके अभेदान्वय होने में कोई विरोध न होने के कारण लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं, जैसाकि " घटोऽनित्यः "=घट अनित्य है, इस कथन से घट व्यक्ति के साथ अनित्यत्व का अन्वय होजाता है घटत्व के साथ नहीं, एवं विशेषण भाग के साथ अन्वय की अनुपपत्ति होने पर भी विशेष्य के साथ अभिधावृत्ति से अन्वय होसक्ता है फिर लक्षणा की क्या आवश्यकता, इस प्रकार नवीन ग्रन्थकारों ने " तत्त्वमसि " को बहुत गहरा कर दिया है, जिसके लिखने से ग्रन्थ बढ़जाने के कारण प्रकरण ग्रन्थ का रस न रहेगा इस अभिप्राय से हम यहां लक्षणा का विचार न करते

हुए केवल यह दिखलाते हैं कि " तत्त्वमसि " से मायावादियों का अद्वैतवाद कदापि सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वेदान्त के प्रायः सब आचार्य्य इससे विरुद्ध हैं ॥

" स्वामी रामानुज " के मत में "त्वं" पद वाच्य जो प्रकृति और जीव उनके साथ " तत् " पद वाच्य ईश्वर का इसलिये ऐक्य कहा गया है कि प्रकृति तथा जीव उस ब्रह्म के शरीरभूत हैं, या यों कहो कि शरीर शरीरीभाव द्वारा दोनों विशिष्ट रूप से एक हैं और एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा इसप्रकार ठीक होसक्ती है कि सूक्ष्म प्रकृति तथा जीव शरीरवाला जो ब्रह्म है उससे यह स्थूल जगत् रूपी शरीरवाला ब्रह्म भिन्न नहीं, इस बात को "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा" छा० ६।८।४ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्" छा० ३।१४।१ "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो" बृ० ३।७।१ "यः आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्" अं० ब्रा० इत्यादि प्रतीकों में जड़ प्रकृति और जीवात्मा को ब्रह्म का शरीर वर्णन किया गया है, इसी अभिप्राय से छान्दो० के छवें प्रपाठक में " अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि " इस वाक्य से ब्रह्म के शरीररूप जीवात्मा द्वारा प्रवेश होने के कारण नामरूप का कर्त्ता ब्रह्म को कथन किया है जिसके यह अर्थ कदपि नहीं कि ब्रह्म ही जीव होगया किन्तु ब्रह्म का आत्मा इस अभिप्राय से कहा गया है कि वह ब्रह्म

का शरीर है,इसी अभिप्राय से"तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत"= वह ब्रह्म शरीर को बनाकर अपने आत्मभूत जीव से उसमें प्रविष्ट हुआ, उक्त प्रकार से "त्वं" पद वाच्य जीव और प्रकृति ब्रह्म का आत्मा होने से "तत्त्वमसि" में कोई विरोध नहीं, इसलिये लक्षणा की भी कोई आवश्यकता नहीं, हमारे मत में तो यहां कोई विरोध ही नहीं फिर लक्षणा की क्या आवश्यकता है, और जो "स्वामी रामानुज" का कथन है कि:—

"भेदवादिनाश्चात्यन्त भिन्नयोःकेनापि प्रकारेण ऐक्यासम्भवादेव ब्रह्मात्मभावोपदेशो न सम्भवतीति सर्वं वेदान्त परित्यागः स्यात्" श्री० भा०ब्र०सू० १।१।१

अर्थ—जो केवल भेदवादी हैं उनके मत में परस्पर अत्यन्त भिन्न जो जीव और ईश्वर हैं उनकी किसी प्रकार भी एकता न होसकने से ब्रह्मात्मभाव का उपदेश नहीं बन सक्ता,इसलिये उनके मत में सारे वेदान्त का परित्याग होजाता है, यह कथन उनका ठीक नहीं, क्योंकि "तत्त्वमसि" वाक्य में जब जीव और ब्रह्म की एकता अभिप्रेत ही नहीं केवल जीव का ही वर्णन है फिर उक्त दोष कैसे आसकता है, और "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसि श्वेतकेतो" छा० ६।८।७ इत्यादि श्रुतिवाक्यगत ऐतदात्म्य पद का अर्थ यह है कि "एतदात्मनोभाव ऐतदात्म्यम्"=हे श्वेतकेतो इसी आत्मा का यह सब भाव है और वह आत्मा तू है, एवं ऐतदात्म्य कथन से सर्वात्मवाद का

अभिप्राय नहीं किन्तु जीव के भावों का अभिप्राय है जो भाव पूर्व षोड़शकला वाले पुरुष के नाम से वर्णन किये गये हैं, फिर यहां जीवब्रह्म की एकता की कथा ही क्या, रही यह बात कि जिन वेदान्त वाक्यों में अभेदोपासना के अभिप्राय से जीव ब्रह्म की एकता कथन कीगई है जैसाकि "अहंवात्वमसिभगवोदेवते-त्वंवाऽहमास्मि" इस वाक्य से जीव में ब्रह्म और ब्रह्म में जीवभावना द्वारा अभेदोपदेश किया गया है सो उससे यहां जीवब्रह्म की एकता बोधन करने का प्रयोजन नहीं किन्तु अपहतपाप्मादि ब्रह्म के धर्म्म जीव में आजाने से ब्रह्मात्मभाव का उपदेश बन सक्ता है अथवा शमविधि के अभिप्राय से "सर्वंखल्विदंब्रह्म" इत्यादि वाक्यवत् शान्ति के लिये अभेदोपासना है, फिर केवल भेदवादियों के मत में सर्व वेदान्त का त्याग कैसे ? अस्तु "स्वामी रामानुज" के निम्नलिखित लेख से हमारा उनके साथ तात्पर्य्य में विशेष विरोध नहीं, जैसाकि उन्होंने जिज्ञासाधिकरण में लिखा है कि:—

"अतश्चिदचिदात्मकस्य सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्म-तादात्म्यमात्मशरीरभावादेवेत्यवगम्यते तस्माद् ब्रह्म-व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य तच्छरीरत्वेनैववस्तुत्वात तस्य प्रतिपादकोऽपिशब्दस्तत्पर्यन्तमेव स्वार्थमभिदधाति अतः सर्वशब्दानां लोकव्युत्पत्त्यवगततत्तत्पदार्थ-विशिष्टब्रह्माभिधायित्वं सिद्धमिति ऐतदात्म्यमिदं

सर्वमिति प्रतिज्ञातार्थस्य तत्त्वमसीति सामानाधिककरण्येन विशेषेणोपसंहारः"

अर्थ–जो जड़ चेतनरूप सब वस्तुमात्र का ब्रह्म के साथ अभेद है वह उसका शरीर होने के अभिप्राय से है, इसलिये तत्तत् पदार्थों के प्रतिपादक शब्द ब्रह्म को ही कथन करते हैं, इसप्रकार तत्तत्पदार्थ विशिष्ट ब्रह्म "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" इत्यादि वाक्यों का विषय है इसी बात को "तत्त्वमसि" इस समानाधिकरणबोधक वाक्य द्वारा विशेषरूपता से उपसंहार किया है, यह विशिष्टाद्वैतवादियों का सिद्धान्त है जिसका अर्थ यह है कि "विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टे, विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतं"= प्रथम "विशिष्ट" पद का अर्थ सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर और दूसरे "विशिष्ट" का अर्थ स्थूलचिदचिद्विशिष्ट वस्तु ईश्वर है, दोनों कार्य्यकारणरूप शरीरविशिष्ट के ऐक्य का नाम "विशिष्टाद्वैत" है, सारांश यह निकला कि स्वामी रामानुज के मत में जीव, ईश्वर और प्रकृति यह तीन पदार्थ अनादि हैं, उन्होंने जीव और प्रकृति को ईश्वर के सामर्थ्य से भिन्न नहीं माना, इसी अंश में ब्रह्म के साथ अभेदोपदेश है, इस प्रकार से जीव ईश्वर के भेदवादी वैदिक लोगों से उक्त मत का अत्यन्त भेद नहीं, इसलिये हम इस मत की विशेष समीक्षा नहीं करते।

विशेष समीक्षा हम यहां शङ्करमत की करते हैं जिनके मत

में यह सब जड़ चेतन शुद्धाशुद्ध भलाबुरा ब्रह्म ही ब्रह्म है, और वेदादि शास्त्र सब असत्य हैं, उस मिथ्यरूपी वेदशास्त्र से ही ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति होती है, इस प्रकार असत् से सत् की प्राप्ति उक्त मत में मानी गई है, जैसाकि "कथञ्चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्य आत्मैकत्वस्यसत्यत्व मुपपद्येतेति" शं० भा० ब्र० सू० २ । १ । १४=अनृत मोक्ष शास्त्र से प्रतिपादित जो जीव ब्रह्म की एकता वह कैसे सत्य होसक्ती है ? इसका उत्तर उक्त मत में यह दिया गया है कि हमारे मत में सब व्यवहार ब्रह्मज्ञान से पूर्व २ सत्य समझे जाते हैं और वास्तव में सब स्वप्नपदार्थ के समान मिथ्या हैं, फिर प्रश्न यह किया जाता है कि "नहि रज्जू सर्पेणदष्टोम्रियतेनापि मृगतृष्णिकाम्भसापानावगाहनादि प्रयोजनं क्रियते इति" शं० भा० ब्र० सू० २ । १ । १४=रज्जू के सर्प का डसा हुआ कोई नहीं मरता न मृगतृष्णा के जल से कोई स्नान पानादि प्रयोजन सिद्ध करता है फिर तुम्हारे मिथ्या शास्त्र से सत्य मोक्षरूप प्रयोजन कैसे सिद्ध होसक्ता है ? इसका उत्तर शङ्करमत में यह दिया गया है कि जैसे विष भक्षण के सन्देह होने से मनुष्य मरजाता है और जैसे असत्य स्वप्न से उसका ज्ञान जाग्रत् में सच्चा देखाजाता है, और जैसे स्वप्न के झूठे सिंह से डरकर सच्ची जाग्रत् होजाती है, एवं हमारे मिथ्या मोक्षशास्त्र से सच्चे मोक्ष की प्राप्ति होसक्ती है, उनका यह

कथन इसलिये ठीक नहीं कि विष की शङ्का से मरना भय से होता है और भय सच्चा है, इसलिये सत्य से ही सत्य हुआ, जो स्वप्न के पदार्थों का दृष्टान्त दिया गया है वह भी असत् से सत् प्राप्ति को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि स्वप्न के पदार्थों का ज्ञान असत्य नहीं है तथा उन्हीं की प्राप्ति जाग्रत् में होती है, और बात यह है कि जाग्रत् के पदार्थ ही स्वप्न में अन्यथा प्रतीत होते हैं अत्यन्त असत् स्वप्न पदार्थ नहीं, और जो यह कहा गया है कि स्वप्न के सिंह से सच्ची जाग्रत् होजाती है, वहां भी उक्त प्रकार से भय ही कारण है जो सत्य है, और जो असत् से सत् प्राप्ति के तीन दृष्टान्त दिये हैं वह केवल कल्पनामात्र हैं क्योंकि उनके मत में विष से मरना स्वप्न के पदार्थों का ज्ञान और स्वप्न के सिंह से डरकर जागना, यह तीनों पदार्थ मिथ्या हैं फिर असत् से सत् की प्राप्ति कैसे ? किन्तु असत् से असत् की ही प्राप्ति बनी रही।

और जो यह कहा गया है कि सब ब्रह्म ही ब्रह्म है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि सब ब्रह्म ही था तो "एकंबीजं बहुधा यः करोति" श्वे० ६।१२=जो एक बीज=प्रकृति रूप कारण को अनेक प्रकार का बनाता है, इत्यादि वाक्यों में बीजरूप प्रकृति की बहुत प्रकार से रचना करने वाला कौन है ? यदि यह कहाजाय कि "अविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुरोधीश्वरोभवति व्योमेवघटकरकाद्युपाध्यनुरोधी"

शां० भा० ब्र० सू० २।१।१४=अविद्याकृत नामरूपोपाधी के प्रबल पड़जाने के कारण उस ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा होजाती है, जिसप्रकार घटादि उपाधियों से महाकाश की घटाकाशादि संज्ञा होजाती है इस प्रकार ब्रह्म की भी उक्त उपाधि वश से ईश्वर संज्ञा होजाती है, फिर वही ईश्वर अविद्याकृत नामरूप वाले जीवों का ईश्वर कहलाता है, और उनका व्यवहार विषय में वह ईश्वर है, इस प्रकार अविद्यारूपोपाधि से ही ईश्वर के ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्वादि धर्म हैं वास्तव में नहीं? यह सिद्धान्त मायावादियों का इसलिये ठीक नहीं कि सर्वशक्तिमद्ब्रह्म पर माया प्रबल नहीं पड़सक्ती, और जो इस सूत्र के अर्थ में मायावादियों ने सब पदार्थों को ब्रह्म माना है फिर माया प्रबल पड़ने वाली उससे भिन्न कैसे रही? यदि यह कहाजाय कि माया भी उसकी शक्तिभूत है तो फिर स्वशक्ति द्वारा ब्रह्म अपनी उच्च पदवी से गिरकर ईश्वर कैसे बनजाता है, क्योंकि उसकी शक्ति उसकी सामर्थ्य को बढ़ाने के लिये हैं न कि घटाने के लिये, और जो "स्वामी शङ्कराचार्य्य" जी का यह कथन है कि परमार्थावस्था में व्यवहार का अभाव है जैसाकि:—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

गीता० ५।१४

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतंज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

गी० ५ । १५

उक्त दोनों श्लोकों का स्वामी शं० चा० ने यह अर्थ किया है कि यह श्लोक परमार्थावस्था में व्यवहार का अभाव कथन करते हैं वास्तव में न कोई ईश्वर और न कोई ईशितव्य जीवादि हैं यह सब मायामात्र हैं, उक्त श्लोकों का यह अर्थ करना गीता के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, न केवल गीता से विरुद्ध है किन्तु स्वामी शं० चा० कृत उक्त श्लोकों के गीताभाष्य से भी विरुद्ध है, उक्त श्लोकों के भाष्य में स्वामी यह लिखते हैं कि किसी भक्त के पाप को परमेश्वर अपने सिर पर नहीं लेता और नाही पुण्य को किन्तु अज्ञान से उन जीवों का ज्ञान ढका हुआ है, उस अज्ञान से मोह को प्राप्त हुए वह अविवेकी जीव पुण्य पाप करते हैं " न कर्तृत्वं न कर्माणि " इस श्लोक के भाष्य में इन्होंने स्वयं यह अर्थ किये हैं कि परमेश्वर किसी के कर्म नहीं बनाता और नाही किसी को उन कर्मों का कर्त्ता बनाता है किन्तु जीवों का स्वभाव=उनकी अज्ञानरूप प्रकृति उनसे स्व २ कर्म कराती है, जब स्वामी शं० चा० अपने भाष्य में यह अर्थ करते हैं और गीता से यह स्पष्ट पाया जाता है कि उक्त श्लोकों में अज्ञान से जीवों का मोहा जाना कथन किया है तो फिर यहां स्वामी यह कैसे कहते हैं कि ईश्वरादि भी अज्ञान के

वश होकर ही सब करते धरते हैं, परमार्थ में "न कर्तृत्वं न कर्माणि" यह निषेध पायाजाता है, और निम्न लिखित श्लोक जिसका प्रमाण उक्त स्वामीजी ने सूत्र भाष्य में दिया है कि:-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्त्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

गी० १८ । ६१

कि हे अर्जुन ! ईश्वर अपने मायारूप यंत्र से सब प्राणियों को भ्रमण कराता हुआ सबके हृदयदेश में विराजमान है, इस श्लोक से भी मायारूपी मोह से मोहित जीव ही पायाजाता है न कि ईश्वर, फिर "अद्वैतविद्याचार्य्य" स्वामी ने अपने मायोपाधि वाले ईश्वर के लिये उक्त श्लोक कैसे प्रमाण में दिये, इस मत में ऐसे विरोध सहस्रों पाये जाते हैं कि कहीं अविद्योपाधि से जीव बनते हैं, कहीं अविद्योपाधि से ईश्वर बनता है, कहीं माया और अविद्या को एक माना है, कहीं शुद्ध सत्व प्रधान का नाममाया, मलिन सत्व प्रधान का नाम अविद्या है, इत्यादि सैकड़ों विरोध हैं जिनका परिहार कुछ नहीं, और जो इस के भाष्य में यह कथन किया है कि परमार्थ के अभिप्राय से सूत्रकार ने "तदनन्यत्वं" सूत्र रचा है और इस सूत्र में कार्य्य प्रपञ्च का खण्डन न करके परिणामप्रक्रिया का आश्रयण कियाहै, और इस आश्रय का स्वामी ने सगुणोपासना में भी उपयोग

बतलाया है, सगुणोपासना में उपयोग बतलाना और फिर परमार्थ के अभिप्राय से सब वस्तुमात्र को ब्रह्म ही कथन करना यह एक ऐसा गुप्तभाव है जिसकी माया को मायावादी ही समझ सक्ते हैं अन्य नहीं, अस्तु मायावाद का यह महत्त्व सुविज्ञेय हो वा दुर्विज्ञेय, हमने जो यहां सूत्रकार का आशय स्फुट करना है, सूत्रकार का आशय इस अधिकरण में केवल सत्कार्य्यवाद से है अर्थात् प्रकृति=उपादानरूप से यह कार्य्यरूप जगत् नामरूप के बनाने से पूर्व भी सत् था ।

सं०—अब उक्त अर्थ को छः सूत्रों से स्फुट करते हैंः—

भावेचोपलब्धेः ॥ १५ ॥

पद०—भावे । च । उपलब्धेः ।

पदा०—(च) और (भावे) कारण के होने पर (उपलब्धेः) कार्य्य की उपलब्धि पायेजाने से कार्य्य कारण का भेद नहीं ।

भाष्य—कारण के विद्यमान होने पर ही कार्य्य की उपलब्धि पाये जाने से सिद्ध है कि उपादानकारण के बिना यह जगत्रूप कार्य्य उत्पन्न नहीं हुआ, और वह कार्य्य पहले कारण रूप से विद्यमान था, यदि भावरूप कारण की अवस्था में कार्य्य विद्यमान न होता तो असद्रूप में भेद न पाये जाने पर सिकता से भी तैल की उत्पत्ति होती पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि कार्य्य कारण का कोई भेद नहीं ।

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

पद०—सत्त्वात् । च । अवरस्य ।

पदा०—(च) और (अवरस्य) कार्य्य की (सत्त्वात्) सत्ता पायेजाने के कारण कार्य्य सत् है ।

भाष्य—भावरूप कारण में कार्य्य की सत्ता पाई जाती है इसलिये कार्य्य भी अपने कारण की भांति कारणरूप से सत् है अर्थात् सद्रूप कार्य्य का अपने कारण से कोई भेद नहीं ।

सं०—ननु, "असदेवेदमग्र आसीत" छा० ३ । १९ । १=सृष्टि से प्रथम असत् ही था, इत्यादि वाक्यों से कार्य्य द्रव्य का असत् होनां सिद्ध है फिर इसको कारण रूप से सत् कैसे कहा जाता है ? उत्तरः—

असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्नधर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

पद०—असद्व्यपदेशात् । न । इति । चेत् । न । धर्मान्तरेण । वाक्यशेषात् ।

पदा०—(असद्व्यपदेशात्) असत् का व्यपदेश पायेजाने से (न) कार्य्य सत् नहीं होसक्ता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (धर्मान्तरेण) अन्य धर्म से असत् का व्यवहार होता है और यह बात (वाक्यशेषात्) वाक्यशेष से पाई जाती है ।

भाष्य—यदि उत्पत्ति से प्रथम असद्व्यपदेश=कार्य्य के न होने का कथन कियाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि अन्य

प्रकार से कार्य्य की सत्ता उक्त वाक्यों में पाई जाती है, यह बात वाक्यशेष से स्पष्ट है, जैसाकि "असदेवेदमग्र आसीत्" इस वाक्य का कथन करके आगे यह लिखा है कि "तत्सदासीत्" इसी प्रकार तैत्तिरीय में भी "असद्वा इदमग्र आसीत्=सृष्टि से पूर्व असत् ही था, यह कथन करके आगे यह कहा है कि "तदात्मानंस्वमकुरुत"=उसने अपने आत्मा को बनाया, इससे पाया गया कि जो नामरूप वाली वस्तु लोक में सच्छब्द से प्रसिद्ध है उसी कार्य्यरूप जगत् का नाम रूप न था, इस अभिप्राय से असद्व्यपदेश किया है और कारणरूप से कार्य्य सत् था इस अभिप्राय से "तत्सदासीत्" इत्यादि वाक्यों में सत् का कथन किया गया है, और जिस वाक्य में यह लिखा है कि उसने आत्मा को बनाया, वहां आत्मा शब्द के अर्थ ब्रह्म की विभूति होने से प्रकृति के हैं, इस प्रकार सत् असत् का कोई विरोध नहीं।

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

पद०-युक्तेः। शब्दान्तरात्। च।

पदा०-(च) और (युक्तेः) युक्ति तथा (शब्दान्तरात्) शब्दप्रमाण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-शब्दप्रमाण तथा युक्ति से कार्य्य कारण की एकता पाई जाती है, युक्ति यह है कि जिस कारण में कार्य्य का भाव होता

है उसीसे उस कार्य्य का प्रादुर्भाव होता है अन्य से नहीं, जैसे मिट्टी से घट, दूध से दधि घृतादि कार्य्य दुग्ध में प्रथम ही सूक्ष्मरूप से रहते हैं इसी प्रकार कार्य्यद्रव्य कारणावस्था में भी सूक्ष्मरूप से रहते हैं केवल उनका कार्य्यरूप से अभिव्यक्ति=प्रकाश होता है, इस सूत्र में स्वामी शं० चा० ने समवायसम्बन्ध * का खण्डन बड़े समारोह के साथ किया है सो सूत्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि सूत्रकार का आशय समवाय के खण्डन करने का नहीं किन्तु कार्य्य कारण के अभेद में है, इसलिये उनका उक्त कथन ठीक नहीं ।

पटवच्च ॥ १९ ॥

पद०—पटवत् । च ।

पदा०—(च) और (पटवत्) पट की भांति कार्य्य जगत् सद्रूप था ।

भाष्य—जैसे लपेटा हुआ कपड़ा स्पष्ट प्रतीत नहीं होसक्ता कि यह कपड़ा है वा कोई अन्य द्रव्य, फिर फैलाया हुआ वही स्पष्ट प्रतीत होजाता है, इसीप्रकार यह कार्य्य जगत् कारणावस्था में समवेष्टित पट के समान था और इस कार्य्यावस्था में फैलाये हुए पट के सामन रूपान्तर को प्राप्त होगया है, इसलिये कार्य्य कारण का भेद नहीं ॥

---

* वैशेषिक शास्त्र में नित्य सम्बन्ध का नाम "समवाय" है, जैसाकि ब्रह्म में सच्चिदानन्दादि गुणों का और जड़ द्रव्य में रूपरसादिकों का सम्बन्ध है ।

यथाचप्राणादि ॥२१॥

पद०—यथा । च । प्राणादि ॥

पदा०—(च) और (प्राणादि, यथा) प्राणादिकों की भांति कार्य्य को सद्रूप मानना ही ठीक है ॥

भाष्य—जैसे प्राण रोकने पर उनका काम बन्द हुआ प्रतीत होता है और फिर छोड़देने से प्राणों का आनाजाना स्पष्ट प्रतीत होता है इसी प्रकार यह कार्य्य जगत् भी कारणावस्था में रुके हुए प्राणों के समान था ॥

सं०—कार्य्य कारण का अभेद वर्णन करने के अनन्तर अब "इतरव्यपदेशाधिकरण" में जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट रीति से कथन करने के लिये प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं:—

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।१।

पद०—इतरव्यपदेशात् । हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥

पदा०—(इतरव्यपदेशात्) जीव का व्यपदेश होने से (हिताकरणादिदोषसक्तिः) ब्रह्म में हित का न करना आदि दोषों की आपत्ति होगी ॥

भाष्य—इतरव्यपदेश=ब्रह्म का ही जीवरूप से प्रवेश कथन किये जाने के कारण हिताकरणादि दोषों का प्रसङ्ग होगा अर्थात् यदि ब्रह्म ही अपने आप जीव बनगया तो उसने अपने लिये हित न किया, क्योंकि वह अपने आप ही अतिदीन दुखी जीवों के भावों को प्राप्त होकर कहीं कीट पतङ्गादि शरीरों में, कहीं घृणित रोगविशिष्ट शरीरों में प्रविष्ट हुआ इत्यादि, इस

प्रकार उसने अपने आत्मा का हित न करते हुए अपने लिये आप जेलखाना बनाकर बन्धन में पड़ा परन्तु कोई बुद्धिमान् स्वयं कारागार बनाकर आप ही उसमें प्रविष्ट नहीं होता, फिर सर्वज्ञ ब्रह्म ने ऐसा क्यों किया ॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

पद०-अधिकं । तु । भेदनिर्देशात् ।

पदा०-(भेदनिर्देशात्) भेद का निर्देश पायेजाने से (अधिकं) ब्रह्म जीव से अधिक है ॥

भाष्य-ब्रह्म जीव से अधिक=बड़ा है और वह शरीर में प्रविष्ट नहीं हुआ, यह जीव ब्रह्म के भेद कथन करने वाले वाक्यों से स्पष्ट पायाजाता है, जैसाकि :—

"आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" बृहदा० २।४।६

अर्थ-परमात्मा द्रष्टव्य=ज्ञानचक्षु से देखने योग्य, श्रोतव्य=श्रुतिवाक्यों से श्रवण करने योग्य, मन्तव्य=श्रुत्यनुसारी तर्कों से मनन करने योग्य और निदिध्यासितव्य=वारम्बार ब्रह्माकार वृत्ति से जानने योग्य है, "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" छां० ८।७।१=वह परमात्मा खोजने और जानने योग्य है, "सतासोम्यतदासम्पन्नो भवति छां० ६।८।१=हे सोम्य ! तब यह जीव उस सत्पुरुष के साथ मिलता है

"शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः" बृ० ४।३।३५= यह प्राणधारी जीव परमेश्वर के सहारे है, इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों में जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट पायाजाता है, इसलिये जिस की उपासना उक्त वाक्यों में कथन कीगई है वह ब्रह्म जीव से अधिक=बड़ा है, वह जीव कदापि नहीं बनसक्ता, इस सूत्र में सूत्रकार ने जीव ईश्वर के भेद को स्पष्ट रीति से वर्णन किया है, यहां स्वामी शं० चा० को जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध करने का जब कोई मार्ग नहीं मिला तब हारकर यह उत्तर दिया है कि अविद्याकृत जो नामरूप उपाधि उसी ने ब्रह्म को जीव बनादिया है वास्तव में ब्रह्म जीव नहीं, इससे पूर्व के २१ वें सूत्र में प्रश्न यह था कि यदि ब्रह्म स्वयं जीव बनगया तो उसने अपने लिये हित न किया, क्योंकि वह जीवरूप होकर नाना प्रकार के दुखों में स्वयं प्रविष्ट हुआ, इसका उत्तर शङ्करमत में ठीक नहीं, और हमारे मत में तो जो "तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत्" तै० २। ६ "अनेनजीवेनात्मनानुप्रविश्यनामरूपेव्याकरवाणि" छां० ६। ३। २ इत्यादि वाक्यों में जीवरूप से ब्रह्म का प्रवेश कथन कियागया है, जीव ब्रह्म की आत्मभूत वस्तु होने से उस को ब्रह्म का आत्मा कथन किया है अभेद के अभिप्राय से नहीं, इस प्रकार प्रवेश विधायक उक्त वाक्यों का वैदिक द्वैतवाद के साथ कोई विरोध नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:—

अश्मादिवच्चतदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

पद०—अश्मादिवत् । च । तदनुपपत्तिः ।

पदा०—(च) और (अश्मादिवत्) अश्मादिकों की भांति (तदनुपपत्तिः) जीव ब्रह्म की एकता नहीं होसक्ती ॥

भाष्य—अश्मादि=पत्थरादिकों के समान जीव ब्रह्म नहीं बनसक्ता अर्थात् जिसप्रकार पत्थरादि अत्यन्त विजातीय पदार्थ हैं इसीप्रकार जीव भी ब्रह्म से अत्यन्त विजातीय पदार्थ है वह कदापि ब्रह्म नहीं बनसक्ता, और न कभी ब्रह्म जीव बनसकता है, इस सूत्र के अर्थ शङ्करमत में यह कियेगये हैं कि जिसप्रकार एक कान से बहुमूल्य मणि आदि पाषाण होजाते हैं इसीप्रकार एक ही ब्रह्म से नानाप्रकार का यह जगत् उत्पन्न होजाता है, इसलिये पूर्वोक्त दोष की अनुपपत्ति=असिद्धि है, यह अर्थ इस अधिकरण के साथ सङ्गति नहीं रखता, क्योंकि ब्रह्म के स्वयं जीव बनने में पूर्वपक्ष सूत्र में दोष दिया गया है तथा "अधिकन्तुभेदनिर्देशात्" इस सूत्र में ब्रह्म को अधिक कथन किया है और इस सूत्र में भी यही कथन कियागया है कि जैसे पत्थरादि वस्त्वन्तर ब्रह्म नहीं होसकते इसीप्रकार जीव भी ब्रह्म नहीं बनसक्ता ॥

"स्वामी रामानुज" ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि जैसे पाषाणादि अत्यन्त विजातीय पदार्थ ब्रह्म नहीं होसक्ते इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म नहीं होसक्ता, और नाही सर्वज्ञ, सत्यसङ्कल्प ब्रह्म कभी जीव होसक्ता है ॥

सं०—ननु, कर्त्ता होने की सामग्री न पाये जाने से ब्रह्म सृष्टि का रचयिता नहीं होसक्ता ? उत्तरः—

उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्नक्षीरवद्धि ॥२४॥

पद०—उपसंहारदर्शनात् । न । इति । चेत् । न । क्षीरवत् । हि ॥

पदा०—(उपसंहारदर्शनात्) कर्त्तामात्र के पास सामग्री देखे जाने से (न) ब्रह्म जगत्कर्त्ता नहीं होसक्ता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं (हि) क्योंकि (क्षीरवत्) दूध की भांति सहायता के बिना भी ब्रह्म में रचयितृत्व होसक्ता है ॥

भाष्य—कर्त्तामात्र के पास बाह्य सामग्री देखे जाने से ब्रह्म जगत् का कारण नहीं होसक्ता, क्योंकि उसके पास कोई सामग्री नहीं ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि जैसे दूध बिना किसी सामग्री के स्वभाव विशेष से ही दधि बन जाता है इसी प्रकार ब्रह्म भी स्वभाव विशेष से जगत् का कारण होसक्ता है, इस सूत्र में दूध का दृष्टान्त किसी दूसरे की सहायता न लेने के अभिप्राय से दिया गया है न कि दूध के समान स्वयं जगद्रूप परिणाम होने में, यदि दूध से दधि के समान जगत् ब्रह्म का ही परिणाम माना जाता तो ब्र० सू० १ । ४ । २६ में यह न वर्णन किया जाता कि परमात्मा जगत् का निमित्तकारण तथा प्रकृति उपादानकारण है, और :—

" नतस्यकार्य्यंकरणञ्चविद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकीज्ञानबलक्रियाच " श्वे० ६ । ८

अर्थ—न उसका कोई कार्य्य, न कारण, न उसके कोई सदृश और न उससे कोई अधिक है, उसकी स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया रूप शक्ति बहुत प्रकार से सुनी जाती है, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म को निराकार वर्णन कियागया है, इससे भी पाया जाता है कि उसमें स्वाभाविक बल ज्ञान और क्रिया पाये जाने से यहां दूध का दृष्टान्त दिया गया है सर्वथा दधि की भांति परिणामी होने के अभिप्राय से नहीं ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में और दृष्टान्त कथन करते हैं:—

देवादिवदपिलोके ॥ २५ ॥

पद०—देवादिवत । अपि । लोके ।

पदा०—(लोके) लोक में (देवादिवत) देवादिकों की भांति (अपि) भी बिना बाह्य साधन के रचयितृत्व देखा जाता है ॥

भाष्य—जिस प्रकार देव=दिव्य गुणों वाले पुरुष अपनी विचित्र शक्ति से साधन सामग्री के बिना ही जगत में विचित्र कार्य्य उत्पन्न कर देते हैं, जैसाकि भूमि पर बिना घोड़े आदि जोतने के विचित्र प्रकार के यान चलासक्ते हैं, और बिना मनुष्यादि दूत प्रेषण करने के देश देशान्तरों का समाचार ज्ञात कर लेते हैं इसी प्रकार निराकार ब्रह्म बिना हस्तपादादि सामग्री के इस सम्पूर्ण संसार को निर्माण करसक्ता है इसमें कोई दोष

नहीं, इस सूत्र में देवादिकों का दृष्टान्त देना इस बात को सिद्ध करता है कि ब्रह्म जगत् का परिणामी उपादान कारण नहीं, शङ्करमत में इस उपसंहारदर्शनाधिकरण को परिणामवाद में लगाया है कि ब्रह्म ही नाना वस्तुओं में परिणत होकर दूध से दधि के समान जगद्रूप बनगया है, जैसाकि स्वामी शं० चा०ने २४ वें सूत्र के भाष्य में लिखा है कि "तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद्विचित्रः परिणाम उपपद्यते" शं० भा०=दूध की भांति एक ही ब्रह्म का विचित्र शक्तियोग से विचित्र परिणाम होता है परन्तु सूत्र कार का यह आशय कदापि नहीं, इस आशय की भ्रान्ति का खण्डन करने के लिये ही आगे "कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरण" का आरम्भ कियागया है कि ब्रह्म जगद्रूप परिणाम को कदापि प्राप्त नहीं होता ॥

सं०—अब मायावादियों के मत में ब्रह्मकारणवाद की अनुपपत्ति कथन करते हैं :—

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ।२६।

पद०—कृत्स्नप्रसक्तिः । निरवयवत्वशब्दकोपः । वा ।

पदा०—(कृत्स्नप्रसक्तिः) जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने में उसके सारे देश में परिणाम की आपत्ति (वा) और (निरवयवत्वशब्दकोपः) निरवयव प्रतिपादक शास्त्र का विरोध होगा ॥

भाष्य–ब्रह्मकारणवादियों से प्रष्टव्य यह है कि ब्रह्म किसी एकदेश से जगदाकार होता है अथवा सर्वदेश से ? प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि निरवयव ब्रह्म में देशविशेष का असम्भव होने से जगद्रूप परिणाम नहीं होसक्ता, दूसरे पक्ष में अविकारी ब्रह्म न रहने के कारण मुक्त पुरुषों की गति का अभाव होजायगा अर्थात् मायावादियों के मत में ब्रह्म को जगत् का कारण मानने से कृत्स्नप्रसक्ति=सम्पूर्ण देश में ब्रह्म का परिणाम होजानारूप दोष और एकदेश में परिणाम मानने से "नतस्य प्रतिमास्ति" इत्यादि निराकार प्रतिपादक मन्त्रों का व्याकोप=विरोध आता है,इसलिये ब्रह्म को परिणामी उपादानकारण मानना ठीक नहीं, क्योंकि वेद तथा उपनिषद् उसको निराकार वर्णन करते हैं, जैसाकि "दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" मुण्डक २।१।२ "इदमहद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघनएव" बृहदा० २।४।१२ "स एषः नेतिनेत्यात्मा" बृ० ३।९।२६ "अस्थूलमनणु०" बृ० ३।८।८ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि वह पुरुष दिव्य है, अमूर्त्त है, सबके बाहर भीतर और अजन्मा है, वह सब से बड़ा तत्व है, अनन्त है, अपार है, विज्ञानघन=ज्ञानस्वरूप है, यह जितना दृश्य जगत् है यह परमात्मा नहीं, वह स्थूल नहीं, अणु नहीं, दीर्घ नहीं=साकार द्रव्य के

स्थूलादि भावों से सर्वथा रहित है, इसलिये ब्रह्म को जगत् का परिणाम मानना ठीक नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

पद०-श्रुतेः । तु । शब्दमूलत्वात् ।

पदा०-(श्रुतेः,तु) और यह बात श्रुति से भी पाई जाती है कि (शब्दमूलत्वात्) ब्रह्म शब्दमूलक है ॥

भाष्य-श्रुति द्वारा ब्रह्म निराकार पाये जाने से जगत् ब्रह्म का विवर्त्त नहीं होसक्ता, जैसाकि:—

एतावानस्य महिमाऽतोज्यायांश्चपूरुषः ।
पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतंदिवि ॥

यजु० ३१ । ३

अर्थ-यह सब जगत् रूपी महिमा उसके एक पादस्थानी और वह तीन पाद रूप अमृतस्वरूप है, यहां पाद विभाग केवल इस जड़ जगत् को अल्प दर्शाने के अभिप्राय से है नाकि साकार के अभिप्राय से,यदि साकार के अभिप्राय से होता तो उसको अमृत न कहाजाता, इस प्रकार श्रुति से ब्रह्म निराकार पायाजाता है, यदि कोई यह प्रश्न करे कि श्रुति से निराकार पाये जाने के कारण वास्तव में ब्रह्म निराकार कैसे समझा गया ? इसका उत्तर सूत्र के "शब्दमूलत्वात्" इस भाग से दिया गया है कि वह ब्रह्म शब्दमूल=शब्दप्रमाण से ही जाना जाता है ।

स्वामी शं० चा० ने इस सूत्र के यह अर्थ किये हैं कि ब्रह्म का परिणाम होकर जगत् होजाता है और फिर वह निराकार भी है, जब इनसे यह पूछाजाता है कि यह बात कैसे समझ में आसक्ती है कि एक वस्तु परिणामी उपादान कारण भी है और फिर निराकार है ? इसका उत्तर यह दिया है कि:—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ॥

अर्थ—जो भाव विचार में नहीं आसक्के उनमें तर्क नहीं करना चाहिये, जो प्रकृति से परे है वह अचिन्त्य है, इस प्रकार ब्रह्म आचिन्त्य होने से इस तर्क का विषय नहीं होसक्ता कि वह जगत् का परिणामी उपादानकारण कैसे होगया और फिर निराकार कैसे रहा, और यह भी उत्तर दिया है कि अविद्याकृत कल्पित रूप से वह संसार रूप बनगया वास्तव में वह निराकार है, इस स्थान में आकर स्वामी शं० चा० ने अपने मत को बहुत ही शिथिल कर दिया है, पीछे तो यह कहते आये हैं कि ब्रह्म में धर्म्म के समान केवल श्रुति ही प्रमाण नहीं किन्तु युक्ति प्रमाण है पर यहां जब युक्ति में बस न चलता देखा तो इसी बात का आश्रय लेलिया कि "आधा ब्रह्म जगत् बना या सारा" इसमें युक्ति का काम नहीं, ठीक है युक्ति का काम होता भी कैसे, इस प्रश्न का क्या उत्तर होसक्ता है कि यदि ब्रह्म को उपादान कारण मानाजाय तो निराकार

कैसे रहसक्ता है, इसलिये यहां स्वामी शं० चा० जी को तर्क का रास्ता छोड़ना पड़ा।

सं०—ननु, निमित्तकारणवादियों के मत में निराकार ब्रह्म हस्त पादादि अवयवों के विना सम्पूर्ण जगत् का कर्त्ता कैसे होसक्ता है ? उत्तरः—

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२८॥

पद०—आत्मनि । च । एवं । विचित्राः । च । हि ।

पदा०—(च) और (आत्मनिं) परमात्मा में (हि) निश्चय करके (एवं, विचित्राः, च) इस प्रकार की विचित्र शक्तियें पाई जाती हैं ।

भाष्य—परमात्मा में इस प्रकार की विचित्र शक्तियें पाई जाती हैं कि विना हस्तपादादि अवयवों के सृष्टि को बना सक्ता है, सृष्टि के अकर्त्ता होने का दोष तो मायावादियों के मत में आता है जिसको सूत्रकार अगले सूत्र से कथन करते हैं ।

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

पद०—स्वपक्षदोषात् । च ।

पदा०—(च) और (स्वपक्षदोषात्) मायावादियों के पक्ष में दोष पाये जाने से ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं ।

भाष्य—मायावादियों के मत में यह दोष आता है कि निराकार ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कैसे बन गया, क्योंकि उक्त कारण में कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता,

इसलिये मायावादियों का उक्त कथन आदरणीय नहीं।

हमारे वैदिक मत में यह दोष नहीं आता कि निराकार परमात्मा जगत् का निमित्तकारण कैसे बन गया, इस बात को इस अगले सूत्र में यों स्पष्ट किया है कि:—

सर्वोपेताचतद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

पद०—सर्वोपेता । च । तद्दर्शनात् ।

पदा०—(च) और (सर्वोपेता) परमात्मा सर्वगुणसम्पन्न है क्योंकि (तद्दर्शनात्) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य—परमात्मा सर्वगुण सम्पन्न है, इसलिये उस अक्षर से सब जगत् उत्पन्न होसक्ता है, जैसाकि बृहदा० ३ । ८ । ९ में वर्णन किया है कि:—

"एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"

अर्थ—परमात्मा की आज्ञा में सूर्य्य चन्द्रमा स्थिर हैं और वह निराकार अक्षर ही सब जगत् का निमित्तकारण है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में शंकापूर्वक समाधान करते हैं:—

विकरणत्वान्नेतिचेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

पद०—विकरणत्वात् । न । इति । चेत् । तत् । उक्तम् ।

पदा०—(विकरणत्वात्) हस्तपादादि साधनों के न होने से ईश्वर जगत्कर्त्ता (न) नहीं होसक्ता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो (तदुक्तम्) इसका उत्तर पीछे कथन कर आये हैं ।

भाष्य-हस्तपादादि साधनों से रहित होने के कारण ब्रह्म जगत् का कर्त्ता नहीं होसक्ता, यदि यह कहाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि इसका समाधान पीछे २७ वें सूत्र में कर आये हैं और इसी अभिप्राय से बृ० ३।८।८ में वर्णन किया है कि "अचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनाः"=परमात्मा चक्षुरादि इन्द्रियों से रहित है, इत्यादि वाक्यों में चक्षु, श्रोत्रादि रहित ब्रह्म को ही जगत् का कारण कथन किया गया है, इसी अर्थ के अनुसार श्वे० ३।१९ में प्रतिपादन किया है कि "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः"=परमात्मा हस्तपादादि अवयवों से रहित जवनः=वेगवाला, ग्रहीता=सबका ग्रहण करने वाला, विना आंखों से देखता और विना कानों से सुनता है, इस प्रकार इन्द्रियादि करण रहित ब्रह्म में शास्त्र सर्वसामर्थ्य वर्णन करता है, इसलिये निराकार ब्रह्म के जगत्कारण होने में कोई दोष नहीं ॥

सं०-अब जगत् रचने में प्रयोजन दिखलाने के लिये "प्रयोजनवत्त्वाधिकरण" का प्रारम्भ करते हुए प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं:—

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

पद०-न। प्रयोजनवत्त्वात्।

पदा०-(न) परमात्मा जगत्कर्त्ता नहीं होसक्ता, क्योंकि (प्रयोजनवत्त्वात्) प्रवृत्तिमात्र में प्रयोजन पायाजाता है।

भाष्य-ब्रह्म जगत्कर्त्ता इसलिये नहीं होसक्ता कि कर्त्ता का कोई प्रयोजन अवश्य होता है, और जगद् के रचने में ब्रह्म का कोई प्रयोजन ज्ञात नहीं होता, संसार में प्रयोजन दो प्रकार का पायाजाता है,एक अपना और दूसरा किसी अन्य का, उसका अपना अर्थ इसलिये नहीं होसक्ता कि वह आप्तकाम होने से नित्यतृप्त है और दूसरे का इसलिये नहीं कि सृष्टि से प्रथम दूसरा कोई थाही नहीं जिसके अर्थ ब्रह्म जगद् को रचता, इत्यादि तर्कों से सिद्ध है कि वह इतने आयाससाध्य जगद् का कर्त्ता नहीं होसक्ता ॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

लोकवत्तुलीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

पद०-लोकवद् । तु । लीलाकैवल्यम् ।

पदा०-(लोकवद्) लोक की भांति (लीलाकैवल्यम्) सृष्टिरचना लीलामात्र है ।

भाष्य-जैसे संसार में बड़े २ काम राजा महाराजा लीलामात्र से कर लेते हैं उनको कोई बड़ा आयास नहीं करना पड़ता इसी प्रकार परब्रह्म भी इस जगद्विम्ब को लीलामात्र से रच लेता है अर्थात् संसार के रचने में उसको कोई यत्न नहीं करना पड़ता किन्तु जैसे स्वभाव से श्वास प्रश्वासादिक विना यत्न से चलते हैं उसमें मनुष्य को कुछ प्रयत्न नहीं होता इसी प्रकार ब्रह्म को भी जगद् रचने में कोई यत्न नहीं करना पड़ता ।

सं०–ननु, ईश्वर को संसार रचने में यत्न न हो पर तो भी ऊंच नीचादि विषम सृष्टि बनाने से वैषम्य नैर्घृण्यरूप दोष की आपत्ति होगी ? उत्तर :—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि-दर्शयति ॥ ३४ ॥

पद०–वैषम्यनैर्घृण्ये । न । सापेक्षत्वात् । तथाहि । दर्शयति ।

पदा०–(सापेक्षत्वात्) कर्म सापेक्ष होने से (वैषम्यनैर्घृण्ये) ईश्वर को वैषम्य नैर्घृण्य दोष (न) नहीं लगसक्ते (हि) क्योंकि (तथा) श्रुति में (दर्शयति) ऐसा ही पाया जाता है ॥

भाष्य–किसी को ऊंच किसी को नीच और किसी को राजा किसी को रङ्क बनाने का नाम "वैषम्य" तथा अति दीन दुःखी बनाने का नाम "नैर्घृण्य" दोष है, उक्त दोनों दोष परमत्मा में इसलिये नहीं कि वह जीवकृत शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि बनाता है कर्म निरपेक्ष नहीं और यह बात श्रुति प्रमाण सिद्ध है, जैसाकि "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" बृ० ३ । २ । १३=पुण्य कर्म से सुखी तथा पापकर्म से दुःखी होता है,इससे कर्मफल देना भी ईश्वर का सृष्टि रचने में प्रयोजन जानना चाहिये ॥

सं०–ननु, सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म होने से उक्त व्यवस्था ठीक नहीं ? उत्तर :—

न कर्माविभागादितिचेन्नाऽनादित्वात्॥३५॥

पद०—न। कर्म। अविभागात्। इति। चेत्। न। अनादित्वात्।

पदा०—(अविभागात्) सृष्टि के पूर्व एक ही अद्वितीय ब्रह्म होने से (कर्म) कर्म (न) नहीं थे (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अनादित्वात्) कर्म अनादि हैं॥

भाष्य—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्"=हे सोम्य सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्म ही था, इस वाक्य द्वारा ब्रह्म के साथ कर्मों का विभाग न पायेजाने के कारण कर्मसापेक्ष सृष्टिरचना नहीं होसक्ती, क्योंकि कर्म स्वसिद्धि के लिये सृष्ट्युत्तरभावी शरीरादि की अपेक्षा रखते हैं? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि कर्मों का प्रवाह अनादि है, और उनके अनादि होने से ही ईश्वर के कर्मसापेक्ष कर्त्ता होने में कोई दोष नहीं आता अर्थात् जीव स्वरूप से अनादि होने के कारण पूर्वकल्पीय कर्मों की अपेक्षा से विषम सृष्टि रचने में कोई दोष नहीं प्रत्युत ईश्वर की न्यायशीलता निराबाध पाई जाती है।

सं०—अब उक्त अर्थ में उपपत्तिपूर्वक प्रमाण कथन करते हैं:—

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च॥३६॥

पद०—उपपद्यते। च। अपि। उपलभ्यते। च।

पदा०—(च) और (उपपद्यते) जीव और कर्मों का अनादि

होना उपपादन किया जासक्ता है (च) और (उपलभ्यते, अपि) श्रुति में भी ऐसा ही पायाजाता है ॥

भाष्य-" अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम-रूपे व्याकरवाणि " छां० ६ । ३ । २=इस अपने जीवरूप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नामरूप को करूं, यहां आत्मा शब्द अपना होने के अभिप्राय से है नकि ब्रह्म जीवरूप होजाने के अभिप्राय से, जैसेकि लोक में भी घनिष्ठ सम्बन्ध पाये जाने से यह बोला जाता है, कि अमुक पुरुष मेरा आत्मा है, स्वामी शं० चा० ने भी इस वाक्य में जीव को अनादि माना है, जब जीव अनादि सिद्ध होगया तो उसके साथ उसके कर्म भी अनादि काल से ही सिद्ध होजाते हैं, और जो कई एक लोग इस स्थल में अन्योऽन्याश्रयदोष कथन करते हैं कि जीव और कर्म अनादि नहीं होसक्ते, क्योंकि शरीर होगा तो कर्म और कर्म हों तो कर्मफलरूप शरीर बने, इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष से कर्मों का अनादि होना नहीं बनसक्ता ? इसका उत्तर यह है कि जिन कर्मों से जो शरीर बनता है उस शरीर से फिर वह कर्म नहीं बनते, जैसाकि जिस बीज से जो वृक्ष बनता है उस वृक्ष से फिर वह बीज नहीं होता, यदि ऐसे स्थलों में भी अन्योऽन्याश्रय दोष हुआ करे तो बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज यह प्रवाह रुक जाना चाहिये पर रुकता नहीं, इसलिये इसमें अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं आता, इसी प्रकार शरीर और कर्मों में भी उक्त दोष नहीं, इस प्रकार जीव तथा कर्मों का अनादि होना उपपादन किया जासक्ता है, और

"अनेनजीवेनात्मनानुप्रविश्य" इत्यादि वाक्यों में जीव का अनादि होना उपलब्ध भी होता है, अतएव कर्म तथा जीव के अनादि होने से ईश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य दोष नहीं आते, और न निष्प्रयोजन सृष्टि रचने का दोष आता है।

सार यह है कि प्रथम सृष्टि के कर्मों का फल देने के अभिप्राय से परमात्मा सृष्टि को रचता है, जैसाकि "सूर्य्याचन्द्रमसौधातायथापूर्वमकल्पयत्" ऋ० ८।८ ४८।२ इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है कि पूर्व सृष्टि के समान ही परमात्मा सूर्य्य चन्द्रमादिकों को रचता है, इसी अभिप्राय को गी० १५।३ में इस प्रकार वर्णन किया गया है कि:—

"न रूपमस्येह तथोपलभ्यते-
नान्तो न चाऽऽदिर्नचसंप्रतिष्ठा"

अर्थ—प्रवाहरूप से संसार का न कोई आदि, न अन्त और न मध्य है, अतएव ईश्वर को कर्मसापेक्ष कर्त्ता मानने में कोई दोष नहीं।

सं०—ननु, जब उक्त प्रकार से सृष्टि अनादिरनन्त है तो ईश्वर में ईश्वरत्व ही क्या, क्योंकि न वह जीव को उत्पन्न कर सक्ता न प्रकृति को, इसमें ईश्वर के अनन्त सामर्थ्य में दोष आता है? उत्तरः—

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७॥

पद०—सर्वधर्मोपपत्तेः। च।

पदा०-(च) और (सर्वधर्मोपपत्तेः) जगत् के चेतनकर्त्ता में जो धर्म अपेक्षित हैं उन सब धर्मों की सिद्धि पाये जाने से उक्त दोष नहीं आता।

भाष्य-ब्रह्म में उन सब धर्मों की उपपत्ति=सिद्धि है जो उस में होने चाहियें अज्ञानी पुरुषों के कल्पना किये हुए सब धर्म उसमें नहीं होसक्ते, यदि सब धर्म के अर्थ यहां इयत्तारहित धर्मों के लिये जायं तो ईश्वर का उत्पत्तिविनाशशाली होना, अपने जैसा और ईश्वर उत्पन्न करलेना, अपने आपको मार डालना, इत्यादि अनन्त अनिष्ट धर्म मानने पड़ेंगे, इसलिये "सर्वधर्म" के अर्थ यहां ईश्वर योग्य धर्मों के ही हैं और वह योग्यता यह है कि "ईष्टे-इति=ईश्वरः"=जो ऐश्वर्य रखता हो उसका नाम "ईश्वर" है, सो उसका ऐश्वर्य यह है कि वह चराचर जगत् की रचना करने वाला, चराचर का अधिष्ठाता, ज्ञाता, ध्याता और निर्माता है, इसलिये उसके ईश्वरत्व में दोष नहीं आता, और जो स्वामी शं० चा० ने उक्त सूत्र के यह अर्थ किये हैं कि सर्वधर्म उसमें बनसक्ते हैं अर्थात् जड़ तथा चेतन दोनों के धर्म उसमें होसक्ते हैं, उनका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यदि उक्त आशय सूत्रकार का होता तो अभिन्ननिमित्तोपादान कारण में पूर्वोक्त दोष न दिये जाते, जैसाकि (१) वह निराकार अभिन्ननिमित्तोपादानकारण कैसे बनगया ? (२) जब वह जगत् बना तो आधा बना व सारा ? (३) यदि वह आधा जगदाकार हुआ तो निरवयव न रहा, यदि सारा जगद्रूप बन

गया तो शेष ब्रह्म न रहा ? (४) जब वह अपने आप शरीरों को बनाकर उनमें प्रवेश कर गया तो उसने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूप की पदवी से गिरकर जन्ममरणादि धर्मों का धाम बन आत्महनन किया, इत्यादि अनेक तर्कों के उत्तर में स्वामी शं० चा० ने यही पर्याप्त समझा कि "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" के अर्थ सब शुभाशुभ धर्मों के हैं।

स्वामी शं०चा०जी का एवंविध भाष्य देखने से हमको यह प्रतीत हुआ कि इस सूत्र के भाष्य में महर्षि व्यास का आशय गन्धमात्र भी ग्रन्थन नहीं किया गया, अन्यथा ऐसा परस्पर असम्बद्ध लेख महर्षि व्यास क्यों लिखते जो इतरव्यपदेशाधिकरण में ब्रह्म को सब दोषों से दूरकर "अधिकन्तुभेदानिर्देशात्" इस सूत्र में सर्वोपरि सिद्ध किया, और प्रयोजनवत्वाधिकरण में परमात्मा के सृष्टि रचने में प्रयोजन और उसके न्यायादिकों को सम्यग् रीति से निरूपण किया, एवं परमात्मा के न्याय की निर्मलता तभी रहसक्ती है जब उक्त सूत्र के अर्थ पूर्व सूत्रों के साथ सङ्गति रखें, वह सङ्गति सर्व शब्द को संकुचित मानने पर ही रहसक्ती है अर्थात् सर्वधर्मों से आशय यहां उन धर्मों का है जो परमात्मा के योग्य हैं, इसीलिये स्वामी रामानुज ने लिखा है कि:—

"अतस्सर्वविलक्षणत्वात्सर्वशक्तित्वाल्लीलैकप्रयोजनत्वात् क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येनविचित्र सृष्टि योगाद्ब्रह्मैव जगत्कारणम्" श्री० भा० ब्र० सू० २।१।३५

अर्थ-सब से विलक्षण सर्वशक्तिमान् परमात्मा जीवों के, कर्मानुकूल ही सृष्टिकर्त्ता है निरपेक्ष कर्त्ता नहीं, यहां स्वामी रामानुज ने पूर्व सूत्रों की सङ्गति को नहीं छोड़ा और सर्वशक्तिमान् के वही अर्थ किये हैं जो वेद शास्त्रानुकूल हैं अर्थात् वह सब शक्तियें उसमें हैं जिनसे उनके न्याय नियमादिकों में कोई दोष नहीं आता, इसी अभिप्राय से उन्होंने कई एक स्थलों में परमात्मा के कल्याण गुणों की अनन्तता मानी है, स्वा० शं० चा० के समान भले बुरे सब गुणों का आश्रय परमात्मा को नहीं माना।

इति प्रथमःपादः समाप्तः

अथ द्वितीयःपादः प्रारभ्यते

सं०-प्रथम पाद में स्मृतियों के साथ वेदान्तशास्त्र के समन्वय का अविरोध कथन करके अब केवल तर्कद्वारा वेदविरोधी मतों का विस्तारपूर्वक खण्डन करने के लिये इस पाद का प्रारम्भ करते हैं:—

रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम् ॥ १ ॥

पद०-रचनानुपपत्तेः। च। न। आनुमानं।

पदा०-(रचनानुपपत्तेः) रचना की उपपत्ति न पायेजाने से (आनुमानं) अनुमान सिद्ध प्रधान=प्रकृति जगत् का निमित्तकारण (न) नहीं होसकती।

भाष्य जड़ प्रकृति से ही सब संसार उत्पन्न होता और उसी में नाना प्रकार के स्वभाव हैं जिससे सब प्रकार की रचनायें होसक्ती हैं फिर प्रकृति से भिन्न ईश्वर के निमित्तकारण मानने की आवश्यक्ता नहीं ? यह अनीश्वरवादी का पूर्वपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि यह जो नाना प्रकार की रचना संसार में पाई जाती है इसका कर्त्ता प्रकृति नहीं होसक्ती, क्योंकि वह जड़ है उसमें रचना करने का ज्ञान नहीं, इस प्रकार इस सूत्र में चार्वाक मत का खण्डन किया है जो चार भूतों से भिन्न अन्य किसी पदार्थ को जगत् का कर्त्ता नहीं मानते।

स्वामी शं० चा० इस सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि रचना के न बनसकने से सांख्यशास्त्र का माना हुआ प्रधान जगत् का कर्त्ता नहीं, स्वामी रामानुज तथा मध्वादि सब आचार्य्य इस पाद में सांख्य, वैशेषिकादि शास्त्रों का खण्डन बड़े बलपूर्वक करते हैं, परन्तु यह भाव इस पाद का कदापि नहीं, क्योंकि जिस समय इन आचार्य्यों के भाष्य बने थे उस समय शास्त्रों के परस्पर खण्डन का आविर्भाविक समय आगया था उसी समय के प्रभाव से इन लोगों ने वेदान्त से भिन्न पाचो शास्त्रों का खण्डन किया है जो वेदान्त शास्त्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, इस विषय में निम्न लिखित युक्तियें हैं:—

(१) वेदान्त सूत्रों में कहीं भी सांख्य वैशेषिकादि शास्त्रों का नाम लेकर खण्डन नहीं किया गया।

(२) इन सूत्रों का आशय भी परस्पर शास्त्रों के खण्डन का नहीं पाया जाता।

(३) जब वैदिक समय से लेकर उपनिषदों के समय तक कहीं भी वैदिक शास्त्रों का खण्डन नहीं तो फिर दर्शनों में यह बात कैसे होसक्ती है कि एक दूसरे का खण्डन करे।

(४) दर्शन शास्त्र उस समय के बने हुए हैं जिस समय आपस के द्वेष का लेशमात्र प्रवेश भी भारत में नहीं हुआ था, उक्त तर्कों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य्य आदि एक दूसरे के पीछे चलते हुए शास्त्रों का खण्डन करते हैं और स्यात् उन्होंने अपने मन में इसी बात का गौरव समझा है कि अन्य शास्त्रों का खण्डन करके वेदान्त को सब से उच्च रखें, जैसाकि आज कल के वेदविरोधी कई एक ग्रन्थकारों ने लिखा है कि:-

तावत्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाबाहुर्यावद्वेदान्तकेसरी॥

अर्थ-शास्त्ररूपी जम्बुक=गीदड़ जङ्गल में तभी तक गर्जते हैं जब तक वेदान्तरूपी सिंह नहीं गर्जता।

इस आशय को लेकर इन्होंने अन्य शास्त्रों की प्रतिष्ठा की अपेक्षा नहीं की, इसलिये वैदिक सिद्धान्त में शास्त्रों का परस्पर विरोध कदापि मान्य नहीं होसक्ता, हम इस पाद के यथार्थ अर्थ जैसेकि व्याससूत्रों से प्रतीत होते हैं करते हैं, जिससे प्रकट होजायगा कि व्यास का आशय कदापि अन्य शास्त्रों के

खण्डन का न था, यद्यपि इस अंश में लकीर के फकीर यह कहेंगे कि तुम्हारे पूर्वाचार्य्यों से विरुद्धार्थ प्रमाण नहीं तथापि हम उन लोगों के कथन की अपेक्षा न करके महर्षि व्यास के आशय को छिपा नहीं सक्ते और नाही इस वैदिकभाव को दवा सक्ते हैं जो वैदिक समय से लेकर शास्त्रों के समय तक एकरस चला आया है कि शास्त्रों का परस्पर विरोध नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ को अन्य हेतुओं से स्पष्ट करते हैं:—

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

पद०—प्रवृत्तेः । च ।

पदा०—(च) और (प्रवृत्तेः) प्रवृत्ति के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—कार्य्यानुकूल चेष्टा का नाम "प्रवृत्ति" है, और वह प्रवृत्ति केवल जड़ द्रव्य में नहीं होसक्ती, इसलिये पृथिवी, जल, तेज, वायु, यह चारो भूत जगत् का निमित्तकारण नहीं होसक्ते, इससे भी चार्वाक का मत ठीक नहीं, स्वामी शं० चा० इस सूत्र के यह अर्थ करते हैं कि सांख्य वालों ने जो तीन गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति मानी है उसकी प्रवृत्ति विना चेतन से नहीं होसक्ती, इसलिये सांख्यमत ठीक नहीं, यह कथन भी पूर्वोक्त युक्तियों से असङ्गत जानना चाहिये ।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

पद०—पयोऽम्बुवत् । चेत् । तत्र । अपि ॥

पदा०-(चेत्) यदि (पयोम्बुवत्) दूध, जल की भांति जड़ की स्वतः प्रवृत्ति माने तो (तत्र,अपि) वहां भी जड़ पदार्थ चेतन द्वारा ही पाई जाती है ॥

भाष्य-यदि दूध और पानी के दृष्टान्त द्वारा जड़ की स्वतः प्रवृत्ति मानो कि जैसे बच्चे के निमित्त स्तनों से दूध स्वयं बाहर आजाता है,एवं विना किसी चेतन प्रवर्त्तक के नीचे स्थानों की ओर जड़ जल स्वयं चला जाता है इसीप्रकार पृथिव्यादि जड़ द्रव्य से स्वतः ही जगत्रचना की प्रवृत्ति सिद्ध होजायगी, फिर जड़ द्रव्य से भिन्न ईश्वर मानने की क्या आवश्यक्ता है ? इसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा मानो तो वहां भी चेतन के अधीन ही प्रवृत्ति है, क्योंकि दूध स्रवण पक्ष में गौ और बच्छा दोनों चेतन हैं,इसलिये उनके व्यापार से प्रवृत्ति होती है, और नीचे के स्थानों की ओर पानी के जाने का नियम है जोकि नियन्ता से विना नहीं बनसक्ता, इसलिये विना चेतन से जड़ द्रव्य में प्रवृत्ति न होसकने से चार्वाकादिकों का कथन केवल साहसमात्र है ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

पद०-व्यतिरेकानवस्थितेः । च । अनपेक्षत्वात् ।

पदा०-(च) और (अनपेक्षत्वात्) स्वभिन्न किसी बाह्य साधन की अपेक्षा न रखने से (व्यतिरेकानवस्थितेः) अभाव की स्थिति न पाये जाने के कारण चार्वाक पक्ष ठीक नहीं ॥

भाष्य–व्यतिरेक=अभाव की अनवस्थिति=स्थिति न हो-सकने से यह अनीश्वरवाद ठीक नहीं, क्योंकि जब जड़ द्रव्य के स्वभाव ही से सृष्टि उत्पन्न होगी तो फिर कभी भी इसका अभाव न होगा, क्योंकि किसी और पदार्थ की अपेक्षा वाला इस जड़ द्रव्य को चार्वाक लोग नहीं मानते, और हम ईश्वरवादियों के पक्ष में जो न्यायकारी ईश्वर है वह पूर्व कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि बनाता है और इसी कारण कर्मों का भोग समाप्त हो चुकने पर सृष्टि का लय होजाता है, या यों कहोकि स्वाभाविकसृष्टिवादियों के मत में जड़ द्रव्य किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता, इसलिये सदैव सृष्टि बनी रहनी चाहिये पर ऐसा नहीं, इससे भी चार्वाक मत ठीक नहीं ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

पद०–अन्यत्राभावात् । च । न । तृणादिवत् ।

पदा०–(च) और (अन्यत्राभावात्) अन्य पदार्थ में न बनसकने से (तृणादिवत्) तृणादिकों की भांति प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति (न) नहीं होसक्ती ॥

भाष्य–जैसे गौ को जो घासादि खिलाये जाते हैं वह उसमें जाकर उसके स्वभाव की विचित्रता से ही वहां दूध बनजाते हैं, इसीप्रकार इन जड़ पदार्थों के स्वभाव की विचित्रता से ही जीवों के ऊंच नीचादि भावों का भेद बन सकेगा और इसी स्वभाव की विचित्रता से ही सृष्टि का प्रलय भी बन जायगा, फिर चेत-

नकर्त्ता की क्या आवश्यक्ता है ? इसका उत्तर यह है कि गौ आदिकों में तृणादि द्वारा दूध का नियम पाये जाने से और बैलादिकों में उक्त नियम के न होसकने से यह नियम किसी नियन्ता के अधीन है, इसीलिये तृणादिकों का दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि तृणादि ईश्वर के नियम से दुग्धादि परिणाम को प्राप्त होते हैं इस प्रकार स्वभाववाद की सिद्धि के लिये तृणादि का दृष्टान्त सङ्गत नहीं होसक्ता ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ५ ॥

पद०—अभ्युपगमे । अपि । अर्थाभावात् ।

पदा०—(अभ्युपगमे, अपि) मान लेने पर भी (अर्थाभावात्) अर्थसिद्धि न होसकने से स्वभाववाद असङ्गत है ॥

भाष्य—यदि मान भी लिया जाय कि जड़ द्रव्य ही संसार को रच लेता है तो भी प्रयोजन के न बनसकने से चार्वाक मत ठीक नहीं अर्थात् यह जो जगत् में नाना प्रकार के प्रयोजन पायेजाते हैं जैसाकि संसार में शब्द साक्षात् कार के लिये श्रोत्र, स्पर्श का ग्राहक त्वचा, रूप ज्ञान के लिये चक्षु, रसार्थ रसना और गन्ध गुण के लिये घ्राण इन्द्रिय बनाया गया, इत्यादि प्रयोजन चेतनकर्त्ता से विना कदापि नहीं होसक्ते, इस सूत्र को भी स्वामी शं० चा० ने सांख्य शास्त्र की मानी हुई प्रकृति के खण्डन में लगाया है और युक्ति यह दी है कि प्रधान का सृष्टि रचने में कोई प्रयोजन नहीं होसक्ता, यदि मुक्ति प्रयोजन कहाजाय तो

मुक्ति तो प्रथम ही प्राप्त थी जब कि सृष्टि भी नहीं बनी थी, यदि विचार कर देखें तो यह तर्क शङ्करमत को उलटा काटता है, क्योंकि उक्त मत में सृष्टि रचने से प्रथम जीव ब्रह्मरूप से मुक्त था फिर मुक्ति का प्रयोजन नहीं होसक्ता, यदि यह कहा जाय कि भोग के लिये सृष्टि रची तो भोग का प्रयोजन इसलिये नहीं बनसक्ता कि पूर्ण ब्रह्म में भोग की क्या अपूर्णता थी, और सांख्य मत में उक्त दोष इसलिये नहीं आता कि सांख्यशास्त्र पुनर्जन्म को मानता है, क्योंकि उसमें त्रिविध दुःखों की अत्यन्त-निवृत्ति को पुरुषार्थ माना है, फिर कैसे कहा जाता है कि सांख्यमत में सृष्टि रचने का कोई प्रयोजन नहीं, यदि यह कहाजाय कि पूर्व कर्म कहां से आये जिनकी अपेक्षा से सृष्टि रची ? तो उत्तर यह है कि यह प्रवाह अनादि है, इसलिये पूर्वकर्मों पर कोई प्रश्न नहीं होसक्ता ।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ७ ॥

पद०-पुरुषाश्मवत् । इति । चेत् । तथापि ।

पदा०-(पुरुषाश्मवत्) पुरुष और पत्थर की भांति स्वतः प्रवृत्ति होगी (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो भी (तथापि) प्रयोजन की सिद्धि नहीं होसक्ती ।

भाष्य-यदि यह कहाजाय कि जैसे रूपादि ज्ञानशक्ति विहीन अन्ध पुरुष दूसरे पुरुष को पाकर अपना प्रयोजन सिद्ध करलेता है इसीप्रकार यह पृथिव्यादि भूतचतुष्टय भी देशकालादि

निमित्तों को पाकर सृष्टि रचना करलेंगे और जैसे अश्म=चुम्बक पत्थर अपनी स्वाभाविक शक्ति से लोहे को खींचलेता है इसी प्रकार यह जड़ द्रव्य सृष्टि को बनालेंगे ? इसका उत्तर सूत्रकार यह देते हैं कि पुरुष और चुम्बकपत्थर के समान भी तुम जड़ द्रव्य में जगत् रचने की क्रिया सिद्ध नहीं करसक्ते, क्योंकि अंध पुरुष को भी जबतक कोई मार्ग बतलाने वाला ज्ञानी नहीं मिलता तबतक वह अपने प्रयोजन को सिद्ध नहीं करसक्ता, एवं चुम्बक का भी जबतक लोहे के साथ सम्बन्ध नहीं होता तबतक वह भी अपना काम नहीं करता, इसी प्रकार जबतक तुम्हारे जड़ द्रव्य का किसी चेतन पुरुष के साथ सम्बन्ध न हो तबतक उससे स्वयं सृष्टि बनना असम्भव है ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

पद०—अङ्गित्वानुपपत्तेः । च ।

पदा०—(च) और (अङ्गित्वानुपपत्तेः) किसी चेतन पदार्थ का सम्बन्धी न होने से जड़ में स्वतः प्रवृत्ति नहीं होसक्ती ।

भाष्य—जबतक जड़ पदार्थ का कोई चेतन पदार्थ अङ्गी=सम्बन्धी न हो तबतक उसमें स्वयं रचना नहीं होसक्ती, और चार्वाक लोग ऐसा नहीं मानते, अतएव उनके मत में सृष्टि रचना की अनुपपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है ।

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ।९।

पद०—अन्यथा । अनुमितौ । च । ज्ञशक्तिवियोगात् ।

पदा०-(च) और (अन्यथा) अन्य प्रकार से (अनुमितौ) अनुमान करने पर भी जड़ प्रवृत्ति स्वतः नहीं होसक्ती, क्योंकि (ज्ञशक्तिवियोगात्) उसमें चेतनशक्ति का योग नहीं।

भाष्य-अन्य प्रकार से अनुमान करने पर भी नास्तिकों का निर्वाह नहीं होसक्ता अर्थात् यदि नास्तिक यह मानें कि इस जड़ द्रव्य में हम एक शक्ति मानलेंगे जिस में सृष्टिरचना आदि सब प्रयोजन सिद्ध होसकेंगे ? इसका उत्तर यह है कि उस शक्ति के चेतन न होने से तुम्हारा मत ठीक नहीं।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

पदा०-विप्रतिषेधात्। च। असमञ्जसम्।

पदा०-(च) और (विप्रतिषेधात्) परस्परविरोध होने से भी (असमञ्जसम्) नास्तिक मत ठीक नहीं।

भाष्य-परस्पर विरोध होने से भी तुम्हारा मत ठीक नहीं अर्थात् नास्तिक लोगों के मत में परस्पर विरुद्ध बातें पाई जाती हैं, कोई कहते हैं कि समय के प्रभाव से सृष्टि रचना होती है इसलिये काल ही कारण है, कोई कहते हैं कि पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चार भूत ही सृष्टि के कारण हैं, कोई कहते हैं कि उक्त भूतों की शक्ति सृष्टि रचने का कारण है, अन्यों का कथन है कि यह माया अनिर्वचनीय है जिसको हम कथन नहीं करसक्ते उससे सृष्टि होती है, इत्यादि परस्पर विरुद्ध नाना कल्पनाओं से भी नास्तिकों का मत ठीक नहीं।

"रचनाऽनुपपत्तेश्च" ब्र० सू० २ । २ । १ से लेकर उक्त सूत्र पर्यन्त स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने इन दश सूत्रों को सांख्य शास्त्र के खण्डन में लगाया है जो ग्रन्थ के विस्तार भय से उक्त सब सूत्रों पर स्वामी शं० चा० के भाष्य का आशय नहीं दिखलाया गया, पाठक उक्त लेख से ही उनका आशय समझलें।

इस सूत्र का उक्त स्वामीजी यह अर्थ करते हैं कि कहीं सांख्यी लोग सात इन्द्रियों को मानते हैं, जैसाकि एक बुद्धि, पांच कर्मेन्द्रिय और सातवां मन, कहीं बुद्धि, अहंकार और मन, यह तीन अन्तः-करण, और कहीं एक बुद्धि ही इन्द्रिय मानते हैं, इस प्रकार सांख्यों का दर्शन परस्पर विरुद्ध होने से ठीक नहीं, पहली बात यह है कि पूर्वोक्त इन्द्रियों की संख्या में जो विरोध निरूपण किया गया है वह सांख्यशास्त्र में नहीं, अन्य आधुनिक ग्रन्थों के हम सघा-धाता नहीं, क्योंकि उनके परस्परविरोध से सांख्यशास्त्र का खण्डन नहीं होसक्ता, यदि इसी प्रकार के विरोध लिये जायं तो स्वामी शं० चा० के मत में भी तो सैकडों विरोध हैं, कहीं अन्तःक-रणावच्छिन्न जीव है, कहीं आभास जीव है, कहीं एक जीववाद है, कहीं नाना जीववाद हैं, कहीं जीव ब्रह्म का अंश है, कहीं जीव ब्रह्मरूप से ही प्रवेश हुआ है, कहीं जीव अविद्या से बना है, और कहीं "अनेनजीवेनात्मनाऽनुप्रविश्यनामरूपे व्याकरवाणि" इत्यादि वचनों से जीव को अनादि सिद्ध किया गया है, कहां तक कहें सहस्रों विरोध हैं, क्या इन भेदों से मायावाद वेदान्त असमञ्जस नहीं।

ननु—तुम्हारे मत में भी "ईक्षतेर्नाशब्दम्" ब्र० सू० १।१।५ "एतेनयोगःप्रत्युक्तः" ब्र० सू० २।१।३ इत्यादि सूत्रों में चार्वाक मत का खण्डन किया गया है फिर यहां चार्वाक मत के खण्डन का पिष्टपेषण क्यों किया गया? उत्तर—"ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादि सूत्रों में चार्वाक मत को शास्त्र से विरुद्ध दिखलाया गया है पर उन सूत्रों में विशेष तर्कों द्वारा उक्त मत का खण्डन नहीं किया गया था, इसलिये यहां तर्कपाद में विशेष तर्कों से चार्वाक मत का खण्डन किया गया है, इसलिये पुनरुक्ति दोष नहीं।

सं०—ननु, निरवयव परमाणुओं से कारणगुण विपरीत सावयव कार्य्य जगत् की उत्पत्ति कैसे? उत्तरः—

महद्दीर्घवद्वाह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्॥११॥

पद०—महद्दीर्घवत्। वा। ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्।

पदा०—(ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां) ह्रस्व परिमाण वाले द्व्यणुक तथा परिमण्डल परिमाण वाले परमाणुओं से (महद्दीर्घवत्) महत् तथा दीर्घ परिमाणवाले कार्य्य की भांति सावयव जगत् की उत्पत्ति होसक्ती है।

भाष्य—"वा" शब्द सिद्धान्तपक्ष के द्योतनार्थ आया है और परमाणुगत परिमाण को "परिमण्डल" कहते हैं, जिस प्रकार परिमण्डल परिमाणवाले परमाणुओं के कार्य्यभूत द्व्यणुक में

अपने कारण से विलक्षण ह्रस्व परिमाण उत्पन्न होजाता है तथा द्व्यणुक के ह्रस्व परिमाण से उसके कार्य्य त्र्यणुक में दीर्घ और महत्परिमाण उत्पन्न होता है इसी प्रकार निरवयव परमाणुपुंज से कार्य्य द्रव्यों में स्वकारणगत परिमाण से विलक्षण महत् परिमाण उत्पन्न होता है अर्थात् निरवयव परमाणुपुंज के प्रचय विशेष से महत् परिमाण की उत्पत्ति की भांति निरवयव परमाणुओं से सावयव जगत् की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं, और जो स्वामी शङ्कराचार्य्यजी ने इस सूत्र से लेकर "अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा" ब्र० सू० २। २। १७ तक वैशेषिक शास्त्र के परमाणुवाद का खण्डन किया है वह सूत्रकार के अभिप्राय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि यहां परमाणुवाद के खण्डन का कोई प्रकरण नहीं।

और यदि ह्रस्व तथा परिमण्डल के दृष्टान्त से उक्त स्वामी जी की यह बात मान भी लीजाय कि विलक्षणों में भी कार्य्य-कारण भाव होजाता है तब भी ब्रह्म के उपादानकारण होने का यहां कथन नहीं पायाजाता, क्योंकि यह पाद उपादानकारण की सिद्धि के लिये प्रवृत्त नहीं हुआ किन्तु "रचनाऽनुपपत्तेश्च" इस सूत्र से लेकर निमित्तकारण के उपपादन करने को यह पाद प्रवृत्त हुआ है, और ऐसे निमित्तकारण को वर्णन करता है जो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव कूटस्थ नित्य है, फिर उसका उपादानकारणरूप से सूत्रकार कैसे वर्णन कर

सक्ते हैं, और तर्क यह है कि " पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि " ब्र० सू० २।२।३ इस सूत्र में शं० चा० ने दूध और जल का प्रेरक परमेश्वर भिन्न माना है, फिर यहां उस परमेश्वर को वैशेषिक शास्त्र के माने हुए परमाणुरूप उपादान का खण्डन करके उसको जड़ जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कैसे सिद्ध करसक्ते हैं ॥

सं०-अब मायावादियों के मत में सृष्टि की अनुपपत्ति कथन करते हैं:—

उभयथाऽपि न कर्माऽतस्तदभावः॥ १२ ॥

पद०-उभयथा। अपि। न। कर्म। अतः। तदभावः।

पदा०-(उभयथा) दोनों प्रकार से (अपि) भी उसमें (कर्म) क्रिया नहीं होसक्ती (अतः) इसलिये (तदभावः) ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं ॥

भाष्य-मायावादियों के मत में ब्रह्म निष्क्रिय है इसलिये उसमें कर्म नहीं और नाही जड़ माया में कर्म होसक्ता है, जैसाकि तीसरे सूत्र के भाष्य में स्वामी शं० चा० मान चुके हैं कि जड़ द्रव्य चेतन से विना कोई काम नहीं करसक्ता, इससे यह भी स्पष्ट होगया कि वह चेतन ब्रह्म इस सब जड़ जगत् से पृथक् है, फिर वह अभिन्ननिमित्तोपादानकारण कैसे ?।

तात्पर्य्य यह है कि माया उपाधि वाले ब्रह्म को उपादान कारण मानकर दोनों प्रकार से कार्य्य नहीं होसक्ता, क्योंकि

मायावादियों के मत में निष्क्रिय ब्रह्म तथा जड़ माया में कर्म की स्वतन्त्रता नहीं, इसप्रकार आदि सृष्टि में कर्म न बनसकने से मायावादियों के मत में सृष्टि की उत्पत्ति कल्पनामात्र जाननी चाहिये।

समवायाभ्युपगमाच्चसाम्यादनवस्थितेः। १३।

पद०-समवायाभ्युपगमात्। च। साम्यात्। अनवस्थितेः।

पदा०-(समवायाभ्युपगमात्) माया तथा ब्रह्म का सम्बन्ध मानने (च) और (साम्यात्) दोनों के सम्बन्ध में समान तर्क पाये जाने से (अनवस्थितेः) कार्य्य कारण-भाव की स्थिति न होने के कारण ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं॥

भाष्य-मायावादियों से प्रष्टव्य यह है कि माया और ब्रह्म का सम्बन्ध किसने उत्पन्न किया? यदि कहो कि उक्त सम्बन्ध का हेतु माया है सो ठीक नहीं, क्योंकि जड़ माया में स्वतः सम्बन्ध उत्पन्न करनेकी क्रिया नहीं होसक्ती और निष्क्रिय निर्विकार ब्रह्म माया के विना सम्बन्ध का हेतु नहीं होसक्ता, इस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक तर्क पायेजाने से कार्य्यकारणभाव की स्थिति के निमित्तभूत माया तथा ब्रह्म का सम्बन्ध न बनसकने के कारण ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण मानना केवल साहसमात्र है॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

पद०-नित्यम् । एव । च । भावात् ।

पदा०-(च) और (नित्यं) सदा (एव) ही (भावात्) जगत् के बने रहने से ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं ॥

भाष्य-और बात यह है कि माया और ब्रह्म के सम्बन्ध से सृष्टि का होना मानाजाय तो सृष्टि सदा ही बनी रहनी चाहिये पर ऐसा नहीं, और जो अद्वैतवादी ब्रह्म और माया का सम्बन्ध मान के ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण बनाते हैं तो ब्रह्म और माया का सम्बन्ध सदा ही बना रहेगा, क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है और माया उसके आश्रित रहती है, इसप्रकार माया और ब्रह्म का नित्य सम्बन्ध होने से विचारा ब्रह्म कभी माया से विनिर्मुक्त न होसकेगा, इस प्रकार सृष्टि का कभी२ प्रलय होने से भी ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं बनसक्ता ॥

सं०-अब ब्रह्मकारणवाद में और अनुपपत्ति कथन करते हैं:-

रूपादिमत्वाच्चविपर्ययोदर्शनात् ॥ १५ ॥

पद०-रूपादिमत्वात् । च । विपर्ययः । दर्शनात् ।

पदा०-(च) और (विपर्ययः, दर्शनात्) कार्य्य जगत् से ब्रह्म विलक्षण होने के कारण जगत् का कारण नहीं होसक्ता, क्योंकि (रूपादिमत्वात्) जगत् रूपादि गुणों वाला है ।

भाष्य-और बात यह है कि उपादानकारण ब्रह्म तुम्हारे मत में रूपरहित और साकार जगत् रूपवाला है यह विल-

क्षणता देखे जाने से ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं बन-सक्ता, क्योंकि जो कारण में गुण होते हैं वही कार्य्य में आया करते हैं फिर निराकार शुद्धचेतन ब्रह्म से यह साकार जड़ जगत् कैसे बनगया, और यदि यह कहाजाय कि ब्र० सू० २। २। ११ में कारण से कार्य्य की विलक्षण उत्पत्ति मानी गई है फिर यह कैसे कहसक्ते हो कि नीरूप ब्रह्म से रूप वाला जगत् नहीं बनसक्ता ? इसका उत्तर यह है कि उक्त सूत्र में विलक्षण उत्पत्ति से यह तात्पर्य्य नहीं कि उपादानकारण के गुण कार्य्य में नहीं आते किन्तु यह तात्पर्य्य है कि निरवयव परमाणुपुञ्ज के प्रचय विशेषादिकों से सावयव जगत् बनजाता है अर्थात् जैसे बहुत सूक्ष्मपदार्थों के एकत्रित करने से एक स्थूल पदार्थ बन जाता है इसीप्रकार परमाणुपुञ्ज से साकार जगत् बनने में कोई दोष नहीं, और मायावादियों के मत में तो रूपादि गुण ब्रह्म में सूक्ष्म रूप से भी नहीं फिर उपादानकारण ब्रह्म से कार्य्य में रूपादि गुण कहां से आये, इसलिये ब्रह्म से कार्य्यरूप जगत् का मानना ठीक नहीं ॥

उभयथा च दोषात् ॥१६॥

पद०-उभयथा। च। दोषात्।

पदा०-(च) और (उभयथा) दोनों प्रकार से (दोषात्) दोष पायेजाने के कारण ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं ॥

भाष्य-अद्वैतवादी लोग ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान

कारण इस प्रकार मानते हैं कि ब्रह्म में जो मायांश है वह जगत् का उपादानकारण और चेतन ब्रह्म निमित्तकारण है, इसमें यह प्रष्टव्य है कि वह माया ब्रह्म का स्वरूप है अथवा नहीं ? यदि ब्रह्म का स्वरूप है तो ब्रह्म ही उपादानकारण हुआ और यदि स्वरूप नहीं तो ब्रह्म से भिन्न माया उपादानकारण हुई ब्रह्म नहीं वह केवल निमित्तकारण ही रहा, इसलिये दोनों प्रकार से इनके मत में दोष आने के कारण ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं ।

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

पद०—अपरिग्रहात् । च । अत्यन्तं । अनपेक्षा ॥

पदा०—(च) और (अपरिग्रहात्) ग्रहण न किये जाने से मायावाद (अत्यन्तं) नितान्त (अनपेक्षा) आदरणीय नहीं ॥

भाष्य—किसी सच्छास्त्र में मायावाद का आदर न पायेजाने से माया उपाधिवाला ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं अर्थात् वेद तथा उपनिषद् ग्रन्थों में मायोपहित ब्रह्म को जगत् का कारण नहीं माना प्रत्युत कल्याणगुणाकर, सर्वज्ञ,सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को ही जगत्कर्त्ता प्रतिपादन किया है,इसलिये सर्वप्रकार से मायावाद आदरणीय नहीं ॥

सं०—मायावाद का खण्डन करके अब बौद्धों की प्रक्रिया का खण्डन करते हैं :—

समुदाय उभयहेतुकेऽपितदप्राप्तिः ॥१८॥

पद०—समुदाये । उभयहेतुके । अपि । तदप्राप्तिः ।

पदा०-(उभयहेतुके) दोनों प्रकार के (समुदाये) समुदायों में (अपि) भी (तदप्राप्तिः) सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होसक्ती ॥

भाष्य-वैभाषिक, सौत्रान्तिक योगाचार और माध्यमिक यह बुद्ध के चार शिष्य हैं, इन चारों की बुद्धिभेद से बौद्धमत के चार भेद हैं, इनके मत में संसार की उत्पत्ति का हेतु दो प्रकार का समुदाय मानागया है,एक बाह्यसमुदाय और दूसरा आन्तर समुदाय, पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों के परमाणुरूप समुदाय का नाम " **वाह्यसमुदाय** " और रूप, विज्ञान, वेदना,संज्ञा तथा संस्कार इन पांचो स्कन्धों का नाम "**आन्तर समुदाय** " है, विषयसहित इन्द्रियों का नाम "**रूपस्कन्ध**" "अहं अहं" इस प्रकार की प्रतीति वाले आलय विज्ञान का नाम " **विज्ञानस्कन्ध** " सुख दुःख के ज्ञानहेतु का नाम " **वेदनास्कन्ध** " गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति इत्यादि नामों को " **संज्ञास्कन्ध** " और रागादि तथा धर्माधर्म को " **संस्कार स्कन्ध** " कहते हैं,इस प्रकार पांच स्कन्धरूप " आन्तर समुदाय " तथा पृथिव्यादिभूत रूप " बाह्य समुदाय " यह दोनों मिलकर सृष्टि उत्पन्न करते हैं ? बौद्धों का उक्त कथन इसलिये ठीक नहीं कि दोनों प्रकार के समुदाय जड़ होने से उनमें स्वतः क्रिया नहीं होसक्ती और नाही उनके

मत में उभयविध समुदाय से भिन्न कोई चेतन प्रवर्त्तक मानागया है जिससे उक्त समुदाय क्रियावाले होकर इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के जनक होसकें, इत्यादि अनेक दोष पायेजाने के कारण उक्त मत भी मायावाद की भांति निस्सार प्रतीत होता है ॥

सं०—अब उक्त अर्थ का शङ्कापूर्वक समाधान करते हैं:—

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्र-निमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

पद०—इतरेतरप्रत्ययत्वात् । इति । चेत् । न । उत्पत्ति-मात्रनिमित्तत्वात् ॥

पदा०—(इतरेतरप्रत्ययत्वात्) अविद्यादिकों का परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव होने से उक्त उभयविध समुदाय द्वारा उत्पत्ति होसक्ती है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्) वह उत्पत्तिमात्र में सहकारी है ॥

भाष्य—यदि यह कहाजाय कि यद्यपि हमारे मत में कोई स्थिर चेतन कर्त्ता वा भोक्ता नहीं तथापि अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, भव=जन्म, जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेवना इत्यादि अविद्यासमुदाय एक दूसरे का हेतु इस प्रकार बन सकेगा कि अविद्यादिकों से जन्म और जन्म से अविद्यादि, एवं घटीयन्त्र के समान इनमें एक दूसरे का

हेतु बन सकने से जगत् की उत्पत्ति में चेतन प्रवर्त्तक की आवश्यक्ता नहीं ? इसका उत्तर यह है कि तुम्हारे मत में अविद्यादि क्षणिक होने से एक दूसरे का हेतु नहीं बनसक्के अर्थात् तुम्हारे सिद्धान्त में जब तक पदार्थ क्षणिक है तो अविद्या कैसे निमित्त बनसक्ती है, क्योंकि विपरीत बुद्धि का नाम "अविद्या" है जिससे राग द्वेषादिक उत्पन्न होते हैं, और उनसे विज्ञान, विज्ञान से संज्ञा संज्ञा से पृथिव्यादिरूप वाला द्रव्य और उससे इन्द्रिय, उत्पन्न होते हैं इस प्रकार उत्पत्ति भी तभी होसक्ती है जब अविद्या को स्थिर मानाजाय और क्षणिकवादियों के मत में कोई पदार्थ स्थिर नहीं,इसलिये इतरेतरप्रत्ययवाली अविद्या संघात का कारण नहीं होसक्ती,इसलिये चेतन प्रवर्त्तक का मानना ही युक्ति युक्त है।

सं०-अब उक्त मत में और दोष कथन करते हैं:—

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

पद०-उत्तरोत्पादे । च । पूर्वनिरोधात् ।

पदा०-(च) और (उत्तरोत्पादे) उत्तर क्षण के उत्पत्ति समय तक (पूर्वनिरोधात्) पूर्व क्षण नष्ट होजाने से भी उक्त कथन ठीक नहीं ।

भाष्य-क्षणिकवादी का कथन है कि उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर प्रथम क्षण नष्ट होजाता है, जब ऐसा है तो पूर्वक्षणवर्त्ती पदार्थ का उत्तरक्षणवर्त्ती पदार्थ के साथ कार्य्यकारणभाव कैसे होसक्ता है ? क्योंकि कार्य्य की उत्पत्ति से प्रथम ही वह नष्ट

होचुका, इसलिये अविद्यादिकों का परस्पर निमित्तनैमित्तकभाव मानकर संघात की उत्पत्ति मानना समीचीन नहीं।

सं०-अब और दोष कथन करते हैं:—

असतिप्रतिज्ञोपरोधोयौगपद्यमन्यथा॥२१॥

पद०-असति। प्रतिज्ञोपरोधः। योगपद्यं। अन्यथा।

पदा०-(असति) हेतु के बिना उत्पत्ति मानने से (प्रतिज्ञो-परोधः) प्रतिज्ञा का भङ्ग होगा और (अन्यथा) कारणक्षण की स्थिति मानने से (यौगपद्यं) कार्य्यकारण की युगपद् आपत्ति होगी।

भाष्य-यदि कारण के बिना ही कार्य्य की उत्पत्ति मानें तो आलोक, नेत्र, पूर्वज्ञान और विषय इन चारों से जो सुखादि चैत्त=आन्तरविषयों की उत्पत्ति विषयक प्रतिज्ञा कीगई है उसमें विरोध आयेगा तथा कार्य्यपर्य्यन्त कारण की स्थिति माने तो यौगपद्य=कार्य्यकारण की एक काल में स्थिति माननी पड़ेगी और ऐसा मानने से क्षणिकवादियों की प्रतिज्ञा भङ्ग होजायगी, इसलिये क्षणिकवाद की उत्पत्तिप्रक्रिया सर्वथा असङ्गत है।

सं०-क्षणिकवादी के मत में उत्पत्ति की अनुपपत्ति कथन करके अब विनाशप्रक्रिया की असिद्धि का वर्णन करते हैं:-

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिर-विच्छेदात्॥ २२॥

पद०—प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः। अविच्छेदात्।

पदा०—(अविच्छेदात्) अविच्छेद के पायेजाने से (प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः) प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रतिसंख्यानिरोध का असम्भव होने से बौद्धों की विनाशप्रक्रिया ठीक नहीं।

भाष्य—बुद्धिपूर्वक विनाश का नाम "प्रतिसंख्यानिरोध" और इससे विपरीत का नाम "अप्रतिसंख्यानिरोध" है, यायों कहो कि सब संसार आविद्यिक है जिसका विद्या के उदय होते ही बाध होजाता है, इस प्रकार बुद्धिपूर्वक नाशभावना को "प्रतिसंख्यानिरोध" और इससे विपरीत क्षणिक प्राकृत प्रलय को "अप्रतिसंख्यानिरोध" कहते हैं, अविच्छेद=पदार्थों का सर्वथा नाश न पाये जाने के कारण उक्त दोनों प्रकार का निरोध नहीं होसक्ता अर्थात् किसी पदार्थ का सर्वथा नाश नहीं होता किन्तु रूपान्तर होजाता है, पर यह बात बौद्धमत में नहीं बन सक्ती, क्योंकि इनके मत में प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, इसलिये निरन्वय=विना सम्बन्ध के दोनों प्रकार का निरोध न बन सकने से बौद्धों की नाश कल्पना भी ठीक नहीं।

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

पद०—उभयथा। च। दोषात्।

पदा०—(च) और (उभयथा) दोनों प्रकार से (दोषात्)

दोष पायेजाने के कारण बौद्धमत असङ्गत है।

भाष्य-यदि तुच्छ=शून्य से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति मानकर निरन्वय विनाश मानाजाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि तुच्छ से उत्पन्न होने वाला तुच्छरूप ही होना चाहिये, एवं दोनों प्रकार से दोष आता है अर्थात् तुच्छरूप कारण माने तो कार्य्य तुच्छ होजायगा और यदि सत् पदार्थ से उत्पत्ति माने तो निरन्वय विनाश नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त कल्पना भी युक्तियुक्त नहीं।

सं०-ननु, आकाश तो शून्य है फिर कैसे कहाजाता है कि शून्य कोई पदार्थ ही नहीं? उत्तरः—

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

पद०-आकाशे। च। अविशेषात्।

पदा०-(च) और (आकाशे) आकाश में (अविशेषात्) भावरूप की तुल्यता पाये जाने से वह शून्य नहीं।

भाष्य-शब्द आकाश का गुण होने से सिद्ध है कि आकाश भाव पदार्थ है शून्य नहीं, अतएव उसका निरन्वय विनाश नहीं होसक्ता।

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

पद०-अनुस्मृतेः। च।

पदा०-(च) और (अनुस्मृतेः) अनुभव किये हुए पदार्थ की स्मृति पायेजाने से कोई पदार्थ क्षणिक नहीं ॥

भाष्य-बौद्ध लोगों का यह कथन कि वस्तुमात्र क्षणिक है इसलिये ठीक नहीं कि अनुभव तथा स्मरण का नियम से समानाधिकरण पायाजाता है, इसलिये अनुभव किये हुए पदार्थ की अनुभव से अनन्तर स्मृति पायेजाने के कारण अनुभवकर्त्ता क्षणिक नहीं होसक्ता अन्यथा जिसने अनुभव किया था वह तो नष्ट होचुका फिर स्मृति किसको होगी, इसप्रकार स्मृति की अनुपपत्ति से भी क्षणिकवाद असङ्गत जानना चाहिये ।

सं०-अब वादी के मत में दो सूत्रों से और दोष कथन करते हैं :—

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

पद०- न । असतः । अदृष्टत्वात् ।

पदा०-(असतः) असत् पदार्थ से कार्य्य की उत्पत्ति (अदृष्टत्वात्) न देखे जाने से शून्यवाद (न) ठीक नहीं ॥

भाष्य-और जो शून्यवादी का कथन है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति पायेजाने के कारण शून्य ही परमार्थ वस्तु है भाव कोई पदार्थ नहीं ? इसका उत्तर यह है कि असत् से सत् की उत्पत्ति में कोई दृष्टान्त न पाये जाने से भावरूप दुग्धादि पदार्थों द्वारा दधि आदि पदार्थों की उत्पत्ति देखे जाने से शून्यवाद असङ्गत है ॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धि ॥ २७ ॥

पद०—उदासीनानां। अपि। च। एवं। सिद्धिः।

पदा०—(च) और (एवं) अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर (उदासीनानां) कार्य्य न करने वाले लोगों की (अपि) भी (सिद्धिः) कार्यसिद्धि स्वतः ही होनी चाहिये।

भाष्य—यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती जो लोग कोई काम नहीं करते उनके भी सब कार्य्य स्वतः सिद्ध होजाने चाहियें पर ऐसा न होने से पायाजाता है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, इसका विस्तार "न्यायार्य्यभाष्य" :कये जाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ॥

सं०—अब विज्ञानवादी योगाचार के मत का खण्डन कर के लिये अभावाधिकरण का आरम्भ करते हैं :—

नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

पद०—न। अभावः। उपलब्धेः।

पदा०—(उपलब्धेः) उपलब्धि पायेजाने से (अभावः) बाह्य पदार्थों का अभाव (न) नहीं होसक्ता ॥

भाष्य—विज्ञानवादी के मत में एक विज्ञानमात्र ही पदार्थ है बाह्य पदार्थ कोई नहीं किन्तु सब पदार्थ बुद्धि के भीतर हैं, यह इसलिये ठीक नहीं कि यदि बाहर कोई पदार्थ न होता तो उसकी आन्तर उपलब्धि भी न होती परन्तु बाह्य उपलब्धि पाये जाने से सिद्ध है कि बाहर के पदार्थ मिथ्या नहीं ॥

सं०-ननु, बाह्यपदार्थ स्वप्न पदार्थों के समान हैं सत्य नहीं ? उत्तर :—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

पद०-वैधर्म्यात् । च । न । स्वप्नादिवत् ।

पदा०-(च) और (वैधर्म्यात्) वैधर्म्य पायेजाने से (स्वप्नादिवत्) स्वप्नादिकों की भांति (न) बाह्य पदार्थ मिथ्या नहीं ॥

भाष्य-स्वप्नादि पदार्थों से जाग्रत् पदार्थों में विरुद्ध धर्म पाये जाने के कारण जाग्रत् पदार्थ स्वप्न पदार्थों के समान मनोरथमात्र नहीं,यायों कहो कि स्वप्नादिकों के समान जाग्रत् के पदार्थ मिथ्या नहीं,इस सूत्र से मायावाद का खण्डन करदिया कि स्वप्न पदार्थ और जाग्रत् के पदार्थों में परस्पर बहुत वैलक्षण्य पाया जाता है, यदि सूत्रकार को जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न की भांति मिथ्या अभिमत होते तो इस अधिकरण में कदापि स्वाप्न पदार्थों से जाग्रत् पदार्थों का वैधर्म्य वर्णन न करते पर किया है इससे सिद्ध है कि स्वप्न की भांति जाग्रत् के पदार्थों को मिथ्या मानना ठीक नहीं, इसी अभिप्राय से "स्वामी रामानुज" का कथन है कि "ज्ञानमात्रमेव परमार्थ इति साधयन्तः सर्वलोकोपहासोपकरणं भवन्तीति वेदवादछद्मप्रच्छन्नबौद्धनिराकरणेनिपुणतरं प्रपञ्चितम्" श्री० भा० ब्र० सू० २ । २ । २७=जो लोग ज्ञानमात्र कोही परमार्थ सिद्ध

करते और सब पदार्थों को मिथ्या मानते हैं वह सब लोगों की हंसी का स्थान होते हैं, वह लोग छल का परदा लगाकर वेद-वादी बनते हैं पर छिपे हुए बौद्ध हैं उनके खण्डन में यह बात अच्छी तरह कथन कीगई है कि यह पदार्थ मिथ्या नहीं किन्तु अनित्य हैं, इससे स्वामी रामानुज ने यह सूचित करदिया कि विज्ञानवादी बौद्ध और सब पदार्थों को मिथ्या मानने वाले मायावादी एकही हैं इसलिये उनके खण्डन में भी उक्त सूत्र समझना चाहिये।

सं०-अब विज्ञानवादी के मत में विज्ञान की अनुपपत्ति कथन करते हैं:—

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

पद०-न। भावः। अनुपलब्धेः।

पदा०-(अनुपलब्धेः) बाह्य पदार्थों की अनुपलब्धि पाये जाने से (भावः) विज्ञान की सत्ता (न) नहीं होसक्ती।

भाष्य-विज्ञानवादी के मत में जबतक कोई पदार्थ बाहर न माना जाय तबतक विज्ञान का भी कोई स्वरूप सिद्ध नहीं होसक्ता अर्थात् कर्त्ता कर्म से विना कहीं ज्ञान की उपलब्धि नहीं देखी गई, स्वप्न ज्ञानादिकों में भी बाह्यार्थ से बिना ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती किन्तु वहां भी अन्यथाख्याति* के आश्रयण करने से बाह्य पदार्थ के होने पर ही अन्यथा ज्ञान होता है अन्य रीति से नहीं, इसलिये बाह्य पदार्थों का मानना समीचीन है॥

---

* अन्य पदार्थ की अन्यरूप से प्रतीति को "अन्यथाख्याति" कहते हैं, जैसे सीपी में चांदी की प्रतीति।

सं०—अब शून्यवादी माध्यमिक के मत का खण्डन करते हैं:—

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३१ ॥

पद०—सर्वथा । अनुपपत्तेः । च ।

पदा०—(च) और (सर्वथा) सब प्रकार से (अनुपपत्तेः) अनुपपत्ति पाये जाने के कारण शून्यवाद ठीक नहीं ।

भाष्य—शून्यवादी का कथन है कि वस्तुतः कोई पदार्थ नहीं सब शून्य ही शून्य है और अभाव होजाना ही मुक्ति है, क्योंकि वस्तु के नाश होने से विना कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, जैसे कि बीज के नाश होने से अङ्कुर और पिण्डादिकों को नाश करके घट उत्पन्न होता है, इसलिये शून्य ही तत्व है और फिर सब शून्य ही रहजाता है, जन्म, विनाश, सत्य, झूठ, यह सब भ्रान्तिमात्र हैं ? इसका उत्तर यह है कि यदि सब कुछ शून्य ही है तो उसका ज्ञाता कौन है, क्योंकि ज्ञाता के बिना निराश्रय शून्य की उपलब्धि में कोई प्रमाण नहीं, यदि यह कहाजाय कि शून्य का ज्ञाता शून्य से भिन्न है तो सब कुछ शून्य नहीं, इसलिये शून्यवादियों का मत सर्वथा ही अनुपपन्न है, मायावादियों के मत समान यह मत भी युक्तिशून्य होने से आदरणीय नहीं ।

सं०—बौद्धमत का खण्डन करके अब जैनमत का खण्डन करने के लिये "असम्भवाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ ३२॥

पद०—न । एकस्मिन् । असम्भवात् ।

पदा०-(असम्भवात्) असम्भव होने से (एकस्मिन्) एक पदार्थ में अस्तिनास्तिरूप न्याय की प्रवृत्ति (न)नहीं होसक्ती।

भाष्य-जैनों का कथन है कि जीव तथा अजीव भेद से जगत् दो प्रकार का है और उसका कर्त्ता ईश्वर कोई नहीं, जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश और काल यह जो छ पदार्थ हैं इन्हीं का संघातरूप संसार स्वतःसिद्ध अनादि है और यह एकान्तस्वरूप नहीं किन्तु इनसे सप्तभङ्गी न्याय द्वारा जगत् की अनेकान्त रूपता ही सिद्ध होती है, उक्त न्याय का स्वरूप यह है किः—

(१) स्यादस्ति=किसी रूप से यह पदार्थ है।

(२) स्यान्नास्ति=किसी रूप से नहीं है।

(३) स्यादस्ति च नास्ति च=किसी रूप से है भी और नहीं भी।

(४) स्यादवक्तव्यं=किसी रूप से कथन योग्य नहीं।

(५) स्यादस्तिचाऽवक्तव्यं च=किसी रूप से है पर अवक्तव्य है।

(६) स्यान्नास्तिचाऽवक्तव्यं च=किसी रूप से नहीं पर अवक्तव्य है।

(७) स्यादस्ति च नास्तिचाऽवक्तव्यंचेति=किसी रूप से है, किसी रूप से नहीं और किसी रूप से अवक्तव्य है।

सब जगह सप्तभङ्गी न्याय सङ्गत होने से छः पदार्थ परस्पर विरुद्ध भावाभावात्मक हैं ? यह इसलिये ठीक नहीं कि असम्भव होने से एक पदार्थ में अस्ति नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध धर्म नहीं होसक्ते अर्थात् एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध धर्म न रहसकने से सप्तभङ्गी न्याय की कल्पना ठीक नहीं ।

स्मरण रहे कि मायावादियों के मायावाद की भांति सप्तभङ्गी न्याय भी सतर्क नहीं,मायावादियों के मत में अनिर्वचनीय पदार्थ वह कहलाता है जो इन नव युक्तियों को न सहार सके, जैसाकि (१) माया को सत्य मानने से ब्रह्म का सजातीय होना (२) असत्य मानने से किसी कार्य्य का कारण न होना (३) यदि सत्य और असत्य दोनों का समुच्चय मानें तो किसी की बुद्धि में न आना (४) आत्मा से भिन्न मानने में द्वैतदोष (५) अभिन्न मानने में मायावाद की हानि (६) दोनों को मिलाकर मानें तो किसी की बुद्धि में न आने का दोष (७) यदि निरवयव मानें तो इसमें कोई प्रमाण नहीं (८) यदि सावयव मानें तो ब्रह्म के सामर्थ्यरूप अनिर्वचनीय माया में अवयव कहां से आये (९) यदि निरवयव और सावयव दोनों मिलाकर कहो तो उसको कोई बुद्धिमान् नहीं मान सक्ता, इस प्रकार उक्त युक्तियों को जो न सहार सके उसको मायावादी लोग "अनिर्वचनीय" कहते हैं, और इस अनिर्वचनीयवाद के सहारे ही वह अपनी सारी फ़िलासफ़ी का मण्डन करते हैं, अस्तु प्रकृत यह है कि इस

मिथ्यावाद के समान ही जैनों का यह सप्तभङ्गीनय है जो तर्क न सहार सकने से समीचीन नहीं।

सं०-अब जैनमत में अन्य दोष कथन करते हैं:—

एवंचाऽऽत्माऽकात्स्न्र्यम् ॥ ३३॥

पद०-एवं। च। आत्माऽकात्स्न्र्यम्।

पदा०-(च) और (एवं) उक्त दोष की भांति (आत्माकात्स्न्र्यं) आत्मा की अपूर्णता=असिद्धि पाये जाने से उक्त मत ठीक नहीं।

भाष्य-जैन मत के स्याद्वाद=सप्तभङ्गीनय में जिसप्रकार एक पदार्थ में युगपत् परस्पर विरुद्ध धर्म न बनसकने से असम्भव दोष पायाजाता है, इसीप्रकार इनके मत में आत्मा की सिद्धि का न होनारूप दोष भी ज्यों का त्यों बना रहता हैं अर्थात् जैनों का यह कथन कि जीव मध्यम परिमाण=शरीर के समान परिमाण वाला है और वही हस्ती चींटी आदि अनेक योनियों को प्राप्त होता है, इसलिये यह ठीक नहीं कि मध्यम परिमाण वाला पदार्थ घटादि पदार्थों की भांति अनित्य होता है और ऐसा होने से जीव भी अनित्य होजायगा, दूसरी बात यह है कि यदि जीव को शरीर के समान परिमाण वाला मानाजाय तो हस्ती के शरीर का जीव चींटी के शरीर में आना असम्भव है, इत्यादि तर्कों से आत्मा की सिद्धि न होने के कारण उक्त मत आदरणीय नहीं॥

सं०—ननु, दीपशिखा की भांति संकोच विकाशशाली होने के कारण हस्तिका जीव चीउंटी के शरीर में आसक्ता है ? उत्तरः—

नचपर्य्यायादप्यविरोधोविकारादिभ्यः॥३४॥

पद०—न । च । पर्य्यायात् । अपि । अविरोधः। विकारादिभ्यः ।

पदा०—(पर्य्यायात्) संकोच विकाश मानने पर (अपि) भी (न,च, अविरोधः) विरोध का अभाव नहीं होसक्ता, क्योंकि (विकारादिभ्यः) ऐसा मनाने से जीव में विकारादि दोष बने रहेंगे ॥

भाष्य—दीपशिखा की भांति जीव को संकोच विकाशशाली मानकर उक्त व्यवस्था का मानना इसलिये ठीक नहीं कि ऐसा मानने से जीव घटादि पदार्थों की भांति विकारी होने के कारण अनित्य होजायगा और अनित्य होने से बन्ध मोक्ष की व्यवस्था न रहेगी, इसलिये उसका शरीर के बराबर परिमाण मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ३५

पद०—अन्त्यावस्थितेः । च । उभयनित्यत्वात् । अविशेषः ।

पदा०—(च) और (अन्त्यावस्थितेः) मुक्ति में जीवगत परिमाण नित्य मानने से (उभयनित्यत्वात्) दोनों की नित्यता मानने पर (अविशेषः) उसका पूर्वावस्था से कोई भेद नहीं ।

भाष्य—जैनों का कथन है कि मुक्ति से पूर्व संकोच विकाश-शाली होने के कारण जीव का परिमाण एकरस नहीं रहता

परन्तु मुक्त होने पर पुनर्जन्म न होसकने से उसका परिमाण एक रस=नित्य बना रहता है फिर उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि जो प्रथम न होकर पश्चात् होवे वह घटपटादि पदार्थों की भांति "अनित्य" होता है और ऐसे ही अनित्य को "अभूत्वाभावि" कहते हैं, सो यदि मुक्ति-काल में जीव का परिमाण अभूत्वाभावि हो तो उसका कालान्तर में अवश्य परिवर्त्तन होगा, क्योंकि अभूत्वाभावि पदार्थ कदापि एकरस नहीं रहसक्ता, जैसाकि घटादि पदार्थों में देखाजाता है, यदि जीवपरिमाण को मुक्त्यवस्था में नित्य मानो तो घटादि पदार्थों से विपरीत होने के कारण मुक्ति से पूर्व भी ज्यों का त्यों मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से बन्ध तथा मोक्ष दोनों अव-स्थाओं में जीवपरिमाण की विशेषता न पायेजाने से स्पष्ट है कि जीव और जीवपरिमाण दोनों की नित्यता स्वाभाविक है, अतएव उसके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्त्तन न होने के कारण जीव को शरीर परिमाण वाला मानना समीचीन नहीं ॥

सं०-अब साकार ईश्वरवादी का मत खण्डन करते हैं:—

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३६ ॥

पद०-पत्युः । असामञ्जस्यात् ।

पदा०-(असामञ्जस्यात्) युक्तिशून्य होने से (पत्युः) साकार ईश्वरवादी का मत ठीक नहीं ॥

सं०-अब उक्त मत में तर्क का अभाव कथन करते हैं:—

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

पद०-सम्बन्धानुपपत्तेः । च ।

पदा०-(च) और (सम्बन्धानुपपत्तेः) साकार ईश्वर का सम्बन्ध न बनसकने से वह जगत्कर्त्ता नहीं होसक्ता ॥

भाष्य-जो शरीरधारी है वह एकदेशी होता है, इस नियम के अनुसार यदि ईश्वर साकार होता तो उसका जगत् के उपादानकारण प्रकृति के साथ सम्बन्ध न बनसकने से कदापि जगत् की उत्पत्ति न होती पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि ईश्वर साकार नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

पद०-अधिष्ठानानुपपत्तेः । च ।

पदा०-(च) और (अधिष्ठानानुपपत्तेः) अधिष्ठान न बन सकने से भी उक्त अर्थ ठीक नहीं ॥

भाष्य-अधिष्ठान=आश्रय न बनसकने से भी उक्त अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि जो साकार होगा उसके ठहरने के लिये भी कोई साकार पदार्थ आश्रय चाहिये, और यदि उसके ठहरने के लिये प्रथम ही कोई पदार्थ था तो वह सर्वकर्त्ता नहीं होसक्ता, इसी विषय में स्वामी शं० चा० जी ने लिखा है कि "सृष्ट्युत्तरकालभावित्वाच्छरीरस्यप्राक्सृष्टेस्तदनुपपत्तेः" शं० भा० ब्र० सू० २।२।३९=शरीर भूगोलादि सृष्टि के पश्चात् होसक्ता है

सृष्टि से प्रथम नहीं, इसलिये परमेश्वर को शरीरधारी मानकर सृष्टिकर्त्ता मानना ठीक नहीं ॥

सं०-ननु, ईश्वर को इन्द्रियों वाला मानकर जगत् का कर्त्ता मानने में क्या हानि ? उत्तर :—

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥३९॥

पद०-करणवत् । चेत् । न । भोगादिभ्यः ॥

पदा०-(चेत्) यदि (करणवत्) ब्रह्म को इन्द्रियों वाला मानाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से (भोगादिभ्यः) उसको भोगादि की आपत्ति होगी ॥

भाष्य-परमात्मा इन्द्रियों वाला नहीं होसक्ता, क्योंकि इन्द्रियों वाला मानने पर उसको भोक्ता भी मानना पड़ेगा, इसलिये साकार ईश्वर की कल्पना असङ्गत है ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में और दोष कथन करते हैं :—

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४० ॥

पद०-अन्तवत्त्वं । असर्वज्ञता । वा ।

पदा०-(अन्तवत्त्वं) अपने आकार की सीमा जानने से अन्तवाला होजाता है (वा) अथवा (असर्वज्ञता) न जानने से सर्वज्ञ नहीं रहता ॥

भाष्य-साकारवादियों से प्रष्टव्य है कि ईश्वर अपने आकार की सीमा को जानता है वा नहीं ? यदि जानता है तो अन्तवाला हुआ नहीं जानता तो सर्वज्ञ न रहेगा, इसलिये उसको साकार मानना ठीक नहीं, यदि यह कहाजाय कि निराकार

वादियों का सर्वगत विभु परमात्मा अपनी सीमा को जानता है वा नहीं? यदि जानता है तो सीमा वाला हुआ, यदि नहीं जानता तो अज्ञानी हुआ? उत्तर-यह दोष निराकारवादियों के मत में नहीं आता, क्योंकि जो पदार्थ जैसा होता है उसको वैसा ही ज्ञान होता है, वह सीमा रहित है, इसलिये उसको अपने सीमारहित होने का ज्ञान है, एवं निराकार ईश्वरवाद में कोई दोष नहीं।

सं०-ननु, जैसे अन्य पदार्थों का ईश्वर कर्त्ता है इसी प्रकार पदार्थ होने से ईश्वर का भी कोई कर्त्ता होना चाहिये? उत्तरः—

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ ४१ ॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(उत्पत्त्यसम्भवात्) ईश्वर के जन्म का असम्भव होने से उसका कोई कर्त्ता नहीं।

भाष्य-जो पदार्थ उत्पत्ति विनाशशाली होता है उसका कर्त्ता अवश्य होता है परन्तु ईश्वर उत्पत्ति विनाश से रहित होने के कारण उसका कोई कर्त्ता नहीं होसक्ता।

सं०-अब उक्त अर्थ को तीन सूत्रों से स्फुट करते हैं:—

नचकर्तुः करणम् ॥ ४२ ॥

पद०-न। च। कर्तुः। करणम्।

पदा०-(न, च) और नाहीं (कर्तुः) उस कर्त्ता का (करणं) कोई करण है।

भाष्य-और नाही उस कर्त्ता का कोई करण=इन्द्रियादि साधन होसक्ते हैं, जैसाकि श्वे० ६। ८ में वर्णन किया है कि

"नतस्य कार्य्यं करणञ्चविद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते। पराऽस्यशक्तिर्विविधैवश्रूयते, स्वाभाविकीज्ञानबलक्रियाच"

अर्थ—उसका न कोई कर्त्ता और न करण है, ज्ञान बल क्रिया यह सब उसके स्वाभाविक हैं।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥४३॥

पद०—विज्ञानादिभावे । वा । तदप्रतिषेधः ।

पदा०—(वा) अथवा (विज्ञानादिभावे) परमात्मा में सर्वज्ञत्वादि धर्म पाये जाने से (तदप्रतिषेधः) उसकी उत्पत्ति नहीं होसक्ती ।

भाष्य—अनादि काल से परमात्मा में सर्वज्ञत्वादि धर्म पाये जाते हैं और सदा बने रहेंगे, इसलिये उन धर्मों का आश्रय अनादि अनन्त परमेश्वर सर्वदा एकरस रहने से उत्पत्ति वाला नहीं होसक्ता ।

विप्रतिषेधाच्च ॥४४॥

पद०—विप्रतिषेधात् । च ।

पदा०—(च) और (विप्रतिषेधात्) विप्रतिषेध होने से भी साकारवाद ठीक नहीं ।

भाष्य—ईश्वर को साकार मानने से विप्रतिषेध=परस्पर विरोध आता है, क्योंकि साकार और निराकार यह दोनों परस्पर विरोधी धर्म एक ही काल में एक पदार्थ में नहीं रहसक्ते, इसलिये

वह परस्पर विरुद्धधर्माश्रय न होने से सर्वदा एकरस कूटस्थ नित्य है।

स्वा० शङ्कराचार्य्य तथा रामानुज आदि आचार्य्यों ने इस उत्पत्त्यऽसम्भवाधिकरण को जीव की उत्पत्ति के निषेध में लगाया है सो ठीक नहीं, क्योंकि जीव की उत्पत्ति का निषेध ब्र० सू० २।३।१८ में स्पष्ट रीति से किया गया है, यदि यह अधिकरण भी जीव की उत्पत्ति का निषेध करता तो पुनरुक्ति दोष आता, इसलिये यह अधिकरण ईश्वर की उत्पत्ति का निषेध करता है, इस प्रकार तर्कपाद के तर्कों की सङ्गति लगाने से सिद्ध है कि यह पाद वैदिकदर्शनों का खण्डन नहीं करता किन्तु अवैदिक तर्कों का खण्डन करता है।

ननु—इस तर्कपाद में बौद्धों की फ़िलासफ़ी के खण्डन से पायाजाता है कि बुद्ध व्यासजी से प्रथम हुए हैं ? उत्तर— सूत्रों में उस फ़िलासफ़ी का खण्डन है जिसका आश्रय लेकर बुद्ध उठा, सूत्रों में कहीं बुद्ध का नाम न होने से उसके प्रथम होने में कोई प्रमाण नहीं और ऐतिहासिक विचार से भी बुद्ध महर्षिव्यास से पीछे हुए हैं, इसलिये जहां२ हमने बौद्ध फ़िलासफ़ी का नाम लिया है और बुद्ध के शिष्यों का नाम लेकर खण्डन किया है वहां सर्वत्र हमारा आशय उस फ़िलासफ़ी के अनुयायी लोगों से है।

और माध्वाचार्य्य, रामानुजाचार्य्य, निम्बार्काचार्य्य, वल्लभाचार्य्य, यह चारो आचार्य्य इस तर्कपाद में शङ्कर का ही शरण लेते हैं अर्थात् उक्त आचार्य्य भी सांख्य वैशेषिकादि मतों का

खण्डन करके ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ही अपना मन्तव्य ठहराते हैं, यह वह आचार्य्य हैं जिनके विषय में एक आधुनिक मायावाद के ग्रन्थ में लिखा है कि:—

चार यार मध्वादिक जे हैं।
वेदविरुद्ध कहत सब ते हैं॥
मध्वादिक को मत न प्रमानी।
ये हम व्यासवचन ते जानी॥

अर्थ—उक्त चारो मित्र जो मध्वादिक हैं, यह सब वेदविरुद्ध कहते हैं, इसलिये इनका मत मानने योग्य नहीं॥

इति द्वितीयःपादः समाप्तः

अथ तृतीयःपादः प्रारभ्यते

सं०—द्वितीय पाद में श्रौतार्थ के साथ युक्ति विरोध का परिहार करते हुए केवल तर्कबल से वेदविरोधी मतों का खण्डन किया, अब प्रसङ्गसङ्गति से आकाशादिकों की उत्पत्ति विधायक श्रुतियों का परस्पर विरोध परिहार करने के लिये इस पाद का आरम्भ करते हैं:—

न वियदश्रुतेः॥ १॥

पद०—न। वियत्। अश्रुतेः।

पदा०—(अश्रुतेः) उत्पत्ति प्रकरण में श्रवण न पायेजाने से (वियत्) आकाश (न) उत्पन्न नहीं होता॥

भाष्य-" तदैक्षत, तत्तेजोऽसृजत " छां० ६ । २ ।
१=उसने सङ्कल्प द्वारा तेज को उत्पन्न किया, इत्यादि उत्पत्ति विधायक श्रुतियों में आकाशविषयक उत्पत्ति न पायेजाने से सिद्ध है कि आकाश की उत्पत्ति नहीं होती ॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

अस्तितु ॥ २ ॥

पद०-अस्ति । तु ।

पदा०-(अस्ति) आकाश उत्पन्न होता है ।

भाष्य-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, श्रुति से आकाश की उत्पत्ति पाई जाती है,जैसाकि " तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः " तै० २ । १ ।
१=उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ ।

गौण्यसम्भवात् ॥ ३ ॥

पद०-गौणी । असम्भवात् ।

पदा०-(असम्भवात्) असम्भव होने से (गौणी) आकाश की उत्पत्ति गौण है मुख्य नहीं ।

भाष्य-आत्मा की भांति निरवयव होने से आकाश की उत्पत्ति का सम्भव न होने के कारण 'आत्मन आकाशःसम्भूतः' इत्यादि श्रुति उपचार से आकाश की उत्पत्ति कथन करती हैं वस्तुतः नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :-

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

पद०—शब्दात् । च ।

पदा०—(च) और (शब्दात्) शब्द से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥

भाष्य—शब्द से भी आकाश की उत्पत्ति का निषेध पाया जाता है, जैसाकि "वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतम्" बृहदा० २।३।३=वायु और अन्तरिक्ष=आकाश यह दोनों अमृत हैं, इस वाक्य में आकाश को अमृत कथन किया गया है, और अमृत वही होता है जिसकी उत्पत्ति न हो, इससे पाया गया कि आकाश की उत्पत्ति नहीं होती ॥

सं०—ननु, एकही उत्पत्ति विधायक श्रुति में "सम्भूत" शब्द गौण मुख्य कैसे होसक्ता है ? उत्तर :—

स्याच्चैकस्यब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

पद०—स्यात् । च । एकस्य । ब्रह्मशब्दवत् ।

पदा०—(ब्रह्मशब्दवत्) ब्रह्म शब्द की भांति (एकस्य) एक ही सम्भूत शब्द का (स्यात्) गौण मुख्य अर्थ होसक्ता है।

भाष्य—"तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते" मुण्ड० १। १। ८=अपने प्रयत्नरूप तप से ब्रह्म जाना जाता और उसी से प्रकृति का आविर्भाव होता है, "तस्मादेतद्ब्रह्मनाम रूपमन्नञ्च जायते" मुण्ड० १। १। ९=उसी परमात्मा से ब्रह्म=प्रकृति कार्य्याकार होकर नाम रूप वाली होती है, जिस प्रकार एक ही प्रकरण पठित उक्त दोनों वाक्यों में प्रथम ब्रह्म

शब्द का मुख्य अर्थ परमात्मा और दूसरे वाक्य में ब्रह्म शब्द का प्रकृतिरूप अर्थ गौण पाया जाता है इसी प्रकार प्रकृत में एकवाक्यगत " सम्भूत " शब्द योग्यता बल से गौण तथा मुख्य दोनों प्रकार के अर्थों में आता है अर्थात् जब सम्भूत शब्द का " आकाश " पद के साथ सम्बन्ध होता है तब उसमें उत्पत्तिरूप अर्थ औपचारिक मानाजाता है मुख्य नहीं, क्योंकि आकाश में उत्पत्ति की योग्यता नहीं पाई जाती, इसलिये उसकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं ॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का दो सूत्रों से समाधान करते हैं :-

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः॥ ६ ॥

पद०-प्रतिज्ञाऽहानिः । अव्यतिरेकात् । शब्देभ्यः ।

पदा०-(अव्यतिरेकात्) उत्पत्ति अंश में वायु आदि से आकाश का भेद न पाये जाने के कारण (प्रतिज्ञाऽहानिः) पदार्थमात्र विषयक उत्पत्ति की प्रतिज्ञा बनी रहती है और (शब्देभ्यः) शब्द से भी ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" तैत्ति० ३ । १=जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते हैं वह ब्रह्म है, इस वाक्य में जो भूतमात्र की उत्पत्ति विषयक प्रतिज्ञा कीगई है वह तभी रहसक्ती है जब आकाश की उत्पत्ति मानीजाय, और "तस्मात् आत्मन आकाशःसम्भूतः"=परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, इत्यादि वाक्य स्पष्टतया आकाश की उत्पत्ति कथन करते हैं, इसलिये आकाश की उत्पत्ति को गौण कथन करना समीचीन नहीं ।

और जो पीछे बृहदा० २। ३। ३ में आकाश को अमृत कथन किया है वह कल्पस्थायी होने के अभिप्राय से है सर्वथा उत्पत्तिशून्य होने के अभिप्राय से नहीं, इसलिये आकाश की उत्पत्ति माननी चाहिये ॥

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

पद०—यावत्। विकारं। तु। विभागः। लोकवत्।

पदा०—(तु) और (यावत्, विकारं, विभागः) कार्य्यमात्र का भेद पायेजाने से (लोकवत्) लौकिक घटादि पदार्थों की भांति आकाश उत्पत्ति वाला है।

भाष्य—जिसप्रकार लोक में विकार=कार्य्यरूप घटपटादि पदार्थ परस्पर भिन्न होने से उत्पत्ति वाले हैं इसीप्रकार आकाश भी इतर द्रव्यों से भिन्न होने के कारण उत्पत्ति वाला है अर्थात् उसमें अन्य पदार्थों से विलक्षणता का हेतु शब्दगुण पायेजाने से स्पष्ट है कि आकाश उत्पत्ति वाला भाव पदार्थ है नित्य नहीं।

स्मरण रहे कि "आकाशवत्सर्वगतश्चनित्यः" तै० १। ६। २=ब्रह्म आकाश की भांति सर्वव्यापक तथा नित्य है, इत्यादि वाक्यों में जो आकाश के सदृश ब्रह्म नित्य कथन किया है उसका यह अभिप्राय नहीं कि वस्तुतः आकाश नित्य है किन्तु कल्पस्थायी होने के कारण आकाश में औपचारिक नित्यता मानकर ब्रह्मगत नित्यता के बोधनार्थ दृष्टान्त का प्रयोग किया है सर्वांश में सदृशता के अभिप्राय से नहीं।

और जो स्वामी शं० चा० के मत में इस सूत्र का यह व्याख्यान कियागया है कि जो भेदवाला होता है वह विकारी होता है, इसलिये आकाश भी परमात्मा से भिन्न होने के कारण विकारी है ? सो ठीक नहीं, क्योंकि इस आशय का सूत्र में गन्धमात्र भी नहीं पाया जाता, और यह बात तर्क से भी तुच्छ ज्ञात होती है कि यदि भिन्न होना ही विकारी होने का हेतु है तो ब्रह्म भी अन्य द्रव्यों से भिन्न है फिर वह विकारी क्यों नहीं, यदि यह कहाजाय कि जड़ द्रव्य तो कल्पित हैं इसलिये उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होसक्ती तो उत्तर यह है कि जब कल्पित थे तो सूत्रकार को भेद हेतु से इनके मिथ्यात्व सिद्ध करने का क्या प्रयोजन ? और मिथ्या पदार्थ का विकारी होना भी किसी प्रमाण से नहीं पाया जाता, इसलिये यहां "विभाग" शब्द से तात्पर्य उस भेद का है जो द्रव्यों को अपने वैलक्षण्य से परस्पर भिन्न करता है, और उक्त वैलक्षण्य के हेतु जड़ द्रव्यों के गुण हैं, अतएव शब्द गुण से भिन्न होने के कारण पृथिवी आदि पदार्थों के समान आकाश को उत्पत्ति विनाश वाला मानना हीं ठीक है ।

सं०-अब उक्त अर्थ का वायु में अतिदेश कथन करते हैं:-

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥८॥

पद०-एतेन । मातरिश्वा । व्याख्यातः ।

पदा०-(एतेन) आकाश की उत्पत्ति कथन करने से (मातरिश्वा) वायु की भी (व्याख्यातः) उत्पत्ति जाननी चाहिये ।

भाष्य-जिसप्रकार श्रुतिप्रमाण से आकाश की उत्पत्ति पाई जाती है इसी प्रकार वायु की उत्पत्ति का लिङ्ग पायेजाने से वह

भी आकाश की भांति उत्पत्ति विनाशशाली पदार्थ है नित्य नहीं।

सं०—ननु, आकाशादि पदार्थों की भांति अपने गुणों से विलक्षण होने के कारण ब्रह्म भी उत्पत्ति वाला होना चाहिये ? उत्तरः—

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

पद०—असम्भवः । तु । सतः । अनुपपत्तेः ॥

पदा०—(तु) निश्चय करके (अनुपपत्तेः) उपपत्ति न पाये जाने से (असम्भवः) ब्रह्म की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है।

भाष्य—ब्रह्म की उत्पत्ति में कोई युक्ति नहीं पाई जाती और न कोई प्रमाण मिलता है प्रत्युत श्वेता० ६।९ में परमात्मा विषयक इस प्रकार वर्णन पाया जाता है किः—

नतस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके-
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
सकारणं करणाधिपाधिपो-
नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः ॥

अर्थ—न उसका कोई पति, न उसका कोई नियन्ता, नाही उसका कोई लिङ्ग है, न उसका कोई रचयिता और नाही उसका कोई अधिपति है, वही सबका उत्पन्न करने वाला और चिदचिद् का नियन्ता है, इत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म की उत्पत्ति का स्पष्टतया निषेध पाया जाता है।

सं०—अब उक्त अर्थ का तेज में अतिदेश कथन करते हैंः—

तेजोऽतस्तथाह्याह ॥ १० ॥

पद०—तेजः । अतः । तथाहि । आह ।

पदा०-(अतः) इसलिये (तेजः) अग्नि भी कार्य्यरूप है, क्योंकि (तथाहि, आह) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"वायोरग्निः"=वायु से अग्नि उत्पन्न होती है, इत्यादि श्रौतवचनों से अग्नि की उत्पत्ति पाये जाने के कारण उसको कार्य्यरूप मानना ही समीचीन है।

सं०-अब जलों की उत्पत्ति कथन करते हैं:—

आपः ॥ ११ ॥

पद०-आपः।

पदा०-(आपः) जल भी उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं।

सं०-"ता आप ऐक्षन्त बह्वः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त" छा० ६।२।४=जलों ने इच्छा की कि हम बहुत हों, उन्होंने अन्न को उत्पन्न किया, इस विषय वाक्य में अन्न के अर्थ व्रीहि यवादि अथवा पृथिवी के हैं ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये "पृथिव्यधिकाराधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

पद०-पृथिवी। अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः।

पदा०-(पृथिवी) अन्न शब्द के अर्थ यहां पृथिवी के हैं, क्योंकि (अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः) अधिकाररूप तथा शब्द से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-उक्त श्रुतिवाक्य में अन्न शब्द से पृथिवी का ग्रहण है व्रीहि यवादि रूप अन्न का नहीं, क्योंकि "तत्तेजोऽसृजत"

छां० ६।२।३=उसने तेज को उत्पन्न किया "तदपोऽसृजत" छां० ६।२।३=उसने जलों को उत्पन्न किया, इत्यादि सृष्टि बोधक वाक्यों में महाभूतों का अधिकार पाया जाता है और इसी अधिकार में अन्न शब्द के पढ़े जाने से वह भी महाभूतों के अन्तर्गत पृथिवी का बोधक है, व्रीहि यवादि का नहीं, और दूसरी बात यह है कि "यत्कृष्णंतदन्नस्य" छां० ६।४।१= जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है, इस वाक्य में जो अन्न को कृष्णरूप वर्णन किया गया है वह भी विशेषतया पृथिवी में पाया जाता है, और शब्द भी उसी को वर्णन करता है, इससे सिद्ध है कि अन्न नाम यहां पृथिवी का ही है अन्नादि का नहीं।

सं०—ननु, "तत्तेज ऐक्षत"=तेज ने इच्छा की, इत्यादि वाक्यों से तेजादि जड़ पदार्थों में सृष्टिविषयक कर्तृत्व पायाजाता ब्रह्म में नहीं ? उत्तरः—

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥

पद०—तदभिध्यानात् । एव । तु । तल्लिङ्गात् । सः ।

पदा०—(तदभिध्यानात्) ब्रह्म के ईक्षणरूप सङ्कल्प से (एव) ही तेजादि में सृष्टिकर्तृत्व है, क्योंकि (तल्लिङ्गात्) शब्द प्रमाण से (सः) ब्रह्म ही कर्त्ता पाया जाता है ।

भाष्य—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, "तत्तेज ऐक्षत, ता आप ऐक्षन्त"=तेज ने इच्छा की जलों ने इच्छा की, इत्यादि वाक्यों द्वारा तेजादि पदार्थों में जो ईक्षण पाया जाता है वह ब्रह्म के ही सङ्कल्प से है स्वतः नहीं

अर्थात् चेतन होने से ब्रह्म में ही सृष्टि रचना का सङ्कल्प मुख्य है उसीके सम्बन्ध द्वारा तेजादि में गौण ईक्षण पायाजाता है, जैसाकि बृहदा० ३।७।३ में वर्णन किया है किः—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद। यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति ॥

अर्थ—जो पृथिवी में रहता, जो पृथिवी का अन्तरात्मा है जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और जो पृथिवी के भीतर व्याप्त होकर नियमन करता है वही ब्रह्म है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि नियम्यनियामकभाव सम्बन्ध द्वारा तेजादि पदार्थों में ईक्षण औपचारिक और ब्रह्म में मुख्य है, इसलिये सृष्टि का कर्त्ता ब्रह्म ही है अन्य तेजादि नहीं ॥

सं०—भूतों की उत्पत्ति का क्रम कथन करके अब उनके लय का क्रम निरूपण करते हैं :—

विपर्य्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

पद०—विपर्य्ययेण। तु। क्रमः। अतः। उपपद्यते। च।

पदा०—(च) और (उपपद्यते) युक्ति से पायाजाता है कि (अतः) उत्पत्तिक्रम से (विपर्य्ययेण, क्रमः) भूतों का लयक्रम विपरीत है ॥

भाष्य—" तु " शब्द विपरीतक्रम के निश्चयार्थ आया है, जिसप्रकार से भूतों की उत्पत्ति वर्णन की है उससे उनके लय का क्रम विपरीत है अर्थात् जैसे लोक में सीढ़ियों पर

चढ़ने वाले का क्रम उतरने काल से विपरीत होता है इसीप्रकार पृथिवी आदि का अपने २ कारण में लयक्रम उत्पत्ति से विपरीत जानना चाहिये, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषदार्य्य-भाष्य" में किया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें ॥

सं०—अब इन्द्रियों की उत्पत्ति का भूतोत्पत्तिक्रम से विरोध परिहार करने के लिये "अन्तराविज्ञानाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं :—

अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥ १५ ॥

पद०—अन्तरा। विज्ञानमनसी। क्रमेण। तल्लिङ्गात्। इति। चेत्। न। अविशेषात्।

पदा०—(तल्लिङ्गात्) सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों से (अन्तरा) आत्मा और भूतों के मध्य (विज्ञानमनसी) विज्ञान तथा मन की उत्पत्ति का क्रम पायाजाता है, इसलिये (क्रमेण) इन्द्रिय विषयक उत्पत्तिक्रम का भूतोत्पत्तिक्रम से विरोध है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अविशेषात्) इन्द्रियोत्पत्ति वाक्य में उत्पत्तिक्रम का भेद विवक्षित नहीं ॥

भाष्य—मुण्डकोपनिषद् में भूतोत्पत्ति से प्रथम विज्ञान=इन्द्रिय बुद्धि आदि की उत्पत्ति का वर्णन है और तैत्तिरीय में इस से विपरीत पायाजाता है, जैसाकि :—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

अर्थ-प्राण, मन, चक्षुरादि इन्द्रिय, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी यह सब उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं जो सब से निरतिशय ऐश्वर्य्यवाला होने के कारण "ब्रह्म" कहाता है, इस वाक्य में इन्द्रियोत्पत्ति के अनन्तर भूतोत्पत्ति का वर्णन है और "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इस तैत्ति० वाक्य में इन्द्रियोत्पत्ति से प्रथम ही भूतोत्पत्ति का प्रतिपादन करने से स्पष्ट है कि उक्त दोनों श्रुतिवाक्य परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक होने से असङ्गत हैं ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि मुं० २।१।३ में प्राण आदि का उत्पत्तिक्रम विवक्षित नहीं केवल उत्पत्तिमात्र विवक्षित है, अतएव तैत्तिरीय वाक्य से उक्त वाक्य का विरोध नहीं आसक्ता ॥

तात्पर्य्य यह है कि "पाठक्रम से अर्थक्रम बलिष्ठ होता है" यह नियम है, इस नियम के अनुसार जो "आत्मन आकाशः सम्भूतः" इस वाक्य में पञ्चमी विभक्ति द्वारा आकाशादि पदार्थ विषयक परस्पर कार्य्यकारणभाव का आर्थिकक्रम है उसका मुण्डक श्रुति से बाध नहीं होसक्ता, दूसरी बात यह है कि "अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" छान्दो० ६।५।४= मन अन्न का, प्राण जल का, वागिन्द्रिय तेज का विकार है, इत्यादि श्रुतियों में मन आदि को

स्पष्टतया भौतिक कथन करने से सिद्ध है कि भूतों की उत्पत्ति के अनन्तर ही मन आदि भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होसक्ती है अन्यथा नहीं, इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार मुण्डक श्रुति का अर्थक्रम लापन करने से दोनों वाक्यों में किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण उनको असङ्गत कथन करना केवल साहसमात्र है ॥

सं०—अब जीव विषयक श्रुतिवाक्यों का विरोध परिहार करने के लिये "चराचरव्यपाश्रयाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

चराचरव्यपाश्रयस्तुस्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

पद०—चराचरव्यपाश्रयः । तु । स्यात । तद्व्यपदेशः । भाक्तः । तद्भावभावित्वात ।

पदा०—(तद्भावभावित्वात) शरीर की वासनाओं से युक्त होने के कारण (चराचरव्यपाश्रयः) चराचर भूतों में होने वाला (तद्व्यपदेशः) जन्ममरण व्यवहार जीव में (भाक्तः) औपचारिक (स्यात) है ॥

भाष्य—"जातो देवदत्तः"=देवदत्त उत्पन्न हुआ, "मृतो यज्ञदत्तः"=यज्ञदत्त मरगया, इत्यादि जो जीव में जन्म मरणादि व्यवहार प्रतीत होता है वह शरीरसम्बन्ध से औपचारिक है मुख्य नहीं, मुख्य उत्पत्तिविनाश चराचर शरीरों में ही पाये जाते

हैं, क्योंकि जीव स्वरूप से अनादि नित्य है और जो भावपदार्थ अनादि नित्य होता है उसका उत्पत्ति विनाश कदापि नहीं होसक्ता, इसी अभिप्राय से छां० ६ । ११ । ३ में वर्णन किया है कि :—

"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते नतु जीवो म्रियते"

अर्थ—जीव से रहित होकर शरीर नष्ट होजाता है पर शरीर नाश से जीवनाश कदापि नहीं होसक्ता, यदि कोई दुराग्रहवशात् ऐसा माने तो अकृताभ्यागम दोष की प्राप्ति होगी अर्थात् किये हुए कर्म फल का नाश और न किये हुए कर्म फल की प्राप्ति रूप दोषों का निवारण करना दुःसाध्य ही नहीं किन्तु असम्भव होगा, इसलिये शरीर सम्बन्ध से जन्म मरण व्यवहार जीव में औपाधिक हैं वास्तविक नहीं, यही मानना ठीक है।

सं०—ननु, यदि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता तो अग्निविस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों से उसकी उत्पत्ति निरूपण करके उसको ब्रह्म का अंश कैसे कथन किया गया है ? उत्तरः—

नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः ॥ १७ ॥

पद०—न । आत्मा । अश्रुतेः । नित्यत्वात् । च । ताभ्यः ।

पदा०—(अश्रुतेः) उत्पत्तिविधायक श्रुति के न पायेजाने (च) और (ताभ्यः) श्रुतियों द्वारा नित्य कथन करने से (आत्मा) जीवात्मा (न) उत्पन्न नहीं होता।

भाष्य—जीवात्मा की उत्पत्ति में कोई श्रुतिवाक्य नहीं पायाजाता और नाही उसकी उत्पत्ति का साधक कोई तर्क मिलता है प्रत्युत

अनेक श्रुतिवाक्य उसको अविनाशी प्रतिपादन करते हैं, जैसाकि कठ० २।१८ में वर्णन किया है कि:—

न जायते म्रियते वा विपश्चित्-
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

अर्थ—नित्य चैतन्यस्वरूप आत्मा न उत्पन्न होता, न मरता, न कोई उसका उपादानकारण और नाही उससे कोई कार्य्य उत्पन्न होता है किन्तु वह अजन्मा, नित्य तथा अनादि होने से देहनाश होने पर भी नष्ट नहीं होता, इसी भाव को छां० ६।११।३ में यों स्पष्ट किया है कि "न जीवो म्रियते"=जीव मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, इत्यादि अनेक प्रमाणों से जीव का जन्म न पाये जाने के कारण उसमें जन्मादिभावों को औपाधिक मानना ही समीचीन है, और जो कह कहा है कि वृहदा० २।१।२० में अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तद्वारा जीव ब्रह्म का अंश होने से उत्पत्ति वाला है, सो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त दृष्टान्त में केवल चेतनत्वेन जीव ब्रह्म का सादृश्य है ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति किंवा जीव ब्रह्म का अभेद अभिप्रेत नहीं अर्थात् जीव ब्रह्म के अभेद बोधक वाक्यों में जीव चेतनत्वेन ब्रह्म के सदृश है और अन्य प्राकृत पदार्थ सत्तामात्र से उसके सदृश हैं यह तात्पर्य है, इसलिये उक्त दृष्टान्त से जीव की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं, जीव ब्रह्म के

अभेद का विस्तारपूर्वक खण्डन तथा अग्निविस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों का आशय "उपनिषदार्य्यभाष्य" में विस्तारपूर्वक वर्णन किये जाने से यहां विशेष लिखने की आवश्यक्ता नहीं।

स्मरण रहे कि जिनके मत में ब्रह्म ही भूलकर जीव बन गया है उनके मत में यह अधिकरण कदापि संगत नहीं होसक्ता, क्योंकि यहां स्पष्ट जीव की उत्पत्ति का निषेध पाया जाता है और ब्रह्मकारणवाद में जीव ब्रह्म का कार्य्य होने से नित्य नहीं होसक्ता, दूसरी बात यह है कि एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा भी उनके मत में तभी ठीक रहसक्ती है जब पदार्थमात्र की ब्रह्म से उत्पत्ति मानकर उसी में सब का लय मानाजाय पर ऐसा न होसकने से स्पष्ट है कि मायावादियों के मत में "आत्माधिकरण" का लापन करना सर्वथा असम्भव है, इस प्रकार जब जीव ब्रह्म न हुआ तो फिर "अहंब्रह्मास्मि" बृहदा० १।४। १० "तत्त्वमसि" छां० ६।८।७ इत्यादि वाक्यों से उसको ब्रह्म कैसे बनावेंगे, और "प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात्" ब्र० सू० २।३।६ "यावद्विकारन्तुविभागोलोकवत्" ब्र०सू० २।३।७ इन सूत्रों में जो स्वामी शं०चा०ने अद्वैतवाद की व्यवस्था इस प्रकार बांधी है कि कोई पदार्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं ब्रह्म ही सबका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है, यह व्यवस्था इस अधिकरण में सर्वथा निस्सार प्रतीत होती है, क्योंकि यहां सूत्रकार ने मुक्तकण्ठ से जीवात्मा की उत्पत्ति का निषेध किया है

और जो स्वामी शं०चा०जी ने इस अधिकरण में जीवात्मा तथा ब्रह्मविषयक दोनों प्रकार के वाक्य मिलाकर जीवात्मा की उत्पत्तिका निषेध करते हुए अर्थतः ब्रह्मकी उत्पत्ति का निषेध माना है सो ठीक नहीं, क्योंकि यहां ब्रह्म का कोई प्रकरण नहीं, यदि मान भी लियाजाय कि यह प्रकरण ब्रह्म की उत्पत्ति का निषेधक है तो भी आग्रम "ज्ञाधिकरण" के साथ इसकी सङ्गति नहीं लगसक्ती, क्योंकि इसमें जन्म मरणादि हेतु जीव के बोधक हैं ब्रह्म के नहीं।

सं०–अब प्रसङ्गसङ्गति से जीवात्मा को ज्ञाता कथन करते हैंः–

ज्ञोऽतएव ॥ १८ ॥

पद०–ज्ञः। अतः। एव।

पदा०–(एव) निश्चयकरके (अतः) शब्दप्रमाण पाये जाने से जीवात्मा (ज्ञः) ज्ञाता है।

भाष्य–जीवात्मा ज्ञाता है ज्ञानमात्र नहीं, क्योंकि शब्दप्रमाण से ऐसा ही पाया जाता है, जैसाकि **"अथयो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा"** छा०८।१२।४= जो यह जानता है कि मैं गन्ध को अनुभव करता हूं वह "आत्मा" है, इत्यादि अनेक प्रमाणों द्वारा जीवात्मा के ज्ञाता होने से सिद्ध है कि वह मायावादियों के माने हुए आत्मा के समान केवल ज्ञानस्वरूप नहीं किन्तु ज्ञाता है और जो स्वामी शं० चा० जी का कथन है कि अविद्यारूप उपाधिद्वारा

जीवात्मा में ज्ञातृत्व भान होता है स्वतः नहीं, क्योंकि शुद्ध में ज्ञातृत्व का होना असम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि यहां सूत्रकार ने स्पष्टतया शुद्ध में ही ज्ञातृत्व माना है किसी उपाधिद्वारा नहीं, इसी अभिप्राय से कठ० ४ । ३ में यों वर्णन किया है कि "येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्चमैथुनानेतेनैव विजानाति०"=जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्दादि विषयों का अनुभव करता है वह "आत्मा" है, यदि शास्त्र का तात्पर्य्य जीवात्मा के औपाधिक ज्ञातृत्व में होता तो शुद्ध को रसादि का ज्ञाता कदापि वर्णन न किया जाता पर उक्त वर्णन पाये जाने से स्पष्ट है कि जीवगत ज्ञातृत्व धर्म औपाधिक नहीं किन्तु इच्छादि की भांति शुद्धस्वरूप जीवात्मा का एक धर्मविशेष है, और जो इस प्रकरण में स्वामी शं०चा०जी ने बृहदारण्यक के बहुत से वाक्य उद्धृत करके जीव ब्रह्म की एकता प्रतिपादन की है उनका समाधान हम "वाक्यान्वयात्" ब्र० सू० १।४।१९ में कर आये हैं कि यह वाक्य ब्रह्म प्रकरण के हैं जीव प्रकरण के नहीं और उन वाक्यों को उद्धृत करके मायावादी स्वामी यह नहीं सिद्ध कर सके कि वह वाक्य ज्ञानस्वरूप वर्णन करते हैं क्योंकि "नहिविज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोविद्यते" बृहदा०४।३।३०= ज्ञाता के ज्ञान का लोप नहीं होता, इत्यादि वाक्यों से परमात्मा को भी ज्ञान वाला कहा है ज्ञानमात्र नहीं, ज्ञानमात्र मानने से मायावादियों के मत में यह फल है कि वह ज्ञाता होना माया उपाधि से मानते हैं और उनके मन्तव्यानुसार आत्मा प

स्वरूपभूत ज्ञातृत्व नहीं, वैदिकमत में ज्ञाता होना किसी उपाधि से नहीं आता किन्तु आत्मा का स्वाभाविक गुण है।

ननु-यदि ज्ञाता होना स्वभाविक गुण है तो वह सुषुप्ति आदिकों में क्यों नहीं भान होता? उत्तर-सुषुप्ति आदिकों में उसका तिरोभाव होजाता है अर्थात् अविद्यादि दोषों से दब जाता है नाश नहीं होता, और मायावादियों के मत में तो जबतक मायिकभाव उसके साथ न मिले तब तक उनका आत्मा पाषाण सदृश रहता है, आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानना उनका कथनमात्र है वास्तव में ज्ञान का गन्ध भी उसमें नहीं ॥

सं०-अब जीवात्मा को अणुपरिमाण कथन करने के लिये "उत्क्रान्तिगत्यधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्) उत्क्रान्ति, गति तथा आगति पाये जाने से जीवात्मा अणु है।

भाष्य-उत्क्रान्ति=देहपात के समय शरीर से निकलजाना गति=चलना, आगति=पुनः दूसरे शरीर में प्रवेश करना, इत्यादि क्रियायों के पायेजाने से जीवात्मा अणु है विभु नहीं, क्योंकि विभु में उत्क्रान्ति आदि क्रियाओं का होना सर्वथा असम्भव है, जैसाकि आकाशादिकों में देखाजाता है, इसलिये अणुपरिमाण मानना ही ठीक है॥

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

स्वात्मनाचोत्तरयोः ॥ २० ॥

पद०—स्वात्मना । च । उत्तरयोः ॥

पदा०—(च) और (उत्तरयोः) गति तथा आगति का (स्वात्मना) आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से जीव अणु है।

भाष्य—गति तथा आगति का आत्मा के साथ निरन्तर सम्बन्ध है अर्थात् प्रथम शरीर से स्वत्व त्यागने पर विभु आत्मा में उत्क्रान्ति होसक्ती है परन्तु गति आगति यह दोनों धर्म विभु आत्मा में नहीं होसक्ते किन्तु अणु वा मध्यम परिमाण वाले में होते हैं परन्तु आत्मा के मध्यम परिमाण का तर्कपाद में खण्डन कियेजाने के कारण परिशेष से जीव को अणुपरिमाण वाला मानना ही ठीक है ॥

सं०—अब उक्त अर्थ को पूर्वपक्षद्वारा समाधान करते हुए विशेषरूप से अणुवाद का समर्थन करते हैं:—

नाणुरतच्छ्रुतेरितिचेन्नेतराधिकारात् ।२१।

पद०—न । अणुः । अतत् । श्रुतेः । इति । चेत् । न । इतराधिकारात् ।

पदा०—(अतत् श्रुतेः) शब्द प्रमाण न होने से जीव अणु (न) नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (इतराधिकारात्) विभुबोधक वाक्यों में परमात्मा का अधिकार पायाजाता है ॥

भाष्य—"स वा एष महानज०" बृहदा० ४।४। २२= आत्मा महान् तथा अज है, इत्यादि वाक्यों में आत्मा की विभुता पायेजाने से उसको अणु मानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि उक्त श्रुतिवाक्य ब्रह्म प्रकरण में पढ़ागया है जीव प्रकरण में नहीं, इसलिये जीव के अणु स्वरूप में कोई बाधा नहीं।

सं०—अब जीव की अणुता में शब्दप्रमाण कथन करते हैं:—

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥

पद०—स्वशब्दोन्मानाभ्यां। च।

पदा०—(च) और (स्वशब्दोन्मानाभ्यां) स्वशब्द तथा उन्मान=परिमाणबोधक वाक्यों से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है॥

भाष्य—स्वशब्द=जीववाची शब्द और उसके परिमाण बोधक वाक्यों से भी यही पायाजाता है कि जीवात्मा अणु है जैसाकि :—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो-
यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश" मुं० ३।१।८।

अर्थ—जिसके आश्रित होकर पांच प्रकार का प्राण चेष्टा करता है वह आत्मा शुद्ध चित्त से जानाजाता है, यहां जीवात्मा को साक्षात् अणु शब्द द्वारा प्राणधारी वर्णन करनें से स्पष्ट है कि वह आकाशादि के समान विभु नहीं और श्वे० ५।८ में जीव का उन्मान=माप यों वर्णन किया है कि:—

बालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेयः सचानन्त्याय कल्प्यते ॥

अर्थ-जिसप्रकार बाल के अग्रभाग का सौवां भाग करके फिर उसका सौवां भाग करने से सूक्ष्मता होती है इसी प्रकार जीव का सूक्ष्मरूप जानना चाहिये।

सं०-ननु, यदि जीवात्मा अणु है तो शरीर के एकदेश में रहकर सारे शरीर को चेतनता कैसे देसक्ता है ? उत्तरः—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

पद०-अविरोधः। चन्दनवत्।

पदा०-(चन्दनवत्) चन्दन की भांति (अविरोधः)जीव के अणुवाद में कोई विरोध नहीं।

भाष्य-जिसप्रकार शरीर के किसी एकदेश में चन्दन लगाने से सर्वत्र शीतलता का अनुभव होता है इसी प्रकार जीवात्मा शरीर के किसी एकदेश में रहकर सुखदुःखादि का अनुभव कर सक्ता है, क्योंकि उसकी चेतनता सब शरीर में व्याप्त है, इस लिये कोई दोष नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:—

अवस्थितिवैशेष्यादितिचेन्नाभ्युपगमात् हृदिहि ॥२४॥

पद०-अवस्थितिवैशेष्यात्। इति। चेत्। न। अभ्युपगमात्। हृदि। हि।

पदा०-(अवस्थितिवैशेष्यात्) चन्दनव्याप्ति की विशेषता पाये जाने से उक्त दृष्टान्त असङ्गत है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (हि) निश्चयकरके आत्मा की (हृदि) हृदयदेश में (अभ्युपगमात्) स्थिति पाई जाती है।

भाष्य-चन्दन का शरीर के एकदेश में होना पाया जाता है पर जीवात्मा का एकदेश में होना कथन नहीं किया गया ? यह शङ्का इसलिये ठीक नहीं कि हृदयदेश में उसका स्वीकार पाया जाता है, जैसाकि "स वा एष आत्माहृदि" छां०८। ३।३=निश्चयकरके यह आत्मा हृदयदेश में विराजमान है।

तात्पर्य्य यह है कि चन्दन के समान एकदेश में व्याप्त होकर आत्मा की चेतनता सब शरीर में विस्तृत होने के कारण ज्ञानादि की अनुपपत्ति का दोष नहीं और नाही उत्क्रान्ति आदि में किसी प्रकार की बाधा होसक्ती है, इसलिये विभुवाद मानना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ की सिद्धि में अन्य दृष्टान्त कथन करते हैंः-

गुणाद्वालोकवत् ॥ २५ ॥

पद०-गुणात् । वा । लोकवत् ।

पदा०-(वा) अथवा (लोकवत्) मणि आदि प्रकाश वाले पदार्थों के सदृश (गुणात्) शरीर में सर्वत्र चेतनता व्याप्त होने से अणुवाद में गन्धादि ज्ञान की अनुपपत्ति नहीं।

भाष्य-जिसप्रकार एकदेशवर्त्ती मणि आदि पदार्थों का

प्रकाशादि गुण गृह के सर्वदेश में विस्तृत होजाता है इसी प्रकार परिच्छिन्न जीव का चेतनतारूप गुण सारे शरीर में विस्तृत होजाता है, इसलिये जीवात्मा के अणु होने पर भी सकलशरीर में चेतनता होने के कारण गन्धादि ज्ञानों की उपलब्धि में कोई बाधा नहीं।

सं०-ननु, जीवात्मा के ज्ञानादि गुण उससे भिन्न कैसे होसक्ते हैं ? उत्तरः—

व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

पद०-व्यतिरेकः । गन्धवत् ।

पदा०-(गन्धवत्) गन्ध की भांति (व्यतिरेकः) चैतन्य गुण का व्यतिरेक है ।

भाष्य-जिसप्रकार गन्धस्वरूप पृथिवी के गन्धगुण का "पृथिव्या गन्धः"=पृथिवी का गन्ध है, इस प्रकार पृथक् व्यवहार होता है इसीप्रकार आत्मा के ज्ञानादि गुणों का व्यतिरेक पायाजाता है, इसलिये ज्ञानादि गुणों के भिन्न होने में कोई दोष नहीं ।

तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

पद०-तथा । च । दर्शयति ।

पदा०-(च) और शास्त्र भी आत्मा को (तथा) ज्ञानादि गुणों वाला (दर्शयति) कथन करता है ।

भाष्य-"जानात्येवायं पुरुषः"=यह पुरुष ज्ञान गुण वाला है, इत्यादि शास्त्र द्वारा ज्ञान तथा आत्मा का गुणगुणीभाव पाये

जाने से सिद्ध है कि ज्ञानगुण के विस्तृत होने से सर्वशरीर में चेतनता है अन्यथा नहीं ।

पृथगुपदेशात् ॥२८॥

पद०–एकपद० ।

पदा०–(पृथगुपदेशात) गुण गुणी का पृथक् उपदेश पाये जाने से भी दोनों भिन्न हैं एक नहीं ।

भाष्य–जीवात्मा तथा उसके ज्ञानगुण का पृथक् २ उपदेश पाया जाता है, जैसाकि ब्र० सू० २ । ३ । १९ के भाष्य में वर्णन कर आये हैं, इसलिये उन दोनों को एक मानकर ज्ञानस्वरूप और विभु मानना समीचीन नहीं ।

सं०–ननु, "योयं विज्ञानमयः प्राणेषु" बृहदा० ६।४। २२ इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप वर्णन किया है, फिर कैसे कहाजाता है कि ज्ञानादि उसके गुण हैं ? उत्तरः—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।२९।

पद०–तद्गुणसारत्वात । तु । तद्व्यपदेशः । प्राज्ञवत ।

पदा०–(तद्गुणसारत्वात) ज्ञानगुण मुख्य होने से (प्राज्ञवत) ब्रह्म की भांति (तद्व्यपदेशः) जीव को ज्ञानस्वरूप कथन किया है वस्तुतः नहीं ।

भाष्य-"आनन्दो ब्रह्मेति विज्ञानात्" तै० ६।२= ब्रह्म को आनन्दस्वरूप जानो, इत्यादि वाक्यों में जिसप्रकार आनन्दगुण प्रधान होने से ब्रह्म को आनन्दमय कथन किया है, क्योंकि ब्रह्म का आनन्द गुण सारभूत है इसी प्रकार ज्ञानगुण के मुख्य होने से जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप माना है वस्तुतः ज्ञान तथा आत्मा दोनों का गुणगुणीभाव मानना ही समीचीन है।

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्।३०।

पद०-यावदात्मभावित्वात्। च। न। दोषः। तद्दर्शनात्।

पदा०-(च) और (यावदात्मभावित्वात्) आत्मा के साथ नित्य रहने से (दोषः) ज्ञानस्वरूप होने का दोष (न) नहीं आसक्ता क्योंकि (तद्दर्शनात्) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-जो विज्ञानमय शब्द से जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप होने का दोष दिया गया है वह इसलिये ठीक नहीं कि ज्ञानगुण जीव के साथ नित्य बना रहता है अर्थात् ज्ञान और जीव का समवायसम्बन्ध होने से उसको ज्ञानस्वरूप कथन किया है, जैसाकि "प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः" बृहदा० ६।४।२२=प्राणों का अधिपति स्वयंज्योतिः पुरुष हृदयदेश में निवास करता है, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि उन दोनों के गुणगुणीभाव में कोई दोष नहीं।

सं०-ननु, यदि जीव के ज्ञानादिगुण नित्य हैं तो सुषुप्तिकाल में भी उनकी प्रतीति क्यों नहीं होती? उत्तरः—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्यसतोऽभिव्यक्तियोगात्।३१।

पद०-पुंस्त्वादिवत्।तु। अस्य।सतः। अभिव्यक्तियोगात्।

पदा०-(तु) निश्चय करके (सतः) सत् पदार्थ की (अभि-व्यक्तियोगात्) अभिव्यक्ति का नियम होने से (पुंस्त्वादिवत्) पुंस्त्वादि की भांति (अस्य) ज्ञान का कदाचित् आविर्भाव होता है सर्वदा नहीं।

भाष्य-जिसप्रकार मनुष्य के पुंस्त्वादि धर्मों का विद्यमान होने पर ही यौवनकाल में आविर्भाव पायाजाता है बाल तथा वृद्धावस्था में नहीं इसी प्रकार अदृष्टादि प्रतिबन्धकविशेष से आत्मवृत्ति ज्ञानादि गुणों की सुषुप्ति आदिक अवस्थाओं में तिरोभाव तथा जाग्रदादि काल में आविर्भाव होता है इसलिये ज्ञानादि के नित्य होने पर भी कदाचित् प्रकट होने में कोई बाधा नहीं।

सं०-अब विभुवादी के मत में दोष कथन करते हैं:—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतर-नियमोवाऽन्यथा॥ ३२॥

पद०-नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः। अन्यतरनियमः। वा। अन्यथा।

पदा०-(अन्यथा) यदि जीव को अणु न मानाजाय तो (नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः) एक ही काल में विषय की उपलब्धि तथा अनुपलब्धि का प्रसङ्ग होगा (वा) अथवा (अन्य-तरनियमः) दोनों में से किसी एक को मानना पड़ेगा।

भाष्य—मायावादी जीव को ज्ञानस्वरूप तथा विभु मानते हैं और आधुनिक नैयायिक ज्ञानका अधिकरण मानते हुए विभु कथन करते हैं उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि ऐसा मानने से एक ही काल में विषय की उपलब्धि=प्रतीति तथा अनुपलब्धि=अप्रतीति माननी पड़ेगी और शरीर से बाह्य प्रदेश में भी विषयोपलब्धि की आपत्ति होगी, क्योंकि ज्ञानस्वरूप विभु आत्मा जिसप्रकार शरीर में व्यापक है वैसे ही उसकी व्यापकता शरीर से बाहिर भी पाई जाती है, यदि यह कहाजाय कि विषयोपलब्ध्य-नुपलब्धि का नियामक आत्मसंयुक्त मन का इन्द्रियों के साथ संयोग है केवल आत्मा नहीं और उसका आत्मा से युगपत् संयोग न होने के कारण एककाल में सब ज्ञान नहीं होसक्ते? इसका उत्तर यह है कि व्यापक आत्मा का सर्वत्र सर्वदा एक प्रकार से संयोग होने के कारण युगपत् अनेक विषयोपलब्धि का कोई बाधक नहीं, इसलिये उक्त आपत्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है, यदि अदृष्टों को नियामक मानकर उक्त व्यवस्था कीजाय अर्थात् जिस काल में जो अदृष्ट जिस विषय की उपलब्धि द्वारा सुखदुःख का निमित्त होगा उसी विषय की उपलब्धि होगी अन्य की नहीं? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि अदृष्टों के साथ भी विभु आत्मा का सम्बन्ध पूर्ववत् समान पायाजाता है, अतएव विभुवादी का उक्त समाधान ठीक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि ज्ञानस्वरूप आत्मा को विभु मानकर विषयोपलब्धि का हेतु मानने से सर्वत्र सर्वदा विषयोपलब्धि की

आपत्ति और अनुपलब्धि का हेतु मानने से विषयमात्र की अप्रतीतिरूप दोष का परिहार विभुवादी के मत में कदापि नहीं होसक्ता, इसलिये आत्मा को अणुपरिमाण वाला मानना ही समीचीन है, इसका विस्तार पूर्वक वर्णन "वैशेषिकार्य्यभाष्य" में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

स्मरण रहे कि इस अधिकरण में स्वामी शंकराचार्य्यजी ने आत्मा को ज्ञानस्वरूप वर्णन करते हुए ज्ञानगुण का खण्डन किया है और जीव को उपाधिवशात् परिच्छिन्न मानकर वस्तुतः विभु माना है जो सूत्रकार के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, यदि सूत्रकार का यही अभिप्राय होता तो १८वें सूत्र में महर्षि व्यास मुक्तकण्ठ से जीव को ज्ञानगुण का अधिकरण वर्णन न करते और नाहीं "अविरोधश्चन्दनवत्" ब्र० सू० २।३।२३ "व्यतिरेको गन्धवत्" ब्र० सू० २ । ३ । २६ इत्यादि सूत्रों द्वारा अणुवाद में दोषों का परिहार किया जाता परन्तु इस अधिकरण में अणुवाद का भलेप्रकार समर्थन पाये जाने से सिद्ध है कि स्वा० शं० चा० जी की उक्त कल्पना वेदान्त सिद्धान्त से सर्वथा प्रतिकूल है, और जो उक्त स्वामीजी ने "तद्गुणसारत्वात्तु" इस २९वें सूत्र में "तत्" शब्द से बुद्धि का परामर्श मानकर सूत्र का यह अर्थ किया है कि बुद्धिरूप उपाधि के सम्बन्ध से जीव में अणुत्व का व्यपदेश है वस्तुतः नहीं, और उसी द्वारा कर्तृत्त्व भोक्तृत्व भान होता है वास्तविक नहीं ? यह स्वामीजी का कथन इसलिये ठीक नहीं कि इस सूत्र से पूर्व किसी सूत्र में बुद्धिवाचक पद नहीं पाया

जाता जिससे उसका परामर्श मानकर आत्मवृत्तिकर्तृत्व भोक्तृत्व को औपाधिक मानाजाय, और बात यह है कि इस सारे दर्शन में इतना बड़ा पूर्वपक्ष कहीं उपलब्ध नहीं होता फिर ग्याहरवें सूत्र में अकस्मात् अणुवाद का खण्डन कैसे होसक्ता है यह स्वामी की अपूर्व कल्पना सूत्रकार की शैली से विरुद्ध होने के कारण आदरणीय नहीं ।

सं०-अब जीवात्मा को कर्त्ता कथन करते हैं:—

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

पद०-कर्त्ता । शास्त्रार्थवत्त्वात् ।

पदा०-(शास्त्रार्थवत्त्वात्) शब्दप्रमाण पायेजाने से (कर्त्ता) जीवात्मा कर्त्ता है ॥

भाष्य-"यजते स्वर्गकामः"=स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे " मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत "=मुमुक्षु ब्रह्म की उपासना करे, इत्यादि विधिवाक्य पायेजाने से जीव कर्त्ता है, इसी अभिप्राय से यजु० ४० । २ में वर्णन किया है कि " कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः"= अग्निहोत्रादि कर्मों को करता हुआ ही सौवर्ष पार्य्यन्त जीने की इच्छा करे, यदि जीवात्मा में कर्तृत्वभाव किसी उपाधि द्वारा होता तो शास्त्र में कदापि कर्मानुष्ठान का उपदेश न पायाजाता परन्तु स्पष्टतया वेदादि शास्त्रों में कर्मानुष्ठान का उपदेश पाये जाने से सिद्ध है कि उसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व औपाधिक नहीं ।

भाव यह है कि जीव को कर्त्ता मानने पर ही विधि निषेध-रूप शास्त्र सार्थक होसक्ता है अन्यथा नहीं, इसलिये जीव को कर्त्ता मानना ठीक है ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

पद०—एकपद० ।

पदा०—(विहारोपदेशात्) विहार का उपदेश पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥

भाष्य—सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में इच्छापूर्वक विहरण का नाम "विहार" है, उपनिषदों में जीव का यथेच्छ विहार पायेजाने से वही कर्त्ता होसक्ता है बुद्धि नहीं, जैसाकि बृह० २। १। १८ में वर्णन किया है कि :—

स यथा महाराजो जानपदान्गृहीत्वा स्वेजनपदे यथाकामं परिवर्त्तते । एवमेव एष एतत्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्त्तते ॥

अर्थ—जिसप्रकार महाराज अपने जनपद में मंत्री आमात्य आदि को साथ लेकर इच्छापूर्वक विचरता है इसीप्रकार जीवात्मा अपने वागादि प्राणों के साथ शरीर में निवास करता हुआ सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में स्वतन्त्र विचरता है, यदि बुद्धि ही कर्त्ता होती अथवा बुद्धिद्वारा जीव में औपाधिक कर्त्तापन होता तो उक्त श्रुति वाक्य में जीव का विहरण वर्णन न किया जाता परन्तु

स्पष्टतया सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जीव विषयक विहार पाये जाने से सिद्ध है कि बुद्धि कर्त्ता नहीं ॥

उपादानात् ॥ ३५ ॥

पद०-एकपद० ।

पदा०-(उपादानात्) इन्द्रियों का ग्रहण करने वाला होने से जीव ही कर्त्ता है ।

भाष्य-" प्राणान्गृहीत्वा "बृहदा० २।१।१८=इन्द्रियों को अपने साथ लेकरें विचरता है, इत्यादि विषय वाक्यों में ग्रहण क्रिया का कर्त्ता जीव है बुद्धि नहीं, इसलिये जीवसे भिन्न बुद्धि आदिकों को कर्त्ता मानना ठीक नहीं ।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देश-विपर्ययः ॥ ३६ ॥

पद०-व्यपदेशात् । च । क्रियायां । न । चेत् । निर्देशविपर्ययः ।

पदा०-(च) और (क्रियायां) लौकिक तथा वैदिक कर्मों में (व्यपदेशात्) जीव का कर्त्ता होना पायाजाता है (चेत्) यदि (न) ऐसा न मानाजाय तो (निर्देशविपर्ययः) श्रुति वाक्य में विपरीत कथन की आपत्ति होगी ॥

भाष्य-"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" तैत्ति० २।५।१=जीवात्मा यज्ञादि वैदिक तथा भक्ष्य भोज्यादि लौकिक कर्मों का विस्तार करता है, इत्यादि वाक्यों में जीवात्मा

ही कर्ममात्र का कर्त्ता कथन किया है, यदि उक्त श्रुतिवाक्या-न्तर्गत "विज्ञान" पद से आत्मा का ग्रहण न करके बुद्धि लीजाय तो उक्त पद में विभक्ति का व्यत्यय करना पड़ेगा अर्थात् विज्ञान पद के स्थान पर "विज्ञानेन" ऐसे तृतीयान्त पाठ की कल्पना करनी होगी, क्योंकि बुद्धि ज्ञान क्रिया का साधन है कर्त्ता नहीं और अनभिहितकरण में तृतीया विभक्ति होती है यह व्याकरण का नियम है परन्तु उक्त विभक्ति का परिवर्त्तन उपनिषत्कर्त्ता ऋषि को अभिप्रेत न होने से स्पष्ट है कि वैदिकसिद्धान्त में जीव के विना बुद्धि आदि जड़ पदार्थ कदापि कर्त्ता नहीं होसक्ते, हां जीव के साथ सम्बन्ध होने तथा उसके प्रयत्न द्वारा स्व २ व्यापार में प्रवृत्त होने से उनके औपचारिक कर्त्ता होने में कोई बाधा नहीं ॥

सं०—ननु, यदि जीव कर्त्ता है तो स्वतन्त्र होने से सर्वदा इष्ट ही सम्पादन क्यों नहीं करता ? उत्तर :—

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

पद०—उपलब्धिवत्। अनियमः ।

पदा०—(उपलब्धिवत) उपलब्धि की भांति (अनियमः) इष्ट सम्पादन करने का नियम नहीं ।

भाष्य—जिसप्रकार ज्ञानरूप क्रिया के प्रति स्वतन्त्र होने पर भी जीव कभी दुःख को उपलब्ध करता है इसीप्रकार स्वतन्त्र जीव कभी इष्ट=उत्तम कर्म करता है और कभी किसी दोष वश से अनिष्ट=निषिद्ध कर्म करता है यह जीव का स्वाभाविक धर्म है

इसलिये उसकी स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं ॥

स्वा० रामानुज ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि "यथात्मनो विभुत्वे नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसङ्ग इत्यादिनोपलब्धेरनियम उक्त तद्वदात्मनोऽकर्त्तृत्वे" श्री० भा०=जिस प्रकार आत्मा के विभु होने में विषयोपलब्धि का नियम नहीं रहसक्ता इसीप्रकार आत्मा को कर्त्ता न मानकर बुद्धि को कर्त्ता मानने से भी कर्तृत्व का नियम टूट जाता है अर्थात् महत्तत्व=समष्टिबुद्धिरूप प्रकृति को कर्त्ता मानने से पुरुषमात्र के किये हुए कर्मों का फल सबको प्राप्त होगा, क्योंकि सब पुरुषों की प्रवृत्ति का हेतु प्रकृति समान है? यह इसलिये ठीक नहीं कि जब वैदिकसिद्धान्त में पुरुषभेद से प्रकृतिभेद=बुद्धिभेद माना गया है फिर बुद्धि को एक मानकर उक्त आक्षेप तथा समाधान की आवश्यकता ही क्या? इससे सिद्ध है कि जीव ही कर्त्ता है बुद्धि नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

शक्तिविपर्य्ययात् ॥ ३८ ॥

पद०-एकपद० ।

पदा०-(शक्तिविपर्य्ययात्) आत्मा की भोक्तृशक्ति का विपर्य्यय होने से भी बुद्धि को कर्त्ता मानना ठीक नहीं ॥

भाष्य-जो लोग बुद्धि को कर्ता मानकर आत्मा को भोक्ता मानते हैं उनके मत में आत्मा की भोक्तृशक्ति का विपर्य्यय होगा

अर्थात् जो कर्त्ता होता है वही भोक्ता होता है, यह नियम है, इस नियम के अनुसार यदि बुद्धि को कर्त्ता मानें तो उसीको भोक्ता मानना पड़ेगा, क्योंकि कर्तृत्वधर्म को छोड़कर भोक्तृत्वधर्म नहीं रहसक्ता ऐसा होने से जो आत्मा की भोक्तृशक्ति का नाश है वही "शक्तिविपर्य्यय" कहलाता है सो सिद्धान्त में इष्ट न होने से सिद्ध है कि आत्मा ही कर्त्ता भोक्ता है बुद्धि नहीं ॥

भाव यह है कि "" तयोरन्यःपिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति " ऋ० २ । ३ । १७=जीव ईश्वर इन दोनों में से एक कर्मफल का भोक्ता है दूसरा नहीं, इत्यादि वैदिक प्रमाणों से जीवात्मा ही भोक्ता मानागया है जीव से भिन्न प्रकृति वा ईश्वर नहीं, क्योंकि जड़ होने से प्रकृति में भोक्तृत्वशक्ति नहीं और नाही नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होने से ईश्वर भोक्ता होसक्ता है, परिशेष से जो जीव कर्त्ता है वही कर्मफल का भोक्ता है, इसलिये जीव को कर्त्ता मानना ही समीचीन है ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

पद०-समाध्यभावात् । च ।

पदा०-(च) और (समाध्यभावात्) समाधि का अभाव होने से जीव को ही कर्त्ता मानना ठीक है ॥

भाष्य-यदि जीव को छोड़कर बुद्धि को ही भोक्ता माने तो समाधि के अभाव का प्रसङ्ग होगा अर्थात् "योगश्चित्तवृ-

त्तिनिरोधः" यो० १। १=चित्तवृत्ति=बुद्धिवृत्ति के निरोध का नाम "योग" है, इत्यादि शास्त्रों में जो योग का उपदेश पायाजाता है वह बुद्धि को भोक्ता मानने से सर्वथा निरर्थक होजाता है, क्योंकि समाधि में बुद्धि से भिन्न आत्मा की प्रतीति होती है और बुद्धि का निरोध करना ही योग कहलाता है, इसप्रकार जो निरोध कर्त्ता जीव बुद्धि से भिन्न है वही भोक्ता है बुद्धि नहीं ॥

सं०-ननु,यदि जीवात्मा ही कर्त्ता है तो सुषुप्ति आदिकों में उसके कर्तृत्व का निरोध क्यों होजाता है ? उत्तर :-

यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

पद०-यथा। च। तक्षा। उभयथा।

पदा०-(यथा, च, तक्षा) तक्ष=बढ़ई की भांति जीव में (उभयथा) कर्तृत्व अकर्तृत्व दोनों धर्म होसक्ते हैं ॥

भाष्य-जिसप्रकार यन्त्रादि से निर्माण करने वाला तक्षक यन्त्रादि साधनरूप कुल्हाड़ी आदि के होने पर भी अपनी इच्छा से उन साधनों द्वारा किसी पदार्थ का कर्त्ता होता है और न होने से नहीं इसीप्रकार जीवात्मा की कर्तृत्वशक्ति का सर्वदाकाल कार्य्य में उपयोग नहीं होता अर्थात् सुषुप्ति में निद्रादि दोषों का प्रतिबन्ध होनें से उसके कर्तृत्व का निरोध होजाता है, इसलिये जीव के कर्तृत्व में कोई बाधा नहीं। और बुद्धि

को कर्त्ता मानने पर यह दोष आता है कि वह जड़ है, इसलिये भोग की इच्छा आदि का नियम उसमें नहीं बनसक्ता, अतएव जीवात्मा ही कर्त्ता है॥

सं०-ननु, जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है वा परतन्त्र ? उत्तरः—

परात्तुतच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

पद०-परात् । तु । तत् । श्रुतेः ।

पदा०-(परात्) जीव ब्रह्म के अधीन होकर कर्म करता है क्योंकि (तच्छ्रुतेः) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-"तु" शब्द सिद्धान्त की पुष्टि के लिये आया है, जीव स्वतन्त्र होने पर भी पूर्वकृत कर्मानुसार ईश्वर प्रेरणा से शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है, जैसाकि कौषी०३ । ८ में वर्णन किया है कि:—

एषह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्योलोकेभ्य उन्निनीषते । एषह्येवासाधुकर्म कारयति तं यमधो-निनीषते ॥

अर्थ-निश्चय करके परमात्मा जिसको उच्च लोकों में लेजाना चाहता है उसको शुभ तथा जिसको नीच लोकों में लेजाना चाहता है उसको अशुभ कर्म कराता है, इसी आशय को गी० १८ । ६१ में यों वर्णन किया है कि:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

अर्थ–हे अर्जुन ईश्वरीय नियमरूप यन्त्र में स्थित सब प्राणियों को माया से भ्रमण कराता हुआ परमात्मा प्राणिमात्र के हृदय देश में विराजमान है।

सं०–ननु, यदि ईश्वर की प्रेरणा से जीव शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तो ईश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य दोषों की आपत्ति होगी ? उत्तरः—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा वैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

पद०–कृतप्रयत्नापेक्षः। तु। विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः।

पदा०–(विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः) विधिनिषेध शास्त्र व्यर्थ न होसकने से (कृतप्रयत्नापेक्षः) जीवकृत पूर्व कर्मों के अनुसार ईश्वर प्रेरणा करता है स्वतः नहीं।

भाष्य–"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, ईश्वर की प्रेरणाद्वारा जीव शुभाशुभ कर्म में प्रवृत्त होता है ऐसा मानने से उसमें वैषम्य=सुखी दुःखी बनानारूप विषमता तथा नैर्घृण्य=अतिदीन दुःखी बनाने से निर्दयता आदि दोषों की आपत्ति होगी इसलिये जीव को ईश्वराधीन मानकर कर्मकर्त्ता मानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा पूर्वकर्मों के विना किसी जीव को प्रेरणा नहीं करता यदि पूर्वकृतकर्मों की अपेक्षा विना ही प्रेरणा करे तो सम्पूर्ण विधि निषेधशास्त्र व्यर्थ होजायगा परन्तु उक्त शास्त्र का व्यर्थ होना सिद्धान्त

में इष्ट न होने से सिद्ध है कि ईश्वर की प्रेरणा कर्मनिरपेक्ष नहीं किन्तु कर्मसापेक्ष है।

तात्पर्य्य यह है कि जिस जीव की पूर्वकृत कर्मानुसार जैसी वासना होती है वैसे ही परमात्मा की प्रेरणा पाई जाती है अन्यथा नहीं और वह इतने अंश में है कि ईश्वर पूर्वकृत कर्मों का फल अवश्य भुगाता है, इस प्रकार विधिनिषेधशास्त्र में किसी प्रकार की बाधा न होने से ईश्वरप्रेरणा मानने पर भी वैषम्य नैर्घृण्यादि दोषों की आपत्ति नहीं होसक्ती, इसका विशेष विचार ब्र० सू० २।१।३४ में किया गया है इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब जीव के ईश्वरांशबोधक वाक्यों की व्यवस्था बोधन करने के लिये "अंशाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

अंशोनानाव्यपदेशादन्यथाचापिदाश कितवादित्वमधीयत एके ॥४३॥

पद०—अंशः। नानाव्यपदेशात्। अन्यथा। च। अपि। दाशकितवादित्वम्। अधीयते। एके।

पदा०—(नानाव्यपदेशात्) भेदव्यपदेश पाये जाने के कारण (अंशः) जीव ब्रह्म का अंश है (अन्यथा, च, अपि) और अभेद व्यपदेश से भी (एके) कई एक शाखा वाले (दाशकितवादित्वं) ब्रह्म को दाशकितवादि भावों से कथन करते हैं।

भाष्य–जीवों में नानात्व पाये जाने से वह ब्रह्म के अंश हैं अर्थात् जीवों में जो नानापन पाया जाता है और उन सब में परमात्मा व्यापक है इसलिये वह अंश के समान हैं, और जो कई एक शाखावाले दाश=धीवर, कितव=वञ्चक आदि पुरुषों को भी ब्रह्म कथन करते हैं, क्योंकि वह भी ब्रह्म के एकदेश में होने से ब्रह्मांश हैं ब्रह्मरूप होने के अभिप्राय से नहीं, इसका विशेष व्याख्यान भूमिका में किया गया है वहां देखें।

सं०–अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

मंत्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

पद०–मंत्रवर्णात्। च।

पदा०–(च) और (मन्त्रवर्णात्) वेदमन्त्र से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य–वेद में पाया जाता है कि जीव ब्रह्म के एकदेश में होने से अंश कहा गया है वास्तव में नहीं, जैसाकि:—

एतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतंदिवि॥

यजु० ३१। ३

अर्थ–यह एकपाद रूप उस परमात्मा की महिमा सम्पूर्ण जगत् है और तीन पादरूप अमृत है, यहां अंश शब्द के अर्थ एक भाग के हैं, इसलिये जीवों को ब्रह्म का अंश कथन किया गया है, अंश,पाद,भाग यह सब एकार्थवाची शब्द हैं।

अपि च स्मर्यते ॥४५॥

पद०—अपि । च । स्मर्यते ।

पदा०—(च) और (स्मर्यते, अपि) स्मृति में भी जीव को ब्रह्म का अंश कथन किया है ।

भाष्य—"ममैवांशोजीवलोकेजीवभूतः सनातनः" गी० १५ । ७=मेरा ही अंश जीवलोक में जीवभूत सनातन है, यहां अंश स्वस्वामीभाव के अभिप्राय से कहागयाहै अन्यथा "सनातन" कथन निष्फल होगा, इत्यादि स्मृति से सिद्ध है कि ब्रह्म के एकदेश में रहने के कारण जीव ब्रह्म का अंश है वस्तुतः नहीं ॥

सं०—ननु, "यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः" मुं० २ । १ । १ इत्यादि वाक्यों में जीव को "अग्निविस्फुलिङ्ग" दृष्टान्त से ब्रह्म का अंश=टुकड़ा कथन किया गया है फिर "अंश" पद का अर्थ एकदेश में होने वाला क्योंकर होसकता है ? उत्तरः—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६॥

पद०—प्रकाशादिवत् । न । एवं । परः ।

पदा०—(प्रकाशादिवत्) जिसप्रकार अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थ अंश वाले हैं (एवं) वैसा (परः) ब्रह्म (न) नहीं ॥

भाष्य-अग्नि आदि प्रकाशक साकार पदार्थों के समान ब्रह्म सावयव न होने से जीव निराकार ब्रह्म का वास्तव में अंश नहीं किन्तु एकदेशी होने से अंश के समान कल्पित अंश है, इसी अभिप्राय से अद्वैतविद्याचार्य्य स्वा० श० चा० जी का भी कथन है कि "अंश इवांशो नहि निरवयवस्य मुख्योंश सम्भवति" शं० भा० ब्र० सू० २। ३। ४३=जीव अंश के समान अंश है वास्तव में अंश नहीं, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है, और निरवयव पदार्थ का मुख्य अंश नहीं होता, इसलिये जो अग्नि विस्फुलिङ्ग दृष्टान्त से जीव को ब्रह्म का अंश कथन किया है वह एकदेशी बोधन करने के अभिप्राय से है सर्वथा साकार पदार्थों की भांति अंशांशीभाव बोधन करने के अभिप्राय से नहीं॥

सं०-अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:—

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

पद०-स्मरन्ति। च।

पदा०-(च) और (स्मरन्ति) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है॥

भाष्य-स्मृति भी परमात्मा को निर्गुण निरवयव कथन करती है, जैसाकि:—

तत्र यः परमात्मा हि नित्यो निर्गुणः स्मृतः।
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

अर्थ–नित्य निर्गुण,निरवयव होने से परमात्मा को पुण्य पाप का लेश नहीं, क्योंकि वह जल में कमलवत् सर्वथा निर्लेप रहता है, इत्यादि स्मृति वाक्यों द्वारा परमात्मा को निरवयव कथन करने से स्पष्ट है कि जीव ब्रह्म का वास्तव अंश नहीं और नाही अग्नि विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों का अभिप्राय वास्तव अंश बोधन करने का है ॥

सं०–ननु, परमात्मा की भांति जीव निराकार तथा स्वरूप से शुद्ध है फिर उसके लिये विधि निषेधरूप शास्त्र की प्रवृत्ति कैसे होसक्ती है ? उत्तर :—

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योति-रादिवत् ॥ ४८ ॥

पद०–अनुज्ञापरिहारौ । देहसम्बन्धात् । ज्योतिरादिवत् ।

पदा०–(ज्योतिरादिवत्) अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थों के समान (देहसम्बन्धात्) देहसम्बन्ध से (अनुज्ञापरिहारौ) जीव के लिये विधिनिषेधरूप शास्त्र का उपदेश है ॥

भाष्य–जिसप्रकार अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थ स्वरूप से शुद्ध होने पर भी श्मशानादि अपवित्र स्थान के सम्बन्ध से अपवित्र होने के कारण त्याज्य होते हैं और वही अग्न्याधान काल में श्रोत्रिय गृहसम्बन्धी उपादेय हैं,इसीप्रकार स्वरूप से शुद्ध होने पर भी जीवात्मा देह के सम्बन्ध से मलिन=पापी होजाता है, उसकी आगन्तुक मलीनता दूर करने के लिये ही विधिनिषेधरूप शास्त्र का उपदेश किया है ।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि ईश्वर की भांति जीव स्वरूप से शुद्ध है तथापि उसके साथ अज्ञान का सम्बन्ध होने से विहित कर्मों का अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मों के त्याग की आवश्यकता बनी रहती है जब वह आचार्य्योपदेश द्वारा वेदविहित कर्मों का यथाविधि अनुष्ठान करता है तब शनैः २ मलादि दोषों की निवृत्ति से ईश्वरोपासनाद्वारा परमात्म सम्बन्धी धर्मों को धारण करता हुआ शुद्ध होजाता है फिर वह देह-सम्बन्ध न रहने से विधिनिषेधरूप शास्त्र का लक्ष्य नहीं रहता, इसलिये देहसम्बन्ध के कारण जीवों के लिये विधिनिषेधात्मक शास्त्र का उपदेश है स्वतः नहीं ॥

सं०-ननु,जीवात्मा विभु है इसलिये अन्यकृत कर्मों का फल अन्य को प्राप्त होने से कर्मसांकर्य्य दोष आता है ? उत्तरः—

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

पद०-असन्तते । च । अव्यतिकरः ।

पदा०-(असन्ततेः) जीवात्मा विभु न होने से (अव्यतिकरः) कर्मों का सांकर्य्य नहीं होसक्ता ।

भाष्य-सूत्र में "च" शब्द "तु" के अर्थ में पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है,जीवात्मा को विभु मानकर कर्मसांकर्य्य का आक्षेप करना इसलिये ठीक नहीं कि वैदिकसिद्धान्त में जीव को विभु नहीं माना गया, जैसाकि:—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश"

अर्थ-जिसमें पांच प्रकार का प्राण प्रविष्ट है अर्थात् जिस की शक्ति द्वारा ही पञ्चविध प्राण अपनी २ क्रिया में व्यापृत

रहते हैं वह आत्मा अणु है और मन से ही जानाजाता है किसी वाह्य इन्द्रिय का विषय नहीं, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि जीवात्मा विभु नहीं और विभु न होने से ही अन्यकृत कर्मों का अन्य को फल प्राप्तिरूप सांकर्य्य दोष नहीं आसक्ता, हां जो कई एक आधुनिक टीकाकार जीवात्मा को विभु मानते हैं उनके मत में उक्त दोष का समाधान सर्वथा असम्भव है और अन्य भी विभुवादी के मत में कई एक दोष आते हैं जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन "वैशेषिकार्य्य भाष्य" में कियागया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ॥

"विज्ञानभिक्षु" ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि "सच जीवोऽव्यतिकरः नास्ति व्यतिकरो व्यतिषङ्गः सम्बन्धविशेषो लेपाख्यो यत्रेत्यव्यतिकरोऽसंग इत्यर्थः"=सम्बन्धविशेष का नाम "व्यतिकर" है और असन्तति=अविकारी होने से जीवात्मा को किसी प्रकार के कर्म का व्यतिकर=लेप नहीं होसक्ता, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि विहितकर्मों के परित्याग तथा निषिद्ध कर्मों के आचरण से होने वाले पापसम्बन्ध की निवृत्ति के लिये शास्त्र का उपदेश है, यदि आधुनिक वेदान्तियों की भांति सर्वथा ही जीव निर्लेप होता तो वेदादि शास्त्र का उपदेश निरर्थक होजाता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि इस अधिकरण में महर्षिव्यास का आशय जीवात्मा को असङ्ग बोधन करने का नहीं किन्तु कर्मसांकर्य्य का अभाव बोधन करने में है जैसाकि ऊपर स्पष्ट कर आये हैं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ को स्फुट करते हैं:—

आभास एव च ॥५०॥

पद०-आभासः । एव । च ।

पदा०-(च) और (एव) निश्चय करके (आभासः) जीव परिच्छिन्न है ।

भाष्य-जो विभु होकर चेतन हो वह ईश्वर की भांति सर्वज्ञ होता है,इस नियम के अनुसार यदि जीवात्मा विभु होता तो अवश्य सर्वज्ञ होता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि वह आभास=परिच्छिन्न है और परिच्छिन्न होने से ही एक दूसरे के कर्मों का संकर नहीं होता, यहां 'आभास शब्द खद्योत की भांति लघुता के अभिप्राय से आया है ॥

स्वामी शं० चा० जी का कथन है कि जल में सूर्य्यप्रतिबिम्ब के सदृश बुद्धि में जीव परमात्मा का आभास है,और जैसे एक जलगत सूर्य्य के कांपने से अन्य जलों में जो सूर्य्य के आभास हैं वह नहीं कांपते इसी प्रकार एक आत्मा के सुखी दुःखी होने से दूसरे आत्मा सुखी दुःखी नहीं होते, यह इसलिये ठीक नहीं कि निराकार ब्रह्म का सूर्य्यादि साकार पदार्थों की भांति प्रतिबिम्ब नहीं होसकता, इसका विशेषविचार भूमिका में कर आये हैं, इसलिये यहां आवश्यकता नहीं ।

" स्वामी रामानुज " के मत में इस सूत्र के अर्थ यह हैं कि मायावादी लोग जो जीव को ब्रह्म अथवा विभु वर्णन करने में तर्क देते हैं वह सब तर्काभास हैं अस्तु, यदि सूत्रार्थ को देखाजाय तो स्वामी रामानुज के भी वैसे ही अर्थ घटते हैं जैसे स्वामी शं० चा० के, सूत्रों की परस्पर सङ्गति देखने से

यह बात प्रतीत होती है कि ४९ वें सूत्र से लेकर इस पाद की समाप्ति पर्य्यन्त जीवात्मा के विभु होने का खण्डन किया गया है, इन सूत्रों में सूत्रकार ने बड़ी योग्यता से इस बात को दर्शाया है कि यदि जीवात्मा को विभु मानाजाय तो इसका कोई उत्तर नहीं होसक्ता कि अन्यकृत कर्मों का फल अन्य को प्राप्त न होसके ?, इसलिये जीवात्मा को अणु मानना ही समीचीन है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

अदृष्टानियमात् ॥५१॥

पद०—एकपद० ।

पदा०—(अदृष्टानियमात्) अदृष्ट का नियम न बनसकने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—यदि विभुवादी कथन करे कि कर्मफल की व्यवस्था अदृष्टों से कीजायगी अर्थात् जिसका जो अदृष्ट होगा वही उस कर्मफल का भागी होगा, इसलिये जीवात्मा के विभु मानने पर भी कर्म सांकर्य्य का दोष नहीं आता ? इसका उत्तर यह है अदृष्टों द्वारा भी उक्त व्यवस्था नहीं बनसक्ता, क्योंकि विभु जीवात्मा का सब अदृष्टों के साथ समान सम्बन्ध है अर्थात् एक शरीर में असंख्यात जीवात्मा व्यापक हैं फिर यह कैसे निर्णय कियाजाय कि अमुक अदृष्ट अमुक जीवात्मा के हैं अथवा तत्कृत अदृष्ट जन्य फल उसी जीवात्मा को हुआ है दूसरे को नहीं ? इस प्रकार अदृष्ट हेतुक व्यवस्था न बनसकने से उक्त दोष की निवृत्ति के लिये जीवात्मा को परिच्छिन्न मानना ही समीचीन है॥

सं०-अब अभिसन्ध्यादिकों में उक्त दोष का अतिदेश कथन करते हैं:—

अभिसन्ध्यादिष्वपिचैवम् ॥५२॥

पद०-अभिसन्ध्यादिषु। अपि। च। एवं।

पदा०-(च) और (अभिसन्ध्यादिषु) अभिसन्ध्यादिकों में (अपि) भी (एवं) उक्त दोष ज्यों का त्यों बना रहता है।

भाष्य-संकल्प का नाम "अभिसन्धि" है और आदि पद से उद्योग तथा कर्मानुष्ठानादिकों का ग्रहण है, यदि यह कहा जाय कि जिस जीव ने जिस शरीर के सम्बन्ध द्वारा संकल्प करके जिस कर्म का अनुष्ठान किया है उसीको उस कर्म का फल होगा अन्य को नहीं? यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि सब शरीरों में जीवों की व्यापकता समान होने से यह निर्णय नहीं होसक्ता कि अमुक संकल्प उसी जीव का है दूसरे का नहीं, इसलिये अभिसन्ध्यादिकों में भी उक्त दोष ज्यों का त्यों बना रहने के कारण जीव को विभु मानना केवल साहसमात्र है।

सं०-ननु, देशभेद द्वारा कर्मफल की व्यवस्था होने से संकर दोष नहीं होसक्ता? उत्तरः—

प्रदेशादितिचेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

पद०-प्रदेशात्। इति। चेत्। न। अन्तर्भावात्।

पदा०-(प्रदेशात्) देशभेद द्वारा संकल्पभेद होने के कारण अन्यकृत कर्मों का अन्य को फल प्राप्त नहीं होसक्ता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अन्तर्भावात्) सर्वत्र आत्मा की व्याप्ति समान है।

भाष्य—प्रकृत में "प्रदेश" शब्द से शरीर का ग्रहण है, जिस प्रदेश में जिस जीवात्मा ने संकल्प वा कर्म किया हो वह उसी जीवात्मा का समझा जायगा, इस प्रकार कर्मसंकर होने की संभावना नहीं होसक्ती? इसका उत्तर यह है कि उस शरीर के भीतर और भी जीवात्मा विद्यमान हैं फिर कैसे समझाजाय कि यह कर्म इसी जीव का है दूसरे का नहीं, इसलिये उक्त दोष के परिहारार्थ जीव को परिच्छिन्न मानना ही ठीक है, और जो स्वा० शं० चा० जी ने उक्त सूत्रों को वैशेषिक मत के खण्डन में लगाया है सो ठीक नहीं, क्योंकि यहां उक्त मत के खण्डन का कोई प्रकरण नहीं पाया जाता प्रत्युत जो दोष उक्त स्वामी ने वैशेषिक मत के खण्डन में दिये हैं वह ज्यों के त्यों अद्वैतवादियों के ही बाधक हैं, क्योंकि वस्तुतः मायावादियों के मत में जीव विभु है केवल बुद्धिरूप उपाधि से घटाकाश की भांति परिच्छिन्न प्रतीत होता है और उपाधि के चलने पर भी अचलात्मा रहता है, इस प्रकार उपाधि के चलने से मुक्त बन्धन में आता जायगा और बद्ध मुक्त होता जायगा, इत्यादि अनन्त दोष मायावादीयों के मत में आते हैं जिनका ग्रन्थगौरवभय से यहां अधिक विस्तार नहीं किया गया, इस अधिकरण की भूमिका में विस्तार किया गया है, इसलिये भी यहां विस्तार की आवश्यक्ता नहीं ॥

इति तृतीयःपादः समाप्तः



अथ चतुर्थः पादः प्रारभ्यते

सं०—तृतीय पाद में आकाशादि भूतों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए प्रसङ्गसङ्गति से जीवविषयक विचार कियागया अब लिङ्गशरीरविषयक श्रुतियों का परस्पर विरोध परिहार करने के लिये इस पाद का प्रारम्भ करते हैं :—

तथा प्राणः ॥ १ ॥

पद०—तथा। प्राणः ॥

पदा०—(तथा) आकाशादिकों की भांति (प्राणः) इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं ॥

भाष्य—जिसप्रकार " तस्मादात्मनः " तै० २।१।१ इत्यादि श्रुतियों में आकाशादि भूतों की उत्पत्ति कथन की गई है वैसे ही इन्द्रिय उत्पत्ति वाले हैं, क्योंकि आकाशादि की भांति उनकी उत्पत्ति भी श्रुति से पाई जाती है, जैसा मुं०२।१।३ में वर्णन किया है कि :—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीविश्वस्य धारिणी ॥

अर्थ—प्राण, मन, इन्द्रिय और उनके विषय, आकाश, वायु, जल तथा विश्व को धारण करनेवाली पृथिवी यह सब उसी परमात्मा से उत्पन्न होते हैं ॥

सं०—ननु, जीवोत्पत्ति के समान इन्द्रियोत्पत्ति को गौण ही क्यों न मानाजाय ? उत्तर :—

गौण्यसम्भवात् ॥ २ ॥

पद०–एकपद० ।

पदा०–(गौण्यसम्भवात्) असम्भव होने से इन्द्रियोत्पत्ति मुख्य है गौण नहीं ॥

भाष्य–इन्द्रियोत्पत्ति प्रतिपादक श्रुतिवाक्य से इन्द्रियोत्पत्ति की गौण कल्पना करना इसलिये ठीक नहीं कि उक्त कल्पना में कोई प्रमाण नहीं पायाजाता प्रत्युत अन्ध बधिरादिकों में रूपादि विषयों की अनुपलब्धि द्वारा इन्द्रियनाश सर्वानुभव सिद्ध है, इसलिये उनको उत्पत्ति विनाशशाली मानना ही समीचीन है ॥

सं०–अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

पद०–तत्प्राक्श्रुतेः । च ।

पदा०–(च) और (तत्प्राक्श्रुतेः) आकाशादिकों से पूर्व इन्द्रियोत्पत्ति कथन करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥

भाष्य–मुण्ड० २ । १ । ३ में जो "जायते" पद आया है उसी की अनुवृत्ति द्वारा आकाशादिकों की उत्पत्तिरूप अर्थ का बोध होता है सो यदि उक्त पद गौणरूप से इन्द्रियोत्पत्ति का प्रतिपादक होता तो आकाशादिकोंकी उत्पत्ति को भी गौण ही कथन किया जाता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि "जायते" पद आकाशादिकों की भांति इन्द्रियों की मुख्य उत्पत्ति का प्रतिपादक है गौण का नहीं ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः॥ ४ ॥

पद०-तत्पूर्वकत्वात् । वाचः ।

पदा०-(वाचः) वगिन्द्रिय (तत्पूर्वकत्वात्) तेज का कार्य्य होने से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानना ही ठीक है ॥

भाष्य-" तेजोमयी वाक् " छां० ६।५।४ में वागिन्द्रिय को तेज का कार्य्य कथन किया है, यदि इन्द्रियों की उत्पत्ति गौण होती तो उक्त श्रुति में वाणी को तेजोमयी न कहा-जाता और नाही किसी एक इन्द्रिय की उत्पत्ति को मुख्य मान-कर दूसरे इन्द्रियों की उत्पत्ति के गौण होने में कोई तर्क होसक्ता है, इसलिये श्रुत्यर्थ अनुसारी इन्द्रियोत्पत्ति के मानने में कोई बाधा नहीं ॥

सं०-इन्द्रियों की उत्पत्ति वर्णन करके अब उनकी संख्या कथन करने के लिये प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं :—

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

पद०-सप्त । गतेः । विशेषितत्वात् । च ।

पदा०-(गतेः) गति (च) और (विशेषितत्वात्) विशेषण के पायेजाने से (सप्त) इन्द्रिय सात हैं ॥

भाष्य-" सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् " मुं० २।१।८=दो चक्षु, दो श्रोत्र, दो घ्राण और एक वाक् यह सात प्राण=इन्द्रिय उसी परमात्मा से उत्पन्न होते हैं, इस श्रुति में सात इन्द्रियों की गति=उत्पत्ति पाई जाती है और " सप्त वै

शीर्षण्याः प्राणः" तैत्ति० संहि० ५ । १ । ७।१=मूर्द्धास्थान में सात इन्द्रिय हैं, इस वाक्य में " सप्त " संख्या को इन्द्रियों का विशेषण कथन किया है, इस प्रकार गति और विशेषण दोनों के पायेजाने से सिद्ध है कि इन्द्रिय सात हैं अधिक नहीं ॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

पद०-हस्तादयः । तु । स्थिते । अतः । न । एवम् ॥

पदा०-(हस्तादयः) अन्य हस्तपादादि भी इन्द्रिय हैं (अतः) इसलिये (स्थिते) सप्त संख्या से अधिक संख्या के सिद्ध होने पर (एवं, न) इन्द्रियों को सात मानना ठीक नहीं ।]

भाष्य-चक्षुः आदि सात इन्द्रियों का मानना इसलिये ठीक नहीं कि पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन यह सब मिलकर एकादश इन्द्रिय हैं और जो तैत्तिरी० वाक्य से इन्द्रियों की सप्तसंख्या कथन की है उसका यह अभिप्राय नहीं कि सप्तसंख्या से अधिक कोई इन्द्रिय नहीं किन्तु मूर्द्धास्थान में होनेवाले इन्द्रिय सात हैं इस अभिप्राय से उक्त वाक्य कथन किया है यही रीति शेष वाक्यों में भी जाननी चाहिये ॥

सं०-अब इन्द्रियों की सूक्ष्मता वर्णन करते हैं :—

अणवश्च ॥७॥

पद०-अणवः । च ।

पदा०-(च) और (अणवः) चक्षुरादि इन्द्रिय सूक्ष्म हैं ।

भाष्य-"तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति" बृह०४।४।२=आत्मा के निकलजाने पर उसके पीछे सब इन्द्रिय निकल जाते हैं, इत्यादि श्रुतिवाक्यों से आत्मा के उत्क्रमण काल में इन्द्रियों की उत्क्रान्ति का वर्णन पायाजाने से सिद्ध है कि वह परिच्छिन्न है परन्तु घटपटादि पदार्थों के सदृश उपलब्धि का विषय न होने के कारण द्व्यणुकादि के समान सूक्ष्म हैं ।

सं०-इन्द्रिय विषयक विचार करके अब मुख्य प्राण को सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ कथन करते हैं:—

श्रेष्ठश्च ॥ ७ ॥

पद०-श्रेष्ठः । च ।

पदा०-(च) और (श्रेष्ठः) प्राण सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ है ।

भाष्य-एक समय सब इन्द्रियों ने अभिमान किया कि मैं बड़ा हूं, मैं बड़ा हूं, इसप्रकार विवाद करते हुए सब मिलकर प्रजापति के पास गये और कहा कि हे भगवन् ! हम में से कौन बड़ा है ? यह सुनकर प्रजापति ने उत्तर दिया कि जिसके निकल जाने से शरीर सर्वथा निश्चेष्ट होजाता है वही बड़ा है, प्रजापति के इस वाक्य को सुनकर चक्षुरादि सब इन्द्रिय क्रमशः शरीर से निकलगये तो भी शरीर की चेष्टा बनी रही, जैसाकि अन्ध, बधिर, पंगु तथा छिन्नहस्तादि मनुष्यों में देखा जाता है परन्तु जब शरीर से प्राण निकलने लगा तब सब इन्द्रिय अपनी२ क्रिया सम्पादन करने में असमर्थ होगये और शरीर लोष्ठवत् निश्चेष्ट होगया इसप्रकार

छान्दोग्य के पञ्चमप्रपाठक में इन्द्रियों की अपेक्षा प्राणों को श्रेष्ठ बोधन करने के लिये अलङ्काररूप से प्राण तथा इन्द्रियों संवाद वर्णन किया गया है, जिसका विस्तार "उपनिषदार्य्यभाष्य" में किये जाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब प्राण की अन्य विशेषता कथन करने के लिये "वायुक्रियाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥८॥

पद०—न। वायुक्रिये। पृथगुपदेशात्।

पदा०—(पृथगुपदेशात्) पृथक् उपदेश पाये जाने से (वायुक्रिये) वायु और वायुक्रिया का नाम (न) प्राण नहीं।

भाष्य—"एतस्माज्जायते प्राणः" मुं० २।१।३ इत्यादि वाक्यों में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि यहां "प्राण" शब्द से महाभूतात्मक वायु का ग्रहण है वा वायु की क्रिया का नाम प्राण है अथवा किसी विशेष अवस्था को प्राप्त हुई वायु का नाम प्राण है? पूर्वपक्षी का कथन है कि "यः प्राणः स वायुः"= जो प्राण है वही वायु है, इत्यादि वाक्यों में "प्राण" शब्द द्वारा वायु का ग्रहण होने से यहां महाभूतात्मक वायु का मानना ही ठीक है अथवा लोकप्रसिद्धि से उच्छ्वास निश्वासरूप क्रिया ही "प्राण" पद का वाच्यार्थ है विशेषावस्थापन्न वायु का नाम प्राण नहीं? इसका उत्तर यह है कि वायु अथवा वायुक्रिया का नाम प्राण इसलिये नहीं होसक्ता कि मुण्ड० २।१।३ में महाभूतात्मक वायु से

प्राण का पृथक् उपदेश पाया जाता है, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं, यदि उक्त शब्द से महाभूतात्मक वायु का ग्रहण अभिप्रेत होता तो "खं वायुः" इस वाक्य द्वारा वायु का पृथक् निर्देश न किया जाता पर किया है इससे सिद्ध है कि प्रकृत में "प्राण" शब्द शरीरान्तरवर्ती प्राणापानादि पांच प्रकार की वायु के अभिप्राय से आया है सामान्यवायु वा उसकी स्पन्दरूप क्रिया के अर्थ में नहीं।

सं०—ननु, प्राण की श्रेष्ठता कथन करने से पायाजाता है कि शरीर में जीव की भांति प्राण स्वतन्त्र है? उत्तरः—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः॥ १०॥

पद०—चक्षुरादिवत्। तु। तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः।

पदा०—(चक्षुरादिवत) चक्षुरादि इन्द्रियों की भांति (तत्सहशिष्टयादिभ्यः) समान शासन पाये जाने से प्राण स्वतन्त्र नहीं।

भाष्य—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, जिसप्रकार चक्षुरादि इन्द्रिय स्वतन्त्र नहीं वैसे ही प्राण भी स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि जड़ होने से वह भी जीव के अधीन है अर्थात् राजमन्त्री के सदृश जीवनयोनि=जीवनहेतुक प्राणसंचार रूप प्रयत्न का निर्वाहक होने से जीव का एक मुख्यसाधन है, इसलिये उसको स्वतन्त्र मानना ठीक नहीं।

सं०—ननु, यदि चक्षुरादि की भांति प्राण जीव का साधन है तो उसका कोई रूपादि विषयों के समान असाधारण विषय

होना चाहिये ? उत्तरः—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ।११।

पद०—अकरणत्वात् । च । न । दोषः । तथा । हि । दर्शयति ।

पदा०—(अकरणत्वात्) करण न होने से (दोषः) उक्त दोष (न) नहीं आता (हि) क्योंकि (तथा, दर्शयति) शास्त्र से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य—"च" शब्द "तु" के अर्थ में पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, प्राण अकरण होने से चक्षु आदिकों के साथ सर्वथा समान न होने का दोष नहीं पाया जाता अर्थात् प्राण चक्षुरादि इन्द्रियों की भांति साधनरूप नहीं किन्तु शरीर की भांति उपकरणमात्र है, जैसाकि शास्त्र में भी वर्णन कियागया है कि :—

"यस्मिन्नुत्क्रान्त इदं शरीरं पापिष्ठतरमिवदृश्यते"

छां० ५ । १ । ६=जिसके निकलने से यह शरीर अत्यन्त घृणास्पद होजाता है वही प्राण सब इन्द्रियों के मध्य श्रेष्ठ है, इस प्रकार वाणी आदिक इन्द्रियों के चले जाने से शरीर और इन्द्रियों की स्थिति को दिखलाकर प्राणों के निकल जाने से शरीर और इन्द्रियों की शिथिलता कथन कीगई है जिससे स्पष्ट है कि प्राण चक्षु आदिकों के समान केवल करण नहीं किन्तु राजमन्त्री के समान जीव की शरीर स्थिति में मुख्य सहायक है ।

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥१२॥

पद०—पञ्चवृत्तिः । मनोवत् । व्यपदिश्यते ।

पदा०-(मनोवत्) मन की भांति प्राण (पञ्चवृत्तिः) पांच प्रकार की वृत्तिवाला (व्यपदिश्यते) कथन किया गया है ।

भाष्य-जिसप्रकार एक ही मन=अन्तःकरण काम, संकल्प, विचिकित्सा आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है इसीप्रकार एक प्राण के ही अपानादि अनेक भेद होते हैं वस्तुतः प्राण एक है अर्थात् एक ही प्राणवायु श्वास प्रश्वास क्रिया से "प्राण" मलमूत्रादि को नीचे की ओर लेजाने से "अपान" प्राण अपान की सन्धि में रहकर चेष्टा कराने से "व्यान" उत्क्रान्ति आदि का निमित्त होने से "उदान" और अन्नादि के रस को प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग में पहुंचाने के कारण "समान" कहाता है ॥

अणुश्च ॥१३॥

पद०-अणुः । च ।

पदा०-(च) और (अणु) वह प्राण सूक्ष्म है ।

सं०-अब परमात्मा को अग्नि आदि पदार्थों का अधिष्ठान कथन करते हैं :—

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

पद०-ज्योतिराद्यधिष्ठानं । तु । तदामननात् ।

पदा०-(ज्योतिराद्यधिष्ठानं) परमात्मा अग्नि आदि पदार्थों

का अधिष्ठान है, क्योंकि (तदामननात्) शास्त्र में ऐसा ही पायाजाता है ॥

भाष्य-" तु " शब्द अन्य अधिष्ठाता की व्यावृत्ति के लिये आया है, परमात्मा अग्नि आदि सब पदार्थों का अधिष्ठान है, क्योंकि नियमन करने का सामर्थ्य उसी में पायाजाता है अन्य में नहीं, जैसाकि बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में वर्णन किया है कि:—

योऽग्नौतिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्नवेदयस्याग्निः शरीरं ।
योऽग्निमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः॥

बृह० ५ । ७ । ५

अर्थ-जो परमात्मा अग्नि में रहता है, अग्नि से भिन्न है, जिसको अग्नि नहीं जानता, जिसका अग्नि शरीर है और जो अग्नि को प्रेरणा करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, इत्यादि वाक्यों में जड़ पदार्थों का अधिष्ठाता परमात्मा ही कथन किया गया है अन्य नहीं ॥

सं०-ननु, अग्नि आदि पदार्थ परस्पर सम्बन्ध द्वारा संसार के निर्वाहक होसक्ते हैं, परमात्मा को अधिष्ठाता मानने की आवश्यकता नहीं ? उत्तरः—

प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥

पद०-प्राणवता । शब्दात् ॥

पदा०-(प्राणवता) सामर्थ्य वाले परमात्मा के सम्बन्ध

से ही अग्नि आदि संसारयात्रा के निर्वाहक हैं स्वतःनहीं, क्योंकि (शब्दात्) शब्द प्रमाण से ऐसा ही पायाजाता है ॥

भाष्य-"प्राणनं प्राणः"=सामर्थ्य का नाम प्राण है, सब से अधिक सामर्थ्य वाले परमात्मा के सम्बन्ध द्वारा ही अग्न्यादि जड़ पदार्थ स्व २ दाहन प्रकाशनादि कार्य्य करने में समर्थ होसक्ते हैं अन्यथा नहीं, इसी अभिप्राय से केन० २। १९ में वर्णन किया है कि :—

"तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति तदुपप्रेयाय-
सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं"

अर्थ-उस अग्नि के लिये यक्ष ने एक तिनका धरकर कहा कि इसको जलादे तब अग्नि सारे वेग से उस तृण के समीप गया पर उसके जलाने को समर्थ न हुआ,इत्यादि अनेक वाक्यों से सिद्ध है कि सब जड़ पदार्थ परमात्मा की सामर्थ्य से ही संसार यात्रा के निर्वाहक हैं स्वतः नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

पद०-तस्य । च । नित्यत्वात् ।

पदा०-(च) और (तस्य) परमात्मा (नित्यत्वात्) नित्य होने से अधिष्ठाता है ।

भाष्य-यदि अग्नि आदि जड़ पदार्थ परस्पर आकर्षण शक्ति द्वारा अथवा किसी सम्बन्ध विशेष से कार्य्यकारणरूप

प्रपञ्च के अधिष्ठाता होते तो प्रलयकाल में उनकी अधिष्ठानता का अभाव होजाता, या यों कहो कि कार्य्यकारणरूप प्रपञ्च के उत्पत्ति विनाश का कोई नियम न रहता, क्योंकि चेतन सम्बन्ध के विना जड़ पदार्थ में किसी प्रकार की क्रिया नहीं होसक्ती, इसलिये अग्नि आदि जड़ पदार्थों का अधिष्ठाता परमात्मा को ही मानना समीचीन है ॥

सं०–प्रसङ्गसङ्गति से जड़ पदार्थों की अधिष्ठानता कथन करके अब पुनः इन्द्रिय विषयक विशेष विचार करते हैं:–

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्।१७।

पद०–ते। इन्द्रियाणि। तद्व्यपदेशात्। अन्यत्र। श्रेष्ठात्।

पदा०–(श्रेष्ठात्, अन्यत्र) मुख्य प्राण को छोड़कर (ते) शेष प्राण (इन्द्रियाणि) इन्द्रिय कहाते हैं, क्योंकि (तद्व्यपदेशात्) उन्हीं में इन्द्रिय शब्द का व्यवहार पायाजाता है।

भाष्य–"एतस्माज्जायते प्राणः" मुण्ड० २।१।३ में जो प्राण शब्द आया है वह शरीरान्तःसञ्चारी प्राण अपानादि का वाचक है और इसी को मुख्यप्राण कहते हैं और उक्त प्राण को छोड़कर अन्यत्र जो श्रुति स्मृति में प्राण शब्द आता है वह वागादि इन्द्रियों का वाचक है प्राण का नहीं, क्योंकि उक्त श्रुति में प्राण से पृथक् इन्द्रियों का निर्देश किया है, यदि सर्वत्र प्राण शब्द से चक्षुरादि इन्द्रियों का ग्रहण होता तो उक्त मुण्डक वाक्य में इन्द्रिय तथा प्राणों का पृथक् निर्देश न किया जाता पर ऐसा न

होने से सिद्ध है कि मुख्यप्राण को छोड़कर शेष चक्षुरादि प्राण इन्द्रिय हैं, इसी अभिप्राय से क्षेत्र का वर्णन करते हुए गी० १३।५ में वर्णन किया है कि:—

"इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्चचेन्द्रियगोचराः"

अर्थ-पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन इन्हीं का इन्द्रिय शब्द से ग्रहण किया है मुख्यप्राण का नहीं, इससे सिद्ध है कि चक्षुरादि ही इन्द्रिय हैं मुख्यप्राण नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

भेदश्रुतेः ॥१८॥

पद०-एकपद०।

पदा०-(भेदश्रुतेः) मुख्यप्राण का इन्द्रियों से भेद भी उक्त अर्थ का साधक है।

भाष्य-"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः" बृहदा० १।३।२=अब इन्द्रियों ने मुख्यप्राण को कहा कि आप उद्गाता बनें, इत्यादि वाक्यों में असुरों का पराजय करने वाले मुख्यप्राण से इन्द्रियों का भेद पाया जाता है, इसलिये वागादिक इन्द्रिय प्राण से भिन्न हैं।

वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

पद०-वैलक्षण्यात्।च।

पदा०-(च) और (वैलक्षण्यात्) विलक्षणता पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—सुषुप्ति अवस्था में सब इन्द्रिय अपने२ व्यापार से उपरत होजाते हैं पर प्राण जागता रहता है, शरीर तथा इन्द्रियों का धारण करना प्राण का काम है और इन्द्रिय ज्ञान तथा कर्म के साधन हैं, इत्यादि विलक्षणता पाये जाने से सिद्ध है कि इन्द्रिय और प्राणों का परस्पर भेद है अभेद नहीं।

सं०—अब नामरूपव्याकरण के बोधक वाक्यों में कर्तृत्व का विचार करते हुए प्रथम उसके उपयोगी पञ्चीकरण का विवरण करते हैं:—

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तुत्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

पद०—संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिः। तु। त्रिवृत्कुर्वतः। उपदेशात्।

पदा०—(त्रिवृत्कुर्वतः) परमेश्वर से (संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिः) नाम रूप की रचना होती है, क्योंकि (उपदेशात्) श्रुति मे ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—"तु" शब्द परमेश्वर से भिन्न कर्त्ता के व्यावर्त्तनार्थ आया है, एक२ भूत को तीन२ प्रकार से विभक्त करने के कारण परमात्मा का नाम "त्रिवृत्कुर्वत्" है और पदार्थबोधक शब्द को "संज्ञा" तथा रूप=आकृति को "मूर्त्ति" कहते हैं, नामरूप के रचना प्रतिपादक वाक्यों में त्रिवृत्करण पाये जाने से उनका कर्त्ता परमेश्वर है अन्य नहीं, जैसाकि छां० ६। ३। २ में वर्णन किया है कि:—

"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति"

अर्थ–उस परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं इस जीव रूप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नामरूप को बनाऊं और प्रत्येक पृथिव्यादि महाभूत को तीन२ प्रकार से विभक्त करूं, इत्यादि वाक्यों से नामरूप का कर्त्ता परमात्मा ही पाया जाता है अन्य नहीं।

ननु–प्रवेशक्रिया का कर्त्ता जीव है वा ब्रह्म? उत्तर–उक्त क्रिया का कर्त्ता ब्रह्म है जीव नहीं, क्योंकि समान वाक्यस्थित "व्याकरवाणि" क्रिया का कर्त्ता ब्रह्म ही पाया जाता है जिसका प्रवेशरूप क्रिया के साथ सम्बन्ध है अर्थात् "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" अष्टा० ३।४।२१ इस सूत्र के अनुसार समानकर्तृक क्रिया में "क्त्वा" प्रत्यय का नियम है जिसके स्थान में "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" अष्टा० ७।१।३७ इस सूत्रद्वारा "ल्यप्" होकर "अनुप्रविश्य" पद बना है, यदि प्रवेश क्रिया का कर्त्ता जीव होता तो कदापि "क्त्वा" के स्थान में "ल्यप्" होकर उक्त प्रयोग की सिद्धि न होती पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि उक्त क्रिया का कर्त्ता ब्रह्म है जीव नहीं यदि यह कहा जाय कि ब्रह्म ही प्रवेश क्रिया का कर्त्ता है तो फिर जीव ईश्वर का भेद न रहेगा? इसका

उत्तर यह है कि जीव ब्रह्म का अंशवत् सहचारी होने से आत्मा है ब्रह्म नहीं, यदि जीव स्वयं ब्रह्म होता तो "अनेन जीवेन" इस प्रकार का भेद निर्देश न किया जाता पर किया है इससे सिद्ध है कि जीव ब्रह्म का अभेद नहीं और नाही समानकर्तृक क्रिया के सम्बन्ध में कोई अनुपपत्ति होसक्ती है और बात यह है कि उक्त विषय वाक्य में "स्वा० रामानुज" स्पष्ट भेद मानते हैं और "स्वा० शङ्कराचार्य्य" जी जीव को अनादि कथन करते हैं फिर जीव ब्रह्म का अभेद कैसे सिद्ध होसक्ता है।

सं०—अब त्रिवृत् हुए भूतों का शरीर में उपयोग कथन करते हैं:—

मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२१॥

पद०—मांसादि। भौमं। यथाशब्दं। इतरयोः। च।

पदा०—(मांसादि) मांसादिक (भौमं) पृथिवी के विकार (च) और दूसरे शरीरस्थ धातु (यथाशब्दं) शब्द प्रमाणानुसार (इतरयोः) जल, तेज का विकार जानने चाहियें।

भाष्य—जिन माहाभूतों को त्रिवृत् बनाकर परमात्मा ने ब्रह्माण्ड रचना की है, उनमें पृथिवी का विकार शरीवर्त्ती मांसादिक हैं और शेष धातु जल, तथा तेज के विकार हैं, जैसाकि छां० ६।५।१ में वर्णन किया है कि:—

"अन्नमशितंत्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठोधातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः"

अर्थ–भोजन किया हुआ अन्न तीन प्रकार से विभक्त हो जाता है जिसका स्थूलभाग "पुरीष" मध्यमभाग "मांस" और सूक्ष्मभाग "मन" के रूप से परिणत होता है।

सं०–ननु, यदि शरीर पांचभौतिक है तो इसमें पार्थिव, तैजस तथा जलीय का व्यवहार क्यों होता है? उत्तरः—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

पद०–वैशेष्यात्। तु। तद्वादः। तद्वादः।

पदा०–(वैशेष्यात्) पृथिवी आदि तत्त्वों की अधिकता से (तद्वादः) शरीर में पार्थिवादि व्यवहार होता है।

भाष्य–"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये और "तद्वादः" पद दोवार अध्याय की समाप्ति के लिये आया है, पाञ्चभौतिक होनेपर भी किसी एक तत्त्व की अधिकता से शरीर में पार्थिव, जलीय आदि का व्यवहार होसक्ता है अर्थात् पृथिवी तत्त्व अधिक होने से मनुष्य शरीर "पार्थिव" और जलतत्त्व की अधिकता से मत्स्यादि शरीर "जलीय" कहाते हैं, यही रीति तैजसादि शरीरों में भी जाननी चाहिये।

स्मरण रहे कि जो "संज्ञामूर्त्तिक्लृप्त्यधिकरण" में एक २ भूत के तीन २ भाग बनाकर "त्रिवृतमेकैकं करवाणि" इस वाक्य से त्रिवृत्करण कथन किया है वह "पञ्चीकरण" का भी उपलक्षण है जिसका प्रकार यह है कि प्रत्येक पृथिव्यादि भूतों के दो २ भाग करके फिर दोनों में से एक भाग के चार

भाग कराळिये जाते हैं और अपने २ आधे भाग को छोड़कर उन चारो भागों को अन्य भूतों में मिला दिया जाता है, इस प्रकार प्रत्येक भूत में आधा भाग अपना और आधा भाग दूसरे भूतों का मिलकर पञ्चीकरण होता है ।

तात्पर्य्य यह है कि सब भूत अपने कार्य्यों में कहीं न्यून और कहीं अधिकांश से मिलते हैं,इसलिये एक की प्रधानता और अन्यों की अप्रधानता पाये जाने के कारण पञ्चभूतात्मक कार्य्यों में पार्थिवादि व्यवहार होता है सर्वथा एक भूत का कार्य्य होने के अभिप्राय से नहीं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे,वेदान्तार्य्यभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थःपादः समाप्तः

समाप्तश्चायंद्वितीयोऽध्यायः



ओ३म्

अथ तृतीयाध्यायः प्रारभ्यते

सं०-पूर्व के समन्वय तथा अविरोध नामक दोनो अध्यायों में निराकार ब्रह्म को शास्त्र का विषय प्रतिपादन करके अब उसकी उपासना तथा उपासना के साधनों का विचार करने के लिये इस अध्याय का प्रारम्भ करते हुए प्रथम जीव की परलोक यात्रा का निरूपण करते हैं:—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

पद०-तदन्तरप्रतिपत्तौ । रंहति । सम्परिष्वक्तः । प्रश्ननि-रूपणाभ्याम् ।

पदा०-(तदन्तरप्रतिपत्तौ) शरीरान्तर की प्राप्ति के लिये (सम्परिष्वक्तः) सूक्ष्मभूतों से मिला हुआ जीव (रंहति) परलोक में गमन करता है, क्योंकि (प्रश्ननिरूपणाभ्यां) प्रश्नोत्तर से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-छां० ५ । ३ । ३ में जैबलि ने श्वेतकेतु के प्रति यह प्रश्न किया कि "वेत्थ यथापञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"=क्या तुम जानते हो जिसप्रकार पांचवीं आहुति में जल पुरुषरूप होजाते हैं ? इसका उत्तर न देसकने पर जैबलि ने स्वयं कहा कि द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, योषित् यह पांच

प्रकार की अग्नियें हैं और पांचवीं अग्नि की आहुति में जल पुरुषरूप होजाते हैं, इस प्रकार प्रश्न तथा निरूपण से सिद्ध है कि जलों से मिलकर जीव परलोक यात्रा करता है अन्यथा नहीं, इसका विशेष विचार "उपनिषदार्य्यभाष्य" द्वितीयभाग में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें. प्रकृत में "जल" पद सूक्ष्मभूतों के अभिप्राय से आया है॥

ननु-परलोक यात्रा करता हुआ जीव तत्काल ही दूसरे शरीर में प्रवेश करता है अथवा विलम्ब से ? उत्तर—"तद्यथा तृणजलायुका" बृह० ४ । ४ । ३=जिस प्रकार जलायुका=कीटविशेष जबतक प्रथमपाद नहीं जमा लेता तब तक दूसरा पाद नहीं उठाता इसीप्रकार जीव भी दूसरे शरीर का अवलम्ब करने पर ही प्रथम शरीर को छोड़ता है अर्थात् शीघ्र ही देहान्तर को प्राप्त होता है उसको देहान्तर प्राप्ति के लिये विशेष बिलम्ब की आवश्यकता नहीं।

सं०-ननु, उक्त वाक्य में केवल जल के साथ ही परलोक यात्रा प्रतिपादन की है शेष भूतों से नहीं ? उत्तरः—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्॥ २॥

पद०-त्र्यात्मकत्वात् । तु । भूयस्त्वात् ।

पदा०-(त्र्यात्मकत्वात्) सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित जीव का परलोक में गमन होने के कारण केवल जल से उत्क्रमण अभिप्रेत नहीं, यहां (भूयस्त्वात्) जल का ग्रहण अधिकता के अभिप्राय से है।

भाष्य--पृथिव्यादि सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित जीव परलोक यात्रा करता है अन्यथा नहीं, क्योंकि त्रिवृत्करण श्रुति में ऐसा ही पायाजाता है जिसका वर्णन पीछे कर आये हैं, और जो छां०५।३।३ में पांचवी आहुति निरूपण करते हुए केवल जल से परिवेष्टित जीव का गमन कथन किया है उसका तात्पर्य्य जलांश की अधिकता में है शेष भूतों के निषेध में नहीं, क्योंकि शरीर में रुधिरादि रूप से जल की अधिकता सर्वानुभव सिद्ध है, इसलिये सब पृथिव्यादि सूक्ष्मभूतों से परिवेष्टित जीव का ही परलोक गमन मानना ठीक है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

पद०-प्राणगतेः । च ।

पदा०-(च) और (प्राणगतेः) जीव के साथ प्राणों की गति पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-" तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणामनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति " बृहदा० ४।४।२=जीवात्मा के निकलने पर प्राण और उसके पीछे सब इन्द्रिय निकलजाते हैं, इस विषयवाक्य में सूक्ष्म शरीर के सहित जीवात्मा की उत्क्रान्ति का वर्णन पायेजाने से सिद्ध है कि केवल जल के साथ जीवात्मा का परलोक गमन अभिमत नहीं ॥

सं०-ननु, मृतक के वागादि इन्द्रियों का अग्न्यादि भूतों

में लय पायाजाता है फिर उनकी जीव के साथ गति कैसे बन सक्ती है ? उत्तरः—

अग्न्यादिगतिश्रुतेरितिचेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

पद०—अग्न्यादिगतिश्रुतेः । इति । चेत् । न । भाक्तत्वात् ।

पदा०—(अग्न्यादिगतिश्रुतेः) अग्न्यादिभूतों में लय पाये जाने से जीव के साथ इन्द्रियों की गति नहीं होसक्ती (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि (भाक्तत्वात्) उनके लय का कथन औपचारिक है ।

भाष्य—"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातम्प्राणः" बृहदा० २ । ३ । १३=मृतक पुरुष का वागिन्द्रिय अग्नि में और प्राण वायु में लीन होजाते हैं, इस वाक्य से इन्द्रियों का अग्न्यादि पदार्थों में लय पायेजाने के कारण जीव के साथ इन्द्रियों का गमन मानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों का अग्न्यादिकों में लय होना औपचारिक है मुख्य नहीं, क्योंकि उसकी मुख्यता में कोई प्रमाण नहीं पायाजाता अर्थात् यदि उक्त लय का कथन औपचारिक न होता तो "ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः" बृहदा० २ । ३ । १३=मृतक के लोमों का ओषधियों में और केशों का वनस्पति में लय होता है, यह वर्णन न किया जाता

पर किया है इसलिये उक्त कथन औपचारिक मानना ही समीचीन है ।

भाव यह है कि जिसप्रकार मृतक पुरुष के केशलोमादिकों का ओषधि, वनस्पति आदिकों को प्राप्त होना प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित होने के कारण औपचारिक है वैसे ही वागादि इन्द्रियों का लय कथन औपचारिक होने से उनकी जीव के साथ परलोक यात्रा में कोई बाधा नहीं ।

सं०-ननु,प्रथम आहुति में श्रद्धा को हवनीय द्रव्य कथन करने से पांचवीं आहुति में जल द्रव्य को पुरुषरूप कथन करना असङ्गत है ? उत्तर :—

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

पद०-प्रथमे । अश्रवणात् । इति । चेत् । न । ताः । एव । हि । उपपत्तेः ।

पदा०-(प्रथमे) प्रथम आहुति में (अश्रवणात्) जल का ग्रहण न होने से पांचवीं आहुति में उसको पुरुषरूप कथन करना असङ्गत है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (उपपत्तेः) युक्ति द्वारा (हि) निश्चयकरके (ताः, एव) श्रद्धा पद से जल का ही ग्रहण पायाजाता है ।

भाष्य-"तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति"

छां० ५ । ४ । २=प्रथम आहुति में देवता श्रद्धा का होम करते हैं,इस वाक्य में जल को हवनीय द्रव्य कथन नहीं किया गया है इसलिये पांचवी आहुति में उसका पुरुषरूप कथन करना सर्वथा असङ्गत है ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि प्रकृत में "श्रद्धा" पद से जल अभिप्रेत है यदि जल अभिप्रेत न होता तो पांचवीं आहुति में "जल पुरुषरूप होजाते हैं" यह उपसंहार न किया जाता, क्योंकि प्रश्नानुकूल ही उपसंहार होसक्ता है अन्यथा नहीं, दूसरी बात यह है कि "श्रद्धा वा आपः"=निश्चय करके जल का नाम "श्रद्धा" है, इत्यादि वाक्यों से श्रद्धा पद का प्रयोग जलरूप अर्थ में दर्शाया गया हैं, इसलिये पञ्चमाहुति में जल को पुरुषरूप कथन करना असङ्गत नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जिसप्रकार "सिंहो माणवकः"= यह पुरुष सिंह है,इत्यादि वाक्यों में सिंह की भांति क्रूरतादि गुणयोग से पुरुष को सिंह कहा जाता है, इसी प्रकार श्रद्धा-पूर्वक किये हुए कर्मों का सम्बन्धी होने से जल में श्रद्धा पद का व्यवहार गौण है मुख्य नहीं, अतएव पञ्चमाहुति प्रकरणस्थ जल को पुरुषरूप कथन करना निर्दोष है, इसका विस्तार पूर्वक वर्णन "उपनिषदार्य्यभाष्य" के द्वितीय भाग में किया गया है जिज्ञासु वहां देखलें ।

सं०—अब जीव की उत्क्रान्ति का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:—

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणांप्रतीतेः ।६।

पद०—अश्रुतत्वात् । इति । चेत् । न । इष्टादिकारिणां । प्रतीतेः ।

पदा०—(अश्रुतत्वात्) पञ्चाग्नि विद्या में जीव का श्रवण न होने से उसकी सूक्ष्म भूतों के साथ उत्क्रान्ति नहीं होसक्ती (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (इष्टादिकारिणां) इष्टादि कर्म करने वाले जीवों की (प्रतीतेः) प्रतीति पाईजाती है ।

भाष्य—छान्दोग्य के पञ्चाग्निविद्या प्रकरण में जीव बोधक वाक्य न पायेजाने से सिद्ध है कि उसकी परलोकयात्रा सूक्ष्म भूतों से मिलकर नहीं होती ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि वहां इष्टादि कर्म करने वाले जीवों का प्रकरण पायाजाता है जैसाकि "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्तेदत्तमित्युपासते ते धूममाभिसम्भवन्ति" छां० ५ । १० । ३=जो लोग इष्ट=अग्निहोत्र, पूर्त=वापी, कूप, तड़ाग, उद्यानादि तथा दत्त=दानादि कर्म करते हैं वह कर्मीजनों के लोक को प्राप्त होते हैं, इत्यादि समान प्रकरणस्थ वाक्यों में जीव का वर्णन पायाजाता है, इस प्रकार कर्मीजनों का प्रकरण होने से पञ्चाग्निविद्या में जीव सम्बन्ध पाये जाने के कारण सूक्ष्मभूतों के साथ जीवविषयक परलोक गमन में कोई बाधा नहीं ।

सं०—ननु, छां० ५ । १० । ४ में सोमलोक प्राप्त कर्मीजनों को देवताओं का अन्न कथन किया है फिर उनका परलोक भोग कैसे बनसक्ता है ? उत्तरः—

भाक्तंवाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥७

पद०-भाक्तं । वा । अनात्मवित्त्वात् । तथा । हि । दर्शयति ।

पदा०-(अनात्मवित्त्वात्) आत्मवेत्ता न होने से (भाक्तं) उक्त कथन औपचारिक है, क्योंकि (हि) निश्चयकरके (तथा, दर्शयति) शास्त्र ऐसा ही प्रतिपादन करता है।

भाष्य-"एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति" छां० ५ । १० । ४=सोमलोक को प्राप्त होने वाले कर्मीजन देवताओं का अन्न है जिसको वह भक्षण करते हैं, यहां कर्मीजनों को उपचार से देवताओं का अन्न कथन किया है वस्तुतः नहीं, क्योंकि उनका भक्षण किया जाना किसी प्रमाण सिद्ध नहीं किन्तु आत्मवेत्ता न होने से वह देवताओं के पशु कहाते हैं, इसी अभिप्राय से बृहदा० १।४ ।१० में वर्णन किया है कि "योऽन्यांदेवतामुपासतेपशुरेव७सदेवानाम्"= जो परमात्मा से भिन्न देवता की उपासना करता है वह पशु समान है, या यों कहो कि जो "मैं अन्य और परमात्मा अन्य है" ऐसा नहीं जानता वह विद्वानों के मध्य पशु है, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य में कर्मीजनों को औपचारिक अन्न कथन किया है वास्तविक नहीं ॥

सं०-अब मुक्त पुरुष की कर्मशेष से पुनरावृत्ति कथन करते हैं:-

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च ॥८॥

पद०—कृतात्यये। अनुशयवान्। दृष्टस्मृतिभ्यां। यथा। इतं। अनेवं। च।

पदा०—(अनुशयवान्) अनुशयी जीव (कृतात्यये) कर्मों का नाश होने पर मुक्ति से लौट आता है (च) और (यथा,इतं) जिसप्रकार मुक्त हुआ था उसी प्रकार और (अनेवं) अन्य प्रकार से भी पुनर्जन्म को धारण करता है, क्योंकि (दृष्टस्मृतिभ्यां) श्रुति स्मृति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—"उपभुक्ताशिष्टंकर्मानुशयः"=भुक्तकर्म के शेष का नाम "अनुशय" और उक्त कर्म वाले जीव को "अनुशयी" कहते हैं, जिसप्रकार जीव मुक्ति को प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्मनाश होने पर शेष कर्म द्वारा मुक्ति से लौटकर जन्मधारण करता है तथा अन्य प्रकार से भी कई एक जन्मों को प्राप्त होता है अर्थात् कई एक अनुशयी जीव नियत काल पर्य्यन्त मुक्ति का आनन्द भोगकर योगी, ऋषि तथा मुनियों के पद को प्राप्त होते हैं और कई एक जीव शेष कर्मों के मन्द होने से नीचयोनियों को पाते हैं, जैसाकि श्रुति में वर्णन किया है किः—

"तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतम्॥ तद्य इह रमणीयचरणाः०"

छा० ५। १०। ५—७

अर्थ—श्रेष्ठकर्मों वाले अनुशयी जीव ब्राह्मणादि उत्तम योनियों को और निन्दित कर्मों वाले नीच योनियों को प्राप्त होते हैं, और गौतमस्मृति १०। १ में इसी अर्थ को यों वर्णन किया है किः—

वर्णाश्चाश्रमाश्चस्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफल-मनुभूय ततः शेषेणविशिष्टदेशजातिकुल-रूपायुः श्रुतवित्तवृत्तमेधसो जन्मप्रतिपद्यन्ते ॥

अर्थ—ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों को पूर्ण करने वाले लोग मरणानन्तर कर्मानुसार सुख दुःख का भोग करके भुक्तशेष कर्मद्वारा उत्तम देश, जाति तथा कुल में रूपवान्, दीर्घायु, विद्यावान्, श्रीमान्, सदाचारी, बुद्धिमान् और सुखसम्पत्ति से युक्त यथाधिकार जन्म धारण करते हैं।

सं०—ननु, श्रुतिस्थ "चरण" पद से "अनुशय" का ग्रहण नहीं होसक्ता, क्योंकि वह स्वभाव तथा आचार का वाचक है ? उत्तरः—

चरणादितिचेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

पद०—चरणात् । इति । चेत् । न । उपलक्षणार्था । इति । कार्ष्णाजिनिः ।

पदा०—(चरणात्) चरण पद से अनुशय का ग्रहण नहीं होसक्ता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (उपलक्षणार्था) चरण शब्द अनुशय का उपलक्षण है (इति) ऐसा (कार्ष्णाजिनिः) कार्ष्णाजिनि आचार्य्य मानते हैं।

भाष्य—शील, आचार तथा स्वभाववाची होने से "चरण" पद अनुशय का बोधक नहीं होसक्ता ? यह कथन इसलिये

ठीक नहीं कि उक्त पद गौणीवृत्ति से अनुशय के अर्थ में आया है जैसाकि किसी ने कहा कि " काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां "= कौवों से दधि की रक्षा करो, इस कथन से वक्ता का तात्पर्य्य केवल कौवों से ही दधिरक्षा का नहीं किन्तु दधि नाशक कौवे, कुत्ते तथा मार्जारादि सभी पशु पक्षियों से है अर्थात् जिस प्रकार " काक " पद लक्षणावृत्ति द्वारा मार्जारादि रूप अधिक अर्थ का बोधक होने से "उपलक्षण" कहाता है इसीप्रकार प्रकृत में "चरण" शब्द शील तथा आचार का वाचक होने पर भी सुख दुःख हेतुक अनुशयरूप कर्म का उपलक्षण है, यह कार्ष्णाजिनि आचार्य्य का मत है।

सं०—अब उक्त अर्थ का अन्य प्रकार से आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:—

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

पद०—आनर्थक्यं। इति। चेत्। न। तदपेक्षत्वात्।

पदा०—(आनर्थक्यं) चरण पद को अनुशयार्थ में लाक्षणिक मानने से श्रौत आचार निरर्थक होजयगा (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (तदपेक्षत्वात्) उक्त पद से श्रुतिविहित आचार भी अपेक्षित है।

भाष्य—" चरण " पद से लक्षणावृत्तिद्वारा श्रुतिविहित आचार को छोड़कर केवल अनुशयरूप अर्थ का ग्रहण करना इस लिये ठीक नहीं कि ब्राह्मणादि योनि भी उक्त आचार का फल हैं, यदि ऐसा न मानाजाय तो श्रुतिविहित आचार निष्फल

होजयगा ? इसका समाधान यह है कि श्रुत्युक्त इष्टापूर्त्त कर्म आचारसापेक्ष होते हैं अर्थात् आचारहीन पुरुष को वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अधिकार नहीं, इसलिये "रमणीय चरणः" इत्यादि श्रुतिस्थ "चरण" पद को मुख्यरूप से श्रौताचार का और लक्षणावृत्ति से अनुशयरूप अर्थ का प्रतिपादक मानना ही समीचीन है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में "बादरि" आचार्य्य का मत कथन करते हैं :—

सुकृतदुष्कृत एवेति बादरिः ॥ ११ ॥

पद०—सुकृतदुष्कृते। एव । इति । बादरिः ।

पदा०—(बादरिः) बादरि आचार्य्य का कथन है कि चरण पद से (सुकृतदुष्कृते, एव, इति) पुण्यपापरूप कर्मों का ही ग्रहण है ।

सं०—अब कर्म न करने वाले जीवों की चन्द्रलोक=अवस्थाविशेष की प्राप्ति में पूर्वपक्ष करते हैं:—

अनिष्टादिकारिणामपिश्रुतम् ॥१२॥

पद०—अनिष्टादिकारिणां । अपि । श्रुतम् ।

पदा०—(अनिष्टादिकारिणां) पापकर्म करने वाले जीवों की गति (अपि) भी (श्रुतं) श्रुति ने चन्द्रलोक में प्रतिपादन की है ।

भाष्य—"ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" कौषीतकी० १ । २

अर्थ-जो जीव इस लोक से प्रयाण करते हैं वह सब चन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं,इस श्रुति से पापी तथा पुण्यात्मा सब का चन्द्रलोक में गमन पायेजाने से सिद्ध है कि इष्टापूर्त्तादि कर्म न करने वाले जीव भी चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं॥

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

संयमनेत्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

पद०-संयमने । तु । अनुभूय । इतरेषां । आरोहावरोहौ । तद्गतिदर्शनात् ।

पदा०-(संयमने) मृत्यु की शासना में (अनुभूय) पाप का फलभोग कर (इतरेषां) पापी जीवों का चन्द्रलोक के बिना ही (आरोहावरोहौ) आरोह तथा अवरोह होता है, क्योंकि (तद्गतिदर्शनात्) उक्त श्रुति वाक्य मे ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य-पुण्यात्मा तथा पापात्मा जीवों की गति का इतना ही भेद है कि पापी जीव यम=परमात्मा के दण्ड को भोगकर इसी लोक को प्राप्त होते हैं चन्द्रलोक को नहीं अर्थात् पापफल भोगने के अनन्तर पापी जीवों का चन्द्रलोक में आरोह के विना ही आकाशादि मार्गों से अवरोह होता है और यही उक्त कौषीतकी वाक्य का अभिप्राय है कि पुण्यात्मा पुरुषों का ही चन्द्रलोक से आरोहावरोह होता है पापात्माओं का नहीं, जिसका वर्णन "छान्दोग्यार्य्यभाष्य" में कियेजाने से यहां विस्तार नहीं कियागया और यम की शासना का कठ० २।३ में यों प्रतिपादन किया है कि :-

न साम्परायः प्रतिभाति बालं,
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी,
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

अर्थ–धनरूप मोह से विवेक रहित पुरुष को परलोक का विचार नहीं होता, यही लोक है परलोक नहीं ऐसा मानने वाला पुरुष मुझ यम के वश को वारंवार प्राप्त होता है, इसप्रकार पापात्मा पुरुषों को चन्द्रलोक की प्राप्ति न होने के कारण पापात्मा तथा पुण्यात्मा जीवों की गति का भेद है अभेद नहीं ।

स्मरन्ति च ॥१४॥

पद०–स्मरन्ति । च ॥

पदा०–(च) और (स्मरन्ति) स्मृति से भी ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य–नचिकेतादिकों की आख्यायिका में ऋषि लोगों का स्मरण पायाजाताहै कि निन्दित कर्मकरनेवाले नरक में यमयातना को सहारते हैं, यहां " यम " पद से नियमन करने वाले धर्मराज सर्वोपरि शासन कर्त्ता परमात्मा का ग्रहण है पौराणिक देवविशेष का नहीं ॥

सं०-अब शरीरस्थ सात नरकों का कथन करते हैं :-

अपि च सप्त ॥ १५ ॥

पद०-अपि । च । सप्त ।

पदा०-(अपि, च) और वह नरक (सप्त) सात प्रकार के हैं ।

भाष्य-रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र यह शरीरस्थ सात धातु नरक कहाते हैं अर्थात् इनके विषम होजाने से शरीर नरकधाम होजाता है ।

सं०-ननु,रस रक्तादि विकार वाले शरीर में रहकर ही जीव दुःखनिवृत्ति का उपाय करता है फिर उसको नरकधाम क्यों मानाजाय ? उत्तरः—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६

पद०-तत्र । अपि । च । तद्व्यापारात् । अविरोधः ।

पदा०-(च) और (तत्र) शरीरस्थ धातुरूप नरक में रहने पर भी (तद्व्यापारात्) शुभकर्मानुष्ठानरूप व्यापार से उच्चगति की प्राप्ति में (अविरोधः) कोई विरोध नहीं ।

भाष्य-शरीरात्मक रसादि विकाररूप नरक में जीव का सर्वथा स्वातन्त्र्य नहीं कि वह अपनी इच्छानुसार उसको सुखरूप ही बनासके किन्तु ईश्वरीय नियम द्वारा पूर्वजन्मकृत कर्मों के अनुसार जीव को अवश्य सुखदुःख भोगना पड़ता है अर्थात् जीव कर्म करने में स्वतन्त्र होने पर भी फलभोग में परतन्त्र है, अतएव ईश्वरेच्छा से विरुद्ध होकर शरीर को सुखधाम नहीं बनासक्ता,

जैसाकि पीछे "परात्तु तच्छ्रुतेः" ब्र० सू० ३।३।४१ के भाष्य में वर्णन करआये हैं, इसलिये शरीरस्थ सात धातुओं को नरक मानने में कोई दोष नहीं।

सं०—अब पापी जीवों की गति का देवयानादिमार्ग द्वारा न होना कथन करते हैं:—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

पद०—विद्याकर्मणोः। इति। तु। प्रकृतत्वात्।

पदा०—(विद्याकर्मणोः) विद्या तथा कर्म का (प्रकृतत्वात्) प्रकरण होने से (इति) पापी जीवों का चन्द्रलोक में आरोह मानना ठीक नहीं।

भाष्य—"तु" शब्द सिद्धान्त पक्ष के द्योतनार्थ आया है, उत्तम विद्या तथा उत्तम कर्मानुष्ठान करने वाले विज्ञानी पुरुष "देवयान" तथा केवल कर्मी "पितृयाण" रूप मार्ग को प्राप्त होते हैं, जैसाकि बृहदा० ३।५।१६ में वर्णन किया है कि "कर्मणापितृलोको विद्ययादेवलोकः"=केवल कर्मानुष्ठान से "पितृलोक" तथा विद्यासहित कर्म करने से "देवलोक" की प्राप्ति होती है, इसप्रकार उक्त दोनों मार्गों में उत्तम पुरुषों की गति पाये जाने के कारण पापी पुरुषों की गति का निषेध अर्थसिद्ध होने से स्पष्ट है कि देवयान तथा पितृयाण मार्ग में पापी पुरुषों के आरोहावरोह नहीं होते।

सं०—अब "तृतीयमार्ग" में पांचवीं आहुति की संख्या का

अनियम कथन करते हैं:—

न तृतीय तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

पद०– न । तृतीये । तथा । उपलब्धेः ।

पदा०–(तृतीये) तृतीयस्थान में (न) पांचवीं आहुति की संख्या का नियम नहीं, क्योंकि (तथा, उपलब्धेः) शब्दप्रमाण से ऐसा ही पाया जाता है ॥

भाष्य–"अथैतयोः पथोर्न कतरेण तानीमानीक्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्ये तत्तृतीयं स्थानम्" छां०५।१०।८=देवयान तथा पितृयाण दोनो मार्गों में से किसी मार्गद्वारा भी पापी जीवों की गति नहीं होती किन्तु वह जूं तथा मशकादि क्षुद्र योनियों को पुनः२ प्राप्त होते रहते हैं और इसी का नाम "तृतीयस्थान" है जो उक्त जीवों से कदापि पूर्ण न होने के कारण आवर्त्तनशील कहाता है, इसप्रकार शब्द प्रमाणद्वारा पापी जीवों के तृतीयस्थान का पृथक् वर्णन पाये जाने से स्पष्ट है कि उक्त स्थान में पञ्चमाहुति संख्या का नियम नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

स्मर्य्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

पद०–स्मर्य्यते । अपि । च । लोके ।

पदा०–(च) और (लोके) लोक में (स्मर्य्यते, अपि) स्मरण पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि अमैथुनीसृष्टि में पांचवीं आहुति का नियम नहीं, जैसाकि बतक वीर्य्यसेचन के बिना ही गर्भ को धारण करती है, इत्यादि जीवों में पांचवीं आहुति के नियम का अभाव पाये जाने से सिद्ध है कि तृतीय स्थान में पांचवीं आहुति का नियम नहीं ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

पद०—दर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (दर्शनात्) दर्शन से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इस चार प्रकार के भूतवर्ग में स्वेदज तथा उद्भिज्ज की अमैथुनी सृष्टि पाये जाने से सिद्ध है कि सब जीवों में पांचवीं आहुति का नियम नहीं ॥

सं०—ननु, छां० ६ । ३ । १ में त्रिविधसृष्टि का वर्णन होने से स्वेदजसृष्टि का कथन असङ्गत है ? उत्तरः—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

पद०—तृतीयशब्दावरोधः । संशोकजस्य ।

पदा०—(संशोकजस्य) स्वेदज का (तृतीयशब्दावरोधः) तीसरे उद्भिज्ज शब्द से ग्रहण होता है ।

भाष्य—"अण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्" छां० ६ । ३ । १ इस वाक्य में कथन किये हुए "उद्भिज्ज" पद से "स्वेदज" जीवों का ग्रहण होने के कारण उक्त जरायुजादि भेद से चार प्रकार की सृष्टि मानने में कोई दोष नहीं ।

सं०—अब मुक्ति से लौटकर आते हुए जीवों का आकाशादि पदार्थों के साथ सम्बन्धविशेष कथन करते हैं:—

तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

पद०—तत्साभाव्यापत्तिः । उपपत्तेः ।

पदा०—(तत्साभाव्यापत्तिः) कल्पपर्य्यन्त मुक्ति के सुख को भोगकर पुनः संसार में आने वाले जीवों का आकाशादि भूतों के साथ "सम्बन्धमात्र" होता है तद्रूपता नहीं, क्योंकि (उपपत्तेः) युक्ति से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य—"अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथैतमेवा ध्वानमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वाधूमो भवति०" छां० ५।१०।५=जब जीव की मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है तब वह प्रथम आकाश को आकाश से वायु, वायु से धूम, धूम से मेघ को प्राप्त होता है, फिर वर्षाद्वारा ब्रीहि, जौ आदि ओषधियों तथा बनस्पतियों में जाता है, तदनन्तर अन्नादिभाव को प्राप्त होकर पिता के वीर्य्यद्वारा पुनः गर्भाशय में आता है, इसप्रकार जो श्रुति में जीव के अन्नादि भावों को धारण करना वर्णन किया है उसका तात्पर्य्य यह है कि जीव आकाशादि पदार्थों के साथ नियतकालपर्य्यन्त "सम्बन्ध विशेष" को प्राप्त होता है तद्रूपता को नहीं, यदि जीव सर्वथा आकाशादि जड़ पदार्थों की सदृशता को ही प्राप्त होता तो कदापि कूटस्थ नित्य न रहता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि उक्त श्रुतिवाक्य में आकाशादिकों से जीव का सम्बन्धविशेष अभिप्रेत है "तद्रूपता" नहीं ॥

सं०—ननु, ब्रीहि आदि भावों की प्राप्ति से प्रथम जीव आकाशादिकों में चिरकाल पर्य्यन्त रहता है अथवा शीघ्र ही लौट आता है ? उत्तर :—

नातिचिरेण विशेषात् ॥२३॥

पद०—न । अतिचिरेण । विशेषात् ।

पदा०—(विशेषात्) विशेष कथन पायेजाने के कारण (अतिचिरेण) जीव का आकशादि पदार्थों से चिरकाल पर्य्यन्त सम्बन्ध मानना (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—" अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम् " छां०५ । १० । ६=ब्रीहि आदिभावों को प्राप्त होकर वहां से जीव का निकलना अत्यन्त कठिन है, इस वाक्य द्वारा आकाशादि पदार्थों के सम्बन्ध की परस्पर विलक्षणता पाईजाती है अर्थात् उक्त विषय वाक्य में ब्रीह्यादिकों से जीव का निकला कठिनतर वर्णन कियागया है आकाशादिकों से नहीं, इसलिये उनमें जीव अल्पकाल पर्य्यन्त स्थिर रहकर शीघ्र ही ब्रीह्यादिभावों को प्राप्त होता है ॥

सं०—ननु, अनुशयी जीव ब्रीहि आदिकों में जन्म लेता है अथवा आकाशादिकों की भांति केवल सम्बन्ध को प्राप्त होता है ? उत्तर :—

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

पद०—अन्याधिष्ठिते । पूर्ववत् । अभिलापात् ।

पदा०-(अन्याधिष्ठिते) व्रीहि आदिकों में अन्य चेतन अधिष्ठाता होने के कारण (पूर्ववत्) आकाशादिकों की भांति केवल जीव का सम्बन्ध होता है जन्म नहीं।

भाष्य-अनुशयी=मुक्ति से लौटकर आनेवाला जीव व्रीहि आदि ओषधियों में जन्म नहीं लेता, क्योंकि उनमें उनका अधिष्ठाता= भोक्ता जीव प्रथम ही विद्यमान होता है, इसलिये अनुशयी जीव का आकाशादिकों के समान व्रीहि आदिकों से सम्बन्धविशेष मानना ही ठीक है।

सं०-ननु, पञ्चाग्निविद्या में वीर्य्यरूप पांचवीं आहुति का वर्णन अश्लील होने से त्याज्य है ? उत्तर :—

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥

पद०-अशुद्धं। इति । चेत्। न। शब्दात्।

पदा०-(अशुद्धं) पांचवीं आहुति का कथन अश्लील है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं क्योंकि (शब्दात्) यह शब्दप्रमाण सिद्ध है।

भाष्य-पञ्चाग्निविद्या में वीर्य्यरूप आहुति का किसी अपवित्रभाव से वर्णन नहीं कियागया प्रत्युत वैराग्य की दृढ़तार्थ जीव की जन्मदशा का कथन किया है, इसलिये उक्त अर्थ शब्द प्रमाण द्वारा दोषरहित होने के कारण अश्लील नहीं।

सं०-अब अनुशयी जीव का पितृदेह के साथ सम्बन्ध कथन करते हैं :—

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

पद०—रेतःसिग्योगः । अथ ।

पदा०—(अथ) व्रीह्यादिभावों के अनन्तर अनुशयी जीव का (रेतःसिग्योगः) वीर्य्यसेक्ता पुरुष के साथ सम्बन्ध होता है ।

भाष्य—आकाशादि द्वारा व्रीह्यादिभावों की प्राप्ति के अनन्तर पुनः जीव का वीर्य्यसेचन करने वाले पुरुष के शरीर में प्रवेश होता है, जैसाकि छान्दो० ५ । १० । ६ में वर्णन किया है कि **"यो य अन्नमत्ति योरेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति"**= जिसके शरीर में अन्न खाने से जो वीर्य्य बनता है उसी के सिञ्चन द्वारा जीव की उत्पत्ति होती है ।

सं०—अब मातृसम्बन्ध द्वारा अनुशयी जीव की शरीरोत्पत्ति कथन करते हैं:—

योनेःशरीरम् ॥ २७ ॥

पद०—योनेः । शरीरम् ।

पदा०—(योनेः) मातृसम्बन्ध द्वारा (शरीरम्) शरीर बनता है ।

भाष्य—पितृकृत गर्भाधान संस्कार के अनन्तर अनुशयी जीव का मातृशरीर से सम्बन्ध होता है और माता के गर्भाशय में ही उसका शरीर बनता है, इसप्रकार मुक्ति से पुनः लौटकर आनेवाले जीवों के जन्म की गति कथन कीगई है, इस अधिकरण के "**अशुद्धमितिचेन्न शब्दात्**" ब्र०सू० ३ । १ । २५ में "स्वा० शङ्कराचार्य्य" जी ने वैदिककर्मों में पशुहनन माना

है और आप ही शंका करके यह समाधान किया है कि पशुहिंसादि कर्म पाप नहीं होसक्के, क्योंकि धर्माधर्म को प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही यज्ञ में हिंसा का विधान करता है अर्थात् "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि "=प्राणिमात्र की हिंसा न करे, यह वाक्य उत्सर्ग=सामान्यरूप से हिंसा का निषेधक है और "अग्निषोमीयं पशुमालभेत "=अग्निष्टोम याग में पशु को मारे, यह वाक्य अपवादरूप होने से उक्त सामान्यविधि का बाधक है, इसलिये शास्त्रविहित होने से यज्ञादि कर्मों में पशु हिंसा दोषकर नहीं होसक्ती, इसी प्रकार "स्वा० रामानुज " ने भी इनका अनुकरण करते हुए अग्निष्टोमादि यज्ञों में पशुवध माना है परन्तु यह बात वैदिकसिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि "मुग्धादेवा उत शुना यजन्त " अथर्व० ७।१।८=यज्ञों में पशुवध करने वाले मूर्ख हैं, इत्यादि मन्त्रों से हिंसा का स्पष्ट निषेध पाया जाता है, और सूत्र के किसी अक्षर से भी हिंसा का भाव नहीं निकलता फिर न जाने उक्त आचार्य्यों को प्रबलयुक्ति रखते हुए भी पौराणिकों का क्या भय था जिससे उन्होंने अत्यन्त घृणास्पद यज्ञीय पशुहनन का अनुमोदन किया, अस्तु. वास्तविक बात यह है कि शास्त्रों में पशु-हिंसा का कहीं भी विधान नहीं, इसका विशेष विचार "मीमांसा-र्य्यभाष्य ," में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

इति प्रथमःपादः समाप्तः



अथ द्वितीयःपादः प्रारभ्यते

सं०—प्रथमपाद में पञ्चाग्निविद्या के दृष्टान्तद्वारा जीव की परलोकयात्रा का निरूपण किया, अब उसकी सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिये इस पाद का आरम्भ करते हुए प्रथम स्वप्नावस्था विषयक पूर्वपक्ष करते हैंः—

सन्ध्येसृष्टिराह हि ॥ १ ॥

पद०—सन्ध्ये। सृष्टिः। आह। हि।

पदा०—(हि) निश्चयकरके (सन्ध्ये) स्वप्नस्थान में (सृष्टिः) नवीन सृष्टि को (आह) उपनिषद्वाक्य प्रतिपादन करते हैं।

भाष्य—जाग्रत तथा सुषुप्ति के मध्य में होने के कारण स्वप्न का नाम "सन्ध्य" है, सन्ध्यस्थान में जीव नवीन सृष्टि की कल्पना करता है, जैसाकि "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजत इति" बृहदा० ४।३।४=वहां न रथ हैं, न घोड़े हैं और नाही उनके चलने योग्य मार्ग हैं तो भी जीव रथ आदिकों को बनालेता है, इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में जीवकृत नवीन सृष्टि रचना पाये जाने से स्पष्ट है कि स्वप्नसृष्टि जाग्रत् की भांति सत्य है मिथ्या नहीं।

सं०— अब उक्त अर्थ में अन्य शाखा वालों का मत कथन करते हैंः—

निर्मातारञ्चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

पद०--निर्मातारं । च । एके । पुत्रादयः । च ।

पदा०-(च) और (एके) कई एक शाखा वाले जीव की स्वप्नावस्था में (निर्मातारं) ईश्वर को निर्माता कथन करते हैं (च) क्योंकि श्रुतिस्थ "काम" पद से (पुत्रादयः) पुत्रादि पदार्थों का ग्रहण पाया जाता है ।

भाष्य--कठ शाखा वालों का कथन है कि जीव के स्वाप्न पदार्थों का रचयिता ईश्वर है, जैसाकि कठ० ५ । ८ में वर्णन किया है कि:—

एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषोनिर्म्मिमाणः। तदेवशुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते, तस्मिंलोकाः श्रिताःसर्वेतदुनात्येति कश्चन ॥

अर्थ--वह अन्तर्यामी परमात्मा प्रत्येक कामना की पूर्त्ति के लिये सारे जगत् को निर्माण करता हुआ जीवों के सुप्त होने पर भी जागता है और वही निरञ्जन होने से "शुद्ध" और निरतिशय कल्याणगुणाकर होने से "ब्रह्म" है उसी में सब लोक स्थित हैं, इसप्रकार सब जगत् का निर्माता ईश्वर ही जीव की स्वप्नकामनाओं का रचयिता है, प्रकृत में "काम" पद से पुत्रादि पदार्थ अभिप्रेत हैं इच्छामात्र नहीं, इससे सिद्ध है कि जैसे जाग्रत् अवस्था के पुत्रादि पदार्थ ईश्वर रचित होने से सत्य हैं वैसे ही स्वप्नपदार्थ भी सत्य हैं कल्पित नहीं।

सं०--अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त-स्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

पद०—मायामात्रं । तु । कार्त्स्न्येन । अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, (कार्त्स्न्येन) पूर्णरूप से (अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्) प्रकट न न होने के कारण स्वप्नसृष्टि (मायामात्रं) मायामात्र है सत्य नहीं ।

भाष्य—जिस प्रकार जाग्रत् के पदार्थ यथायोग्य देशकालादि कारणों से उत्पन्न होते हैं वैसे स्वप्न पदार्थों की उत्पत्ति नहीं पाई जाती प्रत्युत जाग्रत् पदार्थों के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा रज्जु सर्प के समान स्वप्नपदार्थों की अन्यथा प्रतीति होती है अर्थात् जिस प्रकार सर्प विषयक संस्कार वाले पुरुष को तिमि-रादि दोषों के उपस्थित होने से पुरोवर्त्ति रज्जु आदि पदार्थों में "अयं सर्पः"=यह सर्प है, इस प्रकार का विपरीत ज्ञान होता है वैसे ही जाग्रत् संस्कारविशिष्ट पुरुष को निद्रादि दोषों से स्वप्न पदार्थों की अन्यथा प्रतीति होती है इसी को वैदिकसिद्धान्त में "अन्यथाख्याति" कहते हैं, और जो पदार्थ अन्यथाख्याति रूप ज्ञान का विषय होता है वह अन्य में अन्य बुद्धि होने के कारण जाग्रत् पदार्थों की भांति सत्य नहीं होसक्ता किन्तु रज्जु सर्पादिकों के सदृश कल्पनामात्र होता है, इसलिये स्वप्नसृष्टि को सत्य मानना समीचीन नहीं, और जो उक्त श्रुतिवाक्य से ईश्वर को स्वप्नपदार्थों का निर्माता कथन किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि वह जाग्रत् काल में

उपलब्ध होने वाले सूर्य्यादि पदार्थों का निर्माता है जीव कल्पित मिथ्या पदार्थों का नहीं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषदार्य्यभाष्य" में कियागया है इसलिये यहां आवश्यकता नहीं।

और जो मायावादियों का कथन है कि यहां "माया" शब्द अनिर्वचनीय=सतसत् से विलक्षण अविद्या के अभिप्राय से आया है, यह इसलिये ठीक नहीं कि संसार में सतसत् से विलक्षण कोई पदार्थ नहीं, इसी अभिप्राय से "न तादृक्पदार्थाऽप्रतीतेः" सांख्य० १।२४ में वर्णन किया है कि पदार्थमात्र सतसत् से विलक्षण न होने के कारण अविद्या को अनिर्वचनीय कथन करना केवल भ्रान्ति है, दूसरी बात यह है कि सर्वत्र मिथ्यार्थ में "माया" शब्द के प्रयोग का कोई नियम नहीं, यदि सर्वत्र माया शब्द का मिथ्या अर्थ में प्रयोग अभिप्रेत होता तो "सम्भवाम्यात्ममायया" गी० ४।६ में यह वर्णन न किया जाता कि मैं अपनी माया=शक्ति से प्रगट होता हूं, और नाही "जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता" इस वाल्मीकि रामायण के वचन से यह वर्णन कियाजाता कि जनक राजा की पुत्री सीता देवमाया के समान उत्पन्न हुई, इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि "माया" शब्द कहीं ज्ञान, कहीं शक्ति तथा किसी प्रकरण में विपरीत ज्ञान के अभिप्राय से आया है अनिर्वचनीय अर्थ में नहीं, और "मीयतेऽनया इति माया"=जिससे पदार्थ की परिच्छेद=इयत्ता जानीजाय उस

को "माया" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से भी "माया" शब्द से ज्ञानरूप अर्थ ही संगत होता है, क्योंकि ज्ञान के विना किसी पदार्थ का प्रकाश नहीं होसक्ता, यदि दुर्जनतोषन्याय से "माया" के अर्थ मायावादियों के माने हुए अनिर्वचनीय=मिथ्या पदार्थ के ही मान लिये जायं तो भी उनकी इष्टसिद्धि नहीं होती, क्योंकि "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" ब्र० सू० २।२।२९ के भाष्य में वाह्यार्थापलापी विज्ञानवादी का मत खण्डन करते हुए स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने इस बात को स्पष्ट करदिया है कि "न स्वप्नादि प्रत्ययवज्जागरितप्रत्यया भवितुमर्हन्ति कस्मात्, वैधर्म्यात्, वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः= जाग्रत् पदार्थों का बाध नहीं होता और स्वप्न पदार्थों का बाध होजाता है, इसलिये स्वप्नज्ञान के सदृश जाग्रत् उपलब्धि के वाह्य विषय को न मानकर मिथ्या कथन करना विज्ञानवादी का साहसमात्र है, जब इस प्रकार उक्त स्वामीजी ने बलपूर्वक स्वयं स्वप्न तथा जाग्रत् के पदार्थों में विलक्षणता मानी है फिर जाग्रत् पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करने के लिये स्वप्नपदार्थों को मायामात्र=अनिर्वचनीय कथन करना मायावादियों का साहस मात्र है॥

सं०—अब प्रसङ्ग सङ्गति से स्वप्न को शुभाशुभ का सूचक कथन करते हैं:—

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥

पद०-सूचकः । च । हि । श्रुतेः । आचक्षते । च । तद्विदः ।

पदा०-(च) और (हि) निश्चयकरके स्वप्न (सूचकः) भावी शुभाशुभ का सूचक है, क्योंकि (श्रुतेः) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है (च) और (तद्विदः) स्वप्नविद्या के जानने वाले भी (आचक्षते) ऐसा ही कथन करते हैं।

भाष्य-स्वप्नविद्या के जाननेवालों का अनुभव है कि कई एक स्वप्न भावी शुभ वृत्त के और कई एक अशुभ वृत्त के सूचक होते हैं और श्रुति भी इसी अर्थ को प्रतिपादन करती है, जैसाकि छां० ५ । २ । ८ में वर्णन किया है कि :—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥

अर्थ-जब पुरुष स्वप्न में स्त्रियों को विवाहादि मङ्गल कार्य्यों में व्यापृत देखता है तब उसको भविष्य में इष्टफल की प्राप्ति होती है और " पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति "=जब स्वप्न में कालेदांतों वाले कृष्णवर्ण पुरुष को देखे तो जानना चाहिये कि इसकी मृत्यु समीप होने वाली है।

" स्वा० रामानुज " ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि " इतश्च स्वप्नार्था न जीवसंकल्पपूर्वकाः यतः स्वप्नोऽभ्युदययानभ्युदययोः सूचकः श्रुतेरवगम्यते "=श्रुति प्रमाण द्वारा स्वप्न इष्टानिष्ट फल का सूचक

होने के कारण स्वप्न पदार्थ जीव संकल्पकृत नहीं होसक्ते, यदि स्वप्नपदार्थ जीव संकल्परचित होते तो दुःस्वप्न से अनिष्टफल की सूचना कदापि न पाई जाती, क्योंकि कोई पुरुष अपने अनिष्ट के लिये व्यापृत नहीं होता, अतएव स्वप्नसृष्टि को ईश्वर रचित मानना ही समीचीन है ? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि यदि स्वप्नपदार्थ ईश्वररचित होते तो तद्विषयक प्रतीति को अन्यथाज्ञान न माना जाता, जैसाकि पीछे निरूपण कर आये हैं परन्तु स्वप्नपदार्थों की प्रतीति को अन्यथा ज्ञानरूप मानना सर्व तन्त्रसिद्ध होने से श्रीभाष्यकार की उक्त कल्पना आदरणीय नहीं।

सं०–ननु, चेतनस्वरूप जीव को दुःखरूप बन्ध तथा स्वप्नादि विपरीत ज्ञान क्यों होते हैं ? उत्तरः—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्य्ययौ ॥ ५ ॥

पद०–पराभिध्यानात् । तु । तिरोहितं । ततः । हि । अस्य । बन्धविपर्य्ययौ ।

पदा०–(हि) निश्चय करके (पराभिध्यानात्) परमात्मा के संकल्प से (तिरोहितं) जीव का ज्ञान आवृत रहता है (ततः) इसलिये (अस्य) इसको (बन्धविपर्ययौ) बन्ध तथा मोक्ष दोनों बने रहते हैं।

भाष्य–"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, स्वकृत अनादि कर्मों की परम्परा से ईश्वर संकल्पद्वारा जीव का

स्वाभाविक चेतनस्वरूप आवृत रहता है और स्वरूपावरण के कारण जीव अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक न करता हुआ निषिद्ध कर्मों के आचरण से पुनः २ जन्म मरणरूप संसार के बन्धन में पड़ा रहता है जब कभी पूर्वकृत पुण्य के फल से सत्संगद्वारा सत्कर्मों में रुचि होजाती है तब विहितकर्मों के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि के अनन्तर निदिध्यासन करता हुआ मुक्त होजाता है, इसप्रकार परमात्मा का संकल्प जीव के बन्धमोक्ष में हेतु होने के कारण ज्ञानस्वरूप होने पर भी जीव के बन्ध तथा अन्यथाज्ञान की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं।

सं०—अब जीव के बन्ध में और हेतु कथन करते हैं:—

देहयोगाद्वासोऽपि ॥ ६ ॥

पद०—देहयोगात्। वा। सः। अपि।

पदा०—(वा) और (देहयोगात्) शरीर के सम्बन्ध से (अपि) भी (सः) जीव को बन्ध होता है।

भाष्य—स्वकृत कर्मों के अनुसार ईश्वर संकल्पद्वारा जीवों का शरीर से अनादि सम्बन्ध भी बन्ध का हेतु जानना चाहिये, और जो मायावादियों ने यहां अंशांशिभाव मानकर जीव ईश्वर का अभेद सिद्ध किया है वह स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से सम्बन्ध न रखने के कारण आदरणीय नहीं।

सं०—जीव की स्वप्नावस्था निरूपण करने के अनन्तर अब सुषुप्ति अवस्था का वर्णन करते हैं:—

तदभावोनाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥७॥

पद०-तदभावः। नाडीषु। तच्छ्रुतेः। आत्मनि। च।

पदा०-(नाडीषु) पुरीतत् नाड़ी में (तदभावः) स्वप्नावस्था का अभाव है (च) क्योंकि पुरीतत् तथा (आत्मनि) आत्मा में सुषुप्ति होती है और (तच्छ्रुते) श्रुति से भी ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-उपनिषदों में सुषुप्तिस्थान भिन्न २ पायाजाता है जैसाकि छां० ८। ६। ३ में नाडीयों और बृहदा० २। १। १९ में पुरीतत्=हृदय को वेष्टन करने वाली रुधिरप्रधान सूक्ष्म धाराओं को सुषुप्तिस्थान वर्णन कियागया है, इसलिये यहां यह सन्देह होता है कि उक्त सुषुप्तिस्थानों का समुच्चय है किंवा विकल्प है? या यों कहो कि एक ही काल में सब स्थानों पर सुषुप्ति होती है अथवा कालभेद से भिन्न२ स्थानों में होती है? इसमें प्रथमपक्ष सिद्धान्ती का और दूसरा पक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है कि उक्त श्रुतिवाक्यों में सुषुप्ति स्थान भिन्न २ वर्णन किया गया है, और अपने २ अर्थ के प्रतिपादन करनें में सब श्रुतिवाक्य स्वतन्त्र हैं, इस लिये कालभेद से सबको सुषुप्तिस्थान मानकर सुषुप्ति का विकल्प मानना ही ठीक है समुच्चय नहीं? इसका उत्तर यह है कि "पाठशालायामधीते"=पाठशाला में पढ़ता है "आसनमधिष्ठायाधीते"=आसन पर बैठकर पढ़ता है, इत्यादि परस्पर भिन्नार्थक समान प्रकरणस्थ वाक्यों के समुच्चयद्वारा एक-

वाक्यता करने से यह बोध होता है कि पाठशाला में आसन पर बैठ कर पढ़ता है, इसी प्रकार प्रकृत में सुषुप्तिप्रतिपादक उक्त वाक्यों का स्वरूपभेद होने पर भी समान प्रकरण होने से एक वाक्यता रूप बोध के लिये समुच्चय मानना ठीक है विकल्प नहीं, जैसाकि बृहदा० २।१।१९ में वर्णन किया है कि "ताभिः प्रत्यवसृप्यशेते"=नाडीयों द्वारा पुरीतत् को प्राप्त होकर सोता है, इसप्रकार नाडीयों को सुषुप्ति का साधन कथन करके फिर बृहदा० ४।३।२१ में यों वर्णन किया है किः—

"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति"

अर्थ—हे सोम्य सुषुप्ति अवस्था में जीव परमात्मा से मिलजाता है, और इसी आशय को छां० ६।८।१ में इसप्रकार स्फुट किया है कि "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं"=प्राज्ञ=परमात्मा के साथ मिला हुआ जीव किसी वाह्य गन्धादि विषय को नहीं जानता और नाहीं किसी आन्तर सुखादि विषय को विशेषरूप से अनुभव करता है, इस रीति से हृदयगत नाडीयें, पुरीतत् और परमात्मा यह सब सुषुप्ति के स्थान हैं।

भाव यह है कि हृदयगत नाडीयें सुषुप्ति का साधन, पुरीतत् गृहस्थानी तथा ब्रह्म पर्य्यङ्कस्थानी है जिसपर शयन करके जीव सुषुप्ति के आनन्द को अनुभव करता है, इसी अभिप्राय से "समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता" सां० ५।११६ में वर्णन

किया है कि समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्ष में जीव ब्रह्म के रूप को धारण करता है।

सं०—अब जीव की जाग्रत् अवस्था का वर्णन करते हैं:—

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

पद०—अतः। प्रबोधः। अस्मात्।

पदा०—(अतः,अस्मात्) पर्य्यङ्कस्थानी परमात्मा से (अस्य) जीव की (प्रबोधः) जाग्रत् होती है।

भाष्य—सुषुप्ति में जीव परमात्मा के सन्निहित होजाने के कारण उसकी जाग्रत् भी उसी परमात्मा से होती है, जैसाकि "सत आगम्य न विदुःसत आच्छामहइति" छां०६। १०। २ में बर्णन किया है कि सत्=परमात्मा से आकर जीव नहीं जानसक्ते कि हम सत् से आये हैं, इससे यह भी पाया गया कि परमात्मा ही जीव का मुख्य सुषुप्तिस्थान है शेष स्थान गौण हैं परन्तु उनका समुच्चय है विकल्प नहीं।

सं—०अब सौषुप्त आनन्द अनुभव करने वाले जीव को ही जाग्रत् का भोक्ता कथन करते हैं:—

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः॥९॥

पद०—सः। एव। तु। कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः।

पदा०—(तु) निश्चयकरके (कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः) कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि इन चारों से पाया जाता है कि (सः, एव) वही जीव जाग्रत् का भोक्ता है अन्य नहीं।

भाष्य—जो जीव सुषुप्ति अवस्था के आनन्द को अनुभव करता है वही पुनः जाग्रत् में आकर गन्धादि विषयों को उपलब्ध करता है अन्य नहीं, क्योंकि कर्म तथा अनुस्मृति आदि हेतुओं से ऐसा ही पाया जाता है, यदि सौषुप्त आनन्द के अनुभविता जीव से जाग्रत् जीव भिन्न होता तो कर्म तथा फल की व्यधिकरणता होजाती, या यों कहो कि कर्म का कर्त्ता जीव तथा फलभोक्ता अन्य होता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि दोनों अवस्थाओं का साक्षी जीव एक है, इसी प्रकार अनुस्मृति=जो मैं सोया था वही जागा हूं, यह स्मृति भी उक्त अर्थ का साधक है और इसी भाव को "शब्द" यों सिद्ध करता है कि "त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति" छां० ६ । ९ । २=व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतंग, दंश=डांस, मशक इत्यादि जो२ जीव सुषुप्ति में ब्रह्म के सन्निहित होजाते हैं वह पुनः व्युत्थान को प्राप्त होकर उसी रूप को धारण करते हैं, इस प्रकार शब्दप्रमाण भी दोनों अवस्थाओं के साक्षी जीव को एक ही कथन करता है और "आत्मानमुपासीत"=आत्मा की उपासना करे, इत्यादि विधि वाक्य भी उक्तार्थ की सिद्धि में प्रमाण जानने चाहियें ।

स्मरण रहे कि यह सूत्र मायावादियों के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि जब उनके कथनानुसार सुषुप्तिकाल में जीव

का समुद्रस्थानी ब्रह्म से सर्वथा अभेद होगया तो फिर उसके जाग्रत में आने की चर्चा ही क्या ? इसप्रकार "**कर्मानुस्मृति शब्दाधिकरण**" में जीव ब्रह्म का स्पष्टभेद प्रतिपादन किया गया है और सुषुप्ति में सत्सम्पत्ति कथन का अभिप्राय यह है कि जीव उस काल में ब्रह्म की भांति अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करता है ।

सं०—अब जीव की मूर्छा अवस्था का वर्णन करते हैं:—

मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः ॥ १० ॥

पद०—मुग्धे । अर्धसम्पत्तिः ।

पदा०—(मुग्धे) मुग्ध पुरुष की (अर्धसम्पत्तिः) मरण के समान अवस्था होती है ।

भाष्य—मूर्च्छित पुरुष का नाम "**मुग्ध**" है, मुग्ध पुरुष की अवस्था मृत्युके समान होती है अर्थात् ज्ञान के तिरो हित होने से यह अवस्था जाग्रत तथा स्वप्न नहीं और प्राणों की चेष्टा पाये जाने के कारण मृत्यु नहीं, कम्प तथा नेत्रों की निमीलनोन्मीलन क्रिया होने से सुषुप्ति नहीं, इसप्रकार परिशेष से मुग्ध पुरुष की अवस्था उक्त तीनों अवस्थाओं से भिन्न है और इसी को "मूर्च्छा" कहते हैं ।

सं०—अब ब्रह्म को निराकार प्रतिपादन करने के लिये "उभयलिंगाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

पद०—न। स्थानतः।अपि। परस्य। उभयलिङ्गं। सर्वत्र।हि।

पदा०—(स्थानतः) पृथिवी आदि उपाधिओं और (अपि) स्वरूप से भी (परस्य) ब्रह्म (उभयलिङ्गं) दोनों प्रकार के लिङ्गों वाला (न) नहीं होसक्ता (हि) क्योंकि (सर्वत्र) सर्वत्र श्रुति वाक्यों में उसको निराकार प्रतिपादन किया गया है।

भाष्य—"अशब्दमस्पर्श०" कठ० ३। ९ "अकायमव्रणं०" यजु०४०। ८ इत्यादि श्रुतिवाक्यों में ब्रह्म को सर्वत्र निराकार प्रतिपादन करने से सिद्ध है कि ब्रह्म पृथिवी आदि किसी उपाधिद्वारा अथवा स्वरूप से निराकार और साकार दोनों प्रकार के लक्षणों वाला नहीं होसक्ता किन्तु वह सर्वदा एकरस निराकार है।

सं०—ननु, ब्रह्म को सर्वथा निराकार मानने से "सर्वगन्धः सर्वरसः" छां० ३। १४। २ इत्यादि साकार प्रतिपादक वाक्यों की क्या गति होगी? उत्तरः—

न भेदादितिचेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्॥१२॥

पद०—न। भेदात्।इति। चेत्। न। प्रत्येकं। अतद्वचनात्।

पदा०—(भेदात्) श्रुतियों में उभयलिङ्ग ब्रह्म का वर्णन पाये जाने से वह केवल निराकार (न) नहीं होसक्ता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (प्रत्येकं) सब वाक्यों में (अतद्वचनात्) उसको निराकार ही प्रतिपादन किया है।

भाष्य—ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतिवाक्यों में सर्वत्र ब्रह्म निराकार ही अभिप्रेत है साकार नहीं, जैसाकि " यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं " बृहदा० ३।७।१=जो पृथिवी में रहता है, जिसको पृथिवी नहीं जानती और जो पृथिवी का प्रेरक है वही आत्मा=परमात्मा तेरा अन्तर्यामी है, इत्यादि अन्तर्यामी ब्राह्मण के कई एक वाक्यों में उपचार से पृथिव्यादिकों को उसका शरीर प्रतिपादन करते हुए भी स्वरूप से निराकार ही वर्णन किया है और जो छां० ३।१४ में ब्रह्म को सर्वगन्ध, सर्वरस प्रतिपादन किया है उसका यह अभिप्राय नहीं कि जीव की भांति ब्रह्म गन्धादि विषयों का भोक्ता है किन्तु सब गन्धों का उत्पादक होने से " सर्वगन्ध " और रसमात्र का जनयिता होने के कारण " सर्वरस " कहाता है, इसलिये सर्वत्र ब्रह्म प्रतिपादक वाक्यों के विषयभूत ब्रह्म को निराकार मानना ही ठीक है।

सं०—अब उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य शाखा का प्रमाण कथन करते हैं:—

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

पद०—अपि। च। एवं। एके।

पदा०—(च) और (एके) कई एक शाखा वाले ब्रह्म में (एवं, अपि) भेददर्शन की निन्दा कथन करते हैं।

भाष्य—"मृत्योःस मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"=

कठ० ४। ११=जो ब्रह्म को नानात्व=निराकार तथा साकार रूप से उभयलिङ्ग जानता है वह पुनः २ जन्ममरण में आता है, इत्यादि कठशाखावाले उभयलिङ्गब्रह्मदर्शी पुरुष के लिये जन्म मरणरूप दोष कथन करते हैं जिससे सिद्ध है कि ब्रह्म निराकार है।

सं०-ननु, साकार तथा निराकार दोनों प्रकार के ब्रह्म प्रतिपादक वाक्य पाये जाने से ब्रह्म को केवल निराकार ही मानना ठीक नहीं? उत्तरः—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

पद०-अरूपवत्। एव। हि। तत्प्रधानत्वात्।

पदा०-(हि) निश्चयकरके (तत्प्रधानत्वात्) निराकार बोधक वाक्य प्रधान होने से (अरूपवत्) ब्रह्म निराकार है साकार नहीं।

भाष्य-"अस्थूलमनणु०" बृहदा० ५।८।८ इत्यादि निराकार प्रतिपादक वाक्य प्रधान और "सर्वगन्धः सर्वरसः" छां० ३।१।४ इत्यादि साकार प्रतिपादक वाक्य गौण हैं, और "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः"=गौण तथा मुख्य दोनों के मध्य मुख्य में कार्य्य की प्रतीति होती है गौण में नहीं, इस नियम के अनुसार गौण वाक्य वस्तुतः साकार के प्रतिपादक नहीं, या यों कहो कि सगुण वाक्य उपचार से साकार के प्रतिपादक और निर्गुण वाक्य ब्रह्म के वास्तविक

रूप को बोधन करते हैं, इस प्रकार उभयविध वाक्यों में परस्पर कोई विरोध नहीं और नाहीं पौराणिकों की भांति ब्रह्म के साकार होने में कोई प्रमाण उपलब्ध होता है, इसका विशेष विचार "आर्य्यमन्तव्यप्रकाश" में किया गया है, अतएव सर्वथा निर्दोष होने के कारण निराकारवाद ही आदरणीय है।

सं०-ननु, "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" इत्यादि वाक्य ब्रह्म को निर्विशेष प्रतिपादन करते हैं सविशेष नहीं ? उत्तरः—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

पद०-प्रकाशवत्। च। अवैयर्थ्यात्।

पदा०-(च) और (अवैयर्थ्यात्) सर्वज्ञत्वादि विशेषधर्म प्रतिपादक वाक्य व्यर्थ न होने से (प्रकाशवत्) प्रकाशस्वरूप ब्रह्म सविशेष है निर्विशेष नहीं।

भाष्य-"गुणीसर्वविद्यः" श्वेता० ६।१६=परमात्मा सत्वादि धर्मों वाला तथा सर्वज्ञ है, इत्यादि वाक्य ब्रह्म के सत्यत्व सर्वज्ञत्व तथा जगत्कारणत्वादि धर्मों का प्रतिपादन करते हैं, इसलिये मायावादियों की भांति ब्रह्म सर्वथा निर्विशेष नहीं अर्थात् सत्यादि वाक्य भी ब्रह्म की निर्विशेषता बोधन नहीं करते किन्तु उसको सत्यत्वादि धर्मों वाला प्रतिपादन करते हैं, और जो वैदिकसिद्धान्त में ब्रह्म को निर्विशेष मानाजाता है वह केवल इस अभिप्राय से कि उसमें स्थूलत्वादि विरोधी धर्म नहीं, जैसाकि बृहदा० ५।८।८। में वर्णन किया है कि :—

"एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवद-न्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहित-मच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गं"

अर्थ–हे गार्गि ! निश्चयकरके इसी अक्षर=अविनाशी परमात्मा को ब्रह्मवेत्ता कथन करते हैं कि न वह स्थूल है, न अणु है, न दीर्घ है, न लोहित है, न कृष्ण है, न वायु है, और न आकाश है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि ब्रह्म निर्विशेष है।

"श्रीभाष्याचार्य" का कथन है कि "न च निर्गुणवाक्य विरोधः प्राकृतहेयगुणविषयत्वात्"=प्राकृत हेय गुणों से रहित होने के कारण ब्रह्म "निर्गुण" तथा सत्यादि गुणों वाला होने से "सगुण" है, इसलिये निर्गुण प्रतिपादक वाक्यों का कोई विरोध नहीं।

सं०–ननु, उपाधि से सगुण तथा उपाधिशून्य होने से निर्गुण मानने में क्या दोष ? उत्तरः—

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

पद०–आह। च। तन्मात्रम्।

पदा०–(च) और श्रुति में ब्रह्म को (तन्मात्रम्) केवल प्रज्ञानघन (आह) कथन किया है, इसलिये उसमें उपाधिकल्पना ठीक नहीं।

भाष्य-" स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः" बृहदा० ४ । ५ । १३=जिसप्रकार सैन्धव=नमक बाहर भीतर एकरस लवण ही लवण होता है इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण होता हुआ बाहर भीतर विज्ञानघन=चैतन्यमात्र है, और चैतन्य से भिन्न उसके स्वरूप में किसी वस्तु का प्रवेश नहीं जिससे उसको उपाधिवाला माना जाय, इसप्रकार एक ही परमात्मा निराकार चेतनस्वरूप तथा निरञ्जन है, इस कथन से यह भी पायागया कि मायाकृत उपाधिवश से उसमें अवतारादि की कल्पना करना पौराणिकों का साहसमात्र है ॥

दर्शयति चाथोऽपि स्मर्य्यते ॥ १७ ॥

पद०-दर्शयति । च । अथो । अपि । स्मर्य्यते ।

पदा०-(दर्शयति) श्रुति में ब्रह्म को निराकार प्रतिपादन किया है (च) और (अथो, अपि,स्मर्य्यते) स्मृति से भी उसकी निराकारता ही पाई जाती है ।

भाष्य-"अथात आदेशो नेतिर" बृहदा०२। ३ । ६=यह ब्रह्मविषयक उपदेश साकार वस्तु का नहीं "अन्यदेव तद्विदितदथो अविदितादधि" केन०२।३=ब्रह्म विदित=कार्य्यरूप जगत् तथा अविदित=कारणरूप प्रकृति से भिन्न है,इत्यादि श्रुतियों में स्पष्टतया ब्रह्म को निराकार प्रतिपादन किया है और स्मृतियों

में भी उसकी साकारता का निषेध पायाजाता है, जैसाकि गी० १३।१२ में वर्णन किया है कि :—

ज्ञेयंयत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

अर्थ—हे अर्जुन! मैं तेरे प्रति उस ज्ञेय पदार्थ का उपदेश करता हुं जिसको जानकर पुरुष अमृतपद को प्राप्त होता है, अनादि निर्विकार चराचर जगत् का रचयिता ब्रह्म ही "ज्ञेय" है, वह घटादि साकार पदार्थों की भांति सत्=स्थूल नहीं और नाही शशशृङ्गादि पदार्थों की भांति असत्=तुच्छ है, इत्यादि अनेक श्रुतिस्मृति वाक्य ब्रह्म की निराकारता के प्रतिपादक जानने चाहियें ।

अतएव चोपमा सूर्य्यकादिवत् ॥१८॥

पद०—अतः । एव । च । उपमा । सूर्य्यकादिवत् ।

पदा०—(च) और (अतः, एव) निराकार होने से ही ब्रह्म को (सूर्य्यकादिवत्) सूर्य्यादि प्रतिबिम्बों की भांति असङ्ग होने की उपमा दीगई है ।

भाष्य—जो शास्त्र में ब्रह्म को सूर्य्यादि प्रतिबिम्बों की भांति असङ्ग होने की उपमा दीगई है वह निराकार होने पर ही घट सक्ती है अन्यथा नहीं, जैसाकि कठ० ५ । ११ में वर्णन किया है कि:—

सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्नलिप्यते चाक्षुषै

वाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः ॥

अर्थ—जिसप्रकार सब जगत् का चक्षुः=प्रकाशक होने पर भी सूर्य्य चक्षुःसम्बन्धी वाह्यदोषों से लिप्त नहीं होता इसी प्रकार सब भूतों का अन्तर्य्यामी परमात्मा वस्तुतः भूतों से पृथक् होने के कारण सांसारिक दुःखों से लिपायमान नहीं होता, इत्यादि औपनिषद वाक्यों में सूर्य्यादि दृष्टान्तों द्वारा ब्रह्म को असङ्ग बोधन करने से स्पष्ट है कि वह निराकार है साकार नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

पद०—अम्बुवत् । अग्रहणात् । तु । न । तथात्वम् ।

पदा०—"तु" शब्द सिद्धान्त पक्ष के द्योतनार्थ आया है (अम्बुवत्) जलगत सूर्य्यादि प्रतिबिम्ब की भांति (अग्रहणात्) उपलब्ध न होने से ब्रह्म (तथात्वं) साकार (न) नहीं।

भाष्य—जिसप्रकार जलगत सूर्य्यादि प्रतिबिम्ब साकार प्रतीत होते हैं वैसे परमात्मा की प्रतीति नहीं होती अर्थात् यदि ब्रह्म साकार होता तो उसकी अवश्य किसी न किसी पदार्थ में प्रतिबिम्बरूप से उपलब्धि होती पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि वह साकार नहीं और नाही मायावादियों के मन्तव्यानुसार उसका किसी पदार्थ में प्रतिबिम्ब पड़सकता है, क्योंकि उनके मत में ब्रह्म से भिन्न दूसरा कोई पदार्थ नहीं और बिम्ब प्रतिबिम्बभाव

भेद में ही होता है अभेद में नहीं, इस प्रकार प्रतिबिम्ब सिद्ध न होने के कारण ब्रह्म का निराकार मानना ही समीचीन है।

सं०-ननु, छां० ६।३।२ में ब्रह्म का बहुत होना कथन किया है फिर वह निराकार कैसे ? उत्तरः—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

पद०-वृद्धिह्रासभाक्त्वं। अन्तर्भावात्। उभयसामञ्जस्यात्। एवं।

पदा०-(अन्तर्भावात्) परमात्मा के सर्वव्यापक होने और (उभयसामञ्जस्यात्) व्याप्यव्यापक दोनों का एकत्र अविरोध पाये जाने से (एवं, वृद्धिह्रासभाक्त्वं) उसके वृद्धिह्रासरूप बहुत्व कथन में कोई दोष नहीं।

भाष्य-जगत् के उपादान कारण प्रकृति और निमित्तकारण ब्रह्म के व्याप्यव्यापकभाव का परस्पर कोई विरोध नहीं और नाही उसके होने में कोई प्रमाण उपलब्ध होता है प्रत्युत तर्कसहित प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि अनन्त होने से ब्रह्म व्यापक तथा एकदेशवृत्ति होने से प्रकृति व्याप्य है, और वही प्रकृति परमात्मा की इच्छाद्वारा अनेक प्रकार के परिणामों को धारण करती है, या यों कहो कि वृद्धि=बढ़ना तथा ह्रास=घटनां प्रकृति का स्वाभाविक धर्म है, इसी प्रकृतिगत वृद्धिह्रास के अभिप्राय से छां० ६।३।२ में वर्णन किया है कि "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय"=सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा

ने संकल्प किया कि मैं बहुत होजाऊं अर्थात् अपनी प्रकृति को नानारूपों द्वारा परिणत करूं, इसप्रकार वृद्धिह्रास का व्यवहार परमात्मा में प्रकृतिसम्बन्ध से औपचारिक है मुख्य नहीं, इसलिये उक्त वृद्धिह्रासरूप बहुभवन के आक्षेप द्वारा ईश्वर को साकार कथन करना साकारवादियों का मनोरथमात्र जानना चाहिये।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

दर्शनाच्च ॥२१॥

पद०—दर्शनात्। च।

पदा०—(च) और (दर्शनात्) श्रुति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—श्रुति भी परमात्मा के वृद्धिह्रास को औपचारिक वर्णन करती है, जैसाकि "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः सपक्षीभूत्वापुरः पुरुष आविशत्" बृ०दा०२।५। १८=द्विपात्, चतुष्पात् आदि अनेक शरीरों को उत्पन्न करके उनके नियमनार्थ परमात्मा ने प्रवेश किया, इससे सिद्ध है कि परमात्मा का बहुत होना औपचारिक होने से उसकी निराकारता में कोई बाधा नहीं, इसका विशेष विचार "उपनिषदार्य्यभाष्य" में किया गया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यक्ता नहीं।

और जो मायावादियों ने उक्त दोनों सूत्रों का लापन करते हुए परमात्मा में औपाधिक वृद्धिह्रास माना है सो सूत्रकार के आशय

से सर्वथा विरुद्ध हैं, क्योंकि "अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्" ब्र० सू० ३।२।१४ में ब्रह्म को अरूप कथन किया गया है।

सं०—ननु, यदि ब्रह्म निराकार है तो फिर उसको बृहदा० २।३।१ में मूर्त्तामूर्त्त उभयरूप क्यों वर्णन किया गया है ? उत्तरः—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

पद०—प्रकृतैतावत्त्वं। हि। प्रतिषेधति। ततः। ब्रवीति। च। भूयः।

पदा०—(हि) निश्चयकरके शास्त्र (प्रकृतैतावत्त्वं) ब्रह्म की इयत्ता का (प्रतिषेधति) निषेध करता हुआ (ततः, च, ब्रवीति, भूयः) उससे भी अधिक प्रतिपादन करता है।

भाष्य—बृहदारण्यक के मूर्त्तामूर्त्त ब्राह्मण में ब्रह्म को इसप्रकार वर्णन किया है कि "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च" बृहदा० ४।३।१=मूर्त्त तथा अमूर्त्त भेद से ब्रह्म के दो रूप हैं अर्थात् पृथिवी, जल, तेज यह "मूर्त्त" और वायु तथा अन्तरिक्ष यह "अमूर्त्त" हैं, इस प्रकार दोनों रूपों का वर्णन करते हुए उपसंहार में यह कथन किया है कि "अथात आदेशो नेति २" बृहदा० ४।३।६=उक्त दोनों रूप ब्रह्म के स्वरूपभूत नहीं यही मुख्य उपदेश है, या यों कहो कि पृथिव्यादि

सब इयत्ता वाले हैं और ब्रह्म की कोई सीमा नहीं, इसप्रकार भूतों का वर्णन करके परमात्मा के स्वरूप को असीम वर्णन किया है यदि उपनिषत्कार का तात्पर्य्य ब्रह्म की साकारता बोधन में होता तो "नेति" शब्द द्वारा उसके आकार का प्रतिषेध न किया जाता पर किया है इससे सिद्ध है कि ब्रह्म निराकार है साकार नहीं।

भाव यह है कि "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे" इस वाक्य गत ब्रह्म पद में षष्ठी विभक्ति "स्वस्वामिभावसम्बन्ध" से है तादात्म्यसम्बन्ध से नहीं, क्योंकि "असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्" तैत्ति० २।६।१=जो ब्रह्म को असत्=अन्यथा जानता है वह भी असत् होजाता है, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म के मूर्त्त होने का निषेध किया है, इसलिये मूर्त्तामूर्त्त ब्राह्मण में पृथिवी आदि को ब्रह्मसम्बन्धी होने से उसका रूप कथन किया है वस्तुतः ब्रह्म आकार वाला नहीं॥

सं०-अब ब्रह्म की सूक्ष्मता कथन करते हैं:—

तदव्यक्तमाह हि॥ २३॥

पद०-तत्। अव्यक्तं। आह। हि।

पदा०-(हि) निश्चयकरके (तत्) ब्रह्म को (अव्यक्तं) सूक्ष्म कथन किया है।

भाष्य-"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा" मुं० ३।१।८ इत्यादि वाक्यों में कथन

किया है कि ब्रह्म चक्षुः का विषय नहीं और नाही बाणी, तथा अन्य इन्द्रियों का विषय है और न तप तथा कर्म से जाना जाता है, इत्यादि ब्रह्म की दुर्विज्ञेयता बोधन करने वाले अनेक वाक्यों से पायाजाता है कि ब्रह्म निराकार होने से सूक्ष्म है, इस विषय का विचार भले प्रकार "आर्य्यमन्तव्यप्रकाश" में किया गया है ।

सं०-अब परमात्मा की निराकारता में योगियों का अनुभव कथन करते हैं:—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

पद०-अपि । च । संराधने । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

पदा०-(संराधने) उपासनाकाल में योगी (अपि) परमात्मा को निराकार अनुभव करते हैं (च) क्योंकि (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) प्रत्यक्ष तथा अनुमान से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-उपासना काल में योगी लोग परमात्मा को निराकार रूप से अनुभव करते हैं, जैसाकि मुं० ३ । १ । ८ में वर्णन किया है कि :—

"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः"

अर्थ-ज्ञानप्रसाद से शुद्ध अन्तःकरण वाले योगीजन समाधि में निष्कल=निराकार परमात्मा का ध्यान करते हैं, इसी अभि

अथ से " निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः" योग० १।४७ में वर्णन किया है कि निर्विचार समाधि की निर्मलता से योगी को सब पदार्थों का यथार्थज्ञान होता है और :—

ये विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टा संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मनेनमः ॥

अर्थ—जो योगी लोग अविद्यारूप निद्रा से रहित होकर प्राणायाम करते हुए यथालाभसन्तुष्ट तथा जितेन्द्रिय रहते और जिस परमात्मा की शुद्ध ज्योति का अनुभव करते हैं उसको हमारा नमस्कार हो, इत्यादि अनेक श्रुति स्मृत्युक्त वाक्यों से स्पष्ट है कि योगी पुरुषों को ही परमात्मा की निराकारता का यथार्थ अनुभव होता है अन्यों को नहीं ।

सं०—अब परमात्मसाक्षात्कार में आभ्यासरूप कर्म की आवश्यकता कथन करते हैं :—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्य-भ्यासात् ॥ २५ ॥

पद०—प्रकाशादिवत् । च । अवैशेष्यं । प्रकाशः । च । कर्मणि । अभ्यासात् ।

पदा०—(च) और (प्रकाशादिवत्) प्रकाशादिकों की भांति (अवैशेष्यं) ब्रह्मसाक्षात्कार में कोई विशेषता नहीं पाई जाती (च) और (प्रकाशः) परमात्मा का साक्षात्कार (कर्मणि) कर्म में (अभ्यासात्) अभ्यास करने से होता है ।

भाष्य—जिसप्रकार किसी वस्तु के चिन्तन करने से उसका तत्व प्रकाशित होजाता है वैसे ही समाधि अवस्था में पुनः २ अभ्यास करने से परमात्मा का यथार्थ अनुभव होता है। मायावादियों का कथन है कि प्रकाशादिकों के समान उपाधिवश से परमात्मा ही जीवभाव को प्राप्त होगया है अर्थात् जैसे दीपादिकों का प्रकाश कमरे के भीतर त्रिकोण, चतुष्कोण प्रतीत होता है वह गृह की उपाधि से है वस्तुतः नहीं इसी प्रकार अन्तःकरणरूप उपाधि से शुद्ध ब्रह्म जीवभाव को प्राप्त हुए की भांति प्रतीत होता है पर वास्तव रूप से शुद्ध है और जीवभावरूप भ्रान्ति की निवृत्ति वेदान्तशास्त्र में अभ्यास करने से होती है, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि "कर्मणि" पद से वेदान्तशास्त्र का ग्रहण नहीं और नाही उक्त अर्थ के ग्रहण में कोई प्रमाण वा युक्ति पाई जाती है यदि विचार कर देखाजाय तो यह खींच अद्वैतवादियों की स्वार्थपरता को बोधन करती है, इसका विस्तार "उपनिषदार्य्यभाष्य" में किये जाने से यहां आवश्यकता नहीं॥

सं०—अब निदिध्यासनरूप कर्म के अभ्यास का फल कथन करते हैं:—

अतोऽनन्तेन तथाहिलिङ्गम् ॥ २६ ॥

पद०—अतः। अनन्तेन। तथाहि। लिङ्गम्।

पदा०—(अतः) जीव आवृत्तिरूप कर्म से (अनन्तेन) अनन्त ब्रह्म के साथ मिलकर अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करता है

(हि) क्योंकि (तथा, लिङ्गम्) शब्दप्रमाण से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-" स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते " छां० ८ । ३ । ४=जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त होकर अपने निजरूप से वर्त्तमान होता है अर्थात् परमात्मसम्बन्धी अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके स्वच्छन्द विचरता है, इत्यादि वाक्यों द्वारा जीव का अपूर्व सामर्थ्य पाये जाने से स्पष्ट है कि निदिध्यासनरूप कर्म ही मुक्ति का मुख्य साधन है अन्य नहीं ।

सं०-अब ब्रह्म विषयक कारणाकारण प्रतिपादक वाक्यों के अविरोधार्थ "अहिकुण्डलाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:-

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥२७॥

पद०-उभयव्यपदेशात् । तु । अहिकुण्डलवत् ।

पदा०-" तु " शब्द सिद्धान्तपक्ष के द्योतनार्थ आया है (अहिकुण्डलवत्) सर्प के कुण्डल की भांति (उभयव्यपदेशात्) दोनों प्रकार का व्यपदेश पाये जाने से उभयविध वाक्यों में कोई विरोध नहीं ।

भाष्य-कई एक वाक्यों में ब्रह्म को जगज्जन्मादिकों का हेतु वर्णन किया है, जैसाकि " द्यावाभूमी जनयन्देव एकः " यजु० १७ । १७=द्यु, तथा पृथिवी आदि लोकों का उत्पन्न करने वाला परमात्मा एक० है और " नतस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते " श्वेता०

६ । ९=न उसका कोई कार्य्य है न करण है और नाही कोई उसके सदृश शक्तिवाला है, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म बिषयक कारणता का निषेध पाये जाने से यह सन्देह उत्पन्न है कि ब्रह्म जगत् का कारण है वा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि जिसप्रकार एक ही सर्प कुण्डलावस्था में संकुचित होने पर अपने सर्पत्वभाव का परित्याग नहीं करता इसी प्रकार ब्रह्म जगत्कर्त्तृत्वादि धर्मों का कभी परित्यागं नहीं करता, और जो "न तस्य कार्य्यं" वाक्य का विरोध दिया है वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त वाक्य का तात्पर्य्य ब्रह्म की उपादानकारणता के निषेध में है निमित्तकारता के निषेध में नहीं, यदि निमित्तकारणता के निषेध में होता तो " परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इस वाक्यशेष से यह प्रतिपादन न कियाजाता कि विचित्ररूप जगत् को उत्पन्न करने वाली ब्रह्म शक्ति अनेक प्रकार की है, इससे सिद्ध है कि ब्रह्म के कारणाकारण प्रतिपादक वाक्यों में विरोध नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

पद०-प्रकाशाश्रयवत् । वा । तेजस्त्वात् ।

पदा०-(वा) अथवा (तेजस्त्वात्) तेजस्वरूप होने से (प्रकाशाश्रयवत्) प्रकाश के आश्रयभूत सूर्य्यादि पदार्थों की भांति ब्रह्म के कर्त्तृत्वादि धर्मों का भेदाभेद है ।

भाष्य—जैसे सूर्य्य का प्रकाश सूर्य्य से अत्यन्तभिन्न नहीं और सूर्य्यरूप भी नहीं इसीप्रकार ब्रह्मसम्बन्धी जगज्जन्मादि हेतुरूप गुण ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं और गुण होनें से स्वरूप भी नहीं, इसलिये ब्रह्मगत कर्तृत्वादि गुण ब्रह्म से भिन्नाभिन्न होने के कारण उक्त वाक्यों में विरोध नहीं ॥

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

पद०—पूर्ववत् । वा ।

पदा०—(वा) अथवा (पूर्ववत्) पूर्व की भांति कर्त्तृत्वादि धर्मों को ब्रह्म का स्वरूप मानने में कोई दोष नहीं ।

भाष्य—जिसप्रकार "आह च तन्मात्रं" ब्र० सू० ३ । २ । १६ में ज्ञानादि गुणों को ब्रह्म का स्वरूप माना है वैसे ही जगत्कर्त्तृत्वादि धर्म भी उस के स्वरूपभूत हैं इसलिये कारणाकारण प्रतिपादक वाक्यों का कोई विरोध नहीं ॥

सं० अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

पद०—प्रतिषेधात् । च ।

पदा०—(च) और ब्रह्म में (प्रतिषेधात्) प्राकृतधर्मों का प्रतिषेध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"अस्थूलमनणुह्रस्वमदीर्घम्"=ब्रह्म स्थूलादि प्राकृत धर्मों से रहित है, इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्म में प्राकृत धर्मों का निषेध और "सत्यंज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" इत्यादि

वाक्यों में सत्यादि धर्मों का विधान पाये जाने से सिद्ध है कि अहिकुण्डलन्याय से ब्रह्म में कारणता तथा अकारणता दोनों प्रकार का व्यवहार होसक्ता है ॥

सं०—अब ब्रह्म को सर्वोपरि कथन करने के लिये "पराधिकरण" का प्रारम्भ करते हुए प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं:—

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥

पद०—परं। अतः। सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः।

पदा०—(सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः) सेतु, उन्मान, सम्बन्ध तथा भेद का व्यपदेश पाये जाने के कारण (अतः) ब्रह्म से (परं) परे कोई अन्य पदार्थ है।

भाष्य—पूर्व जो यह निर्धारण किया गया है कि जगत् से परे एकमात्र चैतन्यस्वरूप ब्रह्मतत्व है, उसमें सन्देह होता है कि ब्रह्म से परे कोई अन्य तत्व है वा नहीं? इसमें पूर्वपक्षी का कथन है कि सेतु, उन्मान=माप, सम्बन्ध और भेद के पायेजाने से स्पष्ट है कि ब्रह्म से परे भी कोई और तत्व है अर्थात् "य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" छां० ८। ४। २=सबका विधारक परमात्मा ही सेतु=जगत् की मर्यादा है, या यों कहोकि जैसे सेतु=पुल एक किनारे से दूसरे तट पर्य्यन्त पहुंचाने वाला होता है वैसे ही परमात्मा जगत् का सेतु है, इसप्रकार परमात्मा का कथन पाये जाने से स्पष्ट है कि उससे परे भी कोई और तत्व है जिसको प्राप्त होकर

ही पुरुष कृतार्थ होसक्ता है अन्यथा नहीं, इसीप्रकार उन्मान= ब्रह्म को चतुष्पाद तथा षोडशकल कथन करना और "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यं" मु० ३।२।८ इत्यादि वाक्यों में जीव ब्रह्म का प्राप्यप्रापकभाव सम्बन्ध तथा उनका भेद भी उक्त अर्थ का पोषक जानना चाहिये।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

पद०—सामान्यात्। तु।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, (सामान्यात्) सामान्यधर्म के अभिप्राय से ब्रह्म को सेतु कथन किया है, इसलिये कोई दोष नहीं।

भाष्य—छां० ८।४।२ में जो ब्रह्म को जगत् का सेतु= मर्यादारूप कथन किया है इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सेतु बांधने से नदी का जल मर्यादा के भीतर रहने से छिन्न भिन्न न होकर पूर्वोत्तर तट प्रदेशों का प्रध्वंसन नहीं करसक्ता इसीप्रकार जगत् के विधारक परमात्मा की मर्यादा में रहने वाले सूर्य्यचन्द्रादि लोक संसारयात्रा के निर्वाहक बने रहते हैं, इसलिये सब लोक लोकान्तरों का विधारक सेतु सर्वोपरि ब्रह्म ही है उससे ऊपर अन्य कोई तत्व नहीं।

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

पद०—बुद्ध्यर्थः। पादवत्।

पदा०-(पादवत्) पादकल्पना (बुद्ध्यर्थः) परमात्मा का स्वरूप बोधन करने के लिये है।

भाष्य-"पादोऽस्य विश्वाभूतानि" यजु० ३१।३=सब भूत परमात्मा के एकपाद स्थानी हैं, इत्यादि मन्त्रों में जो पादकल्पना कीगई है वह वस्तुतः ब्रह्म को उन्मान=चतुष्पाद कथन करने के अभिप्राय से नहीं किन्तु केवल ब्रह्म के स्वरूप बोधनार्थ है, और दूसरी बात यह है कि:—

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

पद०-स्थानविशेषात्। प्रकाशादिवत्।

पदा०-(स्थानविशेषात्) स्थानविशेष के कारण (प्रकाशादिवत्) प्रकाशादिकों की भांति पादकल्पना होसक्ती है।

भाष्य-"चतुष्पाद ब्रह्म षोडशकलं"=चतुष्पात् ब्रह्म षोडश कला सम्पन्न है अर्थात् प्राची, प्रतीची, दक्षिणा तथा उदीची यह चारो दिशा ब्रह्म का एकपाद, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, समुद्र यह चारो दूसरा पाद, अग्नि, सूर्य्य, चन्द्रमा, विद्युत् यह तीसरा पाद और प्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा वाक् यह चतुर्थ पाद है, इस प्रकार सबका संकलन करने से ब्रह्म षोडशकल कहाता है सो उक्त रीति से ब्रह्म में पाद कल्पना सूर्यादि प्रकाशक पदार्थों की भांति होती है वस्तुतः उसको परिच्छिन्न बोधन करने के अभिप्राय नहीं, दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार सूर्य्यलोक स्थानी प्रकाश को सूर्य्य का प्रकाश तथा चन्द्रलोकस्थानी प्रकाश को चन्द्र का प्रकाश कहाजाता है इसीप्रकार प्रकृतिस्थ सब

कलाओं में व्यापक होने के कारण ब्रह्म "षोडषाकल" कहाता है, इसलिये उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं ॥

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

पद०—उपपत्तेः । च ।

पदा०—(च) और (उपपत्तेः) युक्ति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—जिसप्रकार एक रुपये के चार भाग कल्पना किये जाते हैं पर वास्तव में वह चार भाग उसमें नहीं होते केवल उसके बोधन के लिये भाग कल्पना है इसी प्रकार सब प्राकृत पदार्थों को उसका पादस्थानी बोधन करने के लिये पादकल्पना कीगई है वास्तव में नहीं ॥

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

पद०—तथा । अन्यप्रतिषेधात् ।

पदा०—(तथा) वैसे ही (अन्यप्रतिषेधात्) ब्रह्म से भिन्न का प्रतिषेध पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—जो यह कहागया था कि "अक्षरात्परतः परः"= ब्रह्म से परे भी कोई पदार्थ है, यह इसलिये ठीक नहीं कि उसी प्रकरण में ब्रह्म से भिन्न का प्रतिषेध कियागया है, जैसाकि "यस्मात्परंनापरमस्तिकिञ्चित्यस्मान्नाणीयोस्तिकश्चित्" श्वे० ३ । ९=जिससे परे अन्य कोई नहीं और जो सर्वोपरि सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा महान् से महान् है उसी ब्रह्म से सब संसार पूर्ण

है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है. कि किसी पदार्थ को ब्रह्म से परे मानना युक्ति शून्य होने के कारण आदरणीय नहीं।

सं०—ननु, उक्त वाक्य में ब्रह्म से भिन्न का निषेध पाये जाने के कारण अद्वैतवाद की आपत्ति होगी? उत्तरः—

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥३७॥

पद०—अनेन। सर्वगतत्वं। आयामशब्दादिभ्यः।

पदा०—(अनेन) परापर निषेधक वाक्य द्वारा ब्रह्म को (सर्वगतत्वं) सर्वव्यापक कथन किया है, क्योंकि (आयामशब्दादिभ्यः) व्याप्तिबोधक शब्दों से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—"यस्मात्परं" इत्यादि वाक्यों द्वारा जो ब्रह्म की अपेक्षा परापर का निषेध किया है वह ब्रह्म की पूर्णता को बोधन करता है, इसलिये उक्त वाक्य द्वैतवाद का प्रतिषेधक नहीं होसक्ता, इसी अभिप्राय से छां० ३।१४।३ में वर्णन किया है कि "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः"=ब्रह्म आकाश के समान सर्वगत तथा नित्य है।

सं०—अब जीव के कर्मफल का विचार करने के लिये "फलाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८॥

पद०—फलं। अतः। उपपत्तेः।

पदा०—(फलं) शुभाशुभ कर्मों का फलप्रदाता (अतः) ईश्वर है, क्योंकि (उपपत्तेः) युक्ति से ऐसा ही पाया जाता है।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

पद०-श्रुतत्वात्। च।

पदा०-(च) और (श्रुतत्वात्) शब्दप्रमाण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"सवाएष महानजआत्माऽन्नादोवसुदानः" बृहदा० ४।४।२४=सर्वोपरि विराजमान परमात्मा ही सबको अन्न तथा धन देने वाला है, इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को ही कर्मफलदाता प्रतिपादन किया है, यहां "अन्न" तथा "धन" शब्द से कर्मों का फल अभिप्रेत है अन्नादिमात्र नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में "जैमिनि" आचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

पद०-धर्मं। जैमिनिः। अतः। एव।

पदा०-(जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य (अतः) परमात्मा से (एव) ही (धर्मं) कर्मफल मानते हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ में "बादरायण" का मत कथन करते हैं:-

पूर्वन्तु बादरायणो हेतुत्वव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

पद०-पूर्वं। तु। बादरायणः। हेतुत्वव्यपदेशात्।

पदा०-(बादरायणः) बादरायण आचार्य्य का कथन है कि (हेतुत्वव्यपदेशात्) धर्माधर्म के फल का निमित्त होने से (पूर्वं) परमात्मा ही कर्मफलदाता हैं।

भाष्य—"तु" शब्द सिद्धान्त की पुष्टि के लिये आया है, बादरायणाचार्य्य का कथन है कि वैदिककर्मकाण्ड के अनुष्ठान द्वारा उत्पन्न हुआ संस्कारविशेष जड़ होने से फल देने में असमर्थ है, इसलिये उसके अधिष्ठाता परमात्मा को ही कर्मानुसार फलदाता मानना समीचीन है, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "न्यायार्य्यभाष्य" में किये जाने से यहां विस्तार की आवश्यक्ता नहीं।

स्मरण रहे कि उक्त फलाधिकरण की सङ्गति मायावादियों के भाष्य से सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि जहां "तथाऽन्यप्रतिषेधात्" ब्र० सू० ३।२।३६ इस अधिकरण द्वारा ब्रह्म से भिन्न सब पदार्थों का निषेध किया है वहां कई एक उपनिषदों की प्रतीक देकर स्वामी शं० चा० ने यह लिखा है कि "इत्येवमादि वाक्यानि स्वप्रकरणस्थान्यन्यार्थत्वेन परिणेतुमशक्यमानानि ब्रह्मव्यतिरिक्तंवस्त्वन्तरं वारयन्ति" ब्र० सू० ३।२।२६ शं० भा०="आत्मैवेदं सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन" इत्यादि वाक्य अपने प्रकरण में स्थित होने से अन्यार्थ के प्रतिपादक नहीं किन्तु ब्रह्म से भिन्न अन्य पदार्थ के निषेधक हैं इस प्रकार जब यहां स्वामी शं० चा० के मत में सूत्रकार ने सब पदार्थों का निषेध करके एक ब्रह्म ही प्रतिपादन किया है फिर फलप्रदाता ईश्वर और फलभोक्ता जीव कहां से आया। वाचस्पतिमिश्र ने इस फलाधिकरण की सङ्गति यों लगाई है कि जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म है उसमें ईश्वरत्व और फल का

हेतु होना नहीं बनसक्ता परन्तु फिर भी ब्रह्म में व्यावहारिक ईश ईशितव्यादि विभागावस्था का आश्रयण करके फल का वर्णन किया है अर्थात् जीव ईश्वर सब आविद्यक हैं, इसलिये अविद्यावस्था में यह "फलाधिकरण" है ब्रह्म के परमार्थरूप का आश्रयण करके यहां उक्त अधिकरण का आरम्भ नहीं किया गया।

इस क्लिष्ट कल्पना से भी मायावादियों की इष्टसिद्धि नहीं होती, क्योंकि इस अधिकरण के किसी सूत्र में भी अविद्या का वर्णन नहीं किया गया और नाही कहीं माया का नाम आया है प्रत्युत जैमिनि तथा व्यास के मतानुसार ईश्वर को फलदाता कथन किये जाने से स्पष्ट है कि यहां मायावाद का गन्ध भी नहीं॥

इति द्वितीयःपादः समाप्तः



अथ तृतीयःपादः प्रारभ्यते

सं०—द्वितीयपाद में जीव की सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक निरूपण करते हुए ब्रह्म को निराकार सिद्ध किया अब उपासनाविषयक भिन्न २ प्रकरणस्थ वाक्यों की एकवाक्यता बोधन करने के लिये इस पाद का प्रारम्भ करते हैं:—

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥१॥

पद०—सर्ववेदान्तप्रत्ययं । चोदनाद्यविशेषात् ।

पदा०—(चोदनाद्यविशेषात्) उपासनाविधि की विशेषता न पाये जाने के कारण (सर्ववेदान्तप्रत्ययं) सब वेदान्तों में एक प्रकार का ही विज्ञान पाया जाता है।

भाष्य—"यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद" छां० ५।१।१ बृहदा० ६।१।१=जो ब्रह्म को ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ जानता है वह अपने सम्बन्धीवर्ग में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है, इत्यादि वाक्यों में वेद, उपासीत तथा विद्यात् आदि एकार्थवाची क्रियाओं के पाये जाने से स्पष्ट है कि वेदान्तशास्त्र में सर्वत्र एक ही परमात्मा की उपासना का विधान है अनेक देवताओं की उपासना का नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में शङ्कापूर्वक समाधान करते हैं:—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥२॥

पद०—भेदात् । न । इति । चेत् । न । एकस्यां । अपि ।

पदा०—(भेदात्) रूप का भेद पाये जाने के कारण उपासना का अभेद (न) नहीं होसक्ता (चेत्) यदि (इति)

ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अपि) निश्चयकरके (एकस्यां) एक विद्या में रूप का भेद नहीं होसक्ता।

भाष्य–बृहदारण्यकोपनिषद् में पञ्चाग्निविद्या का प्रकरण चलाकर जो "तस्याग्निरेवाग्निः" बृहदा० ६।२।१४=उस मृतपुरुष की आहवनीय अग्नि ही अग्नि है, इसप्रकार आहवनीयाग्नि को षष्ठाग्निं लिखा है और छांदोग्य में केवल पांच ही अग्नियों का वर्णन किया है, इत्यादि रूप का भेद होने से उपासना का भेद है, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि गुण=रूप का भेद औपनिषद उपासना का भेदक नहीं होसक्ता, क्योंकि छांदोग्य की पञ्चाग्नि विद्या में बृहदारण्यकीय षष्ठाग्नि का उपसंहार किया जाता है, इसप्रकार गुण की एकता होने से औपनिषद विज्ञान में कोई विरोध नहीं।

सं०–ननु, मुं० ३।२।११ में शिरोव्रतियों के लिये ब्रह्मविद्या का अधिकार प्रतिपादन किया है दूसरों के लिये नहीं, इसलिये विद्याभेद मानना ही ठीक है? उत्तरः—

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः॥ ३॥

पद०–स्वाध्यायस्य। तथात्वेन। हि। समाचारे। अधिकारात्। च। सववत्। च। तन्नियमः।

पदा०–(स्वाध्यायस्य) स्वाध्याय (तथात्वेन) शिरोव्रत कर्म का अङ्गी होने (च) और (समाचारे) समाचारनामक

व्रतबोधक वाक्य में (अधिकारात्) उक्त व्रत वालों का अधिकार पाये जाने से शिरोव्रत नामक कर्म विद्या=औपनिषद विज्ञान का अङ्ग नहीं (च) और (तन्नियमः) उक्त नियम को (सववत्) सव की भांति मानने में कोई दोष नहीं।

भाष्य—"तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत् शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णं, नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" मुं० ३।२।११=विधिपूर्वक शिरोव्रत धारण करने वालों के प्रति इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे और जिसने उक्त व्रत धारण नहीं किया वह इस विद्या का अधिकारी नहीं, इस वाक्य से जो ब्रह्मविद्या का अधिकार शिरोव्रतियों के लिये कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त व्रत केवल स्वाध्याय=अध्ययनमात्र कर्म का अङ्ग है ब्रह्मविद्या का नहीं अर्थात् जिसप्रकार सूर्य्यादि शतौदनपर्यन्त सात "सव" नामक होमों का अधिकार अथर्वशाखावालों के लिये है अन्य शाखावालों के नहीं, इसी प्रकार उक्त व्रतरूप कर्म का नियम केवल अध्ययन का अङ्ग है, इसलिये उक्त वाक्य ब्रह्मविद्या के भेद का साधन नहीं होसक्ता।

दर्शयति च॥ ४॥

पद०—दर्शयति। च।

पदा०—(च) और (दर्शयति) शास्त्र में ब्रह्मविद्या के एक होने का ही प्रतिपादन किया है।

भाष्य—"तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्"

कठ० २। १५=सब वेद जिसके स्वरूप को एकरस वर्णन करते हैं उसका उपदेश मैं तेरे प्रति संक्षेप से करता हूं कि वह ओ३म् पद वाच्य ब्रह्म है, इसप्रकार जब ब्रह्मविद्या के सब साधन उसी नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव ब्रह्म की प्राप्ति के लिये वर्णन किये गये हैं तो फिर विद्याभेद मानकर वेद्य ब्रह्म का भेद कैसे संगत होसक्ता है।

सं०-अब उक्त विचार का प्रयोजन कथन करते हैं:—

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च ॥ ५ ॥

पद०-उपसंहारः। अर्थाभेदात्। विधिशेषवत्। समाने। च।

पदा०-(समाने) विद्या के समान होने पर (अर्थाभेदात्) अर्थ का भेद न पायेजाने से (विधिशेषवत्) विधिशेष की भांति (उपसंहारः) गुणों का उपसंहार होता है।

भाष्य-जिसप्रकार अग्निहोत्र कर्म सब शाखाओं में एक होने पर भी उसके शेष अङ्गों का शाखान्तरों में उपसंहार किया जाता है इसी प्रकार एक ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये भिन्न २ शाखा प्रतिपादित उपासनाओं में गुणों का उपसंहार होसक्ता है, क्योंकि सबका परमात्मज्ञानरूप प्रयोजन समान है।

सं०-अब उक्त अर्थ का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:-

अन्यथात्वं शब्दादितिचेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

पद०-अन्यथात्वं। शब्दात्। इति। चेत्। न। अविशेषात्।

पदा०-(शब्दात्) शब्दभेद होने से (अन्यथात्वं) विद्या का भेद पाया जाता है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अविशेषात्) वस्तुतः वेद्य के स्वरूप में कोई विशेषता नहीं।

भाष्य-"तेहदेवाऊचुर्हन्तासुरान् यज्ञे उद्गीथे नात्ययामेति" बृहदा० ३।१।३=देवताओं ने कहा कि हम सब मिलकर उद्गीथ द्वारा असुरों का नाश करेंगे, इत्यादि वाक्यों में प्राण को उद्गीथ का कर्त्ता कथन किया है, और "तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुः" छान्दो० १।२।१=उन देवताओं ने प्राण को उद्गाता बनाया, इत्यादि वाक्यों में ओङ्कारदृष्टि से प्राण की उपासना कथन की है, इस प्रकार दोनों शाखाओं में विद्या का भेद पाये जाने से वेद्य का भेद मानना ही ठीक है, इसका उत्तर यह है कि किञ्चित् प्रक्रियाभेद होने से वस्तुतः विद्या का भेद नहीं होसक्ता, क्योंकि शेष बातें दोनों शाखाओं में समान पाई जाती हैं, जैसाकि देवासुरसंग्राम, वागादि इन्द्रियों का स्वार्थसिद्धि के लिये अपने २ विषयों में प्रवृत्त होना और उन की निन्दा करके मुख्यप्राण को सब का उपकारी कथन करना, इत्यादि, इससे सिद्ध है कि विद्या का अभेद मानना ही ठीक है भेद नहीं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषदार्य्यभाष्य" में किये जाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं॥

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वा-दिवत् ॥ ७ ॥

पद०—न। वा। प्रकरणभेदात्। परोवरीयस्त्वादिवत्।

पदा०—(प्रकरणभेदात्) प्रकरणभेद होने पर (वा) भी (परोवरीयस्त्वादिवत्) परोवरीयस्त्वादि गुणों की भांति विद्या-भेद (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य—छन्दोग्योपनिषद् के उपक्रम में जो उद्गीथ की अक्षररूप से उपासना वर्णन करते हुए आगे उसी उपासना को प्रणवरूपत्वेन विधान किया है और बृहदारण्यक में उद्गाता को प्रणव उपासना का कर्त्ता कथन किया है, इत्यादि भेदों से विद्या भेद इसलिये नहीं कि उभयत्र परोवरीयस्त्व=सब से बड़ा और श्रेष्ठ एक ही परमात्मा उपास्यदेव मानागया है भिन्न २ नहीं।

सं०—ननु, कठ, छान्दोग्य आदि भिन्न २ संज्ञा से और एकशाखा में उद्गीथ के अवयवभूत प्रणव तथा आदित्य पुरुष में परमात्मदृष्टि का विधान पाये जाने से विद्याभेद होसक्ता है? उत्तर :—

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥८॥

पद०—संज्ञातः। चेत्। तत्। उक्तं। अस्ति। तु। तत्। अपि।

पदा०—(चेत्) यदि (संज्ञातः) संज्ञा से विद्या का भेद मानें तो ठीक नहीं, क्योंकि (तत्, उक्तं) इसका उत्तर प्रथमसूत्र

में कथन कर आये हैं (तु) और आदित्य पुरुष में (तत्, अपि) संज्ञा भी एक ही (अस्ति) पाई जाती है।

भाष्य–जो कठ आदि संज्ञाभेद से विद्या का भेद कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि उपास्य ब्रह्म सर्वत्र एक है, जैसाकि इसी पाद के प्रथमसूत्र में प्रतिपादन कर आये हैं, और दूसरी बात यह है कि आदित्य पुरुष और उद्गीथोपासना में ज्ञेय ब्रह्म की संज्ञा भी एक ही कथन कीगई है, जैसाकि "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" छां० १।१।१= ओङ्कारपदवाच्य अक्षर ब्रह्म की उद्गीथरूप से उपासना करे, और "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषः" छां० १। ६।३=आदित्य मंडल में जो हिरण्मय पुरुष है वही स्वयंप्रकाश ब्रह्म है, इसप्रकार उभयत्र उपासना में ब्रह्मरूप एक ही संज्ञा पाये जाने से सिद्ध है कि विद्या का अभेद है भेद नहीं।

सं०–ननु, उक्त दोनों उपासनाओं में उद्गीथ तथा आदित्य प्रतीकरूप होने से प्रतीकोपासना की सिद्धि होती है ब्रह्मोपासना की नहीं ? उत्तरः—

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥९॥

पद०–व्याप्तेः। च। समञ्जसम्।

पदा०–(व्याप्तेः) व्याप्ति के पाये जाने से (समञ्जसं) ब्रह्मोपासना ही ठीक है प्रतीकोपासना नहीं।

भाष्य–"च" शब्द "तु" के अर्थ को बोधन करता हुआ

शङ्का की व्यावृत्ति के लिये आया है, छां० १।१।१ में वर्णन किये हुए उद्गीथ को और छां० १।६।३ में आदित्य मण्डलस्थ हिरण्मय पुरुष को प्रतीकरूप कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि सब अनुवाकों तथा सब ऋचाओं, में ओंकार की व्यापकता पाये जाने के कारण उद्गीथरूप से ब्रह्म की ही उपासना कथन कीगई है, और जो आदित्य पुरुष द्वारा उपासना विधान की है वह भी व्याप्ति के अभिप्राय से है अर्थात् सूर्य्यमण्डल के अन्तर्गत वह परमात्मा है और सूर्य्यमण्डल का जो रश्मिपुञ्ज है वह उसका श्मश्रुस्थानी है, अधिक क्या वह नखशिख पर्य्यन्त सारा ही सुवर्णमय स्वयंप्रकाश है, इसी अभिप्राय से यजु० ३१।१८ में वर्णन किया गया है कि "वेदाहमेतंपुरुषंमहान्तमादित्यवर्णतमसः परस्तात्"=अविद्या से रहित, स्वयंप्रकाश, महान् तथा सर्वव्यापक ब्रह्म को जानकर ही पुरुष अमृत को प्राप्त होता है, इस प्रकार अविद्यारूप तम से पृथक् होने के कारण परमात्मा को "आदित्यवर्ण" कहा गया है, इससे सिद्ध है कि उक्त दोनों उपासनाओं में प्रतीकोपासना अभिप्रेत नहीं किन्तु ब्रह्मोपासना ही अभिप्रेत है।

स्वा० रामनुज तथा स्वा० शंकराचार्य्यजी ने जो उक्त तीनों सूत्रों को विद्याभेद में लगाया है सो ठीक नहीं, क्यों-कि ऐसा लापन करने से "सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण" के साथ कोई सङ्गति नहीं रहती, और स्वा० शं० चा० जी का यह कथन कि "उद्गीथमुपासीतेति०" इस वाक्य में उद्गीथ का ब्रह्म

के साथ जो समानाधिकरण है उसमें अध्यास, अपावद, एकत्व तथा विशेष्यविशेषणभाव ये चार पक्ष हैं, प्रतिमा में विष्णु बुद्धि की भांति उद्गीथ में अक्षर बुद्धि का नाम "अध्यास" रज्जुसर्पादि भ्रान्ति स्थलों में अधिष्ठानज्ञान से कल्पित के बाध का नाम "अपवाद" द्विजोत्तम ब्राह्मणादि एकार्थवाची शब्दों की भांति अक्षर और उद्गीथ शब्द का अर्थभेद न होना "एकत्व" और नील वर्ण वाला कमल है, इत्यादि वाक्यों में कमलादि के साथ नीलादि के सम्बन्ध का नाम "विशेष्य-विशेषण" भाव है, उक्त उद्गीथ उपासना विधायक वाक्यों में प्रथम तीनों पक्ष न बनसकने के कारण उद्गीथ तथा प्रणव का विशेष्यविशेषण भाव मानाना ही ठीक है अर्थात् "ओ३म्" अक्षर रूप विशेषण वाला ब्रह्म ही उपास्य है।

स्मरण रहे कि निर्विशेष ब्रह्मवादी स्वा० शंकराचार्य्यजी ने उक्त पक्षचतुष्टय का वर्णन करते हुए मूर्त्तिपूजा को अध्यास रूप कथन करने से स्पष्ट करदिया कि यह यथार्थज्ञान नहीं, और जब ऐसा है तो फिर न जाने किस साहस से मूर्त्तिपूजक जड़ पाषाणादि प्रतिमाओं के पूजन द्वारा अपने आत्मा की पवित्रता मानते हैं, क्या कभी अविद्या से भी आत्मा की पवित्रता होती है कदापि नहीं, यह इनका कर्तव्य शास्त्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि "विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति" मनु० ५।१०९=विद्या, तप से आत्मा तथा ज्ञान=विचार द्वारा बुद्धि

पवित्र होती है, इत्यादि वाक्यों में विद्या को आत्मा का पवित्र करने वाला माना है, दूसरी बात यह है कि जो " तत्त्वमसि " महा-वाक्य में बाधादि तीन पक्षों को छोड़कर एकत्व प्रतिपादन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त पक्ष की भांति उद्गीथोपास्ति विधायक वाक्य में भी एकत्वपक्ष का अङ्गीकार क्यों नहीं ? यदि यह कहाजाय कि उद्गीथ से ब्रह्म की एकता में दृष्टविरोध है इसलिये इस वाक्य में एकत्वँ पक्ष छोड़कर विशेष्यविशेषणभाव का स्वीकार किया है ? इसका उत्तर यह है कि जिसप्रकार उक्त महावाक्य में लक्षणाद्वारा विरोध का परिहार मानते हो इसी प्रकार उद्गीथवाक्य में लक्षणा का आश्रयण करके विरोधपरिहार क्यों नहीं करलेते, इस प्रकार तर्क से तुलना करने पर मायावाद कदलीस्तम्भवत् निस्सार प्रतीत होता है।

सार यह है कि जिसप्रकार " उद्गीथमुपासीत " इस वाक्य में उद्गीथ का अक्षर ब्रह्म के साथ विशेष्यविशेषणभाव है इसी प्रकार "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों में विशेष्यविशेषणभाव मानकर यह अर्थ सिद्ध होता है कि हे श्वेतकेतो ! तू उस परमात्मा वाला है अर्थात् " तत् " पद विशेषण और " त्वं " पद विशेष्य है, ऐसा अर्थ करने से उक्त वाक्य में अद्वैतवाद का गन्ध भी प्रतीत नहीं होता और नाही किसी प्रकार के वाक्यार्थ का अनुपपत्ति रूप दोष आता है, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण " उपनिषदार्य्यभाष्य " में किये जाने से यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब सर्वशाखागत प्राणविद्या में वसिष्ठत्वादि गुणों का उपसंहार करते हैं :—

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

पद०—सर्वाभेदात् । अन्यत्र । इमे ।

पदा०—(सर्वाभेदात्) सर्वत्र प्राणविद्या का अभेद होने से (अन्यत्र) अन्य शाखाओं में भी (इमे) वसिष्ठत्वादि गुणों का उपसंहार होता है ।

भाष्य—उपनिषदों में प्राणविद्या की एकता इस प्रकार पाई जाती है कि इन्द्रियों का प्रजापति के पास जाना, अपनी२ श्रेष्ठता का अभिमान करना, एक २ इन्द्रिय के निकलने पर भी शरीर स्थिर रहना और मुख्यप्राण के निकलते ही शरीर का शवरूप होजाना, इत्यादि गुण सर्वत्र समान पाये जाने के कारण "बृहदारण्यक" तथा "छन्दोग्य" गत प्राणविद्या प्रकरण में पढ़े हुए वसिष्ठत्वादि गुणों का कौषीतकी० २ । १४ के प्रकरण में भी उपसंहार होता है, क्योंकि सर्वत्र प्राण के श्रेष्ठतारूप प्रयोजन को बोधन करने के लिये एक ही प्राणविद्या का विधान है, इसका विस्तार पूर्वक वर्णन "उपनिषदार्य्यभाष्य" के द्वितीयभाग में कियागया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें ।

सं०—अब ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों का कथन करते हैं :—

आनन्दादयःप्रधानस्य ॥ ११ ॥

पद०–आनन्दादयः। प्रधानस्य।

पदा०–(आनन्दादयः) आनन्दादि गुण (प्रधानस्य) ब्रह्म के धर्म हैं।

भाष्य–"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" तै०२।८=ब्रह्मानन्द का अनुभव करके ही योगी जन्म मरण के भय से रहित होजाते हैं, इत्यादि वाक्यों में वर्णन किये हुए आनन्दादि गुण ब्रह्म के धर्म हैं जीव वा प्रकृति के नहीं, यदि उक्त धर्म ब्रह्म से भिन्न जीवादिकों के होते तो "ब्रह्मानन्द को अनुभव करके अभय पद को प्राप्त होता है" ऐसा कदापि वर्णन न किया जाता पर किया है,इससे सिद्ध है कि आनन्दादि गुणों को ब्रह्म का धर्म मानना ही समीचीन है।

सं०–ननु, तैत्ति० २।५।१ में कथन किये हुए प्रिय मोदादि आनन्दविशेष जीव के धर्म होने से जीव ईश्वर का अभेद है भेद नहीं ? उत्तर:—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

पद०–प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः। उपचयापचयौ। हि। भेदे।

पदा०–(प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः) प्रियशिरस्त्वादि धर्मों के कथन से जीव ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं होता (हि) क्योंकि (भेदे) भेद होने पर ही (उपचयापचयौ) जीव के उक्त मोदादि धर्मों का वृद्धि ह्रास होसक्ता है अन्यथा नहीं।

भाष्य—तस्य प्रियमेव शिरःमोदो दक्षिणः पक्षः" तैत्ति० २।५।१=जीव का प्रिय शिर तथा मोदरूप आनन्द-विशेष दक्षिण पक्ष है, इत्यादि जीवगत विकारी धर्मों के वर्णन करने से सिद्ध है कि उपनिषत्कार को जीव ईश्वर का अभेद अभिप्रेत नहीं, यदि जीव की कतिपय आनन्दात्मक वृत्तियों से अभेद अभिप्रेत होता तो उक्त वाक्य में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग न किया जाता और नाही "रसꣳह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" तैत्ति० २।७।७=ब्रह्मानन्द को प्राप्त होकर जीव आनन्दवाला होता है, यह प्रतिपादन किया जाता पर ब्रह्मानन्द से जीव का आनन्द वाला होना इस बात को सिद्ध करता है कि जिसके आनन्द से जीव आनन्दवाला होता है वह जीव से भिन्न है, इसलिये जीव को आनन्दस्वरूप मानना ठीक नहीं।

सं०—प्रासङ्गिक जीव ब्रह्म का भेद कथन करके अब पूर्व प्रकृत गुणोपसंहार का वर्णन करते हैं:—

इतरेत्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

पद०—इतरे। तु। अर्थसामान्यात।

पदा०—"तु" शब्द सिद्धान्त की दृढ़ता के लिये आया है (अर्थसामान्यात) अर्थ की समानता पाये जाने से (इतरे) अस्थूलत्वादि धर्मों का भी अन्य शाखाओं में उपसंहार होता है।

भाष्य—जिन शाखाओं में ब्रह्मसम्बन्धी अस्थूलत्वादिधर्मों का वर्णन नहीं किया उन सबकी एकवाक्यता के लिये उक्त

धर्मों का उपसंहार होता है, क्योंकि सब शाखाओं में उपास्य ब्रह्मरूप अर्थ की समानता पाई जाती है, यही रीति शेष गुणों के उपसंहार में भी जाननी चाहिये ।

सं०—अब परमात्मा की सूक्ष्मता वर्णन करने के लिये "आध्यानाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

आध्यानायप्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

पद०—आध्यानाय । प्रयोजनाभावात् ।

पदा०—(प्रयोजनाभावात्) इन्द्रियों की सूक्ष्मता में प्रयोजन न पाये जाने के कारण (आध्यानाय) परमात्मा के यथार्थ ज्ञानार्थ उत्तरोत्तर सूक्ष्मता का वर्णन किया है ।

भाष्य—"इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः" कठ० ३। १० = भौतिक इन्द्रियों की अपेक्षा उनके शब्दादि विषय उनसे मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से महत्तत्व सूक्ष्म है, इत्यादि वाक्यों में जो इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मता कथन करते हुए परमात्मा को सबकी पराकाष्ठा वर्णन किया है उसका अभिप्राय इन्द्रियों की सूक्ष्मता में नहीं किन्तु परमात्मा के यथार्थज्ञान के लिये उनकी सूक्ष्मता बोधन कीगई है अर्थात् "सा काष्ठा सा परागतिः" इस वाक्यशेष से परम-सूक्ष्म परमात्मा ही सबका आधार अभिप्रेत है अन्य नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

पद०-आत्मशब्दात्। च।

पदा०-(च) और (आत्मशब्दात्) आत्मशब्द से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" कठ०१२। ३=सब भूतों में व्यापक परमात्मा परमसूक्ष्म है और वह स्थूलबुद्धि का विषय नहीं किन्तु सूक्ष्मदर्शी ही निदिध्यासनद्वारा निर्मल हुई बुद्धि से उसको देखते हैं, इस श्रुतिवाक्यगत "आत्मा" शब्द भी इसी अर्थ का साधक है कि परमात्मा सर्वोपरि सूक्ष्म और सबकी पराकाष्ठा है इन्द्रियादिक नहीं।

सं०-ननु, ऐत० १।१।१ से अद्वैतवाद की सिद्धि होती है? उत्तरः—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

पद०-आत्मगृहीतिः। इतरवत्। उत्तरात्।

पदा०-(इतरवत्) अन्य वाक्यों की भांति (आत्मगृहीतिः) परमात्मा का भेदपूर्वक ग्रहण है, क्योंकि (उत्तरात्) उत्तर वाक्यों से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" ऐ० १।१।१=सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म ही था, इस वाक्य से अद्वैतवाद की सिद्धि कथन करना इसलिये ठीक कि "स इमांलोकान-

सृजत "=उसी परमात्मा ने भूरादि लोकों को उत्पन्न किया, इत्यादि उत्तर वाक्यों से रचना और रचयिता का भेद पाया जाता है, यदि यहां उपनिषत्कार को मायावाद इष्ट होता तो भूरादि लोकों की सृष्टि का वर्णन करते हुए स्रष्टा को उनसे पृथक् प्रतिपादन न करते, पर किया है, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य में परमात्मा को एक कथन करना उसके सजातीय भेद का बाधक है विजातीय प्रकृति आदि पदार्थसम्बन्धी भेद का नहीं।

सं०–अब उक्त अर्थ को अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हैं:—

अन्वयादितिचेत्स्यादवधारणात् ॥ १७॥

पद०–अन्वयात्। इति। चेत्। स्यात्। अवधारणात्।

पदा०–(अन्वयात्) अग्नि आदि कार्य्यों में ब्रह्म का अन्वय पाये जाने से वही जगत् का उपादान कारण है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं, क्योंकि (अवधारणात्, स्यात्) उपसंहार में उपास्यउपासकभाव से भेद वर्णन किया गया है।

भाष्य–अग्नि आदि कार्य्यों में ब्रह्म का अन्वय=सम्बन्ध विशेष पाये जाने से वही जगत् का उपादानकारण है इसलिये एक ब्रह्मवाद में कोई दोष नहीं? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म का अग्न्यादि कार्य्यों में व्यापक होने के अभिप्राय से अन्वय कथन कियागया है उपादानकारणता के अभिप्राय से नहीं, दूसरी बात यह है कि "कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे"

ऐत० ६ । १=वह कौन आत्मा है जिसकी हम उपासना करें, इत्यादि वाक्यों में उपास्य उपासक का स्पष्टतया भेद है, यदि जीव ब्रह्म का अभेद होता तो उक्त वाक्य में "उपास्महे" पद का प्रयोग न किया जाता पर किया गया है, इससे सिद्ध है कि भेदमें उपासना सङ्गत होने के कारण अभेदवाद समीचीन नहीं।

और जो स्वामी "शङ्कराचार्य्य" ने "अवधारण" पद के अर्थ से "तत्त्वमसि" का सम्बन्ध दिखलाकर एकात्मवाद की सिद्धि की है वह इसलिये ठीक नहीं कि "स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्" ऐत० ५ । ४=स्वर्गलोक में सब कामनाओं को प्राप्त होकर अमृत होता है, इस वाक्य में जिस अमृत पद की प्राप्ति कथन की है उसको प्राप्त करने वाला जीव ब्रह्म से भिन्न है, इसप्रकार उक्त वाक्य के स्पष्ट अर्थ को छिपाकर अद्वैतवाद को समर्थन करना मायावादियों का साहसमात्र है।

सं०-अब वैदिक लोगों के भोजन में आचमनविधि की अपूर्वता कथन करते हैं:—

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

पद०-कार्याख्यानात् । अपूर्वम् ।

पदा०-(कार्याख्यानात्) आचमनविधि के पाये जाने से (अपूर्वम्) जलपूर्वक भोजन करने में अपूर्वता है।

भाष्य-प्राकृत लोगों के समान हस्तपादादि प्रक्षालन न

करके भोजन करना इसलिये ठीक नहीं कि भोजनकाल में आचमनादि की मर्यादा शिष्ट लोगों की परम्परा से चली आई है, जैसाकि शास्त्र में विधान किया है कि "तस्माद्वा एतद्-शिष्यन्तपुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिःपरिदधति" छां० ५।२।२=शिष्ट लोग भोजन के प्रारम्भ तथा समाप्ति में अन्न का जलरूप वस्त्र से आच्छादन करते हैं, इसप्रकार भोजनकाल में आचमन करना शिष्टमर्यादा है जिसका पालन करना आर्य्यमात्र का कर्त्तव्य है।

सं०-अब प्रकारान्तर से गुणोपसंहार कथन करते हैं:—

समानएवञ्चाभेदात् ॥ १९ ॥

पद०-समाने। एवं। च। अभेदात्।

पदा०-(समाने) एक शाखा में (च) भी (अभेदात्) विद्या का अभेद पाये जाने से (एवं) इसप्रकार गुणों का उपसंहार होसक्ता है।

भाष्य-वाजसनेयी शाखा के अग्निरहस्य प्रकरण में शाण्डिल्यनामक उपासना का इसप्रकार वर्णन किया है कि "स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्"=मनोमय प्राणशरीर आत्मा की उपासना करे, फिर इसी शाखा के बृहदारण्यक में कथन किया है कि:—

"मनोमयोऽयंपुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदय यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः

सर्वमिदं प्रशास्ति" बृहदा० ५।६।१

अर्थ-मनोमय, स्वयंप्रकाश पुरुष हृदय के भीतर व्यापक है जो व्रीहि तथा यव की भांति सूक्ष्म और सबका नियन्ता है, इसप्रकार एक शाखान्तर्गत भिन्न २ प्रकरणस्थ प्राणशरीरत्वादि धर्मों का उपसंहार करना ठीक नहीं ? इस सन्देह की निवृत्ति इसप्रकार कीगई है कि एक ही उपास्य ब्रह्म का उपदेश पाये जाने से एक शाखागत गुणों के परस्पर उपसंहार करने में कोई बाधा नहीं ।

स्मरण रहे कि जिसप्रकार कठ० २।१।१२में परमात्मा को सूक्ष्म होने के अभिप्राय से अंगुष्ठमात्र कथन किया है इसी प्रकार परमात्मा की सूक्ष्मता बोधन करने के लिये उक्त वाक्य में व्रीहि तथा यव का दृष्टान्त दिया है परिच्छिन्न होने के अभिप्राय से नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

पद०-सम्बन्धात् । एवं । अन्यत्र । अपि ।

पदा०-(एवं) इसप्रकार (सम्बन्धात्) सम्बन्ध पाये जाने से प्रकरणान्तरगत गुणों के उपसंहार की (अपि) भी आपत्ति होगी ।

भाष्य-बृहदारण्यक के सत्यविद्या प्रकरण में आदित्य पुरुष का नाम "अहः" तथा आध्यात्मिक अक्षि पुरुष का नाम "अहं"

कथन किया है जिसमें यह सन्देह होता है कि आदित्य पुरुष की उपासना में अक्षिपुरुष के नाम का तथा अक्षिपुरुष की उपासना में आदित्य पुरुष के नाम का उपसंहार होसक्ता है वा नहीं ? इसमें पूर्वपक्षी का कथन है कि जिसप्रकार शाण्डिल्य विद्या में उपास्य ब्रह्म के सम्बन्धमात्र से प्राणशरीरत्वादि धर्मों का उपसंहार कियागया है वैसे ही प्रकृत में ब्रह्मविद्या की एकता पाये जाने के कारण दोनों का परस्पर उपसंहार होसक्ता है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

नवाविशेषात् ॥ २१ ॥

पद०—न । वा । विशेषात् ।

पदा०—(विशेषात्) विशेषता पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—" वा " शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, आदित्य पुरुष में अक्षिपुरुष तथा अक्षि पुरुष में आदित्य पुरुष के " अहं " आदि नामरूप गुण के उपसंहार का कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि दोनों प्रकरणों में नाम तथा स्थान का भेद पाया जाता है, यदि एक ही स्थान में एक नाम होता तो विद्यापूर्त्ति के लिये उसका अन्यत्र उपसंहार किया जाता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि एकशाखा वाले प्रकरण तथा एक उपास्य का सम्बन्ध होने पर भी प्रकृत में गुणोपसंहार मानना ठीक नहीं ।

सं०—ननु,उक्त गुणों का उपसंहार न करने से नाना उपास्य देवों की आपत्ति होगी ? उत्तर :—

दर्शयति च ॥ २२ ॥

पद०-दर्शयति । च ।

पदा०-(च) और (दर्शयति) उपनिषदों में एक ही उपास्यदेव का वर्णन होने से नाना उपास्यों की आपत्ति नहीं होसकती ।

भाष्य-" तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्यरूपम् " छां० १ । ७ । ५=इसका वही रूप है जो उसका रूप है अर्थात् अक्षिपुरुष तथा आदित्य पुरुष यह दोनों पद अक्षि तथा आदित्य मण्डल में व्यापक एक ही परमात्मा के वाचक हैं, इसलिये नाना उपास्यदेवों की आपत्ति का कथन करना वादी का साहसमात्र है ।

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्पष्ट करते हैं:—

सम्भृतिद्युव्याप्तिश्चातः ॥ २३ ॥

पद०-सम्भृतिद्युव्याप्तिः । च । अतः ।

पदा०-(च) और (अतः) एक उपास्यदेव के मानने से ही ईश्वर में (सम्भृतिद्युव्याप्तिः) जगत् का पालन करना तथा अन्तरिक्षादि लोकों में व्यापक होना बनसक्ता है अन्यथा नहीं ।

भाष्य-ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने तथा जगत् कर्त्ता होने से भी एक ही उपास्यदेव की सिद्धि होती है नाना उपास्यदेवों की नहीं, यदि शास्त्रकार का अभिप्राय नाना उपास्यों के बोधन में

होता तो एक ईश्वर से जगत् की रचना का वर्णन न किया जाता, जैसाकि पीछे कई स्थलों में वर्णन कर आये हैं, और नाहीं " एको देवः सर्वभूतेषु गूढः श्वे० ६ । ११=एक ही परमात्मदेव सब भूतों में व्यापक तथा सब का उपास्य है, इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म की व्याप्ति का वर्णन किया जाता परन्तु सम्भूति=जगत्‌रचना तथा व्याप्ति के कथन से स्पष्ट है कि नाना उपास्यदेव नहीं ।

सं०–अब अन्य गुणों के उपसंहार का अतिदेश कथन करते हैं :—

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामना-म्नानात् ॥ २४ ॥

पद०–पुरुषविद्यायाम् । इव । च । इतरेषां । अनाम्नानात् ।

पदा०–(च) और (पुरुषविद्यायां, इव) पुरुषविद्या की भांति (इतरेषां, अनाम्नानात्) जिन गुणों का वर्णन नहीं किया उनका अन्यत्र भी उपसंहार होसक्ता है ।

भाष्य–जिसप्रकार अन्य शाखाओं में विद्यासमता के लिये छान्दोग्य में वर्णन कीहुई पुरुष विद्या का उपसंहार कियाजाता है इसी प्रकार जिन गुणों के उपसंहार का यहां विशेष विचार नहीं कियागया उनका उपसंहार करके विद्याबोधक वाक्यों की एकवाक्यता जाननी चाहिये ।

सं०–ननु "सर्वप्रविध्य" इत्यादि वाक्यों द्वारा जो उपनिषदों में क्रूरता युक्त उपदेश पाये जाते हैं सो ठीक नहीं ? उत्तर :—

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

पद०-एकपद० ।

पदा०-(वेधाद्यर्थभेदात्) वेधादि वाक्यों में तात्पर्य्य का भेद होने से कोई दोष नहीं ।

भाष्य-"सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः"=मेरे शत्रु का नाश कर तथा उसके हृदय, नाडी, शिर आदि अङ्गों का विदारण कर, इत्यादि जो क्रूरतायुक्त वाक्य उपनिषदों में पाये जाते हैं वह क्षात्रधर्म के अभिप्राय से हैं, इसलिये कोई दोष नहीं, यह विषय "गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य" में विस्तारपूर्वक लिखेजाने से यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं ।

सं०-अब "अश्व इव रोमाणि" इत्यादि वाक्यों की व्यवस्था करने के लिये "हान्यधिकरण" का आरम्भ करते हैंः—

हानौतूपायनशब्दशेषत्वाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

पद०-हानौ । तु । उपायनशब्दशेषत्वात् । छन्दस्तुत्युपगानवत् । तत् । उक्तम् ।

पदा०-(हानौ) हानिवाचक शब्दों के पाये जाने से (तु) भी "उपायन" अर्थ का ग्रहण होसक्ता है, क्योंकि (उपायनशब्दशेषत्वात्) उपायन शब्द हानि पद का शेष है (तत्)

और यह बात (छन्दस्तुत्युपगानवत्) छन्द, स्तुति तथा उपगान की भांति (उक्तं) बनसक्ती है।

भाष्य-"अश्व इव रोमाणि विधूय०" छां० ८।१३।

१=जिसप्रकार घोड़ा अपने रोमों को झाड़ता है तथा जिसप्रकार चन्द्र राहु से मुक्त होकर शुद्ध होजाता है इसी प्रकार विद्वान् पुरुष पापनिवृत्तिद्वारा शुद्ध होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इसी भाव को अथर्वशाखा में यों वर्णन किया है कि "परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यं" मुं० ३।२।८=विवेकी पुरुष नामरूप से मुक्त होकर प्रकाशस्वरूप परमात्मा को उपलब्ध करता है, इत्यादि वाक्यों में यह संदेह उत्पन्न होता है कि किसी वाक्य में विद्वान् के पापपुण्य दोनों की निवृत्ति, किसी में केवल पाप की निवृत्ति और शाट्यायनशाखा के "तस्य पुत्राः०" इत्यादि वाक्यों में विद्वान् के पुण्यपाप का उसके शत्रु मित्र में प्राप्त होना आदि वर्णन किया गया है सो सब शाखागत वाक्यों की एकवाक्यता के लिये शत्रुमित्रकर्तृक पापपुण्य की हानि ग्रहण का उपसंहार होता है वा नहीं? पूर्वपक्षी का कथन है कि अन्यविद्या विषयक पुण्यपाप के ग्रहण का अन्य शाखा में उपसंहार करना ठीक नहीं, क्योंकि पुण्यपाप के त्यागरूप क्रिया का कर्त्ता ब्रह्मवेत्ता और ग्रहण क्रिया के कर्त्ता शत्रु मित्र हैं, इसप्रकार दोनों क्रियाओं के भिन्न २ कर्त्ता होने से श्रुतिस्थ "हानि" पद शाखान्तरीय उपायन=ग्रहण क्रिया का आक्षेपक नहीं होसक्ता? इसका उत्तर यह है कि कौषीतकीरहस्य० १।४ में कथन किया हुआ कि "उपायन" पद "हानि" पद का शेष है और जो जिसका

शेष हो वह अपने शेषी का उपस्थापक होता है, इस नियम के अनुसार जहां केवल "अश्व इव" इत्यादि वाक्यों में हानिरूप अर्थ का साक्षात् उपादान किया है वहां उसका उपसंहार करके एकवाक्यता होसक्ती है अर्थात् "कुशा वानस्पत्यः स्थः०"= वृक्ष की कुशा होती हैं, जिसप्रकार इस वाक्य में यह निर्णय नहीं किया गया कि किस वृक्ष की कुशा होनी चाहियें परन्तु शाठ्यायनशाखा के "औदुम्बरा" पद का उपसंहार करके गूलर वृक्ष की कुशा लीजाती हैं अन्य वृक्ष की नहीं, जैसे "छन्दोभिः स्तुवते"=छन्दों से स्तुति करे, यहां छन्दद्वारा स्तुति करना सामान्यतः प्राप्त है पर देवासुर * छन्दों में से किस छन्दद्वारा स्तुति करे यह निर्णय नहीं होसक्ता, परन्तु "देवछन्दांसि पूर्वाणि"=प्रथम देव छन्द होते हैं, इस पैङ्गी ब्राह्मण के वाक्य से निर्णय किया जाता है, और जैसे कई एक शाखाओं में "षोडशीस्तोत्र" के काल का निर्णय नहीं पायाजाता परन्तु "समयाध्युषितेसूर्ये षोडशिनं स्तोत्रमुपाकरोति"= सूर्योदय होने पर षोडशीस्तोत्र का प्रयोग करे, इस तैत्तिरीय श्रुतिद्वारा काल का निर्णय किया जाता है किंवा जिस प्रकार "ऋत्विज उपगायन्ति"=ऋत्विक् उपगान करते हैं, इस उपगान विधायक वाक्यद्वारा सामान्यविधि पाये जाने पर भी

* नव अक्षर वाले छन्दों का नाम "देव" तथा इससे भिन्न छन्दों को "असुर" कहते हैं।

"नाध्वर्युरुपगायति"=अध्वर्यु उपगान न करे, इस श्रुत्यन्तर से अध्वर्यु भिन्न ऋत्विजों का उपगान सिद्ध होता है इसी प्रकार प्रकृत में उक्त रीति से कुशा, छन्द, स्तुति तथा उपगान की भांति शाखान्तरस्थ उपायनरूप अर्थ का उपसंहार करने से "अश्व इव रोमाणि" इत्यादि श्रुतियों की एकवाक्यता में कोई बाधा नहीं।

सं०—अब कौषीतकी शाखान्तर्गत पर्य्यङ्कविद्या सम्बन्धी वाक्यों की मीमांसा करने के लिये "साम्परायाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथाह्यन्ये ॥२७॥

पद०—साम्पराये। तर्त्तव्याभावात्। तथा। हि। अन्ये।

पदा०—(तर्त्तव्याभावात्) तरने योग्य पदार्थ के न पाये जाने से (साम्पराये) देहत्याग काल में तत्त्ववेत्ता पुरुष का सुकृत तथा दुष्कृत नष्ट होजाता है, और (हि) निश्चयकरके (अन्य) दूसरी शाखावाले भी (तथा) ऐसा ही कथन करते हैं।

भाष्य—"स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति" कौ० १।३=देवयान मार्ग को प्राप्त होकर अग्निलोक को प्राप्त होता है, इसप्रकार उपक्रम करके फिर यह कथन किया है कि "स आगच्छति विरजांनदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनते" कौ० १।४=मुक्त पुरुष विरजा नदी को प्राप्त होकर सङ्कल्पद्वारा उसका उल्लंघन

करता हुआ वहीं अपने पापपुण्य से पृथक् होजाता है, यहां विचारणीय यह है कि देहत्याग से उत्तर देवयान को प्राप्त होकर मुक्त पुरुष के पापपुण्य का परित्याग मानाजाय किंवा देहत्यागोत्तर काल में ही दोनों का परित्याग मानना ठीक है ? इस में सिद्धान्त यह है कि " **तर्त्तव्याभावात् = विदुषो देहवियोगात्पश्चात्सुकृतदुष्कृताभ्यां तारतम्यभोगाभावात् साम्पराये=देहोत्क्रमणकाल एव सुकृतदुष्कृते निरवशेषं हीयते**=देहत्यागोत्तर काल में विद्वान् के लिये पुण्यपाप हेतुक भोग न होने के कारण शरीर से वियोग होते ही दोनों का नाश होजाता है, क्योंकि उसके लिये फिर कोई भोग नहीं रहता, इसप्रकार तांड्य तथा शाट्यायन शाखा वालों के " **अश्व इव रोमाणि विधूय०** " इस वाक्य की भांति कौषीतकी श्रुति की अर्थव्यवस्था लगाकर देवयानमार्ग की प्राप्ति से प्रथम ही ज्ञानी के पुण्यपाप की निवृत्ति मानना ठीक है ।

सं०-ननु, शास्त्र में ज्ञान को कर्मों का नाशक माना है फिर सिद्धान्त में ज्ञानकर्म के समुच्चय से मुक्ति मानना ठीक नहीं? उत्तरः-

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

पद०-छन्दतः । उभयाविरोधात ।

पदा०-(छन्दतः) स्वेच्छा से (उभयाविरोधात्) दोनों का अविरोध पाये जाने के कारण कोई दोष नहीं ।

भाष्य-मुक्त पुरुष की स्वाभाविक वृत्तियों से पाया जाता है कि कर्म सर्वथा नष्ट नहीं होते प्रत्युत मुक्ति में मानस कर्म बने रहते हैं, जैसाकि " मनसैतान्कामान् पश्यन् रमते " छां० ८।१२।५=मुक्त पुरुष मन से सब कामनाओं का अनुभव करता हुआ आनन्दित होता है, इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है, इसलिये ज्ञानकर्म के समुच्चय में कोई बाधा नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ को अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हैं:—

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

पद०-गतेः। अर्थवत्त्वं। उभयथा। अन्यथा। हि। विरोधः।

पदा०-(उभयथा) ज्ञानकर्म का समुच्चय मानने से ही (गतेः) मुक्त पुरुष की गति (अर्थवत्त्वं) सार्थक होसक्ती है (अन्यथा) यदि ऐसा न मानाजाय तो (हि) निश्चयकरके (विरोधः) श्रुति से विरोध आता है।

भाष्य-"कुर्वन्नेवेह कर्माणि" यजु० ४०।२= वैदिककर्मों का अनुष्ठान करता हुआ सौ वर्ष पर्य्यन्त जीने की इच्छा करे, इस प्रकार कर्म की श्रेष्ठता कथन करके फिर यजु० ४०।११ में यह वर्णन किया है कि "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते"=विद्या तथा कर्म दोनों को

एक साथ मुक्ति का साधन जानने वाला कर्मों द्वारा मृत्युरूप बन्धन से रहित होकर अमृतपद को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में ज्ञान कर्म का समुच्चय ही मुक्ति का साधन माना गया है केवल कर्म वा ज्ञान नहीं, यदि समुच्चयवाद को छोड़कर किसी एक पक्ष का आश्रयण करें तो किसी प्रकार से भी उक्त वाक्यों की व्यवस्था नहीं होसक्ती प्रत्युत विरोध की सम्भावना होती है, इसलिये विरोधपरिहारार्थ ज्ञान कर्म का समुच्चय मानना ही ठीक है, इसी अभिप्राय से गी० ४। १८ में वर्णन किया है कि :—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

अर्थ—जो कर्मानुष्ठान काल में ज्ञान को और ज्ञानकाल में कर्मों को कर्त्तव्यरूप से जानता है वही योगी और वही सब कर्मों का करने वाला है, स्वामी शङ्कराचार्यजी ने उक्त श्लोक का यह अर्थ किया है कि रज्जुसर्प की भांति आविधिक कर्मों को करता हुआ अपने आप को ब्रह्मरूप से असङ्ग जाने ? यह कथन गीता के अभिप्राय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि गी० ४। १९ में वर्णन किया है कि :—

यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

अर्थ—जिसके प्रारम्भ किये हुए कर्म फल की इच्छा से रहित

हैं अर्थात् निष्कामकर्मरूप ज्ञानाग्नि से जिसके सब पापकर्म दग्ध होगये हैं वही पण्डित है, यदि रज्जुसर्प की भांति कर्मों को मिथ्या प्रतिपादन करना ही अभिप्रेत होता तो उक्त रीति से कदापि निष्काम कर्मों का विधान न किया जाता और नाही "यथैधांसि समिद्धोग्निः" पद से मन्दवासनारूप कर्मों का नाश प्रतिपादन किया जाता पर किया है इससे सिद्ध है कि गीता भी ज्ञान कर्म के समुच्चय को ही प्रतिपादन करती है स्वतन्त्र ज्ञान वा कर्म को नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में दृष्टान्त कथन करते हैं :—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।३०।

पद०-उपपन्नः। तल्लक्षणार्थोपलब्धेः। लोकवत्।

पदा०-(लोकवत्) लोक की भांति (तल्लक्षणार्थोपलब्धेः) दोनों से मुक्तिरूप अर्थ की प्राप्ति होने के कारण (उपपन्नः) ज्ञानकर्म का समुच्चय युक्तिसिद्ध है।

भाष्य-जिसप्रकार लोक में किसी पदार्थ की प्राप्ति ज्ञान तथा कर्म द्वारा होती है अर्थात् प्रथम पदार्थ का ज्ञान और पश्चात् कर्मानुष्ठान द्वारा उसकी प्राप्ति देखी जाती है इसीप्रकार वेद में परमात्मप्राप्ति ज्ञानकर्म के समुच्चय से मानीगई है अन्यथा नहीं, इसी अभिप्राय से बृहदा० के अन्तर्यामी ब्राह्मण में वर्णन किया है कि "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"=आत्मा ही श्रोतव्य मन्तव्य तथा निदिध्यासितव्य

है और इसी आशय को गी० २।३९ में यों स्फुट किया है कि "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु"= हे अर्जुन ! तेरे प्रति ज्ञाननिष्ठा कथन कीगई अब योगनिष्ठा का श्रवण कर, इसप्रकार लोकन्याय तथा शास्त्र प्रमाणों से सिद्ध है कि ज्ञानकर्म के समुच्चय में कोई बाधा नहीं ।

सं०—ननु, मुक्ति की प्राप्ति में किसी आश्रमविशेष का नियम है वा नहीं ? उत्तर :—

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

पद०—अनियमः । सर्वेषां । अविरोधः । शब्दानुमानाभ्यां ।

पदा०—(अनियमः) मुक्ति में किसी आश्रमविशेष का नियम नहीं प्रत्युत (सर्वेषां) सब का (अविरोधः) अविरोध है, क्योंकि (शब्दानुमानाभ्यां) शब्द तथा अनुमान से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य—मुक्ति में किसी आश्रमविशेष का नियम नहीं किन्तु प्रत्येक आश्रम में ज्ञानकर्म द्वारा मुक्ति की प्राप्ति समान है, जैसाकि ब्र० सू० ३।३।२९ के भाष्य में शब्दप्रमाण से स्पष्ट कर आये हैं, और उक्त अर्थ का साधक अनुमान इस प्रकार है कि "मुक्ति ज्ञानकर्म हेतुका साध्यत्वात् पाकवत्"=जो साध्य होता है वह ज्ञान तथा कर्म से जन्य होता है, इस नियम के अनुसार जिसप्रकार साध्य होने से पाक पाचक पुरुष

के ज्ञान कर्म से जन्य है इसीप्रकार मुक्ति मुमुक्षुपुरुषानुष्ठित ज्ञान कर्म से जन्य है, इत्यादि अनुमान तथा शब्दप्रमाण से सिद्ध है कि मुक्ति में किसी आश्रमविशेष का नियम नहीं ।

सं०—अब मुक्ति की अवधि कथन करते हैं:—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

पद०—यावदधिकारं । अवस्थितिः । अधिकारिकाणां ।

पदा०—(अधिकारिकाणां) मुक्त पुरुषों की मोक्ष में (अवस्थितिः) स्थिति (यावदधिकारं) नियत काल पर्य्यन्त रहती है ।

भाष्य—" ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात्परि मुच्यन्ति सर्वे" कैव० १।३=परान्त काल के अनन्तर मुक्त पुरुष उस परमपद से पुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि मुक्त पुरुषों का मुक्तिरूप भोग नियतकाल पर्य्यन्त है अनियत नहीं ।

स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने आशङ्कापूर्वक इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि ननु—मुक्ति के अधिकारी पुरुषों का मुक्तिप्राप्ति से पूर्व कोई अन्य जन्म होता है वा नहीं ! उत्तर— यावदधिकारं=अपने अधिकार को समाप्त करके मुक्त होते हैं अन्यथा नहीं, अतएव वसिष्ठादि मुक्त पुरुषों का अधिकार समाप्ति के पूर्व कई वार जन्म देखा गया है ? यह कथन इसलिये

ठीक नहीं कि सूत्र में उक्त अर्थ का बोधक कोई पद उपलब्ध नहीं होता, यदि सूत्रकार का यह आशय होता तो सूत्र में "यावदधिकारं" पद के स्थान पर "यावज्जन्म" पद का निवेश कियजाता पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि सूत्रकार को मायावादियों की मुक्ति अभिमेत नहीं, दूसरी बात यह है कि जब उनके सिद्धान्तानुसार "अहम्ब्रह्मास्मि" ज्ञान होगया तो फिर पुनः २ जन्मधारण करने का क्या प्रयोजन ? क्या आत्मैकत्वज्ञान का इतना मन्दप्रभाव है कि वह ब्रह्मवेत्ता को पुनः २ जन्म मरण के बन्धन से भी निर्मुक्त नहीं करसक्ता, इत्यादि तर्कों से ज्यों २ समीक्षा कीजाय त्यों२ अद्वैतवादियों का सिद्धान्त कदलीस्तम्भवत् निस्सार प्रतीत होता है ।

सं०—अब परमात्मा के अस्थूलादि गुणों का सर्वत्र उपसंहार कथन करने के लिये "अक्षराधिकरण" का आरम्भ करते हैंः—

अक्षरधियान्त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

पद०—अक्षराधियां । तु । अवरोधः । सामान्यतद्भावाभ्याम् । औपसदवत् । तत् । उक्तम् ।

पदा०—(सामान्यतद्भावाभ्यां) उपास्य ब्रह्म की समता तथा अस्थूलादि विशेषणों की योग्यता पाये जाने से (अक्षराधियां) अक्षरविषयक धर्मों का सर्वत्र (अवरोधः) उपसंहार होता है (तु) और (तत्) यही रीति (औपसदवत्) औपसद की भांति (उक्तं) कथन कीगई है ।

भाष्य—" एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्य स्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घं " बृ० ३ । ८ । ८=हे गार्गि ! ब्रह्मवेत्ता लोग अक्षर ब्रह्म को इस प्रकार कथन करते हैं कि वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है और न बड़ा है, इत्यादि अक्षर ब्रह्मविषयक अस्थूलत्वादि धर्मों का सब शाखाओं में उपसंहार होसक्ता है वा नहीं ? इस सन्देह की निवृत्ति इस प्रकार कीगई है कि उक्त धर्मों का सर्वत्र उपसंहार मानना ही ठीक है, क्योंकि उपास्य ब्रह्म की सब शाखाओं में एकता पाई जाती है और नियम से गुणों का अपने प्रधान के साथ अन्वय होता है अर्थात् " गुणव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः " मीमां० ३ । ३ । ८=गौण तथा मुख्यवृत्ति धर्मों का परस्पर विरोध होने पर श्रुतिवाक्य का सम्बन्ध मुख्य के साथ होता है, क्योंकि सब अङ्ग प्रधान=अङ्गी के ही शेष होते हैं अप्रधान के नहीं, या यों कहो कि गौण सर्वदा मुख्य का ही अनुसारी होता है, इस नियम के अनुसार जैसे जमदग्नि याग में "अग्नेर्वैर्होत्रं वेरध्वरं०" इत्यादि पुरोडाश देने योग्य औपसद संज्ञक सामवेदसम्बन्धी वाक्यों के उच्चारणपूर्वक पुरोडाश प्रदानरूप कर्म का अध्वर्यु को अधिकार है अप्रधान होने से सब ऋत्विजों को नहीं इसी प्रकार किसी एक शाखा में पढ़े गये अस्थूलत्वादि धर्मों का सब शाखाओं में उपसंहार करके अक्षररूप प्रधान ब्रह्म के साथ अन्वय करने में कोई बाधा नहीं, यही रीति ब्रह्मसम्बन्धी शेष गुणों के उपसंहार में जाननी चाहिये ।

सं०—अब "ऋतंपिबन्तौ०" कठ० ३ । १ इत्यादि वाक्यों की एकवाक्यता के लिये "इयदधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:-

इयदामननात् ॥३४॥

पद०—एकपद० ।

पदा०—(इयदामननात्) दोनों वाक्यों में द्विवचन बोधक संख्या की समानता पायेजाने से उनके प्रतिपाद्य विषय का भेद नहीं।

भाष्य—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" श्वेता० ४ । ६=जीव तथा ईश्वर दोनों के मध्य एक स्वादु फल को खाता है दूसरा नहीं, इस वाक्य में जीव को कर्मफल का भोक्ता कथन किया है परन्तु "ऋतं पिबन्तौ" कठ० ३ । १ इस वाक्य से दोनों को कर्मफल का भोग करने वाला माना है जिससे स्पष्ट है कि दोनों शाखाओं में भिन्न २ विद्या है एक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि उभयत्र जीव ब्रह्म का प्रकरण एक होने तथा दोनों की द्वित्व संख्या समान पाये जाने से एक ही विषय प्रतिपादन किया है भिन्न २ नहीं, इसलिये विद्या का अभेद मानना ही ठीक है, इसका विशेष विचार ब्र०सू० १ । २ । १२ के भाष्य में कर आये हैं विशेषाभिलाषी वहां देखलें ।

सं०—अब बृहदारण्यकान्तर्गत "उषस्त" तथा "कहोल" ब्राह्मण में प्रतिपादन कीहुई विद्या की एकता कथन करते हैं:—

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥३५॥

पद०—अन्तरा । भूतग्रामवत् । स्वात्मनः ।

पदा०—(भूतग्रामवत्) सब भूतों में एकरस व्यापक प्रतिपादन करनेवाले श्रुति वाक्यों के समान उक्त दोनों ब्राह्मणों का एक ही विषय (स्वात्मनः, अन्तरा) सबका अन्तरात्मा परमात्मा है।

भाष्य—" एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढः " श्वेता० ६।१२= एक ही परमात्मा सब भूतों में व्यापक है, इत्यादि वाक्यों में जिसप्रकार परमात्मा को सब भूतों का अन्तरात्मा प्रतिपादन किया है इसी प्रकार उषस्त तथा कहोल ब्राह्मण का प्रतिपाद्य= विषयभूत सर्वान्तरात्मा परमात्मा एक है, क्योंकि " यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म " बृ० ३।४।१=ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, " य आत्मा सर्वान्तरः " बृहदा० ३।५।१=वही सबका अन्तरात्मा है, इत्यादि उक्त ब्राह्मणगत वाक्यों से ऐसा ही पाया जाता है, इस प्रकार विषयभेद न होने के कारण उक्त दोनों ब्राह्मणों में विद्या की समता जाननी चाहिये।

सं०—अब उक्त अर्थ का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:—

अन्यथा भेदानुपपत्तिरितिचेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

पद०—अन्यथा । भेदानुपपत्तिः । इति । चेत् । न । उपदेशान्तरवत् ।

पदा०-(अन्यथा) विद्याभेद के न मानने पर (भेदानुपपत्तिः) उपदेशभेद की उपपत्ति नहीं होसक्ती (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि यह बात (उपदेशान्तरवत्) अन्य उपदेश की भांति बनसक्ती है ।

भाष्य-यदि उक्त दोनों ब्राह्मणों में एक ही सर्वान्तरात्मा ब्रह्म का विषय होता तो प्रकरणभेद करने की कोई आवश्यकता न होती पर प्रकरणभेद कियेजाने से उक्त विषय वाक्योंद्वारा विद्या की एकता मानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि आम्नायभेद=भिन्न २ प्रकरणस्थ वाक्यों द्वारा उसी विद्या का वर्णन करना विद्याभेद का साधक नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर भी वेद्य एक होता है अर्थात् जिसप्रकार छां० ६ । ८ । ७ में नौवार " तत्वमसि " वाक्य द्वारा भिन्न२प्रकार से ज्ञान की दृढता के लिये एक ही जीवात्मा के स्वरूप को प्रतिपादन किया है पर विद्याभेद नहीं इसी प्रकार उषस्त तथा कहोल ब्राह्मण में ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर भी एकविद्या की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं ।

सं०-अब " ऐतरेय " तथा " जाबाल " शाखा सम्बन्धि वाक्यों की एकवाक्यता के लिये " व्यतिहाराधिकरण " का प्रारम्भ करते हैं :—

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

पद०-व्यतिहारः । विशिंषन्ति । हि । इतरवत् ।

पदा०-(हि) निश्चयकरके (इतरवत्) लौकिक व्यवहार

की भांति (व्यतिहारः) शास्त्र में परस्पर अभेद कथन (विशिषन्ति) विशेष्य विशेषणभाव के अभिप्राय से आया है।

भाष्य-" अहं वा त्वमसिभगवो देवते त्वं वा अहमस्मि "=मैं आप और आप मैं हूं, इत्यादि वाक्यों में जो जीव ब्रह्म का परस्पर अभेदोपचार कथन कियागया है वह विशेष्य विशेषणभाव के अभिप्राय से है वस्तुतः जीव ब्रह्म की एकत में तात्पर्य्य नहीं अर्थात् जिसप्रकार लोक में स्वामी सेवक का परस्पर अत्यन्त प्रेम होने से उनमें अभेद का औपचारिक व्यवहार होता है वैसे ही जहां२ उपनिषदों में जीव ब्रह्म की एकताबोधक वाक्य पायेजाते हैं वह सब औपचारिक अभेदपरक जानने चाहियें वस्तुतः एकत्वभाव से नहीं॥

सं०-अत्र " महद्यक्षं प्रथमजं " बृ०५।४।१ इत्यादि वाक्य प्रतिपादित विद्या के निर्णयार्थ " सत्याधिकरण " का प्रारम्भ करते हैं:—

सैव हि सत्यादयः॥ ३८॥

पद०-सा। एव। हि। सत्यादयः।

पदा०-(हि) निश्चयकरके यक्षवाक्य में (सा, एव) उसी ब्रह्म विद्या का विधान है, क्योंकि उक्त अर्थ के निश्चायक (सत्यादयः) सत्यादि गुण समान पायेजाते हैं।

भाष्य-" स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं

ब्रह्मेति जयतीमांल्लोकान्" बृह० ५ । ४ । १=जो इस पूज्य सत्य ब्रह्म को जानता है वह सब लोकों में विजय पाता है, इस वाक्य से सत्यविद्या का प्रतिपादन करके फिर बृ० ५।५।२ में यों वर्णन किया है कि "तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यः"= वही सत्य पुरुष आदित्य=सूर्य्यमण्डल का नियन्ता है जिसका जानने वाला पाप से रहित होजाता है, यहां फलभेद से विद्याभेद का संशय होने पर सिद्धान्त यह है कि उभयत्र ब्रह्म के सत्यादि विशेषण समान पायेजाने से फलभेद होने पर भी एक ही सत्यविद्या का विधान है भिन्न २ विद्याओं का नहीं ।

सं०—अब छां० ८ । १ । ५ तथा बृह० ४ । ४ । २२ वाक्यों की एकवाक्यता के बोधनार्थ "कामाद्यधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३९॥

पद०—कामादि । इतरत्र । तत्र । च । आयतनादिभ्यः ।

पदा०—(कामादि) छन्दोग्य में पठित सत्यकामादि गुणों का (इतरत्र) दूसरी शाखा में उपसंहार होसक्ता है (च) क्योंकि (तत्र) दोनों शाखाओं में (आयतनादिभ्यः) स्थानादि समान पाये जाते हैं ।

भाष्य-" दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः " छां० ८ । १ । १=इस शरीर के मध्यवर्त्ती दहर=सूक्ष्माकाश ब्रह्म है, इस प्रकार

हृदयान्तर्गत दहराकाश कथन करके पुनः उसके सत्यकामत्वादि गुणों का वर्णन किया है और बृह० ४।४।२२ में हृदयाकाश ब्रह्म के वशित्वादि गुणों का प्रतिपादन किया है सत्य कामत्वादि गुणों का नहीं, सो यहां "आकाश" पदवाच्य ब्रह्मविद्या की समता के लिये छान्दोग्य में वर्णन किये हुए सत्यकामत्वादि गुणों का उपसंहार करना आवश्यक है, क्योंकि दोनों शाखाओं में हृदयस्थानीय ईश्वर और उसका लोकस्थिति हेतुभूत मर्यादारूप सेतुत्वधर्म समान पायाजाता है, इसलिये ऐसे स्थलों में एक विद्या के बोधनार्थ गुणों का अवश्य ही उपसंहार करना चाहिये।

सं०—ननु, निर्विशेष परमात्मा के सत्यकामादि गुण कल्पित हैं तात्विक नहीं ? उत्तरः—

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

पद०—आदरात्। अलोपः।

पदा०—(आदरात्) शास्त्र में परमात्म सम्बन्धि गुणों का आदर पायेजाने के कारण (अलोपः) सत्यकामादि गुणों को कल्पित कथन करना ठीक नहीं।

भाष्य—शास्त्र में बड़े समारोह से परमात्मा के अपहतपाप्मत्व तथा सत्यकामत्वादि गुणों का वर्णन किया है, जैसाकि कई एक स्थलों में पीछे प्रतिपादन करआये हैं, यदि उक्त गुण वास्तविक न होते तो उनके वर्णन करने में शास्त्र की प्रवृत्ति

न पाई जाती, क्योंकि मिथ्या पदार्थ के बोधन से पुरुषार्थसिद्धि नहीं होसक्ती, जैसाकि स्वामी " रामानुज " का कथन है कि "नच मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वात्सल्यपरं शास्त्रं प्रतारकवदपारमार्थिकान्निरसनीयगुणान्प्रमाणान्तराप्रतिपन्नानादेरणोपादिश्य संसारचक्रपरिवर्त्तनेन पूर्वमेव बंभ्रम्यमाणान्मुमुक्षुन्भूयोऽपि भ्रमयितुमलम् " श्री० भा०=माता पिता से सहस्र गुण अधिक प्रेम करने वाला शास्त्र वञ्चकों के समान मिथ्या गुणों का उपदेश करके संसार चक्र में प्रथम ही भूलकर भटकते हुए जिज्ञासुओं को फिर भुलाने के लिये प्रवृत्त नहीं होता किन्तु वह जीवों के कल्याणार्थ सत्य ब्रह्म का उपदेश करता है, इसलिये परमात्म सम्बन्धी सत्यकामादि गुणों को कल्पित कथन करके अद्वैत ब्रह्म का स्थापन करना मायावादियों का साहसमात्र है।

सं०-अब उक्त अर्थ को प्रकारान्तर से स्फुट करते हैं:—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

पद०-उपस्थिते। अतः। तद्वचनात्।

पदा०-(अतः) सत्यकामादि गुण कल्पित न होने से (उपस्थिते, तद्वचनात्) ब्रह्मप्राप्ति बोधक वाक्य यथार्थ हैं।

भाष्य-"ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" बृहदा० ४।४।६=पुरुष ब्रह्म सम्बन्धी गुणों को धारण करके ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है, इत्यादि ब्रह्मभावप्रतिपादक वाक्य सत्यकामादि गुणों

को सत्यरूप कथन करते हैं काल्पित नहीं, यदि कल्पित गुणों के प्रतिपादन करने में शास्त्र का तात्पर्य्य होता तो ब्रह्मवित् पुरुष की तद्धर्मतापत्ति वर्णन न कीजाती और नाही ब्रह्म को सर्वोत्कृष्ट वर्णन किया जाता परन्तु किया है, इससे स्पष्ट है कि निरतिशय कल्याण गुणाकर परमात्मा का कोई गुण कल्पित नहीं।

सं०-अब उद्गीथोपासना विषयक वाक्यों की मीमांसा करने के लिये "तन्निर्धारणाधिकरण" का आरम्भ करते हैं:—

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्य-प्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

पद०-तन्निर्धारणानियमः। तद्दृष्टेः। पृथक्। हि। अप्रतिबन्धः। फलम्।

पदा०-(तद्दृष्टेः) परमात्मा का ध्यान पाये जाने से (तन्निर्धारणानियमः) उद्गीथोपासना में मनोव्यापार का नियम नहीं (हि) क्योंकि (पृथक्) केवल कर्मानुष्ठान से ब्रह्मोपासना की (फलं) फल में विशेषता पाई जाती है।

भाष्य-जिस प्रकार "आत्मावारे द्रष्टव्यः ०" बृहदा० ४।४।५=हे मैत्रेयी! आत्मा ही द्रष्टव्य है, इत्यादि वाक्यों में परमात्मा के पुनः २ प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यान का नियम पाया जाता है, इस प्रकार "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" छां० १।१।१="ओ३म्" पद वाच्य परमात्मा की उद्गीथरूप से उपासना करे, इस उद्गीथोपासना में पुनः २ मनोव्यापार का नियम नहीं और नाही उक्त उपासना नियम से कर्म का अङ्ग

है, क्योंकि केवल कर्म का फल सातिशय तथा अल्पकालस्थायी होता है और ब्रह्मोपासना का फल चिरस्थायी तथा प्राकृत ऐश्वर्य्य से विलक्षण ब्रह्मानन्दोपभोगरूप है, अतः कर्मों के अङ्गभूत उपासनाओं में पुनः २ प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यान की आवश्यक्ता नहीं।

सं०-अब ब्रह्मध्यान की आवृत्ति में दृष्टान्त कथन करते हैं:—

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥४३॥

पद०-प्रदानवत्। एव। तत्। उक्तम्।

पदा०-(प्रदानवत्) हविःप्रक्षेप की भांति (तत, उक्तं) ब्रह्मध्यान पुनः २ कर्त्तव्य है॥

भाष्य-"एव" पद ब्रह्मध्यान की अवश्यकर्त्तव्यता के बोधनार्थ आया है, जिसप्रकार यज्ञ में मन्त्रों द्वारा पुनः२ हविः का प्रक्षेप किया जाता है इसी प्रकार ब्रह्मध्यान में पुनः२ मनोवृत्ति का सञ्चार कर्त्तव्य है, इसका विस्तारपूर्वक निरूपण "उपनिषदार्य्यभाष्य" के द्वितीयभाग में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें॥

सं०-ननु, उपनिषदों में कहीं उद्गीथोपासना, कहीं प्राणोपासना तथा कहीं वायु की उपासना पाई जाती है फिर एक परमात्मा की उपासना कैसे? उत्तरः—

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥४४॥

पद०-लिङ्गभूयस्त्वात्। तत्। हि। बलीयः। तत्। अपि।

पदा०-(हि) निश्चय करके (लिङ्गभूयस्त्वात्) ब्रह्मसम्बन्धी अधिक लिङ्ग पाये जाने से (तत्) उक्त उपासना ब्रह्मपरक हैं और (तत्, अपि) वह लिङ्ग भी (बलीयः) ब्रह्मोपासना के प्रतिपादन करने में ही प्रबल हैं अन्यत्र नहीं।

भाष्य- "आत्मानमुपासीत"=परमात्मा की उपासना करे, इत्यादि उपासनाबोधक वाक्यों में परमात्मविषयक लिङ्ग पाये जाने से वायु आदि जड़ पदार्थों की उपासना में तात्पर्य्य नहीं किन्तु उद्गीथादि परमात्मा के नाम हैं, इसलिये सभी उपासनाओं को ब्रह्मपरक मानना ही ठीक है।

सं०-अब वाजसनेयी अग्निरहस्य प्रकरणगत वाक्यों की संगति के लिये "पूर्वविकल्पाधिकरण" का प्रारम्भ करते हुए प्रथम दो सूत्रों से पूर्वपक्ष करते हैं:—

पूर्वविकल्पःप्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत् ॥ ४९ ॥

पद०-पूर्वविकल्पः। प्रकरणात्। स्यात्। क्रिया। मानसवत्।

पदा०-(प्रकरणात्) आहवनीयादि अग्नियों का प्रकरण पाये जाने से (मानसवत्) मानसग्रह की भांति (क्रिया) क्रियामय अग्नियों का ही (पूर्वविकल्पः) विशेष कथन है।

भाष्य-तत् षटत्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीन" शत० १०। ५।३। १=वागादि इन्द्रियों ने ३६००० हज़ार अग्नियों का आलोचन किया, इत्यादि वाक्यों

से छतीस सहस्र " मनाश्रित " संज्ञक अग्नियों का कथन करके फिर " वाक्चितःप्राणचितः " इस वाक्य से पांच "साम्पादिक" इन्द्रियों की वृत्तियों को अग्निरूप कथन किया है, जिस में यह सन्देह होता है कि मन वा इन्द्रियों की वृत्तियों को अग्निरूप चिन्तन करना स्वतन्त्र है किंवा पूर्वप्रकृत अग्निचयन का अङ्ग है ? पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रकरणप्राप्त क्रियामय=आहवनीयादि अग्नियों का ही यह विशेष उपदेश है स्वतन्त्र विधि नहीं अर्थात् जिसप्रकार द्वादशाह याग के एकादश दिन में "मनो ग्रहंगृह्णाति "=अध्वर्यु मानसग्रह=मन द्वारा चिन्तन किये हुए सोमपात्र का ग्रहण करे, इस वाक्य से उक्त मानसग्रह क्रियारूप द्वादशाह याग का अङ्ग माना जाता है इसी प्रकार 'वाक्चित" आदि पांच साम्पादिक अग्नियें भी पूर्वप्रकृत क्रियामय अग्नियों का विशेष उपदेश है, क्योंकि इससे पूर्व क्रियाप्रधान अग्नियों का प्रकरण पायाजाता है।

अतिदेशाच्च ॥ ५६ ॥

पद०-अतिदेशात् ।च।

पदा०-(च) और (अतिदेशात्) अतिदेश से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-" तद्वत्करणमतिदेशः=अप्रधान का प्रधान के समान चिन्तन करना " अतिदेश " कहाता है, अतिदेश भी " साम्पादिक " अग्नियों के अङ्ग होने में साधक पायाजाता है, जैसाकि "तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः" शत०

१०।५।३।१.१=उनमें से एक २ साम्पादिक अग्नि पूर्वप्रकृत क्रियामय अग्नियों के समान है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि साम्पादिक अग्नियों को क्रियाप्रधान पूर्वप्रकृत अग्नियों का अङ्ग मानना ही ठीक है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

पद०-विद्या। एव। तु। निर्धारणात्।

पदा०-(एव) निश्चयकरके (निर्धारणात्) विचार करने में साम्पादिक अग्नियें (विद्या) पूर्वप्रकृत अग्नियोंका शेष सिद्ध नहीं होतीं किन्तु आध्यात्मिक हैं।

भाष्य-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है "ते है ते विद्याचित एव" शत० १०।५।३। १२=वाक्चित्त आदि साम्पादिक अग्नियें "विद्याचित" कहाती हैं अर्थात् उक्त अग्नियों का आध्यात्मिकरूप से चिन्तन करना एक स्वतन्त्र प्रकरण है, इस वाक्यशेष से सिद्ध है कि वाक्चित आदि अग्नियें क्रियामय अग्नियों का शेष नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

पद०-दर्शनात्। च।

पदा०-(च) और (दर्शनात्) दर्शन=लिङ्गप्रमाण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"मनसा सङ्कल्पयन्ति" शत०१०।५।३।३=

ऋत्विज् लोग मन से ही अग्निहोष्टि करते हैं, इत्यादि वाक्यगत मन द्वारा चिन्तनरूप सामर्थ्य से भी यही सिद्ध होता है कि साम्पादिक अग्नियें आध्यात्मिक हैं क्रियामय अग्नियों का अङ्ग नहीं।

सं०—ननु, प्रकरण के बिना लिङ्ग स्वार्थ का बोधक न होने से उक्त अग्नियों को क्रिया का शेष मानना ही ठीक है ? उत्तरः—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥४९॥

पद०—श्रुत्यादिबलीयस्त्वात् । च । न । बाधः ।

पदा०—(श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्) श्रुति वाक्य आदि प्रबल प्रमाण पाये जाने से (च) भी मनश्चित आदि अग्नियों की स्वतन्त्र विद्यारूपता का (बाधः) बाध (न) नहीं होसक्ता।

भाष्य—अ० सू० ३ । ३ । ४४ में प्रतिपादन किया हुआ लिङ्गप्रमाण ही केवल साम्पादिक अग्नियों के स्वतन्त्र विद्यापक्ष का गमक नहीं प्रत्युत श्रुति तथा वाक्य प्रमाण से भी उक्त अग्नियों का क्रियाशेष न होना पायाजाता है, जैसाकि " ते हैते विद्याचित एव " शत० १० । ५ । ३ । १२=वाक्चित आदि सब अग्नियें आध्यात्मिक हैं, क्योंकि इनमें पञ्चाग्निविद्या की भांति संकल्पद्वारा ही अग्नित्व की भावना कीगई है वस्तुतः अग्नित्व विवक्षित नहीं और "विद्यया हैवेत एवंविदश्चिता भवन्ति " शत० १० । ५ । ३ । १२=साम्पादिक अग्निवित पुरुष संकल्पद्वारा ही उक्त अग्नियों का चयन करता है,

इस वाक्य से भी उनकी क्रियाशेषता का निषेध पायाजाता है, यदि उक्त अग्नियों की क्रियाशेषता विवक्षित होती वा उक्त अर्थ के बोधन में प्रकरण का तात्पर्य्य होता तो उनकी संज्ञा "विद्याचित" न होती और नाही उस प्रकरण में यह वर्णन किया जाता कि ऐसे विद्वान् की दृष्टि में निरन्तर अग्निहोत्र का अनुष्ठान बनारहता है, इससे सिद्ध है कि श्रुति, लिङ्ग तथा वाक्य इन तीन प्रमाणों से प्रकरण की निर्बलता पायेजाने के कारण मनश्चित आदि अग्नियों को पृथक् विद्यारूप मानना ही समीचीन है, श्रुत्यादि प्रमाणों के बलाबल का विचार " मीमांसार्य्यभाष्य " में विस्तारपूर्वक कियागया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

पद०-अनुबन्धादिभ्यः । प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् । दृष्टः । च । तत् । उक्तम् ।

पदा०-(प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्) शाण्डिल्यादि विद्याओं के पृथक्त्व की भांति (अनुबन्धादिभ्यः) अनुबन्ध आदि हेतु भी उक्त अर्थ के साधक हैं (च) क्योंकि ऐसे स्थलों में (दृष्टः) श्रुति आदि से प्रकरण का बाध पायाजाता है (तत्, उक्तम्) जैसाकि कर्ममीमांसा में स्पष्ट है ।

भाष्य-क्रियामय अग्निहोत्ररूप यज्ञ के अवयवों का मन की वृत्तियों में आरोप करना " अनुबन्धः " कहाता है, जैसाकि

" मनसैवाधयिन्त मनसा चीयन्ते मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त " शत० १ । ९ । ३ । ३=मन से ही मनश्चित आदि अग्नियों का आधान तथा इष्टकों का चयन होता और उपासक मनद्वारा सोमपात्रों का ग्रहण करता है इसप्रकार अनुबन्ध बोधक वाक्यों से सिद्ध है कि यह सब अग्नियें क्रियामय अग्निहोत्र कर्म का शेष नहीं अर्थात् जिस प्रकार शाण्डिलविद्या, दहरविद्या तथा वैश्वानरविद्या आदि स्वतन्त्र विद्या हैं किसी कर्म का शेष नहीं वैसे ही साम्पादिक अग्नियों का निरूपण भी स्वतन्त्रविद्यारूप से किया गया है कर्मशेष हाने के अभिप्राय से नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे " राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत "=स्वाराज्य की कामना वाला राजा राजसूय नामक यज्ञ करे, इस प्रकरण में जो " तत्र यदि ब्राह्मणो यजेत " इत्यादि वाक्यों से " अवेष्टि " नामक यज्ञ का विधान किया है जिसको अन्य प्रकरण पठित होने पर भी ब्राह्मणादि वर्णों के साथ स्वतन्त्र सम्बन्ध पाये जाने से पृथक् याग माना गया है राजसूय का अङ्ग नहीं वैसे ही क्रियामय अग्नियों के प्रकरण में पढ़े जाने पर भी " मनश्चित " आदि अग्नियें स्वतन्त्र विद्यारूप हैं क्रिया वा किसी क्रिया का शेष नहीं।

सं०—अब पूर्वपक्षी के कथन किये हुए " मानसवत् " दृष्टान्त का खण्डन करते हैं:—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि

लोकापत्तिः ॥५१॥

पद०—न। सामान्यात्। अपि। उपलब्धेः। मृत्युवत्। न। हि। लोकापत्तिः।

पदा०—(सामान्यात्) मन से कल्पना किये हुए ग्रहत्वधर्म की समानता पाये जाने पर भी उक्त अग्नियों को क्रिया का शेष मानना (न) ठीक नहीं, क्योंकि (मृत्युवत्) मृत्युपद वाच्य अग्नि तथा आदित्य पुरुष की भांति दोनों में विलक्षणता (उलब्धेः) पाई जाती है और (हि) निश्चयकरके समानधर्म का होनामात्र शेष-शेषिभाव का गमक (न) नहीं होसक्ता, जैसाकि (लोकापत्तिः) पञ्चाग्नि विद्या सम्बन्धी द्युलोकादिकों में देखा गया है।

भाष्य—जो ब्र० सू० ३।३।४९ में "मानसग्रह" का दृष्टान्त देकर ग्रहत्व धर्म की समानता से मनश्चित आदि अग्नियों को क्रिया का शेष कथन किया है अर्थात् जिसप्रकार सोमपात्र तथा मानसग्रहों में ग्रहत्वधर्म की समानता से वह क्रिया के शेष हैं इसी प्रकार अग्नित्वधर्म की सदृशता से मनश्चित आदि भी क्रिया के शेष हैं, यह इसलिये ठीक नहीं कि कई प्रमाणों से उनका पुरुषार्थ=पुरुष से लिये होना पाया जाता है क्रत्वर्थ=क्रतु के लिये नहीं, यदि उक्त अग्नियें क्रत्वर्थ होतीं तो प्रकरण का बाध न पाया जाता, जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं, इससे सिद्ध कि "मनश्चित" आदि आध्यात्मिक अग्नियों में क्रिया की शेषता नहीं, दूसरीबात यह है कि जिस वाक्य से जिसकी समानता पाई जाय वह उसी का स्वरूप अथवा उसका शेष होता है,

यह नियम नहीं, क्योंकि इसका कई एक स्थलों में व्यभिचार देखा जाता है, जैसाकि "स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः" शत० १०।५।२।३=जो इस आदित्य मण्डल में पुरुष=परमात्मा व्यापक है वही मृत्यु=सब का संहार करनेवाला है, इस वाक्य से परमात्मा को मृत्यु कथन करके फिर बृहदा० ३।२।१० में वर्णन किया है कि "अग्निर्वै मृत्युः"=अग्नि ही मृत्यु है, इसप्रकार आदित्य पुरुष तथा अग्नि में मृत्यु शब्द का समान प्रयोग होने पर भी उन दोनों को सर्वथा एकरूप नहीं माना जाता इसीप्रकार उक्त दृष्टान्त के सदृश प्रकृत में आध्यात्मिक मनश्चित आदि तथा बाह्य आहवनीयादि अग्नियों में अग्निपद की समानता होने पर भी उनकी विलक्षणता बनी रहती है किंवा पञ्चाग्निविद्या प्रकरण पठित द्यु आदि लोकों में अग्नित्व की कल्पना करते हुए समिद् तथा अङ्गारादि की कल्पना कीगई है पर उनमें वास्तविक अग्नित्व विवक्षित नहीं और नाही उनका प्रतिपादन करना किसी कर्म का शेष माना गया है इसी प्रकार उक्त आध्यात्मिक अग्नियों में आहुति आदि की कल्पना होने पर भी उनको किसी का शेष मानना इष्ट नहीं किन्तु स्वतन्त्र विद्यापक्ष स्वीकार करना ही समीचीन है ।

सं०—अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हैं :—

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

पद०-परेण। च । शब्दस्य । ताद्विध्यं । भूयस्त्वात् । तु। अनुबन्धः ।

पदा०-(च) और (परेण) उत्तर ब्राह्मण में (शब्दस्य, ताद्विध्यं) उक्त अग्नियों का वाचक स्वतन्त्र विद्याशब्द पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है (तु) और जो उनका (अनुबन्धः) क्रियामय अग्नियों के प्रकरण में सम्बन्ध है वह (भूयस्त्वात्) कई एक अङ्गों के साथ सदृशता दिखलाने के लिये है अन्य अभिप्राय से नहीं ।

भाष्य-"अयं वाव लोक एषोऽग्निचितः" शत० १०।५।४।१=यह चयन कीहुई अग्नि ही लोक है, इत्यादि वाक्यों में पृथक् फलवाली विद्या का विधान किया है किसी क्रिया के लिये विधि का उपदेश नहीं किया और जो आहवनीयादि अग्नियों के प्रकरण में उनका पाठ पढ़ागया है वह अनेक अङ्गों की सदृशता के बोधनार्थ है जैसाकि पीछे स्पष्ट कर आये हैं, इसलिये "मनश्चित" आदि अग्नियों का वर्णन शाण्डिल्यादि विद्याओं की भांति स्वतन्त्र विद्यारूप जानना चाहिये ।

सं०-अब पूर्वपक्षी जीव को ब्रह्मरूप कथन करता है :—

एक आत्मनः शरीरेभावात् ॥५३॥

पद०-एके । आत्मनः । शरीरे । भावात् ।

पदा०-(एके) कई एक लोगों का कथन है कि (शरीरे) पृथिव्यादि शरीरों में एक ही (आत्मनः) आत्मा की (भावात्)

व्याप्ति पायेजाने के कारण जीव ब्रह्म से पृथक् नहीं ।

भाष्य-"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं " बृहदा० ५ । ७ । ३=जो पृथिवी के भीतर स्थिर होकर पृथिवी का अन्तरात्मा है जिसको पृथिवी नहीं जानती और पृथिवी जिसका शरीर है, इत्यादि अन्तर्यामी ब्राह्मणगत पृथिव्यादि शरीरों में व्यापक एक ही अन्तर्यामी आत्मा कथन कियागया है दूसरा नहीं, इससे सिद्ध है कि दूसरा आत्मा न होने के कारण जीव ब्रह्म का भेद नहीं किन्तु तत्तदुपाधिविशिष्ट ब्रह्म ही जीव है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्नतूपलब्धिवत् ॥५४॥

पद०-व्यतिरेकः। तद्भावाभावित्वात् ।न।तु।उपलब्धिवत्।

पदा०-(तद्भावाभावित्वात्) ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि धर्म न पायेजाने से जीव (व्यतिरेकः) ब्रह्म नहीं होसक्ता (तु) क्योंकि शास्त्र उसको (उपलब्धिवत्) ब्रह्म की भांति प्रतिपादन (न) नहीं करता ।

भाष्य-सर्वज्ञत्व तथा सर्वनियन्तृत्वादि धर्म ब्रह्म में ही हो सक्ते हैं जीव में नहीं, क्योंकि जीव अल्पशक्ति तथा परिच्छिन्न और ब्रह्म सर्वशक्तिमान तथा व्यापक होने से दोनों भिन्न २ हैं एक नहीं, जैसाकि " तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति "

श्वेता० ४। ६=जीव कर्मफल का भोक्ता और ईश्वर साक्षीरूप से कर्मफलदाता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि जीव ब्रह्म का भेद है अभेद नहीं, और जो अन्तर्यामी ब्राह्मण के प्रमाण से एक ही आत्मा को अन्तर्यामी कथन किया है उससे वादी की इष्टसिद्धि नही होती, क्योंकि वहां एकमात्र परमात्मा ही अन्तर्यामी प्रतिपादन कियागया है जीव नहीं, दूसरी बात यह है कि " एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः " बृहदा०५। ७। ३=हे श्वेतकेतो ! वही तेरा आत्मा अन्तर्यामी है, इस वाक्य-शेषगत षष्ठीविभक्ति वाले " ते " पद द्वारा जीवात्मा का ब्रह्म से स्पष्ट भेद पायाजाता है, यदि जीव ब्रह्मरूप होता तो " वही तेरा आत्मा है " यह कदापि वर्णन न किया जाता, क्योंकि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग भेद में होता है अभेद में नहीं,इसप्रकार वाक्यों का विचार न करके जीव को ब्रह्मरूप कथन करना मायावादियों का साहसमात्र है।

और जो स्वामी शं० चा० जी ने इस अधिकरण को देह से पृथक् आत्मा की सिद्धि में लगाया है सो ठीक नहीं, क्योंकि " नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः " ब्र० सू० २। ३। १७ में जीवात्मा को देह से पृथक् अनादि नित्य सिद्ध किया है, उक्त सूत्र के भाष्य में " तत्सृष्ट्वा तदेवा-नुप्राविशत् " तै०२।६।१ इत्यादि औपनिषद वाक्यों की प्रतीक रखकर स्वामीजी स्वयं यह सिद्ध कर आये हैं कि सब भूतों में अनादि

अनन्त ब्रह्म ही जीवभाव से प्रविष्ट हुआ है उसका शरीर नाश से कदापि नाश नहीं होता फिर यहां पिष्टपेषण की क्या आवश्यकता थी, यदि यह कहाजाय कि आत्माधिकरण में जीव को उत्पत्ति शून्य तथा अनादि अनन्त सिद्ध किया है और यहां शरीर से भिन्न प्रतिपादन करने से विशेषता है तो यहां केवल इतना ही प्रष्टव्य है कि क्या अनादि अनन्त सिद्ध करने पर शरीर से भिन्न जीवात्मा की सिद्धि नहीं होती ? और बात यह है कि स्वा० शङ्कराचार्यजी ने आत्माधिकरण, प्रयोजनवत्त्वाधिकरण, इतरव्यपदेशाधिकरण, आरम्भणाधिकरण और वाक्याधिकरण में आत्मा की उत्पत्ति का निषेध करते हुए कई एक उपनिषदों के वाक्य उद्धृत किये हैं, जैसाकि "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" कठ० २। १८=जीव न उत्पन्न होता और न मरता है "न जीवो म्रियते" छां० ६। ११। ३=जीव का कदापि नाश नहीं होता, जब उसर अधिकरण में उद्धृत किये हुए प्रमाणों से भले प्रकार आत्मा का अनादि अनन्त होना सिद्ध कर आये हैं फिर इस अधिकरण को देह से भिन्न आत्मा की सिद्धि में लापन करना पिष्टपेषण होने से पुनरुक्त नहीं तो क्या है, अस्तु इससे वैदिकसिद्धान्त की क्या हानि, प्रत्युत अद्वैतवाद में यह दोष आता है कि कई एक अधिकरणों में ब्रह्मरूप जीव को अनादि अनन्त सिद्ध किया और इस अधिकरण में आत्मा को देहातिरिक्त कथन करते हुए वैदिक द्वैतवाद की ही शरण ली।

सं०—प्रासङ्गिक विचार समाप्त करके अब पुनः पूर्व प्रकृत गुणोपसंहार का कथन करते हैं:—

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥५५॥

पद०—अङ्गावबद्धाः । तु । न । शाखासु । हि । प्रतिवेदम् ।

पदा०—"तु" शब्द सर्वत्र उपसंहार सिद्धि के लिये आया है (हि) निश्चयकरके (अङ्गावबद्धाः) उद्गीथादि उपासनाओं का (शाखासु) सब शाखाओं में उपसंहार होता है केवल (प्रातिवेदं) स्व २ शाखा में ही (न) नहीं ।

सं०—ननु, एवं सर्वत्र उपसंहार करने से पुनरुक्तदोष की आपत्ति होगी ? उत्तरः—

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥५६॥

पद०—मन्त्रादिवत् । वा । अविरोधः ।

पदा०—(मन्त्रादिवत्) मन्त्रादि की भांति (अविरोधः) पुनरुक्तदोष नहीं आसक्ता ।

भाष्य—"वा" शब्द शङ्का की व्यावृत्ति के लिये आया है, जिस प्रकार यज्ञ के अङ्गभूत अन्यशाखागत मंत्रों का दूसरी शाखाओं में उपयोग होता है पर पुनरुक्ति नहीं इसी प्रकार शाखान्तर्गत उपासनाओं का दूसरी शाखा में उपसंहार करने पर भी पुनरुक्त दोष की आपत्ति नहीं ।

सं०—ननु, छान्दोग्यगत नारद तथा सनत्कुमार के संवाद

में मन, सङ्कल्प आदि अनेक पदार्थों को उपास्य कथन किया है, इसलिये एक ही परमात्मा को उपास्य मानना ठीक नहीं ? उत्तरः—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥५७॥

पद०– भूम्नः । क्रतुवत् । ज्यायस्त्वं । तथा । हि । दर्शयति ।

पदा०–(क्रतुवत्) यज्ञ की भांति (भूम्नः, ज्यायस्त्वं) परमात्मा ही सर्वोपरि उपास्य है (हि) क्योंकि (दर्शयति, तथा) शास्त्र से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य–जिसप्रकार दर्शपौर्णमासादि यज्ञों में प्रयाजादि अपने २ प्रधान याग के उपकारी होते हैं, क्योंकि अङ्गों में सब से प्रधान अङ्गी होता है इसी प्रकार नारद तथा सनत्कुमार के संवाद में भूमा=ब्रह्म ही सर्वोपरि उपास्य अभिप्रेत है अन्य नहीं, जैसाकि "यो वै भूमा तत्सुखं" छां० ७।२३।१=सुखरूप ब्रह्म ही जानने तथा उपासना करने योग्य है, इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है, उक्त प्रकरण में मन आदिकों का वर्णन भूमा=ब्रह्म की उपासना का उपकारी है वस्तुतः मन आदि की उपासना में तात्पर्य्य नहीं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषदार्य्यभाष्य" के द्वितीय भाग में किया गया है जिज्ञासु वहां देखलें ।

सं०–ननु, उपास्य ब्रह्म का अभेद होने से शाण्डिल्य तथा दहरादि उपासयें एक ही हैं नाना नहीं ? उत्तरः—

नाना शब्दादिभेदात् ॥५८॥

पद०–नाना । शब्दादिभेदात् ।

पदा०–(शब्दादिभेदात्) शब्दभेद से उक्त उपासनायें (नाना) नाना हैं ।

भाष्य–वेद, उपासीत तथा सक्रतुंकुर्वीत इत्यादि शब्दों का भेद पाये जाने से उपास्य ब्रह्म एक होने पर भी शाण्डिल्यादि उपासना नाना हैं एक नहीं अर्थात् जैसे यजति, जुहोति आदि क्रियाओं का भेद होने से कर्म का भेद होता है इसी प्रकार प्रकरणभेद द्वारा ईश्वरीय गुणों का पृथक् २ उपदेश पाये जाने से एक उपास्य होने पर भी उपासना भेद से नाना उपासनाओं के होने में कोई बाधा नहीं ।

सं०–ननु, दर्शादि यागों की भांति एक ही पुरुष को सब उपासना कर्त्तव्य हैं अथवा उनका विकल्प है ? उत्तर :—

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥५९॥

पद०–विकल्पः । अविशिष्टफलत्वात् ।

पदा०–(अविशिष्टफलत्वात्) फल का भेद न होने से (विकल्पः) उक्त उपासनाओं का विकल्प है ।

भाष्य–सब उपासनाओं का ईश्वरसाक्षात्कार द्वारा ऐश्वर्य्य प्राप्तिरूप फल समान होने से शाण्डिल्यादि उपासनाओं का विकल्प है समुच्चय नहीं अर्थात् जिसकी जिस उपासना में रुचि हो उसी का अनुष्ठान करने से ईश्वर का साक्षात्कार तथा मुक्तिरूप

ऐश्वर्य्य का लाभ होता है, अतएव एक के लिये सब उपासनाओं का अनुष्ठान आवश्यक नहीं।

सं०-अब काम्य उपासनाओं में उक्त नियम का अभाव कथन करते हैं:—

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्नवा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

पदा०-काम्याः। तु। यथाकामं। समुच्चीयेरन्। न। वा। पूर्वहेत्वभावात्।

पदा०-"तु" शब्द आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है, (काम्याः) काम्य उपासनाओं का (यथाकामं) इच्छानुसार (समुच्चीयेरन्) समुच्चय (वा) अथवा विकल्प होता है, क्योंकि उनमें (पूर्वहेत्वभावात्) फल की एकता (न) नहीं पाई जाती।

भाष्य-काम्य=लौकिक फल देने वाली उपासनाओं का समुच्चय वा विकल्प अनुष्ठाता की इच्छा पर निर्भर है अर्थात् जिसप्रकार पुत्रेष्टि तथा कारीरी आदि यज्ञरूप काम्य कर्मों का अनुष्ठान कर्त्ता की इच्छा पर निर्भर होता है इसी प्रकार काम्य उपासनाओं का अनुष्ठान करना भी उपासक की इच्छानुसार जानना चाहिये।

सं०-अब कर्माङ्गभूत उपासनाओं के समुच्चय तथा विकल्प में चार सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष करते हैं:—

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥६१॥

पद०—अङ्गेषु । यथाश्रयभावः ।

पदा०—(अङ्गेषु) कर्माङ्गभूत उद्गीथादि उपासनाओं में (यथाश्रयभावः) आश्रय अनुसार ही विधान होता है ।

भाष्य—यज्ञादि कर्मों की अङ्गभूत उद्गीथादि उपासनाओं में कर्म विषयक शेषशेषिभाव की भांति समुच्चय मानना ठीक है विकल्प नहीं अर्थात् जिस प्रकार प्रयाजादि सब अङ्ग मिलकर अपने अङ्गी दर्शपौर्णमासादि यागों को सम्पादन करते हैं इसी प्रकार सब अङ्गोपासना अपनी प्रधान उपासनाओं को सम्पादन करती हैं, इसलिये सब उपासनाओं का समुच्चयरूप से अनुष्ठान करना चाहिये ।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :—

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

पद०—शिष्टेः । च ।

पदा०—(च) और सब शाखाओं में (शिष्टेः) समान विधि पायेजाने से भी उक्त उपासनाओं का समुच्चय है विकल्प नहीं ।

समाहारात् ॥ ६३ ॥

पद०—एकपद० ।

पदा०—(समाहारात्) समाहार से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—" होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरति " छा० १ । ५ । ५=ऋग्वेदियों के प्रणव तथा सामवेद

सम्बन्धी उद्गीथ की एकता को जानने वाला उद्गाता यज्ञ में उत्पन्न हुई सामगान की अशुद्धि को दूर करता है, इस प्रकार होता के स्थान में स्थित होकर होतृकर्म द्वारा सामगान की त्रुटि को दूर करना "समाहार" कहाता है जिससे सिद्ध होता है कि यज्ञानुष्ठान में सब यज्ञ सम्बन्धी उपासनाओं का समुच्चय है विकल्प नहीं ।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

पद०-गुणसाधारण्यश्रुतेः । च ।

पदा०-(च) और (गुणसाधारण्यश्रुतेः) गुण की समान श्रुति पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-" तेनेयं त्रयी विद्या वर्त्तते ओमित्याश्रावयति " छां० १।१। ९=ओंकार से ऋग्,यजु तथा सामरूप त्रयीविद्या प्रवृत्त होती है और ओङ्कार का उच्चारण करके ही होता, आध्वर्यु तथा उद्गाता अपने २ हौत्रादि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं अन्यथा नहीं,इत्यादि वाक्यों द्वारा ओङ्कार का उच्चारण सब के लिये साधारण कथन किया है इससे भी यही पायाजाता है कि कर्माङ्गभूत उद्गीथादि उपासनाओं का समुच्चय है अर्थात् उक्त उपासनायें चातुर्हौत्र कर्म करने वाले सभी पुरुषों के लिये अनुष्ठेय हैं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

नवा तत्सहभावाश्रुतेः ॥६५॥

पद०—न । वा । तत्सहभावाश्रुतेः ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है (तत्सहभावाश्रुतेः) उपासनाओं के युगपत् अनुष्ठान का विधान न पाये जाने से उक्त कथन (न) ठीक नहीं ।

भाष्य—जिस प्रकार यज्ञ के अङ्गों का साथ २ अनुष्ठान पायाजाता है वैसे उपासनाओं का नियम न होने से कर्मों के साथ समुच्चय मानना ठीक नहीं अर्थात् कर्माङ्गभूत उपासनाओं के विना भी यागादि कर्मों के अनुष्ठान में कोई दोष नहीं, क्योंकि केवल कर्म तथा उपासना सहित कर्मानुष्ठान का फलभेद है जैसाकि पीछे वर्णन कर आये हैं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

पद०—दर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (दर्शनात्) श्रुति में भी उपासनाओं के सह विधान की सिद्धि नहीं होती ।

भाष्य—एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति" छां०४ । १७ । १०=उद्गीथ विद्यावित् ब्रह्मा नामक ऋत्विज यज्ञ, यजमान तथा अन्य सब ऋत्विजों की रक्षा करता है, इस प्रकार एक ब्रह्मा के ज्ञान द्वारा सब की रक्षा कथन करने से सिद्ध है कि उक्त उपासनाओं का समुच्चय नहीं किन्तु अनुष्ठाता की इच्छा पर समुच्चय वा विकल्प दोनों होसक्ते हैं ।

इति तृतीयःपादः समाप्तः

अथ चतुर्थःपादः प्रारभ्यते

सं०-अब मुक्ति के साधनों का विस्तारपूर्वक निरूपण करने के लिये इस पाद का आरम्भ करते हुए प्रथम ज्ञान कर्म का समुच्चय कथन करते हैं :—

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः॥१॥

पद०-पुरुषार्थः । अतः । शब्दात् । इति । बादरायणः ।

पदा०-(अतः) ज्ञान कर्म के समुच्चय से (पुरुषार्थः) मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है (इति, बादरायणः) यह बादरायण आचार्य्य का मत है ।

भाष्य-"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" यजु० ३१ । १८=पुरुष परमात्मज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण करजाता है "तरति शोकमात्मवित्" छां० ७ । १ । ३=आत्मवेत्ता शोक से पार होजाता है, इत्यादि वाक्यों में केवल ज्ञान ही मुक्ति का साधन माना है, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि ज्ञान कर्म दोनों मिलकर मुक्ति के साधन माने गये हैं.जैसाकि "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" बृहदा० ४ । ४ । २२=ब्राह्मण लोग यज्ञ, दान तथा तप द्वारा परमात्मा के जानने की इच्छा करते हैं, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि बादरायणाचार्य्य का यह मत वेदानुकूल होने से सब वैदिकों को उपादेय है ।

स्मरण रहे कि वैदिकसिद्धान्त में यज्ञादि कर्मों का ज्ञान के साथ क्रमसमुच्चय और निदिध्यासनरूप कर्म का समसमुच्चय माना है।

सं०—अब जैमिनि आचार्य्य छ सूत्रों द्वारा उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं:—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

पद०—शेषत्वात् । पुरुषार्थवादः । यथा । अन्येषु । इति । जैमिनिः ।

पदा०—(इति, जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य का कथन है कि (शेषत्वात्) कर्म का शेष होने से (पुरुषार्थवादः) ज्ञान मोक्ष का साधन है (यथा, अन्येषु) जैसाकि अन्य लौकिक दृष्टान्तों से स्पष्ट है।

भाष्य—जैमिनि आचार्य्य का कथन है कि जिसप्रकार लौकिक आहार विहारादि क्रियाओं का ज्ञान अङ्ग है अर्थात् उस २ क्रिया की सिद्धि से प्रथम ज्ञान अपेक्षित होता है पश्चात् कर्त्ता अपने ज्ञानद्वारा तत्तत् कर्म को सम्पादन करके इष्टफल को प्राप्त होता है, इसी प्रकार ज्ञान भी यज्ञ तथा निदिध्यासनादि कर्मों का अङ्ग होने से मोक्ष का साधन है स्वतः नहीं, इसी अभिप्राय से छां० ८ । १५ । १ में वर्णन किया है कि " स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते"=पुरुष इन्द्रियों

का संयम करता हुआ यागादि कर्मों के अनुष्ठान से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इसप्रकार ज्ञान के अनन्तर कर्मानुष्ठान को मुक्ति का साधन कथन करने से सिद्ध है कि कर्म ही मुक्ति का मुख्य साधन है।

आचार दर्शनात् ॥ ३ ॥

पद०—एकपद०।

पदा०—(आचारदर्शनात्) शिष्टाचार से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—"जनको हवै वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे०" बृहदा० ३।१।१=राजा जनक ने बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ से परमात्मा का यजन किया, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि ज्ञान होने पर भी शिष्ट लोग कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, यदि ज्ञान स्वतः ही मुक्ति का साधन होता तो उक्त वाक्य में शिष्टों का कर्मानुष्ठान वर्णन न किया जाता, इससे सिद्ध है कि शास्त्र का तात्पर्य्य कर्मानुष्ठान की मुख्यता में है समुच्चयवाद में नहीं॥

सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:—

तच्छ्रुतेः ।४।

पद०—तत्। श्रुतेः।

पदा०—(श्रुतेः) श्रुति से भी (तत्) ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति" छान्दो० १।१।१०=जो विद्या

पूर्वक श्रद्धा से कर्मानुष्ठान करता है वही फलीभूत होता है, इत्यादि प्रमाण भी कर्मों की मुख्यता को ही बोधन करते हैं, इसलिये कर्म ही मुक्ति का साधन हैं।

समन्तारम्भणात् ॥ ५ ॥

पद०–एकपद०।

पदा०–(समन्तारम्भणात्) समन्तारम्भण=परलोक में विद्या तथा कर्मों का सहायक होना उक्त अर्थ का साधक है।

भाष्य–"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" बृह० ४।४।२=विद्या तथा कर्म दोनों ही परलोक में जीवात्मा के सहायक होते हैं, इत्यादि वाक्यों में कथन किये हुए समन्वारम्भण से सिद्ध है कि विद्या=ज्ञान कर्मों का अङ्ग है।

तद्वतो विधानात् । ६ ।

पद०–तद्वतः। विधानात्।

पदा०–(तद्वतः) विद्वान् के लिये (विधानात्) कर्मों का विधान पायेजाने से ज्ञान स्वतन्त्रतया मुक्ति का साधन नहीं।

नियमाच्च । ७ ।

पद०–नियमात्। च।

पदा०–(च) और (नियमात्) यावदायुष कर्मानुष्ठान का नियम पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य–"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः" यजु० ४०।२=पुरुष यावदायुष कर्म करता हुआ ही सौवर्ष

पर्य्यन्त जीने की इच्छा करे, ऐसा करने वाला कदापि पाप में लिपायमान नहीं होता, इत्यादि कर्मानुष्ठान के नियम से स्पष्ट है कि विद्या कर्म का अङ्ग है और अङ्ग होने से मुक्तिरूप फल के उत्पादन करने में मुख्य न होने के कारण सिद्ध है कि कर्म ही मुक्ति का साधन है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् । ८ ।

पद०-अधिकोपदेशात्। तु। बादरायणस्य। एवं। तद्दर्शनात्।

पदा०-(बादरायणस्य) बादरायणाचार्य्य का कथन है कि (अधिकोपदेशात्) अधिक उपदेश पायेजाने से ज्ञान कर्मों का अङ्ग नहीं, क्योंकि (एवं, तद्दर्शनात्) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-महर्षि व्यास का कथन है कि यज्ञादि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान परमात्मसाक्षात्कार में साक्षात्साधन है कर्म नहीं, इसलिये उसको यज्ञादि कर्मों का अङ्ग कथन करना ठीक नहीं, इसी अभिप्राय से यजु० ३१। १८ में वर्णन किया है कि "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति"=पुरुष परमात्मसाक्षात्कार से ही जन्ममरणात्मक बन्धन से रहित होजाता है, और "परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" छां० ८। १२। ३=पुरुष परब्रह्म को प्राप्त होकर ही अपने

शुद्ध स्वरूप से सम्पन्न होता है, इससे सिद्ध है कि यज्ञादि कर्मों की अपेक्षा प्रधान होने से ज्ञान कर्मों का अङ्ग नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि ज्ञान तथा कर्म दोनों मिलकर ही मुक्ति के साधन होते हैं, जैसाकि प्रथम सूत्र में वर्णन किया गया है, और जो स्वामी शङ्कराचार्य्य "अधिकोपदेश" पद के अर्थ मे जीव का ब्रह्म होना सिद्ध करते हुए ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान में कर्मों की अपेक्षा का सर्वथा अभाव कथन करते हैं वह इसलिये ठीक नहीं कि "यज्ञेन दानेन" बृहदा० ४।५।१२ इत्यादि वाक्य ज्ञान को कर्मसापेक्ष प्रतिपादन करते हैं सर्वथा निरपेक्ष नहीं, अद्वैतवादी आचार्य्य का अभिप्राय यह है कि तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान का निवर्त्तक होता है, इस नियम के अनुसार कर्म संसाररूप मिथ्या बन्ध के निवर्त्तक नहीं होसक्ते, क्योंकि रज्जुसर्पादि मिथ्या पदार्थों की निवृत्ति के लिये किसी कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं देखी जाती किन्तु अधिष्ठानभूत रज्जु का साक्षात्कार ही सर्प निवृत्ति के लिये अपेक्षित होता है, उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि जब संसार में सुखदुःख की विचित्रता तथा सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति के लिये जीवों का व्यापृत होना प्रत्यक्ष देखा जाता है फिर उसको मिथ्या क्योंकर माना जाय? और नाही उसके मिथ्या होने में कोई प्रमाण वा तर्क उपलब्ध होता है, इसलिये ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान को बाधक मानकर कर्मों का खण्डन करना ठीक नहीं, दूसरी बात यह है कि "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" ब्र०सू० ३।४।२६ इस

सूत्र के भाष्य में स्वामी शं० चा० जी ने स्वयं लिखा है कि "अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि नात्यन्तमनपेक्षैव"=विद्या=ब्रह्मज्ञान अपनी उत्पत्ति के लिये सब आश्रम कर्मों की अपेक्षा रखता है अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति के लिये ज्ञान सर्वथा कर्मनिरपेक्ष नहीं, इस प्रकार जब अद्वैतविद्याचार्य्य स्वयं ज्ञान में कर्मों की अपेक्षा कथन करते हैं फिर न जाने उनके अनुयायी किस बल से ज्ञान को कर्मनिरपेक्ष मानते हैं, अधिक क्या मायावादियों का ज्ञान से कर्मों का नाश तथा ज्ञान को कर्मनिरपेक्ष मानना कदलीस्तम्भवत् निस्सार प्रतीत होता है।

सं०-अब ज्ञान कर्म का समुच्चय कथन करते हैं:—

तुल्यन्तु दर्शनम् ॥९॥

पद०-तुल्यं। तु। दर्शनम्।

पदा०-(तु) निश्चयकरके (दर्शनं) ज्ञान तथा कर्म का वर्णन (तुल्यं) समान है।

भाष्य-मुक्ति के लिये ज्ञान तथा कर्म दोनों का सहकारी होना समान पाया जाता है, जैसाकि प्रथम सूत्र में वर्णन किया है, इसलिये उक्त दोनों का समसमुच्चय मानना ही ठीक है क्रमसमुच्चय नहीं।

सं०-ननु, शुक्तिरजत के समान प्रपञ्चरूप बन्ध मिथ्या होने से उसका ज्ञान द्वारा बाध होना ही पुरुषार्थ है ? उत्तरः—

असार्वत्रिकी ॥१०॥

पद०–एकपद० ।

पदा०–(असार्वत्रिकी) जिसकी ज्ञानद्वारा निवृत्ति हो वही पुरुषार्थ होता है यह अव्यभिचारी नियम नहीं ।

भाष्य–यह अव्यभिचारी नियम नहीं कि ज्ञान मिथ्या का निवर्त्तक होकर ही पुरुषार्थ होता है अन्यथा नहीं अर्थात् भ्रमस्थल में उक्त नियम के होने पर भी सत्य पदार्थों में यह नियम व्यभिचारी होजाता है, और जगत् सत्यरूप है जैसाकि "आरम्भणाधिकरण" में प्रतिपादन कर आये हैं, इसलिये केवल ज्ञान से मुक्ति न मानकर ज्ञान कर्म दोनों को मुक्ति का साधन मानना ही समीचीन है ।

सं०–अब ज्ञान कर्म का आंशिक फलभेद कथन करते हैं:—

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

पद०–विभागः । शतवत् ।

पदा०–(शतवत्) शत की भांति (विभागः) ज्ञान तथा कर्मों का फलभेद है ।

भाष्य–जिसप्रकार किसी ने कहा कि इन दोनों को सौ रुपये दे दो, इस वाक्य को सुनकर श्रोता दोनों को पचास २ रुपये बांट देता है इसी प्रकार बृह०४।४।२ में कथन किये हुए एक ही वाक्य से विद्या तथा कर्म का आंशिक फलभेद पायाजाता है अर्थात् अपहतपाप्मादि धर्मों का धारण करना निदिध्यासनरूप कर्म का फल और आनन्दानुभव ब्रह्मज्ञान का फल है, इसप्रकार आंशिक फलभेद होने पर भी दोनों मिलकर ही मुक्ति के साधन हैं एक २ नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति निदिध्यासनरूप कर्म के विना नहीं होसक्ती और कर्मों का होना विद्या के विना सम्भव नहीं, इसलिये दो चक्रों द्वारा रथगति की भांति दोनों मिलकर ही मुक्ति के साधन हैं, इसका विशेष विचार ब्र० सू० ४।४।९ में किया गया है, इसलिये यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब मुक्तिरूप फल के लिये वेदाध्ययन का उपयोग कथन करते हैं :—

अध्ययनमात्रवतः ॥१२॥

पद०—एकपद०—

पदा०—(अध्ययनमात्रवतः) विधिपूर्वक वेदाध्ययन करने वाले पुरुष ही मुक्त होते हैं अन्य नहीं।

सं०—अब मुक्तिरूप फल में ज्ञान कर्म की समता कथन करते हैं :—

नाविशेषात् । १३ ।

पद०—न। अविशेषात।

पदा०—(अविशेषात)दोनों मिलकर मुक्तिरूप फल का साधक होने से ज्ञान तथा कर्म का विशेष भेद (न) नहीं।

सं०—अब अर्थवाद से ज्ञान की मुख्यता कथन करते हैं :—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा । १४ ।

पद०—स्तुतये। अनुमतिः। वा।

पदा०-(वा) निश्चयकरके (स्तुतये) अर्थवाद से (अनुमतिः) ज्ञान की मुख्यता का कथन है।

भाष्य-"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" गी० ४। ३८=ज्ञान के सदृश कोई पवित्र पदार्थ नहीं, इत्यादि वाक्यों में ज्ञान की मुख्यता का कथन अर्थवाद मात्र है अर्थात् जिज्ञासु की रुचि बढ़ाने के लिये ज्ञान को सर्वोपरि पवित्र कथन किया है कर्मानुष्ठान की अपेक्षा सर्वथा उत्कृष्ट नहीं॥

सं०-अब उक्त अर्थ में अन्य आचार्यों का मत कथन करते हैं:-

कामकारेण चैके। १५।

पद०-कामकारेण। च। एके।

पदा०-(च) और (एके) कई एक आचार्य्य (कामकारेण) सकाम कर्मों की अपेक्षा ज्ञान को मुख्य कथन करते हैं।

भाष्य-कई एक आचार्य्यों का कथन है कि सकामकर्मों की अपेक्षा ज्ञान सर्वोपरि है अर्थात् सकाम कर्म मुक्ति के साधन नहीं किन्तु निष्काम कर्म तथा ज्ञानयोग यह दोनों ही मुक्ति के साधन हैं, जैसाकि गी०५। ५में वर्णन किया है कि "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते "=जिस स्थान को ज्ञानी प्राप्त होते हैं कर्मीजन भी उसी पद के अधिकारी हैं, यदि ज्ञान की अपेक्षा कर्मों को सर्वथा निकृष्ट कथन करने का अभिप्राय होता तो उक्त वाक्य में ज्ञानकर्म की समता कदापि वर्णन कीजाती और नाही "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतᳬ समाः"

यजु० ४० । २=वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ सौ वर्ष पर्य्यन्त जीने की इच्छा करे, इत्यादि वाक्यों से कर्मों की अव-श्यकर्त्तव्यता का विधान पायाजाता पर उक्त कर्मविधि के पाये जाने मे सिद्ध है कि ज्ञान कर्म दोनों मुक्ति के साधन हैं और सकाम कर्मों की अपेक्षा ज्ञान मुख्य है निष्काम कर्मों की अपेक्षा से नहीं ।

सं०–अब सकाम कर्मों का ज्ञान मे बाध कथन करते हैं:–

उपमर्द्दश्च ॥ १६ ॥

पद०–उपमर्द्द । च ।

पदा०–(च) और ज्ञान मे (उपमर्द्द) सकामकर्मों का बाध होजाता है ।

भाष्य–" अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः " गी० ६ । १०= फल की इच्छा से रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने वाला पुरुष जल में कमल की भांति पाप कर्मों से लिपायमान नहीं होता, इत्यादि प्रमाणों द्वारा निष्काम कर्मों की उपादेयता पाये जाने से सिद्ध है कि ज्ञानोत्तर काल में सकाम कर्मों का बाध होजाता है निष्काम कर्मों का नहीं ।

सं०–अब नैष्ठिक ब्रह्मचारी के लिये गृहस्थ सम्बन्धी कर्मों का अभाव कथन करते हैं :—

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

पद०–ऊर्ध्वरेतःसु । च । शब्दे । हि ।

पदा०-(हि) निश्चयकरके (ऊर्ध्वरेतःसु) नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के लिये गृहस्थ कर्म का विधान नहीं (च) क्योंकि (शब्दे) शब्द प्रमाण से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-" तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये " मुं० १।२।१।११=जो ब्रह्मचारी निरन्तर वन में रहकर तप तथा श्रद्धा का अनुष्ठान करते हैं वह उत्तरायण मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के लिये निरन्तर ब्रह्मचर्य्यरूप तप का विधान है गृहस्थ सम्बन्धी कर्मों का नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में जैमिनि आचार्य्य का मत कथन करते हैं:-

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि।१८

पद०-परामर्शं। जैमिनिः। अचोदना। च। अपवदति। हि।

पदा०-(जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य (परामर्शं) ऊर्ध्वरेतस आश्रमों का अनुवादमात्र मानते हैं (हि) क्योंकि (अचोदना) उक्त आश्रमों की विधि उपलब्ध नहीं होती (च) और (अपवदति) शास्त्र में कर्मों के त्याग का अपवाद पायाजाता है।

भाष्य-जैमिनि आचार्य्य का कथन है कि " त्रयोधर्मस्कन्धाः " छां० २।२३।१=यज्ञ दान तथा स्वाध्याय यह तीन धर्म के स्कन्ध हैं विधि नहीं.इत्यादि वाक्यों में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमों का अनुवादमात्र है विधि नहीं, क्योंकि उनमें कोई विधि

बाधक "लिङ्" आदि प्रसय वाला पद उपलब्ध नहीं होता और जो "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" छां० २। २। १२=ब्रह्मनिष्ठ अमृत को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मवेत्ता का अमृत होना कथन किया है उसका गृहस्थकर्मपरायण होकर ब्रह्मनिष्ठा में तात्पर्य्य है, इसी अभिप्राय से तैत्ति० १। १.१ में वर्णन किया है कि "वीरहा वै एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते"= अग्निहोत्रादि कर्मों का त्याग करने वाला देवताओं का वीरहा=शत्रु होता है,इत्यादि वाक्यों में कर्मत्याग करने वाले की निन्दा की है, इसलिये एक गृहस्थाश्रम ही मुख्य होने से शेष का अनुवादमात्र जानना चाहिये।

सं:-अब उक्त अर्थ में बादरायणाचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥१९॥

पद०-अनुष्ठेयं। बादरायणः। साम्यश्रुतेः।

पदा०-(साम्यश्रुतेः) श्रुति की समानता पाये जाने से यथाधिकार (अनुष्ठेयं) सब आश्रमों के कर्म अनुष्ठान करने योग्य हैं (बादरायणः) यह बादरायण आचार्य्य का मत है।

भाष्य-बादरायणाचार्य्य यह मानते हैं कि यजु० ४०। २ में कथन किये अनुसार यावदायुष कर्मों का अनुष्ठान कर्तव्य है अर्थात मुमुक्षु पुरुष को यथाधिकार सब आश्रमों का अनुष्ठान

कर्त्तव्य है, इसलिये केवल गृहस्थाश्रम को मुख्य मानकर शेष का अपवाद कथन करना ठीक नहीं, क्योंकि अपनी २ कक्षा में सभी उपादेय हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ की पुष्टि में दृष्टान्त कथन करते हैं:—

विधिर्वाधारणवत् ॥२०॥

पद०-विधिः । वा । धारणवत् ।

पदा०-(धारणवत्) धारण की भांति (विधिः) सब आश्रमों के लिये कर्मानुष्ठान का विधान है।

भाष्य-"वा" शब्द सिद्धान्त के बोधनार्थ आया है, "अधस्तात्समिधं धारयन्"=प्रेताग्निहोत्र में नीचे की ओर समिधा धारण करता हुआ हविः प्रदान करे, इस वाक्य द्वारा जिसप्रकार अन्त्येष्टि संस्कार में सबके लिये समिधाओं का धारण करना समान है इसी प्रकार "कुर्वन्नेवेह" इत्यादि वाक्यों में विधान किया हुआ कर्त्तव्य भी सब के लिये समानरूप से कर्त्तव्य है किसी एक ही आश्रम के लिये नहीं, इसी अभिप्राय से वर्णन किया है कि:—

नियतं कुरु कर्मत्वं कर्मज्यायोह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

गी० ३।८

अर्थ-हे अर्जुन! कर्मों का कदापि त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि त्याग की अपेक्षा अनुष्ठान करने से पुरुष को उत्तम फल

की प्राप्ति होती है, इसलिये कर्मों का अनुष्ठान करना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है ।

सं०—ननु, छां० १।१।३ में उद्गीथ को रसतम कथन किया है, इससे ब्रह्म से भिन्न अन्य उपास्य की सिद्धि होती है ? उत्तरः—

स्तुतिमात्रमुपादानादितिचेन्नापूर्वत्वात् ।२१

पद०—स्तुतिमात्रं । उपादानात् । इति । चेत् । न । अपूर्वत्वात् ।

पदा०—(स्तुतिमात्रं, उपादानात्) रसतम कथन करने से ब्रह्म से भिन्न उपास्य की सिद्धि होती है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (अपूर्वत्वात्) उक्त कथन में अपूर्वता पाई जाती है ।

भाष्य—" एषां भूतानां पृथिवी रसः " छां० १।१।२=इन भूतों का पृथिवी रस है, इत्यादि वाक्यों से उत्तरोत्तर पृथिवी तथा जल आदि को रस कथन करते हुए जो उद्गीथ को रसतम कथन किया है इससे ब्रह्माभिन्न उपास्य इसलिये सिद्ध नहीं होता कि उक्त शब्द से ओंकार पद वाच्य परमात्मा ही उपास्य अभिप्रेत है परमात्मभिन्न देवातान्तर नहीं, यदि परमात्मा से भिन्न कोई अन्य पृथिवी आदि देवता उपास्य होता तो उद्गीथरूप से ब्रह्म को सबका " रसतम " कथन न किया जाता, उक्त कथन से सिद्ध है कि परमात्मा से भिन्न को उपास्य मानना ठीक नहीं,

इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषदार्य्यभाष्य" के द्वितीयभाग में किया गया है विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

भावशब्दाच्च ॥२२॥

पद०—भावशब्दात्। च।

पदा०—(च) और (भावशब्दात्) उपासनाबोधक शब्दों से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—"उद्गीथमुपासीत" छां० १।१।१=उद्गीथ=प्रणव पद वाच्य ब्रह्म की उपासना करे, इस वाक्य से स्पष्ट है कि इस प्रकरण में ब्रह्म ही उपास्यरूपत्वेन अभिप्रेत है अन्य देवता नहीं, क्योंकि सर्वोपरि रसतम होना ब्रह्म से भिन्न अन्य किसी पदार्थ में नहीं घट सक्ता, इसलिये उक्त स्तुतिमात्र से ब्रह्मातिरिक्त अन्य उपास्यदेव की सिद्धि करना वादी का साहसमात्र है।

सं०—अब औपनिषद गाथाओं को विद्या की स्तुतिरूप कथन करने के लिये "पारिप्लवाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥२३॥

पद०—पारिप्लवार्थाः। इति। चेत्। न। विशेषितत्वात्।

पदा०—(पारिप्लवार्थाः) औपनिषद आख्यान पारिप्लव कर्म के अङ्ग हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं क्योंकि इस में (विशेषितत्वात्) पाई जाती है।

भाष्य—अश्वमेध यज्ञ में सपरिवार राजाके श्रवण करने योग्य कथाओं का नाम "पारिप्लव" है, जैसाकि "अश्वमेधे पुत्रादि परिवृताय राज्ञे पारिप्लवमाचक्षीत" शत० १३। ४। ३। ३=अश्वमेध यज्ञ में पुत्रादिसम्बन्धियों से परिवृत राजा को पारिप्लव=गाथायें सुनावें, यह कथन करके फिर कहा है कि "सर्वाण्याख्यानानिपारिप्लवे"=पारिप्लव संज्ञक कर्म में सब आख्यानों को सुनावे, उक्त वाक्यगत निरवधिक "सर्व" शब्द के प्रयोग से यह सन्देह होता है कि जनक, याज्ञवल्क्य तथा इन्द्र, प्रतर्दन आदि सभी आख्यायिकाओं का प्रयोग करना आवश्यक है अथवा किसी एक आख्यायिका के प्रयोग की विधि है? इस सन्देह की निवृत्ति इस प्रकार कीगई है कि पारिप्लव प्रकरण में जिन मनु आदि महर्षियों की गाथाओं का सम्बन्ध आया है उन्हीं के सुनने का विधान है आख्यानमात्र का नहीं, इसलिये "याज्ञवल्क्यस्यद्वेभार्ये बभूवतुः बृहदा० ४। ६। १=याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियें थीं, इत्यादि गाथायें ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये हैं उक्त कर्म के अङ्ग नहीं, यही मानना समीचीन है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

तथाचैकवाक्यतोपबन्धात्॥२४॥

पद०—तथा। च। एकवाक्यतोपबन्धात्।

पदा०-(च) और (एकवाक्यतोपबन्धात्) विद्या प्रकरण में एकवाक्यता पाये जाने से भी (तथा) उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-" याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्य्ये " इत्यादि वाक्यों की ब्रह्मविद्या प्रकरण के साथ सङ्गति पाये जाने से सिद्ध है कि सभी औपनिषद गाथायें कर्म के अङ्ग नहीं, यदि सब गाथायें उक्त कर्मों का अङ्ग होतीं तो उनकी पारिप्लव प्रकरण के साथ अवश्य एकवाक्यता पाईजाती पर ऐसा न होने से उनको स्वतन्त्र विद्या की स्तुति का हेतु मानना ही ठीक है।

सं०-ननु, मुं० १।२।७ में यज्ञरूप कर्मों को अदृढ़=अल्प फल वाला कथन किया है, इसलिये ज्ञान कर्म का समुच्चय ठीक नहीं ? उत्तर :—

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५॥

पद०-अतः। एव। च। अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा।

पदा०-(च) निश्चयकरके (अतः, एव) यज्ञादि कर्मों का समुच्चय न होने के कारण (अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा) मुक्ति के लिये अग्निहोत्रादि कर्मों की साक्षात् अपेक्षा नहीं।

भाष्य-" प्लवा ह्येतेऽदृढायज्ञरूपाः " मुं० १।२।७=निश्चय करके यज्ञादि कर्म मुक्तिरूप फल के साक्षात् साधन न होने से अदृढ़ हैं, इत्यादि वाक्यों का ज्ञान कर्म सम्बन्धी समुच्चय के निषेध में तात्पर्य्य नहीं किन्तु वह मुक्ति का साक्षात्साधन

न होने से अदृढ़ हैं, यदि उनके निषेध में तात्पर्य्य होता तो यजु० ४० । २ में यावदायुष कर्मानुष्ठान की विधि कदापि न पाई जाती, जैसाकि कई एक स्थलों में पीछे वर्णन कर आये हैं, और नाही गी० १८ । ५ में यह वर्णन किया जाता कि:—

यज्ञोदानं तपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानिमनीषिणाम् ॥

अर्थ—यज्ञ. दान और तप का कदापि त्याग न करे, क्योंकि यह मनुष्य जीवन को पवित्र करते हैं, इससे सिद्ध है कि मुण्डकोपनिषद् के उक्त वाक्य का कर्मसमुच्चय के निषेध में तात्पर्य्य नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ को अन्य प्रकार से स्फुट करते हैं:—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

पद०—सर्वापेक्षा । च । यज्ञादिश्रुतेः । अश्ववत् ।

पदा०—(च) और (अश्ववत्) अश्व की भांति आत्मविद्या में (सर्वापेक्षा) सब वैदिक कर्मों की अपेक्षा है, क्योंकि (यज्ञादिश्रुतेः) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य—जिसप्रकार अश्वार्थी पुरुष को यथाभिलषित देश की प्राप्ति के लिये अश्व की अपेक्षा होती है इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुष को सब वैदिक कर्मों के अनुष्ठान की अपेक्षा है, क्योंकि यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान विना परमात्मा की प्राप्ति नहीं होसक्ती, जैसाकि बृहदा० ४ । ४ । २२में वर्णन किया है कि मुमुक्षु पुरुष

ब्रह्मप्राप्ति के लिये वेदाध्ययन तथा यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करे, इस प्रकार यज्ञादि कर्मों के निषेध में शास्त्र का तात्पर्य्य न होने से सिद्ध है कि वैदिककर्मों का अनुष्ठान मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है।

सं०—अब मुक्ति के शमदमादि साधनों का कथन करते हैं:—

शमदमाद्युपेतःस्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥२७॥

पद०—शमदमाद्युपेतः। स्यात्। तथा। अपि। तु। तद्विधेः। तदङ्गतया। तेषाम्। अवश्यानुष्ठेयत्वात्।

पदा०—(तथा, अपि) मुमुक्षु पुरुष अवश्य ही (शमदमाद्युपेतः) शमदमादि साधन सम्पन्न (स्यात्) हो, क्योंकि (तद्विधेः) उनकी विधि पाई जाती है (तु) और (तदङ्गतया) मुक्ति का अङ्ग होने से (तेषां) उनका (अवश्यानुष्ठेयत्वात्) अनुष्ठान आवश्यक है।

भाष्य—तस्मादेवं विच्छान्तोदान्त उपरतास्तितिक्षुः समाहितोभूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" बृहदा० ४। ४। २३=शम=मन का निरोध, दम=इन्द्रियों का निरोध आदि साधनों से सम्पन्न हुआ परमात्मा का दर्शन करे, इत्यादि वाक्यों में शम दमादि साधनों की विधि पाये जाने और इनके अनुष्ठान विना मुक्ति का अधिकारी न होसने से सिद्ध है कि मुक्ति का अभिलाषी पुरुष उक्त साधनों का अवश्य अनुष्ठान करे, यहां

"शमदमाद्युपेत" पद से सूत्रकार ने स्वयं स्पष्ट कर दिया कि ज्ञान कर्म का समुच्चय ही मोक्ष का साधन है, इसी अभिप्राय से बृहदा० ४।४।२१ में वर्णन किया है कि विवेकी पुरुष निदिध्यासनरूप कर्म से परमात्मा का साक्षात्कार करे, यदि सूत्रकार को कर्मों का समुच्चय इष्ट न होता तो शमादि साधनों की उपादेयता वर्णन न कीजाती और नाही उक्त वाक्य में उनकी विधि का विधान किया जाता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि शमादि साधनरूप कर्म मुक्ति के अङ्ग हैं, सूत्रस्थ शमादि पद अष्टाङ्गयोग का उपलक्षण है जिसका वर्णन "योगार्य्यभाष्य" में भले प्रकार किया गया है।

स्मरण रहे कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार यह पांच बहिरङ्ग और धारणा, ध्यान, समाधि यह तीन अन्तरङ्ग साधन हैं, इन साधनों से सम्पन्न पुरुष समाधि की सम्प्रज्ञात अवस्था को लाभ करता है, जिसमें ईश्वर के सत्यादि गुणों की ध्यानरूप वृत्ति बनी रहती है उसको "सम्प्रज्ञात समाधि" कहते हैं, उक्त समाधि के दृढ़ अभ्यास से योगी सब वृत्तियों की लयरूप असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ करता है जिसमें एकमात्र ईश्वर के सादृश्य का अवभास होने के कारण अविद्यादि दोषों से रहित होकर जीव अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त होता है, जैसाकि "परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते"=ईश्वररूप परमज्योति को प्राप्त होकर निर्मल हुआ

जीव स्वस्वरूप से स्थित होता है, इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है. जीव की यही अवस्था "जीवन्मुक्ति" कहाती है, फिर देहत्याग के अनन्तर कैवल्यमुक्ति को प्राप्त हुआ जीव स्वस्वरूप से ही परमात्मा के आनन्द को अनुभव करता और उसके अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करके शुद्ध होजाता है।

ननु-अद्वैतवाद की भांति सिद्धान्त में अष्टाङ्गयोग ईश्वर साक्षात्कार की उत्पत्ति का हेतु और ईश्वर का साक्षात्कार मुक्ति का साक्षात् साधन होने से ज्ञानकर्म का समुच्चय कथन करना ठीक नहीं ? उत्तर-आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान से भिन्न कोई पदार्थ नहीं किन्तु निदिध्यासनरूप प्रत्यय ही ईश्वर साक्षात्कार कहाता है और वह क्रियारूप होने से समुच्चयवाद में कोई दोष नहीं, इसी भाव से स्वा० "रामानुज" का कथन है कि "मोक्षसाधनतया वेदान्तैर्विहितं ज्ञानं ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यम्" श्री० भा०=वेदान्त प्रतिपादित मोक्ष का साधनभूत ज्ञान ही ध्यान, उपासना तथा निदिध्यासनादि शब्दों से व्यवहृत होता है, और इसी आशय को गी० ५।५ में यों स्फुट किया है कि:-

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यःपश्यति स पश्यति।

अर्थ-जिस मोक्ष को ज्ञानी प्राप्त होते हैं उसी को कर्म योगी कर्मानुष्ठान से लाभ करते हैं इस प्रकार ज्ञान तथा कर्म को फलरूप से एक जानने वाला पुरुष

तत्ववेत्ता कहाता है, इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि वैदिक सिद्धान्त में ज्ञानकर्म का समुच्चय ही अभिप्रेत है अद्वैतवादियों की भांति ज्ञानमात्र को मोक्ष का साधन मानना ठीक नहीं।

सं०—अब योगी के लिये आपत्काल में खानपानविषयक यथेच्छाचार की अनुज्ञा कथन करते हैं :—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

पद०—सर्वान्नानुमतिः। च। प्राणात्यये। तद्दर्शनात्।

पदा०—(च) निश्चयकरके योगी के (प्राणात्यये) प्राणनाश काल में (सर्वान्नानुमतिः) सब अन्नों के भक्षण की आज्ञा है, क्योंकि (तद्दर्शनात्) श्रुति में ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—"न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति" छां०५।२।१=निश्चयकरके प्राणविद्यावित् योगी के लिये कोई पदार्थ अनन्न=अभक्ष्य नहीं अर्थात् वह उत्तम अधम सब के अन्न का अधिकारी है, इत्यादि वाक्यों में अन्नमात्र की अनुमति पायेजाने से सिद्ध है कि आपत्काल में ऊंच नीच के अन्न का भक्षण करने से योगी दोष का भागी नहीं होता, जैसाकि क्षुधानिमित्तक प्राणनाशकाल उपस्थित होने पर चाक्रायण ऋषि हस्तिपक=महावत के उच्छिष्ट कुल्माष खाने पर किसी दोष के भागी नहीं बने, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "उपनिषदार्यभाष्य" के द्वितीय भाग में किये जाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

अबाधाच्च ॥ २९ ॥

पद०—अबाधात् । च ।

पदा०—(च) और (अबाधात्) योगी के सामर्थ्य का बाध न पायेजाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—योगानुष्ठान करने से योगी में ऐसा अपूर्व सामर्थ्य होजाता है जिससे वह उक्त अवस्था में किसी दूषित पुरुष का अन्न खाने पर भी दोष का भागी नहीं होता ।

सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं :—

अपिच स्मर्यते ॥ ३० ॥

पद०—अपि । च । स्मर्यते ।

पदा०—(च) और (स्मर्यते, अपि) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—अपिचेदसि पापेभ्यःसर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥

गी० ४ । ३६

अर्थ—हे अर्जुन ! यदि तुम सब पापियों से बड़े पापी हो तो भी ज्ञानरूप नौका द्वारा भवसागर से पार होजाओगे अर्थात् आपत्काल में अपवित्र आहार विहार करने पर भी ज्ञानबल से मन्दवासना उत्पन्न नहीं होसक्ती, इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि

ऐसी दशा में ज्ञानवान् अधार्मिक पुरुष का अन्न खाने पर भी दूषित नहीं होता।

सं०—ननु, ऐसा मानने पर भक्ष्याभक्ष्य का नियम न रहने से मद्यमांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करना ज्ञानी के लिये दोषकर न रहेगा ? उत्तर :—

शब्दश्चास्याकामकारे ॥ ३१॥

पद०—शब्दः । च । अस्य । अकामकारे ।

पदा०—(च) और (अस्य) ज्ञानवान के (अकामकारे) अभक्ष्य पदार्थ विषयक निषेध में (शब्दः) शब्दप्रमाण पायाजाता है ।

भाष्य—"ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्" छां० ५ । २ । १=ब्राह्मण=ब्रह्मविद् पुरुष सुरापान न करे "न मांसमश्नीयात्"=मांसभक्षण न करे, इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि किसी अवस्था में भी मांसादि अभक्ष्य पदार्थों की अनुज्ञा नहीं और नाही शास्त्र का यह तात्पर्य्य है कि ज्ञान के बल से तत्ववेत्ता मांसादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन करने पर भी दूषित नहीं होता, अतएव सिद्ध है कि उक्त अभक्ष्य पदार्थों का सेवन किसी अवस्था में भी न करें ।

सं०—अब आश्रम कर्मों की अनुष्ठेयता कथन करते हैं :—

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

पद०-विहितत्वात् । च । आश्रमकर्म । अपि ।

पदा०-(च) और (विहितत्वात्) वेदविहित होने से (आश्रमकर्म) आश्रम के कर्मों का (अपि) भी अनुष्ठान कर्त्तव्य है।

भाष्य-यज्ञादि कर्म जो ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति के साधन हैं वह सब आश्रमी पुरुषों के लिये अनुष्ठेय हैं, जैसाकि "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति"=यावदायुष अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान करे, इत्यादि विधिवाक्यों में उनकी अवश्य कर्त्तव्यता बोधन कीगई है।

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

पद०-सहकारित्वेन । च ।

पदा०-(च) और (सहकारित्वेन) ज्ञान के सहकारी होने से यज्ञादि कर्म मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ का दो सूत्रों से उपसंहार करते हैं:—

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

पद०-सर्वथा । अपि । ते । एव । उभयलिङ्गात् ।

पदा०-(सर्वथा, अपि) सब प्रकार से (ते) ज्ञान तथा कर्म (एव) ही मुक्ति के साधन हैं, क्योंकि श्रुति में (उभयलिङ्गात्) दोनों का लिङ्ग पाया जाता है।

भाष्य-"तमेतं ब्राह्मणा वेदानुवचनेन विविदिषन्ति" बृहदा० ४।४।२२=ब्राह्मण लोग वेदाभ्यासद्वारा परमात्मज्ञान

की इच्छा करते हैं, इत्यादि वाक्यों में ज्ञान और कर्म दोनों का लिङ्ग पाये जाने से सिद्ध है कि मुक्ति ज्ञान कर्म के समुच्चय का फल है केवल ज्ञान वा कर्म का नहीं।

अनभिभवञ्च दर्शयति ॥३५॥

पद०—अनभिभवं। च। दर्शयति।

पदा०—(च) और शास्त्र में (अनभिभवं) कर्मों का तिरस्कार न पाये जाने से भी (दर्शयति) उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—"एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति" छां० ८। ५। ३=विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य्य के अनुष्ठान से ब्रह्मचारी जिस आत्मिक बल का लाभ करता है वह कदापि नष्ट नहीं होता, इत्यादि प्रमाणों से भलेप्रकार कर्मों की उपादेयता वर्णन कीगई है हेयता नहीं, जिससे स्पष्ट है कि मुमुक्षु पुरुष विधिवत् कर्मानुष्ठानपूर्वक ज्ञानद्वारा मुक्ति लाभ करसक्ता है, और भवसागर से पार होने का एकमात्र यही उपाय है, इस प्रकार मुक्ति प्रतिपादक वाक्यों में ज्ञान कर्म का सम्बन्ध पाये जाने से उक्त समुच्चयवाद निर्भ्रान्त जानना चाहिये।

सं०—ननु, विधिवत् आश्रम कर्मों का पालन न करने वाले पुरुषों के लिये ब्रह्मविद्या में अधिकार है वा नहीं? उत्तरः—

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३६॥

पद०—अन्तरा। च। अपि। तु। तद्दृष्टेः।

पदा०-(अन्तरा, च) आश्रम कर्मों के विना (अपि) भी ब्रह्मविद्या का अधिकार है, क्योंकि (तद्दृष्टेः) शास्त्र में ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"तु" शब्द शङ्का की व्यावृत्ति के लिये आया है, जिन पुरुषों ने किसी कारणवशात् विधिवत् आश्रमकर्मों का पालन नहीं किया पर सांसारिक भोगवासना से सर्वथा निर्मुक्त हैं वह भी ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं, जैसाकि रैक तथा गार्गी आदिकों में देखा गया है कि आश्रमकर्म न करने पर भी ब्रह्म वेत्ता हुए हैं जिनकी कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में किया गया है, इससे स्पष्ट है कि आश्रम कर्मों का पालन न करने वाला भी ब्रह्मविद्या का अधिकारी होसक्ता है।

सं०-अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:—

अपि च स्मर्य्यते ॥३७॥

पद०-अपि। च। स्मर्य्यते।

पदा०-(च) और (स्मर्यते, अपि) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-जाप्येनैवतु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणोनात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

अर्थ-आश्रमकर्मों का विशेषरूप से अनुष्ठान न करने पर भी ब्रह्मविद्या का अधिकारी ब्राह्मण जपमात्र से शुद्ध होजाता है, इत्यादि मनुस्मृति विधायक वाक्यों से स्पष्ट है कि विधिवत्

आश्रमकर्मों का पालन करने तथा न करने वाला भी ब्रह्मविद्या का अधिकारी होसक्ता है।

विशेषानुग्रहश्च ॥३८॥

पद०-विशेषानुग्रहः। च।

पदा०-(च) और (विशेषानुग्रहः) विशेष कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"तपसा ब्रह्मचर्येणश्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्येत्"=तप, ब्रह्मचार्य्य तथा विद्या से परमात्मा का अन्वेषण करे, इत्यादि विशेषवाक्यों से पायाजाता है कि पुरुष विधिपूर्वक आश्रम कर्मों का पालन न करता हुआ भी तप आदि करने से ब्रह्मविद्या का अधिकारी होसक्ता है।

सं०-अब अनाश्रमी की अपेक्षा आश्रमी को श्रेष्ठ कथन करते हैं:-

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥३९॥

पद०-अतः। तु। इतरत्। ज्यायः। लिङ्गात्। च।

पदा०-(च) और (तु) निश्चयकरके (अतः) अनाश्रमी पुरुष की अपेक्षा (इतरत्) आश्रमकर्मों का अनुष्ठान करने वाला (ज्यायः) श्रेष्ठ है, क्योंकि (लिङ्गात्) श्रुति में ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-"ब्रह्मचर्य्यं समाप्य गृही भवेत्" जाबा० ४=ब्रह्मचर्य्य समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, इत्यादि वाक्यों

द्वारा उत्तरोत्तर आश्रमों की श्रेष्ठता वर्णन कियेजाने से स्पष्ट है कि ब्रह्मविद्या का समान अधिकार होने पर भी नियमानुसार आश्रम कर्मों का अनुष्ठान न करने वाले पुरुष से करने वाला श्रेष्ठ है।

सं०—ननु, संन्यास से पतित हुआ पुरुष मुक्ति का अधिकारी है वा नहीं? उत्तरः—

तद्भूतस्य नातद्भावो जैमिनेरपि नियमा-तद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

पद०—तद्भूतस्य । न । अतद्भावः । जैमिनेः । अपि । नियमातद्रूपाभावेभ्यः ।

पदा०—(तद्भूतस्य) पतित संन्यासी के लिये (अतद्भावः) कोई प्रायश्चित्त (न) नहीं, क्योंकि (नियमातद्रूपाभावेभ्यः) श्रुति में प्रायश्चित्त विधायक नियम नहीं पायाजाता (जैमिनेः) जैमिनि और (अपि) वादरायणाचार्य्य भी ऐसा ही मानते हैं।

भाष्य—जैमिनि तथा बादरायण आचार्य्य का कथन है कि जो पुरुष एकबार संन्यासी होकर प्रमादवशात् संन्यासाश्रम से पतित हुआ यमनियमादि साधनों से सर्वथा प्रच्युत होजाता है उसके लिये शास्त्र में कोई प्रायश्चित्त नहीं, अतएव शुद्ध न होने के कारण वह मुक्ति का अधिकारी नहीं रहता।

सं०—अब उक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं:—

नचाधिकारिकमपि पतनानुमाना-त्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

पद०—न। च। आधिकारिकम्। अपि। पतनानुमानात्। तदयोगात्।

पदा०— (च) और पतित संन्यासी का (आधिकारिकं) मुक्ति विषयक अधिकार (न) सर्वथा नष्ट होजाता है, क्योंकि उसमें (तदयोगात्) प्रायश्चित्त की योग्यता नहीं रहती (पतनानुमानात्) उसके पतित होने से यह अनुमान कियाजाता है।

भाष्य—यदि यह कहाजाय कि पतित संन्यासी के लिये मुक्ति हेतुक प्रायश्चित्त नहो पर मुक्ति की योग्यता न होने में क्या प्रमाण? इसका उत्तर यह है कि उसके भ्रष्टाचाररूप लिङ्ग से अनुमान किया जाता है कि पतित संन्यासी मुक्ति का अधिकारी नहीं, अनुमान का प्रकार यह है कि अयं भ्रष्टाचारः संन्यासी मुक्तिं नार्हति पतितत्वात् वेश्यगामिवत्=जिस प्रकार मद्यमांसादि निषिद्ध पदार्थों का सेवन करने वाला वेश्यागामी मुक्ति का अधिकारी नहीं होसक्ता इसी प्रकार पतितत्वधर्म पाये जाने से पतित संन्यासी भी मुक्ति का अधिकारी नहीं।

सं०— अब उक्त अर्थ में अन्य आचार्यों का मत कथन करते हैं:—

उपपूर्वमपित्वेकेभावमशनवत्तदुक्तम् ।४२।

पद०—उपपूर्वम्। अपि। तु। एके। भावं। अशनवत्। तत्। उक्तम्।

पदा०—(एके) कईएक आचार्यों का कथन है कि (उपपूर्वं) संन्यासी का परदारादि से पतित होना उपपातक है (तु) और

उसका(अशनवत्) मधुमांसादि सेवन की भांति (भावं) प्रायश्चित्त (अपि) भी होसक्ता है, जैसाकि (तत्र, उक्तं) शास्त्र में विधान किया है।

भाष्य–कई एक आचार्य्यों का कथन है कि जिस प्रकार मधुमांसादि का सेवन करना उपपातक है और शास्त्र में उसका प्रायश्चित्त पाया जाता है, इसी प्रकार मद्य, मांसादि के सेवन से पतित होना नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा संन्यासी के लिये उपपातक है महापातक नहीं, क्योंकि इनकी गणना महापातकों में नहीं पाई जाती, इसलिये मद्यमांसादि भक्षण करने वालों की भांति पतित संन्यासी का भी प्रायश्चित्त होसक्ता है, जैसाकि स्मृति में कथन किया है कि:—

सर्वपापप्रसक्तोऽपिध्यायन्निमिषमच्युतं ।
पुनःसपूतो भवति पंक्तिपावन एवसः ॥
मनोवाक्कायजान्दोषाञ्ज्ञानोत्थांश्चप्रमादजान् ।
सर्वान्दहति योगाग्निस्तूलराशिमिवानलः ॥

अर्थ– पुरुष सब प्रकार के पापों से युक्त होने पर भी पश्चात्ताप करता हुआ शुद्ध चित्त से परमात्मा का स्मरण करे तो वह पवित्र होजाता है और उसके साथ एक पंक्ति में बैठकर भोजन करने में कोई दोष नहीं, जिसप्रकार प्रचण्ड अग्नि तूलराशि को तत्क्षण ही भस्म कर देती है इसीप्रकार योगरूप अग्नि बुद्धि पूर्वक अथवा अज्ञान से किये हुए मानस, वाचिक तथा कायिक पापों को नष्ट कर देती है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि पतित

संन्यासी भी प्रायश्चित द्वारा शुद्ध होकर पुनः मोक्ष का अधिकारी बनसक्ता है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं:—

बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च॥४३॥

पद०-बहिः। तु। उभयथा। अपि। स्मृतेः। आचारात्। च।

पदा०-"तु" शब्द सिद्धान्त के द्योतनार्थ आया है (उभयथा) उपपातक तथा महापातक दोनों प्रकार से (अपि) भी (बहिः) जो बहिष्कृत है वह प्रायश्चित्त से शुद्ध होजाता है, क्योंकि (स्मृतेः) स्मृति (च) और (आचारात्) आचार से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य-पातिकी अथवा महापातिकी होने से जो बहिष्कृत कियागया है वह प्रायश्चित्त द्वारा फिर शुद्ध होसक्ता है, जैसाकि स्मृति तथा आचार से पायाजाता है कि:—

महापातकिनश्चैवशेषाश्चाकार्य्यकारिणः ।
तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्विषात्ततः ।

मनु० ११।१३२

अर्थ-जो उपपातिकी तथा महापतिकी हैं वह सब तप से शुद्ध होजाते हैं, इस दि स्मृति वाक्यों से पायाजाता है कि सब प्रकार के पतितों की शुद्धि प्रायश्चित्त से होजाती है और इतिहास से भी स्पष्ट पाया जाता है कि दुराचारी पुरुष भी सदाचारी होने पर शुद्ध होजाता है, जैसाकि वाल्मीक आदि कई एक ऋषि

मुनि सदाचार से शुद्ध हुए, एवं चतुर्थाश्रम से पतित पुरुष की शुद्धि में कोई दोष नहीं।

सं०—अब यज्ञादि कर्मफलविषयक विचार करने के लिये "स्वाम्यधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥४४॥

पद०—स्वामिनः। फलश्रुतेः। इति। आत्रेयः।

पदा०—(स्वामिनः) यजमान को यज्ञफल की प्राप्ति होती है (इति) क्योंकि (फलश्रुतेः) फलबोधक श्रुति से ऐसा ही पायाजाता है, यह (आत्रेयः) आत्रेय आचार्य्य मानते हैं।

भाष्य—वर्षति हास्मै वर्षयति य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते" छां०२।३।२=जो उपासक वृष्टि विषयक पांच प्रकार के साम की उपासना करता है वह अपने तथा अन्यों के लिये आनन्द को बरसाता है, इत्यादि वाक्य प्रतिपादित उपासनाओं का अधिकारी होने से यज्ञफल की प्राप्ति यजमान को होती है अन्य ऋत्विजों को नहीं, यदि यज्ञफल के भागी ऋत्विज् होते तो उक्त वाक्य में यजमान द्वारा उपासना का वर्णन न कियाजाता पर किया है इससे सिद्ध है कि यज्ञफल का भागी केवल यजमान है ऋत्विज नहीं, यह आत्रेय आचार्य्य का मत है।

सं०—अब उक्त अर्थ में औडुलोमि आचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥४५॥

पद०-आर्त्विज्यं। इति। औडुलोमिः। तस्मै। हि। परिक्रीयते।

पदा०-(औडुलोमिः) औडुलोमि आचार्य्य का कथन है कि (आर्त्विज्यं, इति) ऋत्विक् लोग भी उक्त कर्म के फलभागी होते हैं (हि) क्योंकि (तस्मै) अङ्गसहित कर्मानुष्ठान के लिये ऋत्विक् यजमान से (परिक्रीयते) परिक्रीत होता है।

भाष्य-औडुलोमि आचार्य्य का यह मत है कि यजमान वरण द्रव्यों से ऋत्विक् लोगों को परिक्रीत=नियत समय पर्य्यन्त यज्ञादि कर्मों का सम्पादन करने के लिये अपना सहकारी बना-लेता है, इसलिये दोनों मिलकर कर्मसम्पादन करने से फल के भागी होते हैं, यद्यपि कर्म करने वाला यजमान ही केवल फल का भागी होना चाहिये तथापि जिसप्रकार लोक में समुदाय-साध्य कर्म के सभी फलभागी होते हैं इसी प्रकार यज्ञकर्म का सहचारी होने से ऋत्विक् को भी फल का भागी जानना चाहिये।

सं०-अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैंः—

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

पद०-श्रुतेः। च।

पदा०-(च) और (श्रुतेः) श्रुति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"संगच्छध्वं संवदध्वं" ऋग्० ८।८।४९।

२=परस्पर मिलकर सम्वाद करो,इत्यादि श्रुतिवाक्य प्रतिपादित प्रीतिपूर्वक व्यवहार का फल सर्वसाधारण होने से सिद्ध है कि यज्ञादि कर्मों का फल केवल यजमान को ही प्राप्त नहीं होता किन्तु ऋत्विक् तथा यजमान दोनों को प्राप्त होता है।

सं०—ननु, श्रवणादि की भांति आत्मसाक्षात्कार का कोई अन्य साधन भी है वा नहीं ? उत्तर:—

सहकार्य्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो, विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

पद०—सहकार्यन्तरविधिः । पक्षेण । तृतीयं । तद्वतः । विध्यादिवत ।

पदा०—(विध्यादिवत) अन्य विधियों की भांति (तद्वतः) संन्यासी के लिये (तृतीयं) मौन का (पक्षेण, सहकार्यन्तरविधिः) सहकारीरूप से पाक्षिक विधान है।

भाष्य—“ तस्माद्ब्राह्मणःपाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् ” बृहदा०३।५।१=ब्रह्मवित् पुरुष विद्या अभिमान से रहित होकर बालक की भांति सांसारिक विषयों से उदासीन रहे, इत्यादि वाक्यों में बालभाव तथा पाण्डित्य के समान तृतीय “मौन” रूप साधन का भी विधान पायाजाता है अर्थात् जिस प्रकार आत्मसाक्षात्कार में श्रवणादि साधन उपादेय हैं इसी प्रकार “मौन ” भी उपादेय है, यहां “ मौन ” पद से न बोलना अभिप्रेत नहीं किन्तु शास्त्र द्वारा श्रवण किये अर्थ का युक्तिपूर्वक मनन करने का नाम “ मौन ” है, इसी का भलीभांति अनुष्ठा

करने वाला ब्रह्मवित् पुरुष "मुनि" कहाता है, जैसाकि "मुनीनामप्यहं व्यासः" गी० १०। ३७=हे अर्जुन! मनन करने वाले पुरुषों के मध्य व्यास मेरा रूप है,इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि श्रवणादि साधनों की भांति संन्यासी के लिये मौन का अनुष्ठान करना भी आवश्यक है।

सं०-अब उक्त अर्थ का गृहस्थ पुरुष में अतिदेश कथन करते हैं:—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

पद०-कृत्स्नभावात्। तु। गृहिणा। उपसंहारः।

पदा०-"तु" शब्द अतिदेश के बोधनार्थ आया है (कृत्स्नभावात्) अधिकारी में उक्त साधन संगत होने के कारण (गृहिणा, उपसंहारः) गृहस्थ पुरुष में भी उनका उपसंहार होता है।

भाष्य-यदि गृहस्थाश्रम में रहकर यथाविधि गृहस्थ धर्मों के पालन करने वाले पुरुष को शुद्ध चित्त होने से ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न होजाय तो वह उसी आश्रम में श्रवणादि साधन सम्पन्न होकर मुक्ति का अधिकारी होसक्ता है अर्थात् जिसप्रकार संन्यासी के लिये मौनादिक अनुष्ठेय हैं वैसे ही उनका अनुष्ठान करना गृहस्थ के लिये आवश्यक जानना चाहिये।

सं०-अब गृहस्थाश्रमी के लिये अन्य साधनों का अनुष्ठान कथन करते हैं:—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

पद०-मौनवत् । इतरेषां । अपि । उपदेशात् ।

पदा०-(मौनवत्) मौन की भांति (उपदेशात्) उपदेश पायेजाने से (इतरेषां, अपि) अन्य साधनों का अनुष्ठान भी आवश्यक है ।

भाष्य-" त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति " छन्दो० २ । २३ । १=यज्ञ, स्वाध्याय तथा दान यह तीन धर्म के स्कन्ध हैं, इत्यादि वाक्यों में जो यज्ञादिकों का विधान कियागया है वह मौन की भांति मुक्ति का साधन होने से मुमुक्षुमात्र के लिये अनुष्ठेय जानना चाहिये ।

सं०-ननु, बृहदा० ३। ५ । १में कथन किये हुए बालभाव का क्या अभिप्राय है ? उत्तर :—

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥५०॥

पद०-अनाविष्कुर्वन् । अन्वयात् ।

पदा०-(अनाविष्कुर्वन्) दम्भादिकों से रहित होना बालभाव का अर्थ है, क्योंकि (अन्वयात्) इसी अर्थ में उपनिषद् वाक्य संगत होते हैं ।

भाष्य-" बाल्येन तिष्ठासेत " बृह० ३। ५ । १=ब्रह्मवित् पुरुष बालभाव को धारण करता हुआ बिचरे, इस वाक्य में कथन किये बालभाव का यह तात्पर्य्य नहीं कि विवेकी पुरुष भी सर्वथा बालक की भांति नाना प्रकार की बालक्रीडा में आसक्त रहे किन्तु यह अभिप्राय है कि जिसप्रकार बालक दम्भ, मान तथा

दर्पादिकों से स्वतः ही उदासीन होता है इसीप्रकार ब्रह्मवेत्ता पुरुष दम्भादिकों से रहित होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता हुआ सांसारिक विषयों से उदासीन रहे,इसी अर्थ के बोधन करने से उक्त वाक्य की प्रकरण संगति होसक्ती है अन्यथा नहीं, क्योंकि सर्वथा बालवत् आचरण के बोधन करने में श्रुतिवाक्य की अपूर्वता नहीं पाईजाती, इसलिये ब्रह्मवित् का विषयों से उदासीन होना ही बाल्यभाव है ।

सं०–ननु,साधनसम्पन्न होने के अनन्तर इसी जन्म में मुक्ति होती है वा जन्मान्तर में ? उत्तर :–

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

पद०–ऐहिकम् । अपि । अप्रस्तुतप्रतिबन्धे । तद्दर्शनात् ।

पदा०–(अप्रस्तुतप्रतिबन्धे) प्रतिबन्धक कर्म के न होने से (ऐहिकं, अपि) इसी जन्म में पुरुष मुक्त होसक्ता है, क्योंकि (तद्दर्शनात्) श्रुति से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य–श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यो शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः" कठ० २ । ७=जिस परमात्मा का श्रवण करना कठिन है और जिसको सुनकर भी सब प्राप्त नहीं होसक्ते उसका वक्ता तथा श्रोता कोई विरला पुरुष ही होता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि मुक्ति का प्राप्त

होना किसी एक जन्म पर निर्भर नहीं किन्तु जिन पुरुषों का कोई बलवद् प्रतिबन्धक कर्म नहीं वह श्रवणादि साधन द्वारा इसी जन्म में मुक्त होजाते हैं और जिनका कोई शेष कर्म प्रतिबन्धक है उनको जन्मान्तर में मुक्ति का लाभ होता है, इसी अभिप्राय से गी० ६ । ४१ में वर्णन किया है कि "शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते"=योगभ्रष्ट पुरुष जिस की समाधि इस जन्म में परिपक्क नहीं हुई वह पुनः योगी तथा पवित्र, श्रीमान् लोगों के कुल में जन्मधारण करता और उसी पूर्व जन्म के अभ्यास द्वारा योगानुष्ठान करता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है, इससे सिद्ध है कि प्रतिबन्धक निवृत्ति के उत्तरकाल में मोक्षप्राप्ति का नियम है उसकी प्राप्ति के लिये वर्त्तमान अथवा भाविजन्म की एकान्तता अपेक्षित नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हैं:—

मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥५२॥

पद०—मुक्तिफलानियमः । तदवस्थावधृतेः । तदवस्थावधृतेः ।

पदा०—(तदवस्थावधृतेः) अपहतपाप्मादि गुणों के धारण करने से (मुक्तिफलानियमः) मुक्तिरूप फल में जन्म का अनियम है ।

भाष्य—"तदवस्थावधृतेः" पाठ दोबार अध्याय की समाप्ति के लिये आया है, "परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपे-

णाभिनिष्पद्यते"=पुरुष परमात्मा के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करके मुक्त होजाता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि साधनसम्पत्ति के पूर्ण होने पर ही पुरुष मुक्त होता है अन्यथा नहीं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
वेदान्तार्य्यभाष्ये तृतीयाध्यायस्य
चतुर्थःपादःसमाप्तः
समाप्तश्चायं तृतीयाध्यायः

ओ३म्

अथ चतुर्थाध्यायः प्रारभ्यते

सं०—तृतीयाध्याय में परापर विद्या के साधनों का विस्तार पूर्वक निरूपण किया, अब मुक्तिरूप फल का विचार करने के लिये इस अध्याय का प्रारम्भ करते हुए प्रथम ब्रह्मध्यान को मुक्ति का साधन कथन करते हैं:—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥१॥

पद०—आवृत्तिः। असकृदुपदेशात्।

पदा०—(असकृदुपदेशात्) अनेकवार उपदेश पाये जाने से (आवृत्तिः) ब्रह्मध्यान मुक्ति का साधन है।

भाष्य—"आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" बृहदा० ४।५।६=हे मैत्रेयि! आत्मा ही द्रष्टव्य=तत्वज्ञानद्वारा साक्षात् करने योग्य, श्रोतव्य=श्रुति वाक्यों से श्रवण करने योग्य, मन्तव्य=वेदाविरोधि तर्कों द्वारा मनन करने योग्य और निदिध्यासितव्य=चित्तवृत्तिनिरोध द्वार वारम्वार अभ्यास करने योग्य है, "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" छां० ८।७।१=आत्मा ही अन्वेषण करने तथा जानने योग्य है, इत्यादि वाक्यों में यह सन्देह होता है कि वाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान मुक्ति का साधन है अथवा वारंवार प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यान से मुक्ति होती है? यहां पूर्वपक्षी का कथन है कि संसाररूप

बन्ध आविद्यिक होने के कारण तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य ज्ञान ही मुक्ति का साधन है अर्थात् जिसप्रकार रज्जुसर्प की निवृत्ति रज्जुरूप अधिष्ठान के साक्षात्कार से होती है इसी प्रकार महावाक्य जन्य ज्ञानद्वारा अधिष्ठान ब्रह्म के साक्षात्कार से संसारनिवृत्तिरूप मोक्ष होती है ध्यान से नहीं ? इसका उत्तर यह है कि उक्त वाक्यों में पुनः२ आवृत्तिरूप ध्यान का उपदेश किया गया है वाक्यजन्य ज्ञान को मोक्ष का साधन वर्णन नहीं किया, यदि वाक्यजन्य ज्ञान ही मुक्ति का साधन होता तो पुनः २ श्रवणादिकों की आवृत्ति न पाई जाती और नाही शास्त्र में चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग का उपदेश किया जाता, जैसाकि मुं० ३।१।८ में वर्णन किया है कि :—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं-
पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

अर्थ—ज्ञान के महत्व से अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ध्यान करने वाला पुरुष निराकार परमात्मा का दर्शन करता है, इससे सिद्ध है कि "आत्मावारे द्रष्टव्यः" इत्यादि वाक्यों से प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यान ही मुक्ति का साधन अभिप्रेत है वाक्य जन्य ज्ञान नहीं।

और जो यह कहागया है कि रज्जुसर्प की भांति मिथ्या संसार की निवृत्ति वाक्यजन्य ज्ञान से ही होती है, यह इसलिये ठीक नहीं कि संसार के मिथ्या होने में कोई प्रमाण नहीं पायाजाता,

जैसाकि पीछे कई एक स्थलों में वर्णन कर आये हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि सुषुप्ति आदि अवस्थाओं की भांति मुक्ति एक प्रकार से जीव की अवस्थाविशेष है जो भावपदार्थ है संसारनिवृत्तिरूप अभाव पदार्थ का नाम मुक्ति नहीं, यदि मुक्ति अभाव पदार्थ होती तो "ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति" मुं० ३ ।२। ८=मुक्त पुरुष ब्रह्मसम्बन्धी अपहतपाप्मादि धर्मों के धारण करने से ब्रह्म के समान होजाता है, इत्यादि वाक्यों से ब्रह्मधर्मों की प्राप्तिरूप मुक्ति का वर्णन न किया जाता, इससे स्पष्ट है कि संसारनिवृत्ति रूप अभाव पदार्थ का नाम मुक्ति नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

पद०—लिङ्गात् । च ।

पदा०—(च) और (लिङ्गात्) लिङ्ग से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" बृह० ४ । ४ । २२=ब्राह्मण लोग वेद के निरन्तर अभ्यास से उसी परमात्मा के जानने की इच्छा करते हैं, इत्यादि लिङ्गों से भी पुनः२प्रत्ययावृत्तिरूप अभ्यास ही मुक्ति का साधन सिद्ध होता है ।

सं०—अब उक्त प्रत्ययावृत्ति रूप ध्यान का प्रकार कथन करते हैं :—

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

पद०—आत्मा । इति । तु । उपगच्छन्ति । ग्राहयन्ति । च ।

पदा०—"तु" सिद्धान्त पक्ष के बोधनार्थ आया है (आत्मा, इति) उपासक लोग आत्मरूप से चिन्तन करते हुए (उपगच्छन्ति) ब्रह्म को प्राप्त होते हैं (च) और (ग्राहयन्ति) शास्त्रों से भी ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—"त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि"=हे भगवन् देव ! तू मैं हूं और मैं तू है, इत्यादि अभेदोपासना बोधक वाक्यों से सिद्ध है कि उपासक पुरुष उपासना काल में ब्रह्म के साथ किसी प्रकार का भेद चिन्तन न करे किन्तु तद्धर्मतापत्ति के लिये नितान्त ब्रह्म के साथ स्वस्वरूप का अभेद चिन्तन करता हुआ समाधिस्थ होवे, इसी अभिप्राय से "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" यो० १ । २ में चित्तवृत्ति निरोध रूप योग का कथन करके तृतीय सूत्र में उपासक पुरुष के आत्मा की स्थिति परमात्मा में कथन की है, इस प्रकार अभेद चिन्तन करने से जीव को परमात्मसम्बन्धी अपहतपाप्मादि धर्मों का लाभ होता है जिससे आनन्द तथा ऐश्वर्य्य के लाभ द्वारा ब्रह्मवेत्ता अपने स्वरूप में ब्रह्मत्व की भावना करता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है, जैसाकि "अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" बृहदा०

१।४।१०=मैं मनु और मैं ही सूर्य्य हूं,इत्यादि वाक्यों से वाम-देवादिकों के विषय में पायाजाता है, इसलिये उपासक को उचित है कि तद्धर्मतापत्तिरूप मुक्ति के लाभार्थ समाधिकाल में सर्वथा परमात्मा के साथ अभेद चिन्तन करे, यही शास्त्र विहित उपासना का प्रकार सर्वोपरि होने से आस्तिकमात्र के लिये आदरणीय है।

स्वामी "रामानुज" का कथन है कि :—

"सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनः तज्जत्वात्तल्लत्वात्तदनत्वान्नियाम्यत्वात्तच्छरीरत्वाच्च सर्वस्यायमात्माः अतः स त आत्मा अतो यथा प्रत्यगात्मनः स्वशरीरं प्रत्यात्मत्वाद्देवोऽहं मनुष्योऽहमित्यनुसन्धानं तथा प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मत्वात्परमात्मनस्तस्याप्यहमित्येवानुसन्धानं युक्तमिति" श्री० भा०

अर्थ—यह सब चराचर जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी में स्थित रहने तथा लय होने के कारण ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म सबका आत्मा है, जैसाकि "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में प्रतिपादन किया है अर्थात् जिस प्रकार जीवात्मा का देह के साथ शरीरशरीरिभाव सम्बन्ध होने से "देवोऽहं" मैं देव हूं "मनुष्योऽहं"=मैं मनुष्य हूं, इस प्रकार शरीर के साथ

अभेदानुसन्धान होता है वैसे ही वास्तविक भेद होने पर भी जीव ब्रह्म का परस्पर शरीरशरीरिभाव होने के कारण उपासनाकाल में "अहमेवब्रह्म"=मैं ही ब्रह्म हूं, इस प्रकार आत्मरूप से अभेदचिन्तन में कोई बाधा नहीं, स्वामी रामानुज का यह अर्थ वैदिकसिद्धान्त का अविरोधी होने से उपादेय है परन्तु निर्विशेष ब्रह्मवादी स्वा० शङ्कराचार्य्यजी ने अद्वैतभाव से अभेदोपासना का स्थापन करते हुए इस सूत्र के भाष्य में "अहं ब्रह्मास्मि" "एष त आत्मासर्वान्तरः" बृहदा० ३।४।१ "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" बृहदा० ३।७।३ "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" छान्दो० ६।८।७ इत्यादि जिन औपनिषद्वाक्यों की माला पुरोदी है उनसे इनका अभीष्ट कदापि सिद्ध नहीं होता, उक्त वाक्यों का वास्तविक अर्थ भूमिका तथा वाक्यान्वयाधिकरण आदि कई अधिकरणों में विस्तारपूर्वक किया गया है, इसलिये यहां पुनरुल्लेख की आवश्यक्ता नहीं।

सं०—ननु, "त्वं वा अहमस्मि" इत्यादि आत्मरूप ब्रह्मोपासना की भांति प्रतीकविषयक ब्रह्मानुसन्धान में क्या दोष है? उत्तरः—

न प्रतीके न हि सः ॥४॥

पद०—न। प्रतीके। न। हि। सः।

पदा०-(प्रतीके) प्रतीक=मूर्त्ति आदि में ब्रह्मोपासना करना (न) ठीक नहीं (हि) क्योंकि (सः) वह (न) ब्रह्मरूप नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥५॥

पद०-ब्रह्मदृष्टिः। उत्कर्षात्।

पदा०-(उत्कर्षात्) श्रेष्ठ होने के कारण (ब्रह्मदृष्टिः) ब्रह्म का ध्यान कर्त्तव्य है प्रतीक का नहीं।

भाष्य-"परिभूः स्वयम्भूः" यजु० ४। ८=परमात्मा स्वयंप्रकाश तथा सर्वोपरि है, इत्यादि वाक्यों द्वारा पदार्थमात्र की अपेक्षा ब्रह्म का उत्कर्ष पाये जाने से अपहतपाप्मत्वादि धर्मों के लाभार्थ ब्रह्म के स्वरूप में ही ब्रह्मदृष्टि कर्त्तव्य है प्रतीक में नहीं।

ननु-अन्य में अन्य बुद्धि होने के कारण अभेदोपासना भी प्रतीकोपासना की भांति अध्यास होने से मिथ्या है सत्य नहीं? उत्तर—प्रतीकोपासना जड़ में ब्रह्म बुद्धि होने से मिथ्या ज्ञानरूप है जो युक्ति तथा प्रमाण से सर्वथा विरुद्ध है पर अभेदोपासना में उक्त दोष इसलिये नहीं आता कि आत्मा ब्रह्म की भांति चेतन है मूर्त्ति की भांति जड़ नहीं, इसलिये ब्रह्मसम्बन्धी अपहतपाप्मादि धर्मों के लाभार्थ अभेदोपासना का विधान होने से वह मिथ्या नहीं, इससे स्पष्ट है कि जड़ोपासना तथा ब्रह्मोपासना की परस्पर सदृशता कथन करना वादी का साहसमात्र है, यहां

प्रतीकोपासकों से प्रष्टव्य है कि प्रतीक में ब्रह्मबुद्धि बाधरूप है वा अध्यासरूप अथवा विशेष्यविशेषणभावरूप किंवा समानाधिकरणरूप है? प्रथमपक्ष इसलिये ठीक नहीं कि प्रतीकरूप अधिष्ठान का ज्ञान होने पर भी वादी के मत में प्रतीक विषयक ब्रह्मबुद्धि का बाध नहीं माना गया, अध्यास मानने में दोष यह है कि प्रतीक में ब्रह्मबुद्धि आरोपित होती है स्वाभाविक नहीं, जैसाकि "प्रतीकोपासनं नाम अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसन्धानम्" श्री०भा०=अब्रह्म में ब्रह्मदृष्टि का नाम "प्रतीकोपासना" है, यह अर्थ मूर्त्तिपूजकों के शिरोमणि आचार्य्य स्वा० रामानुज मानते हैं, इस प्रकार इतरव्यावृत्तिरूप प्रयोजन के न बन सकने और विशेष्यविशेषणभाव तथा प्रतीक और ब्रह्म का भेद होने से "समानाधिकरण" पक्ष भी सर्वथा असङ्गत है, उक्त चारो पक्षों का विस्तारपूर्वक वर्णन पीछे "व्याप्त्यधिकरण" तथा "आर्य्यमन्तव्यप्रकाश" में किया गया है, विशेषाभिलाषी वहां देखलें।

सं०—ननु, "आदित्यो ह्येत्यादेशः" छां० ३।१९।१ तथा "य एवासो तमुद्गीथमुपासीत" छां० १।३।१ इत्यादि वाक्यों में आदित्य प्रतीक को ब्रह्म कथन किया गया है फिर कैसे कहा जाता है कि प्रतीकोपासना ठीक नहीं? उत्तरः—

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः॥६॥

पद०—आदित्यादिमतयः । च । अङ्गे । उपपत्तेः ।

पदा०—(च) और (अङ्गे) यज्ञ के अवयवभूत उद्गीथ में (आदित्यादिमतयः) आदित्यादि बुद्धियों का विधान है प्रतीकोपासना का नहीं, क्योंकि (उपपत्तेः) युक्ति से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य—"आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" छां० ३ । १९ । १=यह आदित्य ब्रह्मरूप है "य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत" छां० १ । ३ । १=आकाशमण्डल में देदीप्यमान आदित्य की उद्गीथरूप से उपासना करे, इत्यादि वाक्यों से प्रतीकोपासना की सिद्धि मानना इसलिये ठीक नहीं कि उक्त वाक्यों द्वारा यज्ञ के अवयवभूत ओंकार में आदित्य दृष्टि का विधान किया गया है प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि का नहीं अर्थात् जिस प्रकार आदित्य प्रजा के लिये अन्न उत्पन्न करता तथा अन्धकार को मिटाता है इसी प्रकार ओंकार पदवाच्य ब्रह्म भी सबका उत्पादक तथा अविद्यारूप अन्धकार का निवर्त्तक है, इसी सादृश्य से आदित्य को ब्रह्म कहागया है वस्तुतः उसमें ब्रह्मत्व की विवक्षा नहीं, क्योंकि प्रकरणवशात् ब्रह्म शब्द अनेक अर्थों में आता है, जैसाकि "एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणोमुखे" गी० ४ । ३२=वेद में अनेक प्रकार के यज्ञों का विस्तार है, यहां "ब्रह्म" शब्द वेद का वाचक है, इसी प्रकार श्वेताश्वतर के "भोक्ताभोग्यं" इस वाक्य में जीव तथा प्रकृति के लिये

और तैत्ति० ३।२ में "तप" के लिये ब्रह्म शब्द आया है।

सं०-अब ईश्वरोपासना में आसनादिकों का प्रकार कथन करते हैं:—

आसीनःसम्भवात् ॥ ७ ॥

पद०-आसीनः। सम्भवात्।

पदा०-(आसीनः) स्थिर होकर उपासना करे, क्योंकि (सम्भवात्) इसी रीति से उपासना का होना सम्भव है।

भाष्य-"उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्"= समानरूप से ध्येयाकार चित्तवृत्ति के प्रवाह का नाम "उपासना" है, वह उपासना चित्त की एकाग्रता तथा शरीर की स्थिरता से होसक्ती है अन्यथा नहीं, इसलिये उचित है कि उपासक स्थिरतापूर्वक बैठकर उपासना करे।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

पद०-ध्यानात्। च।

पदा०-(च) और (ध्यानात्) ध्यान से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-जब तक पुरुष किसी एक स्थान पर दृढ़ता से आसन नहीं लगाता तबतक ध्यान=तैलधारावत् वृत्ति का निरन्तर ध्येयाकार होना सम्भव नहीं, इससे सिद्ध है कि किसी एकदेश में स्थिर होकर ही उपासना कर्त्तव्य है।

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

पद०—अचलत्वं । च । अपेक्ष्य ।

पदा०—(च) और (अचलत्वं,अपेक्ष्य) निश्चलता की अपेक्षा से ही अन्यत्र ध्यान शब्द का प्रयोग कियागया है ।

भाष्य—"ध्यायतीव पृथिवी" छां० ७ । ६ । १.२=पृथिवी ध्यान करती है, इत्यादि वाक्यों में जिसप्रकार पृथिव्यादिकों का औपचारिक ध्यान करना निश्चलता के अभिप्राय से आया है इसी प्रकार योगी के लिये उचित है कि वह निश्चलतारूप समाधि के लाभार्थ किसी एकदेश में आसन लगाकर उपासना करे ॥

सं०—अब उक्त अर्थ में प्रमाण कथन करते हैं :—

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

पद०—स्मरन्ति । च ।

पदा०—(च) और (स्मरन्ति) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ॥

भाष्य—शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम् ॥
गी० ६ । ११

अर्थ—जो आसन न बहुत ऊंचा न नीचा हो और जिसके नीचे कुशा और ऊपर मृगका चर्म बिछा हो ऐसे पवित्र तथा सम देशवाले आसन पर स्थिर होकर योगाभ्यास करे, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि उपासना काल में योगी आसन पर बैठकर ही

समाधि लगावे और इतस्ततः गमनागमन के व्यापार से सर्वथा शान्त होकर वृत्तियों के निरोध में तत्पर रहे, ऐसा करने से योगी क हृदय सब प्रकार की मलिनता से रहित होकर स्फटिकवत् निर्मल होजाता है, इसी अवस्था में योगी को विवेकख्याति का लाभ होता है, जैसाकि "योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः" योग०२।२८ में वर्णन किया है कि योग के यम नियमादि आठ अङ्गों का अनुष्ठान करने से विवेकख्याति पर्यन्त निर्मल ज्ञान का लाभ होता है, इसलिये आसनादि नियमों का पालन करना योगी का परम कर्त्तव्य जानना चाहिये।

सं०-अब उक्त अर्थ में देशविशेष का अनियम कथन करते हैं:—

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

पद०-यत्र। एकाग्रता। तत्र। अविशेषात्।

पदा०-(अविशेषात्) विशेषता न पाये जाने से (यत्र) जहां चित्त (एकाग्रता) एकाग्र होसके (तत्र) उसी देश में बैठकर समाधि लगावे।

भाष्य-समाधि का सम्बन्ध चित्तवृत्तिनिरोध से है किसी देशविशेष से नहीं, यत्नशील पुरुष अभ्यास की प्रकर्षता से जहां चाहे वहां ही चित्तवृत्ति का निरोध करसक्ता है, देशविशेष केवल चित्तवृत्तिनिरोध में इतना ही उपयोगी है कि वह बैठने के योग्य

सुहावना हो, चाहे घर हो और चाहे बन हो, इसलिये जिन लोगों का यह मत है कि समाधि लगाने के लिये पर्वत की कन्दरा आदि ही उपयुक्त हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि कन्दरा आदि से केवल विक्षेप निवृत्ति ही अभिप्रेत है और वह यत्न करने से घर में भी होसक्ती है, अतएव समाधि के लिये स्थान की स्वच्छता आदि का नियम होने पर भी किसी पर्वत की कन्दरा आदि देशविशेष का नियम मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब उपासना की अवधि कथन करते हैं :—

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥१२॥

पद०-आप्रायणात् । तत्र । अपि । हि । दृष्टं ।

पदा०-(आप्रायणात्) मरणपर्य्यन्त ईश्वरोपासना करनी चाहिये (हि) क्योंकि (तत्र, अपि) उसका यावदायुष (दृष्टं) उल्लेख पायाजाता है ।

भाष्य-" स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते " छा० ८ । १५ । १=सम्पूर्ण आयु वेदाध्ययन तथा उपासना करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इस वाक्य से स्पष्ट है कि मुक्ति के साधन ब्रह्मोपासना का यावदायुष ही अनुष्ठान करना उचित है, इससे मायावादियों का यह कथन भी निस्सार होजाता है कि ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर फिर उपासना आदि कर्मों की आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब उपासक के संचित पापकर्मों का विनाश कथन करते हैं :—

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

पद०—तदधिगमे । उत्तरपूर्वाघयोः । अश्लेषविनाशौ । तद्व्यपदेशात् ।

पदा०—(तदधिगमे) उस परमात्मा का ज्ञान होने पर (उत्तरपूर्वाघयोः) क्रियमाण तथा संचित पापकर्मों का (अश्लेषविनाशौ) जीव के साथ असम्बन्ध तथा विनाश होजाता है, क्योंकि (तद्व्यपदेशात्) श्रुति वाक्यों में ऐसा ही कथन किया है ।

भाष्य—यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एव मेवंविदि पापं कर्म न श्लिश्यते" छान्दो० ४ । १४ । ३=जिसप्रकार कमल के पत्ते को जल स्पर्श नहीं करते इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी को पापकर्म नहीं लगते, "क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे " मुं०२।२। ८=परावर ब्रह्म के ज्ञान होने पर सब पापकर्म क्षय होजाते हैं, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि जब उपासक को उपासना करते २ ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब उसके संचित पाप कर्मों का विनाश होजाता और क्रियमाण पाप कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है, इससे जो "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटिशतैरपि"=विनाभोगे

कर्मों का नाश नहीं होता, इस स्मृति वाक्य के साथ विरोध आता है वह भी निवृत्त होगया, क्योंकि यह वाक्य प्रारब्ध कर्मों का भोगे बिना विनाश न होना कथन करता है और उक्त वाक्य संचित पापकर्मों का ब्रह्मज्ञान से विनाश कथन करते हैं, इसलिये दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध नहीं।

सं०-अब संचित पुण्यकर्मों का असम्बन्ध कथन करते हैं:-

इतरस्याप्येवमश्लेषः पातेतु ॥ १४ ॥

पद०-इतरस्य। अपि। एवं। अश्लेषः। पाते। तु।

पदा०-(एवं) इसीप्रकार (इतरस्य) पुण्य कर्मों का (अपि) भी (अश्लेषः) सम्बन्ध नहीं रहता (तु) और (पाते) शरीर छूटने पर मुक्ति होजाती है।

भाष्य-उपासक को ज्ञान होने पर जैसे क्रियमाण कर्मों का स्पर्श नहीं होता इसी प्रकार संचित पुण्य कर्मों का भी स्पर्श नहीं होता अर्थात् उसके संचित पुण्यकर्म क्रियमाण कर्मों की भांति स्पर्श न करते हुए ज्यों के त्यों बने रहने से मुक्ति में प्रतिबन्धक नहीं होते, और जब इसका शरीर छूट जाता है तब यह मुक्त होजाता है।

सं०-ननु, जब ज्ञान से पुण्यकर्मों का अश्लेष और पापकर्मों का नाश होजाता है तो फिर उसका यह शरीर ही नष्ट क्यों नहीं होजाता, क्योंकि यह तो पुण्यपाप का फल है ? उत्तरः-

अनारब्धकार्य्ये एवतु पूर्वे तदवधेः॥१५॥

पद०-अनारब्धकार्य्ये। एव। तु। पूर्वे। तदवधेः।

पदा०-"तु" शब्द आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है

(अनारब्धकार्य्ये) जिन्होंने अभी कार्य्यारम्भ नहीं किया ऐसे प्रारब्ध कर्मों से भिन्न (पूर्वे) जो संचित पुण्य तथा पापकर्म हैं उन्हीं का (एव) निश्चय करके ज्ञान से अश्लेष तथा विनाश कथन किया है, क्योंकि (तदवधेः) प्रारब्धकर्म ही मुक्ति की अवधि हैं।

भाष्य—"तस्यतावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" छान्दो० ६।१४।२=उसको तभी तक मुक्ति में विलम्ब है जब तक उसके प्रारब्धकर्म, क्षय नहीं होते, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि मुक्ति में प्रतिबन्धक केवल प्रारब्ध कर्म ही हैं संचित कर्मों का ज्ञान से अश्लेष तथा विनाश होने पर भी इसका शरीर नष्ट नहीं होता और नाही प्रारब्ध कर्मों के भोगे बिना इसकी मुक्ति होसक्ती है अर्थात् ज्ञान होने से संचित पुण्यपाप कर्मों के अश्लेष विनाश होने पर भी यह मुक्त नहीं होता, क्योंकि मुक्ति में प्रतिबन्धन जो प्रारब्ध कर्म हैं उनका भोग अभी तक शेष है, इसलिये संचित कर्मों का अश्लेष विनाश होने पर भी प्रतिबन्धक के बने रहने से जैसे मुक्ति नहीं होती वैसे ही शरीर भी नष्ट नहीं होसक्ता।

सं०—अब ज्ञानोत्पत्ति के लिये अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिक कर्मों की अवश्यकर्तव्यता कथन करते हैं:—

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैवतद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

पद०—अग्निहोत्रादि। तु। तत्कार्याय। एव। तद्दर्शनात्।

पदा०—(एव) निश्चयकरके (अग्निहोत्रादिं) अग्निहोत्रादि

नित्यनैमित्तिक कर्म (तत्कार्याय) ज्ञानोत्पत्ति के लिये आवश्य कर्तव्य हैं (तु) क्योंकि (तद्दर्शनात्) श्रुति वाक्यों से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य–"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" बृहदा० ४। ४। २२=ब्राह्मण लोग उस परमात्मा को यज्ञ, दान तथा वेदाभ्यास से जानने की इच्छा करते हैं, इत्यादि वाक्यों में स्पष्टतया कथन किया है कि अग्निहोत्रादि कर्म ज्ञान की उत्पत्ति का साधन हैं, और इसी भाव को गीता के कई स्थलों में स्पष्टतया वर्णन किया है कि "यज्ञ दान तपःकर्म न त्याज्यं कार्य्यमेवतत्"=गी० १८।५=यज्ञ दानादि कर्मों का कदापि त्याग न करे यह करने ही उचित हैं, इसी प्रकार "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" यजु० ४०। २ इत्यादि मन्त्रों में यावदायुष कर्मों की कर्तव्यता पाई जाती है, इससे सिद्ध है कि ज्ञानोत्पत्ति के लिये अग्निहोत्रादि कर्म अवश्य कर्तव्य हैं त्याज्य नहीं।

सं०–अब उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हैं:—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥१७॥

पद०–अतः। अन्या। अपि। हि। एकेषां। उभयोः।

पदा०–(अतः) पूर्वोक्त प्रकार से (अन्या) और युक्ति (अपि) भी (एकेषां) कई एक आचार्य्य उक्त अर्थ में कथन करते हैं और वह (हि) निश्चय करके (उभयोः) जैमिनि तथा बादरायण दोनों को अभिमत है।

भाष्य–कई एक आचार्य्यों का कथन है कि जैसे अग्निहोत्रादि कर्म ज्ञान से पूर्व किये हुए ज्ञानोत्पत्ति का साधन हैं वैसे ही ज्ञान से पश्चात् किये हुए भी मुक्ति का साधन होते हैं, क्योंकि जो ज्ञान को सिद्ध करसक्ते हैं वह ज्ञान से सिद्ध होने वाली मुक्ति को भी सिद्ध करसक्ते हैं, और यह बात बादरायण तथा उनके शिष्य जैमिनि दोनों को इष्ट है ।

सं०–अब और युक्ति कथन करते हैंः—

यदेवविद्ययेति हि ॥१८॥

पद०–यत् । एव । विद्यया । इति । हि ।

पदा०–(यत्) जो कर्म (विद्यया) विद्या से किये जाते हैं (एव) निश्चयकरके वही फल वाले होते हैं (इति) वह फल (हि) ही मुक्ति है ।

भाष्य–एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमांशृणु ।
बुद्ध्यायुक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥
गी० २ । ३९

अर्थ–यह मैंने तुम्हारी बुद्धि सांख्य=ज्ञानविषय में कही और योग विषय में इस बुद्धि को सुनो जिसको मैं आगे कथन करता हूं जिससे युक्त होकर हे पार्थ ! तुम कर्म के बन्धन से छूट जाओगे, इस श्लोक में ज्ञान से कर्मों को बड़ा कथन किया है, यदि ज्ञान ही कर्मों से बढ़कर मुक्ति का साधन होता तो ज्ञान को कर्मों से ऊपर रखना चाहिये था परन्तु यहां गीता के कर्त्ता

व्यासजी को यह अभीष्ट न था और होता भी कैसे जबकि अनुभव से सिद्ध है कि जो ज्ञानपूर्वक कर्म किये जाते हैं वही सफल होते हैं अन्य नहीं, इससे यह भी स्पष्ट होगया कि वाक्य जन्य ज्ञान जैसाकि मायावादी मानते हैं कि " तत्त्वमसि " के कथन मेंही पुरुष मुक्त होजाता है यह मुक्ति का साधन नहीं, अनुष्ठान प्रधान ज्ञान ही मुक्ति का साधन है और अनुष्ठान ज्ञान से अनन्तर ही होता है, जैसाकि छान्दों० १।१।१० में वर्णन किया है कि " यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवाति"=जो कर्म विद्या श्रद्धा तथा ज्ञान से कियेजाते हैं वही फलवाले होते हैं, इससे सिद्ध है कि ब्रह्मज्ञान के लिये श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की अवश्यकता है और वह नित्य नैमित्तिक कर्मों में दृढ़ रहने से बिना नहीं होसकते, अतएव कहा है कि "स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषंब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" छां०७।१५।१= इसी प्रकार यावदायुष कर्म करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इससे सिद्ध है कि ब्रह्मज्ञानी को भी मुक्ति के लिये कर्म कर्तव्य हैं।

सं०—अब प्रारब्ध कर्मों के भोगानन्तर मुक्ति का कथन करते हैं:—

भोगेनत्वितरेक्षपयित्वा सम्पद्यते ॥१९॥

पद०—भोगेन। तु। इतरे। क्षपयित्वा। सम्पद्यते।

पदा०-"तु" पक्षान्तर के लिये आया है, पुरुष (भोगेन) भोग से (इतरे) पुण्य पापरूप दोनों प्रारब्ध कर्मों का (क्षपयित्वा) नाश करके (सम्पद्यते) ब्रह्म को प्राप्त होता है।

भाष्य-ब्रह्मज्ञान के अनन्तर वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करते रहने पर जब इसके प्रारब्धकर्म शेष नहीं रहते तब वह इस भौतिक शरीर को छोड़कर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है और ब्रह्म-प्राप्ति का नाम ही मुक्ति है॥

इति प्रथमः पादः समाप्तः

अथ द्वितीयः पादः प्रारभ्यते

सं०-अब विद्वान् तथा अविद्वान् की उत्क्रान्ति का भेद वर्णन करने के लिये इस पाद का प्रारम्भ करते हुए प्रथम वागादि इन्द्रियवृत्तियों का लय कथन करते हैं:—

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

पद०-वाक्। मनसि। दर्शनात्। शब्दात्। च।

पदा०-(वाक्) वाणी का (मनसि) मन में लय होजाता है, क्योंकि (दर्शनात्) मृत्युकाल में ऐसा ही देखा जाता (च) और (शब्दात्) श्रुति से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-जब पुरुष आसन्नमृत्यु होता है तो सब से प्रथम उसका वागिन्द्रिय भाषणरूप व्यापार से निवृत्त होजाता है जिस

को देखकर उसके सम्बन्धिवर्ग कहते हैं कि अब यह बोलने में असमर्थ है, इससे सिद्ध है कि आसन्नमृत्यु पुरुष के वागिन्द्रिय की वृत्ति मन में लय होजाती है, क्योंकि मन ही सब इन्द्रियों में प्रधान तथा उनकी विषयों में होने वाली प्रवृत्तियों का सहकारी है, और श्रुति से भी उसका मन में लय होना पायाजाता है, जैसाकि :—

अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्
मनसि सम्पद्यते मनःप्राणे प्राण-
स्तेजसि तेजःपरस्यां देवतायाम् ।

छां० ६ । ८ । ६

अर्थ—हे सोम्य ! जब पुरुष मृत्यु को प्राप्त होने लगता है तब वागिन्द्रिय का मन में, मन का प्राण में, प्राण का तेज में और तेज का परदेवता=ब्रह्म में लय होजाता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि मन ही वागिन्द्रिय के लय का स्थान है ।

सं०—अब वाणी के अनन्तर शेष इन्द्रियवृत्तियों का मन में लय कथन करते हैं :—

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

पद०—अतः । एव । सर्वाणि । अनु ।

पदा०—(अतः) उक्त हेतुओं से (सर्वाणि) सब इन्द्रिय वृत्तियों का (अनु) वाणी के पीछे (एव) निश्चयकरके मन ही में लय होता है ।

भाष्य—"तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैः

मनसि सम्पद्यमानैः" प्रश्न० ३।९=जब मनुष्य के शरीर की उष्णता शान्त होजाती है तब वह मन में लय हुए इन्द्रियों के साथ पुनर्जन्म=शरीरान्तर को प्राप्त होता है, इससे सिद्ध है कि उत्तरोत्तर लयभाव को प्राप्त हुई सब इन्द्रियवृत्तियों का मन ही में लय होता है और वाणी का पृथक् लय कथन करना केवल छां० ६।८।६ वाक्य के अनुरोध से जानना चाहिये।

सं०-अब मन का प्राण में लय कथन करते हैं:—

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

पद०-तत्। मनः। प्राणे। उत्तरात्।

पदा०-(तत्, मनः) उस मन का (प्राणे) प्राण में लय होता है, क्योंकि (उत्तरात्) उत्तर वाक्यों से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-"मनः प्राणे०" छां० ६।८।६=मन का प्राण में लय होता है, इस वाक्यशेष से स्पष्ट है कि जिस मन में वागादि सब इन्द्रियवृत्तियों का लय कथन कियागया है उसका लय मुख्यप्राण में होता है, क्योंकि प्राण के विना मन की स्थिति नहीं होसक्ती, जैसाकि बृहदारण्यक के शाकल ब्राह्मण में स्पष्ट है जिसका विस्तारपूर्वक निरूपण "उपनिषदार्य्यभाष्य" के द्वितीयभाग में कियेजाने से यहां पुनरुल्लेख की आवश्यकता नहीं।

सं०-अब प्राण का आत्मा में लय कथन करते हैं:—

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४॥

पद०-सः। अध्यक्षे। तदुपगमादिभ्यः।

पदा०-(सः) प्राण का (अध्यक्षे) आत्मा में लय होता है क्योंकि (तदुपगमादिभ्यः) उक्त अर्थ के बोधक वाक्यों से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-" एवमेवात्मानमन्तकाले सर्वेप्राणा अभिसमायन्ति " बृहदा० ४। ३। ३८=मृत्युकाल में वागादि इन्द्रियों के लय की भांति सब प्राण जीवात्मा में लयभाव को प्राप्त होजाते हैं, इत्यादि प्राणलयप्रतिपादक वाक्यों से सिद्ध है कि जिसमें मन का लय होचुका है ऐसे प्राण का जीवात्मा में लय होता है अर्थात् जब जीव शरीर का परित्याग करता है तब प्राण भी उसके पीछे निकलजाते हैं और उनके निकलने से शरीर शवरूप हुआ अत्यन्त घृणास्पद होजाता है।

सं०-ननु, बृहदा०६।८।६ में प्राण का तेज में लय होना कथन किया है जीवात्मा में नहीं ? उत्तरः—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥५॥

पद०-भूतेषु। तच्छ्रुतेः।

पदा०-(भूतेषु) सूक्ष्म भूतों में (तच्छ्रुतेः) प्राणसहित जीव का लय पाये जाने से उक्त अर्थ में कोई विरोध नहीं।

भाष्य-" प्राणस्तेजसि " बृहदा० ६। ८। ६ इस वाक्य द्वारा जो प्राणका तेज में लय कथन किया है उसका जीव

में लय कथन करने वाले पूर्वसूत्रस्थ विषयवाक्य के साथ इसलिये विरोध नहीं कि देह के बीजभूत सूक्ष्मभूतों में प्राणविशिष्ट जीव का लय होना अभिप्रेत है अर्थात् जिन सूक्ष्मभूतों से जीव के भावीदेह का आरम्भ होना है उनके साथ मिलकर ही जीव की परलोकयात्रा सिद्ध होती है अन्यथा नहीं, जैसाकि "तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहतिसम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" ब्र० सू० ३। १। १ में वर्णन कर आये हैं, इसलिये जीव के सम्बन्ध द्वारा प्राण का तेज में लय होना न समझकर वादी का उक्तआक्षेप ठीक नहीं।

सं०—ननु, उक्त विषयवाक्य द्वारा केवल तेज में लय कथन किया है सब भूतों में नहीं ? उत्तरः—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥६॥

पद०—न। एकस्मिन्। दर्शयतः। हि।

पदा०—(एकस्मिन्) एक भूत में स्थिर होकर जीवात्मा की शरीरान्तरप्राप्ति (न) नहीं होसक्ती (हि) क्योंकि (दर्शयतः) श्रुति स्मृति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—मृत्युकाल में केवल तेजोमात्रा से वेष्टित होकर जीव का परलोक गमन मानना इसलिये ठीक नहीं कि एक भूत में उसके भावी शरीरसम्बन्धी अवयवों के उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं, इसी अभिप्राय से बृहदा० ४। ४। ५ में वर्णन किया है कि 'पृथिवीमय आपोमयोवायुमय आकाशमयस्तेजोमय'=

मृत्युकाल में जीवात्मा पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय होता है अर्थात् पृथिव्यादि पांच भूतों से वेष्टित हुआ परलोक गमन करता है, यदि उत्क्रान्तिकाल में एक तेज ही जीवात्मा की स्थिति का आधार होता तो उसको कदापि पृथिवी मय आदि शब्दों से व्यवहृत न किया जाता पर किया है, इससे सिद्ध है कि स्थूल शरीर का त्याग करने के अनन्तर जीवात्मा की स्थिति पृथिव्यादि पांच सूक्ष्मभूतों में होती है किसी एक में नहीं, और स्मृति भी इसी अर्थ को प्रतिपादन करती है कि:—

अण्व्योमात्रा विनाशिन्यो दशार्धानान्तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः ॥

मनु० १।२७

अर्थ—सब चराचर प्राणियों के शरीर और उनके भोग्य पदार्थ पांच भूतों की सूक्ष्ममात्राओं से उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार पांच भूतों में जीवात्मा की स्थिति कथन करने से स्पष्ट है कि उनके साथ मिलकर ही मुख्यप्राण तेज में लयभाव को प्राप्त होता है केवल नहीं।

सं०—अब विद्वान् तथा अविद्वान् की उत्क्रान्ति का भेद स्पष्टतया प्रतिपादन करने के लिये "आसृत्युपक्रमाधिकरण" का प्रारम्भ करते हैं:—

समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य ।७।

पद०—समाना । च । आसृत्युपक्रमात् । अमृतत्वं । च । अनुपोष्य ।

पदा०—(च) निश्चयकरके (आसृत्युपक्रमात्) नाडीप्रवेश से पूर्व विद्वान् तथा अविद्वान् की उत्क्रान्ति (समाना) समान है (च) और (अनुपोष्य) सूक्ष्म शरीर का त्याग न करके विद्वान् को (अमृतत्वं) अमृतभाव की प्राप्ति होती है।

भाष्य—शतञ्चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" कठ० २। १६

अर्थ—हृदयगत एकसौएक नाडियां हैं उनमें से जो एक नाडी मूर्द्धदेश को प्राप्त है उसी के द्वारा विद्वान् पुरुष उत्क्रमण करता हुआ अमृत को प्राप्त होता है और शेष नाडियों से अविद्वानों का उत्क्रमण होता है जो नाना प्रकार की योनियों को प्राप्त होते हैं, इत्यादि इस अधिकरण के विषय वाक्य हैं, यहां यह सन्देह होता है कि पूर्व अधिकरणों में प्रतिपादन कीहुई उत्क्रान्ति ज्ञानी तथा अज्ञानी के लिये समान है अथवा दोनों की उत्क्रान्ति का परस्पर भेद है? इसमें पूर्वपक्षी का कथन है कि "तयोर्ध्वमायन्न मृतत्वमेति"=सुषुम्णा नाडी द्वारा उत्क्रमण करता हुआ ज्ञानी पुरुष अमृत को प्राप्त होता है, इस कथन से स्पष्ट है कि शेष नाडियों द्वारा उत्क्रमण करने वाले अज्ञानी पुरुष अमृतभाव को प्राप्त नहीं होते प्रत्युत "विष्वङ्ङन्या" पद से उनका पुनः २ जन्म धारण करना पायाजाता है, इसलिये ज्ञानी तथा अज्ञानी पुरुषों की उत्क्रान्ति

का सर्वथा भेद मानना ही ठीक है ? इसका उत्तर यह है कि "विदुषोऽप्यासृत्युपक्रमात् = आगत्युपक्रमात् नाडीप्रवेशात्प्रागुत्क्रान्तिः समाना "=नाडीप्रवेश से पूर्व २ विद्वान् तथा अविद्वान् पुरुष की उत्क्रान्ति का कोई भेद नहीं परन्तु सर्वांश में उनकी सदृशता इसलिये नहीं कि विद्वान् पुरुष देहत्यागोत्तर काल में अमृतपद को और अज्ञानी नाना प्रकार की कर्मयोनियों को प्राप्त होते हैं, या यों कहोकि शरीर त्याग काल में सब से प्रथम इन्द्रियों का मन में लय होकर फिर इन्द्रिय सहित मन का प्राण में, इन्द्रिय तथा मन सहित प्राण का जीवात्मा में और जीवात्मा का सूक्ष्म भूतों में लय होना आदि ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों की उत्क्रान्ति में समान है परन्तु इसके अनन्तर भिन्न २ नाडीयों द्वारा निर्गमन करके तत्ववेत्ता लिङ्ग शरीर सहित देवयान मार्ग को प्राप्त होकर अमृतपद का भागी होता है और अज्ञानी अमृतलाभ के बिना ही घटीयन्त्रवत् पुनः २ संसार में भ्रमण करता रहता है, इस प्रकार देहत्यागोत्तर मार्गभेद द्वारा उत्क्रान्ति का भेद होने पर भी आंशिक समता मानना ही ठीक है ।

सं०—अब मुक्त पुरुष की अमृतपद से पुनरावृत्ति कथन करते हैं:—

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

पद०—तत् । आपीतेः । संसारव्यपदेशात् ।

पदा०—(आपीतेः) ब्रह्म में लय पर्यन्त ही (तत्) अमृत-

पद की स्थिति है, क्योंकि (संसारव्यपदेशात्) मुक्त पुरुष का पुनः संसार में आना पायाजाता है।

भाष्य- योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥
कठ० ५ । ७

अर्थ-कई एक जीव शरीर धारण करने के लिये योनि को प्राप्त होते हैं अर्थात् योनिद्वारा जन्म धारण करते हैं और दूसरे पूर्वकृत कर्मानुसार स्वेदज, उद्भिज्जादि योनियों को प्राप्त होते हैं, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि नियत समय पर्य्यन्त मुक्ति के सुख को भोगकर जीव पुनः संसार को प्राप्त होते हैं।

सं०-ननु, देहत्याग काल में जीव के निकलने का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? उत्तर :—

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

पद०-सूक्ष्मं । प्रमाणतः । च । तथा । उपलब्धेः ।

पदा०-(च) निश्चयकरके जीवात्मा का आतिवाहिक शरीर (प्रमाणतः) स्वरूप से (सूक्ष्मं) सूक्ष्म है, क्योंकि (उपलब्धेः) उसकी उपलब्धि (तथा) वैसे ही पाईजाती है ।

भाष्य-नाडी छिद्रों द्वारा निर्गमन करते हुए जीव का प्रत्यक्ष इसलिये नहीं होता कि प्रथम तो जीवात्मा का अणु परिमाण है, जैसाकि द्वितीयाध्याय के तृतीयपाद में स्पष्ट कर आये हैं, और दूसरी बात यह है कि जिन भूतों मे वेष्टित हुआ जीव प्रयाण करता है वह सूक्ष्म हैं और सूक्ष्म होने के कारण द्व्यणुकादि पदार्थों

की भांति समीपवर्ती पुरुषों को उसकी उपलब्धि नहीं होसक्ती परन्तु अनुमान द्वारा उसकी उपलब्धि में कोई बाधा नहीं ॥

सं०-अब दो सूत्रों से लिङ्गशरीर विषयक अन्य विचार करते हैंः-

नोपमर्द्देनातः ॥ १० ॥

पद०-न । उपमर्द्देन । अतः ।

पदा०-(अतः) सूक्ष्म होने के कारण (उपमर्द्देन) स्थूल शरीर के नाश से लिङ्गशरीर का नाश (न) नहीं होता ।

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

पद०-अस्य । एव । च । उपपत्तेः । एषः । ऊष्मा ।

पदा०-(च) और (एव) निश्चयकरके (एषः) प्रत्यक्ष उपलभ्यमान (ऊष्मा) स्थूलशरीरगत उष्णता (अस्य) इसी लिङ्गशरीर की है, क्योंकि (उपपत्तेः) प्रमाण से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य-"उष्ण एव जीविष्यन् शीतोमरिष्यन्" शत० ८ । ७ । २ । ११=जीवन काल पर्य्यन्त शरीर में उष्णता बनी रहती है परन्तु प्राणों का वियोग होते ही शरीर शीतल हो जाताहै, इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि इसी लिङ्गशरीरवर्त्ती तेज के सम्बन्ध से स्थूलशरीर में उष्णता प्रतीत होती है, यदि स्थूल शरीर स्वयं ऊष्मासंयुक्त होता तो मरणानन्तर भी उसमें अवश्य उष्णता उपलब्ध होती पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि स्थूल-शरीरगत उष्णता का हेतु सूक्ष्म शरीर है स्थूल शरीर नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:—

प्रतिषेधादितिचेन्न शारीरात् ॥१२॥

पद०—प्रतिषेधात् । इति । चेत् । न । शारीरात् ।

पदा०—(प्रतिषेधात्) प्राणों की उत्क्रान्ति का निषेध पाये जाने से विद्वान् पुरुष के सूक्ष्म शरीर का उत्क्रमण नहीं होता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि निषेधक वाक्य (शारीरात्) जीव से प्राणों के उत्क्रमण का निषेध करते हैं ।

भाष्य—" न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति " बृहदा० ४। ४। ६=ब्रह्मवेत्ता के प्राण नहीं निकलते, इत्यादि वाक्यों द्वारा विद्वान् पुरुष के प्राणों की उत्क्रान्ति का निषेध पाये जाने से अज्ञानी पुरुष की उत्क्रान्ति के समान विद्वान् की उत्क्रान्ति मानना ठीक नहीं ? इसका उत्तर यह है कि उक्त निषेधक वाक्यों द्वारा शरीर से प्राणोत्क्रान्ति का निषेध अभिमत नहीं किन्तु जीव से प्राणोत्क्रान्ति का निषेध किया गया है अर्थात् देवयान मार्गद्वारा अमृतपद को प्राप्त होने वाले ज्ञानी के प्राण लिङ्गशरीर से पृथक् नहीं होते यह उस वाक्य का तात्पर्य है, अतएव माध्यन्दिन शाखावालों के मत में " न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति के स्थान पर " न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति" यह पञ्चम्यन्त पाठ पढ़ा है, इसलिये स्थूल शरीर से प्राणों का उत्क्रमणमात्र दोनों का समान जानना चाहिये अर्थात् जैसे अज्ञानी के प्राण स्थूल

शरीर से निकलते हैं वैसे ही ज्ञानी के निकलते हैं, इसका विशेष विचार आगे ब्र० सू० ४।४।११ में किया गया है।

सं०-अब उक्त अर्थ में अन्य आचार्य्यों का मत कथन करते हैं:—

स्पष्टोह्येकेषाम् ॥ १३॥

पद०-स्पष्टः। हि। एकेषाम्।

पदा०-(हि) निश्चयकरके (एकेषां) कई एक आचार्य्यों के मत में (स्पष्टः) स्थूल शरीर से प्राणों का उत्क्रमण स्पष्ट है।

भाष्य-" चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीर देशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति " बृहदा० ४।४।२

अर्थ-चक्षु, मूर्धा अथवा शरीर के अन्य अवयवों द्वारा निकलते हुए जीव के पीछे प्राण निकल जाते हैं और प्राणों के निकलने पर सब इन्द्रिय उनके साथ ही उत्क्रमण कर जाते हैं, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि प्राणों का स्थूल शरीर से उत्क्रमण होता है लिङ्गशरीर से नहीं।

स्मर्य्यते च ॥ १४॥

पद०-स्मर्य्यते। च।

पदा०-(च) और (स्मर्यते) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-यदाणुमात्रिकोभूत्वाबीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्त्तिं विमुञ्चति ॥
मनु० १। ५६

अर्थ—जब जीवात्मा स्वकर्मानुसार-चराचर शरीरों में प्रवेश करने के लिये अणुमात्रिक होता है अर्थात् भूतेन्द्रियादि आठ प्रकार के सूक्ष्म तत्त्वों से संयुक्त हुआ स्थूल शरीर का परित्याग कर देता है, या यों कहो कि पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण और मन, बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों से मिलकर जीव परलोक यात्रा करता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि स्थूल शरीर से प्राणों का गमन होता है।

सं०—अब प्राण शब्द वाच्य इन्द्रियों का ब्रह्म में लय कथन करते हैं:—

तानिपरे तथाह्याह ॥ १५ ॥

पद०—तानि। परे। तथा। हि। आह।

पदा०—(तानि) उक्त प्राणों का (परे) ब्रह्म में लय होता है (हि) क्योंकि (तथा, आह) श्रुति वाक्यों से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः स यथेमा नद्यःस्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तंगच्छन्ति" प्रश्न० ६। ५=जिस प्रकार नदियें समुद्र को प्राप्त होकर उनमें लय होजाती हैं इसी प्रकार विद्वान् पुरुष के पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण और अन्तःकरण यह सब मिलकर षोडशकला ब्रह्म में लय होजाती हैं अर्थात् जबतक मुक्त पुरुष मुक्ति के सुख को भोगता है तब तक उसका उक्त कलाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता वह अपने स्वरूपभूत सामर्थ्य

से ही शब्दादि विषयों का अनुभव करता हुआ स्वच्छन्द विचरता है।

सं०—ननु, इन्द्रियादि जड़ पदार्थ ब्रह्म में लय होने से ब्रह्मरूप होजाते हैं अथवा भिन्न रहते हैं? उत्तर :—

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

पद०—अविभागः। वचनात्।

पदा०—(अविभागः) इन्द्रियादि जड़ पदार्थों का ब्रह्म के साथ अविभाग होता है, क्योंकि (वचनात्) श्रुति वाक्यों से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य—"भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते" प्रश्न० ६। ५=जब ब्रह्म में लय होकर उक्त षोडशकलाओं के नामरूप दूर होजाते हैं तब उनकी पुरुषसंज्ञा होती है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि प्रलयकाल में इन्द्रियादि सब पदार्थ सूक्ष्मरूप से अविभक्त होकर ब्रह्म के आश्रित रहते हैं उनका सर्वथा ब्रह्मरूप होजाना अभिप्रेत नहीं, क्योंकि चेतन ब्रह्म किसी पदार्थ का उपादान कारण नहीं, जैसाकि पीछे "आरम्भणाधिकरण" में स्पष्ट कर आये हैं, इसलिये उनको सूक्ष्मरूप से ब्रह्माश्रित मानना ही ठीक है।

सं०—अब उपासक पुरुष की उत्क्रान्ति में विशेषता कथन करते हैं :—

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृति-

योगाच्च हार्दानुगृहीतः शता-धिकया ॥ १७ ॥

पद०-तदोकोग्रज्वलनं। तत्प्रकाशितद्वारः। विद्यासामर्थ्यात्। तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्। च। हार्दानुगृहीतः। शताधिकया।

पदा०-(विद्यासामर्थ्यात्) ब्रह्मविद्या के सामर्थ्य (च) और (तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्)ब्रह्मप्राप्ति के स्मृतियोग से (तत्प्र-काशितद्वारः) जिसके लिये मोक्षमार्ग का द्वार प्रकाशित होगया है और (हार्दानुगृहीतः) जिसपर परमात्मा की पूर्णतया कृपा है वह (तदोकोग्रज्वलनं) शुद्ध हृदयरूप आयतन वाला उपासक पुरुष (शताधिकया) सुषुम्णा नाडीद्वारा उत्क्रमण करता है।

भाष्य-जब देहत्याग काल में योगी को ब्रह्मविद्या के बल से ब्रह्मप्राप्ति की स्मृति होती है तब वह उपासना के प्रबल संस्कारों द्वारा परमात्मा का चिन्तन करता हुआ प्रार्थना करता है कि:—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

यजु० ४०। १५

अर्थ-हे परमात्मन्! वित्तैषणादि मोहरूप पात्र से जो आपका सत्यस्वरूप ढ़का हुआ है उसको खोलदें ताकि मैं सत्यधर्म के लाभार्थ आपका दर्शन करसकूं, इसप्रकार प्रार्थना करते हुए जिसके हृदय से सब प्रकार की विषयवासना निवृत्त होगई हैं

वह उपासक परमात्मा की कृपा से सुषुम्णा नाड़ी द्वारा उत्क्रमण करता हुआ शरीर का परित्याग करता है और फिर वह प्राकृत पुरुषों की भांति पुनः २ जन्म मरण को प्राप्त नहीं होता, इसी अभिप्राय से छां० ८। ६। ६ में वर्णन किया है कि:—

शतञ्चैकाहृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभि निःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥

अर्थ—हृदय की एकसौएक नाडीयें हैं जिनमें से एक नाडी मूर्द्धादेश की ओर निकली हुई है इसी नाडी द्वारा उपासक उत्क्रमण करता हुआ अमृतपद को प्राप्त होता है और शेष विविधप्रकार की नाडीयें साधारण पुरुषों के उत्क्रमणार्थ हैं, इससे सिद्ध है कि उपासक पुरुष की उत्क्रान्ति साधारण पुरुषों के समान नहीं होती।

सं०—अब उत्क्रमण करने वाले जीव का सूर्य्य की किरणों के साथ सम्बन्ध कथन करते हैं:—

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

पद०—एकपद०

पदा०—(रश्म्यनुसारी) देहत्याग काल में जीव सूर्य्य की किरणों द्वारा उत्क्रमण करता है।

सं०—ननु, रात्रिकाल में मृत उपासक पुरुष का सूर्य्य की किरणों के साथ सम्बन्ध न होने से उसको मुक्ति की प्राप्ति

न होगी ? उत्तरः—

निशिनेतिचेन्न सम्बन्धस्य यावद्देह-भावित्वाद्दर्शयति ॥१९॥

पद०-निशि । न । इति । चेत् । न । सम्बन्धस्य । यावद्देहभावित्वात् । दर्शयति ।

पदा०-(निशि) रात्रि में मृत पुरुष का सूर्य्य के साथ सम्बन्ध (न) नहीं होता (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि (सम्बन्धस्य, यावद्देहभावित्वात्) सूर्य्य का सब शरीरों के साथ सम्बन्ध रहता है, और (दर्शयति) श्रुतिवाक्यों से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-रात्रिकाल में उत्क्रमण करने वाले उपासक पुरुषों को मुक्तिरूप फल की प्राप्ति नहीं होसक्ती, यह कथन इसलिये ठीक नहीं,कि सूक्ष्मरूप से सूर्य्य का सम्बन्ध सब शरीरों के साथ बना रहता है, जैसाकिः—

अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ताः ।
आभ्योनाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥
छां० ८ । ६ । २

अर्थ-वह किरणें उस आदित्य से चारो ओर विस्तीर्ण होकर इन नाडीयों में प्रविष्ट होतीं और नाडियों से निकलकर बाहिर शरीर में फैल जाती हैं और फिर उसी आदित्य में प्रविष्ट

होती हैं, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि रात्रिकाल में प्राण त्यागने वालों के साथ भी सूर्य्य की किरणों का सूक्ष्म सम्बन्ध बना रहता है, इसलिये उपासक की मुक्ति में कोई बाधा नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ का दक्षिणमार्ग में अतिदेश कथन करते हैं:—

अतश्चायनेऽपिदक्षिणे॥२०॥

पद०—अतः। च। अयने। अपि। दक्षिणे।

पदा०—(अतः) अतएव (दक्षिणे) दक्षिण (अयने) मार्ग-गत मृत उपासक के मुक्तिरूप फल में (अपि) भी कोई बाधा नहीं।

भाष्य—"च" अतिदेश के बोधनार्थ आया है, जिसप्रकार उपासक के दिन वा रात्रिकाल में उत्क्रमण करने पर मुक्तिरूप फल में विषमता नहीं होती इसी प्रकार दक्षिणमार्ग द्वारा प्रयाण करने पर भी तत्ववेत्ता को उक्त फल की प्राप्ति में कोई बाधा नहीं, और जो इतिहास द्वारा भीष्मपितामह का उत्तरायण में देहत्याग पाया जाता है वह केवल उत्तरायण तथा योगी की श्रेष्ठता बोधन करने के लिये है कि इस प्रकार योगी अपने योगबल से स्वच्छ-न्दमृत्यु होसक्ता है जिससे उसको किसी प्रकार का मृत्युभय नहीं रहता और नाही वह अज्ञानी पुरुषों के समान शीत उष्णादि द्वन्द्वों से दुःखी होता है।

सं०—अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हुए दोनो मार्गों में स्मृति प्रमाण कथन करते हैं:—

योगिनः प्रति स्मर्य्यते स्मार्त्ते चैते ॥२१॥

पद०—योगिनः । प्रति । स्मर्य्यते । स्मार्त्ते । च । एते ।

पदा०—(च) और (स्मार्त्ते) स्मृति के विषयभूत (एते) देवयान तथा पितृयाणरूप दो मार्ग (योगिनः, प्रति) योगी के लिये (स्मर्य्यते) कथन किये गये हैं ।

भाष्य—अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लःषण्मासाः उत्तरायणं।
तत्र प्रयातागच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः ॥
गी० ८ । २४

अर्थ—जिस अवस्था में अग्नि के समान ज्योतिः और दिन की भांति परमात्मा का यथार्थ प्रकाश होता है उस उत्तरायण मार्ग से उत्क्रमण करने वाला योगी ब्रह्म को प्राप्त होता है, इत्यादि स्मृति प्रतिपादित उत्तरायण तथा दक्षिणायन रूप दोनों मार्गों का प्रतिदिन योगी को स्मरण करना चाहिये जिससे उसके उत्क्रमण काल में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो अर्थात् देहत्याग काल में उक्त दोनों मार्गों का योगी ही यथावत् विचार करसक्ता है साधारण ज्ञानी नहीं, इसलिये ज्ञानी पुरुष की मृत्यु में दक्षिणायन तथा उत्तरायण मार्ग का कोई नियम नहीं ॥

इति द्वितीयःपादःसमाप्तः

अथ तृतीयः पादः प्रारभ्यते

सं०—अब देवयान तथा पितृयाण मार्ग का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के लिये इस पाद का प्रारम्भ करते हुए प्रथम उक्त दोनों मार्गों द्वारा विद्वान् की गति निरूपण करते हैं:—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

पद०—अर्चिरादिना। तत्प्रथितेः।

पदा०—(अर्चिरादिना) अग्न्यादि लोकों द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है, क्योंकि (तत्प्रथितेः) शास्त्र से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य—स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् " कौ० १। ३

अर्थ—उपासक पुरुष देवयानमार्ग का अवलम्बन करके अग्नि से वायु लोक को, वायु से वरुण लोक को, वरुण से इन्द्र लोक को, इन्द्र से प्रजापति लोक और प्रजापति लोक से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इस प्रकार अग्न्यादि लोकों की उत्तरोत्तर प्राप्ति द्वारा विद्वान् को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और इसी का नाम " देवयान " मार्ग है परन्तु यहां अग्न्यादि शब्दों से लोकविशेष अभिप्रेत नहीं जैसाकि पौराणिक लोग मानते हैं किन्तु "लोक्यत इति

लोकः "=जो अनुभव से प्राप्त हो उसका नाम" लोक "है, इस व्युत्पत्ति से "लोक" शब्द अवस्थाविशेष का वाचक है अर्थात् मुक्त पुरुष को ब्रह्मवत् अपहतपाप्मा होने के लिये प्रथम अग्नि के समान प्रकाशमान होना आवश्यक है, या यों कहो कि जबतक पापवासनाओं को भस्म करने वाली ज्ञानाग्नि प्रदीप्त न हो तब तक उपासक कदापि मुक्त नहीं होसक्ता, इसी अभिप्राय से देवयान मार्ग में प्रथम उसको "अग्निलोक" की प्राप्ति कथन कीगई है, अतएव सदसद् के विवेचन में वायु के समान शीघ्रगामी होने से "वायुलोक" सर्वश्रेष्ठ होने से "वरुणलोक" अणिमादि अष्टसिद्धिरूप ऐश्वर्य्यवाला होने से "इन्द्रलोक" और सबका स्वामी होने से "प्रजापतिलोक" की प्राप्ति का वर्णन कियागया है, और इसके अनन्तर निष्पाप होने से उपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति अवश्यंभावी है, इस रीति से अग्न्यादि लोकों को उपासक की अवस्थायें वर्णन किया है जिसके मर्म को न समझकर आधुनिक लोगों ने लोकलोकान्तरों की कल्पना करली है जो युक्तियुक्त न होने से आदरणीय नहीं, उक्त अर्थ में प्रमाण यह है कि :—

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा
पितृलोके, यथाप्सु परीव दृश्यते तथा
गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥
कठ० ६ । ५

अर्थ—जिसप्रकार दर्पण में पदार्थ की स्पष्ट प्रतीति होती है, इसी प्रकार शुद्धान्तःकरण वाले पुरुषों को परमात्मा की निर्भ्रान्त प्रतीति होती है, और जैसे स्वप्नावस्था में जाग्रत संस्कारों के बल से पदार्थ अन्यथा प्रतीत होते हैं वैसे ही केवल कर्मी लोगों की दशा में परमात्मा का यथार्थ अनुभव नहीं होता, और जिसप्रकार जलों में चारो ओर अवयव दीखते हुए भी दर्पणवत् स्पष्ट उपलब्ध नहीं होते इसी प्रकार रसिक लोगों को परमात्मा का ज्ञान आभासमात्र होता है परन्तु ब्रह्मज्ञानियों को ज्ञान की अवस्था में छाया तथा धूप के समान परमात्मा का ज्ञान यथावस्थित बनारहता है, इत्यादि वाक्यों में "लोक" शब्द से अवस्थाविशेष का ग्रहण है, यदि "लोक" पद अवस्थाविशेष का वाचक न होता तो "पितृलोक" पद से कर्मी लोगों की कर्मानुष्ठानरूप दशा का वर्णन न कियाजाता और नाही "गन्धर्वपद" से रसिक पुरुषों की अवस्था का ग्रहण होता, इससे सिद्ध है कि अवस्थाविशेष के वाचक पितृलोकादि पदों की भांति प्रकृत में अग्निलोकादि पद भी उपासक पुरुष की उत्तरोत्तर होने वाली भिन्न २ अवस्थाओं को बोधन करते हैं देशविशेष को नहीं, और बात यह है कि स्वा० शङ्कराचार्य्य जी स्वयं कई एक स्थलों में "ब्रह्मैवलोकः ब्रह्मलोकः" इस प्रकार "ब्रह्मलोक" पद की व्युत्पत्ति करते हुए "लोक" पद से अवस्थाविशेष का ग्रहण करते हैं कि ब्रह्म की प्राप्ति का नाम ही "ब्रह्मोलक" है देशविशेष का नाम नहीं, फिर न

जाने ऐसे स्थलों में उक्त प्रक्रिया का परित्याग करके लोकविशेष की कल्पना क्यों कीगई है, इस प्रकार अवस्थाविशेष का वाचक "लोक" पद अन्यत्र भी कई एक स्थलों में आया है जिसका यहां उल्लेख ग्रन्थगौरवभय से नहीं किया जाता, विशेषाभिलाषी "उपनिषदार्य्यभाष्य" में देखलें।

सं०—ननु, उक्त कौषीतकी वाक्य में अग्नि के अनन्तर वायु को क्यों कथन किया गया है ? उत्तरः—

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥२॥

पद०—वायुम् । अब्दात् । अविशेषविशेषाभ्याम् ।

पदा०—(अविशेषविशेषाभ्यां) साधारण और विशेष तर्क पाये जाने से (अब्दात्) अग्नि के अनन्तर (वायुं) वायु का कथन है ।

भाष्य—जिसप्रकार भौतिक वा वैद्युत अथवा सूर्य्य सम्बन्धी प्रकाश के अनन्तर ही गति होती है और लोक में उसका मुख्य निमित्त अग्नि ही देखी जाती है, क्योंकि अग्निसम्बन्ध के बिना किसी पदार्थ में गमनादि क्रिया नहीं होसक्ती, इसी प्रकार ज्ञानरूप अग्निलोक के अनन्तर सदसद्विवेचन में शीघ्र बुद्धि होने से उक्त वाक्य में वायुलोक की प्राप्ति का कथन किया है ।

स्मरण रहे कि यद्यपि "अब्द" शब्द वर्षरूप अर्थ का वाचक है अनन्तर अर्थ का नहीं तथापि जैसे परम्परासम्बन्ध से "द्विरेफ" पद भ्रमर का वाचक है वैसे ही "अब्द" पद लक्षणावृत्तिद्वारा

आनन्तर्य्यरूप अर्थ का बोधक है, क्योंकि अग्निपुञ्जरूप सूर्य्य की गति से ही मास वर्षादि कालविशेष की कल्पना होती है ॥

सं०—अब वायु के अनन्तर वरुणलोक का प्रयोजन कथन करते हैं:—

तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

पद०—तडितः। अधि। वरुणः। सम्बन्धात्।

पदा०—(सम्बन्धात्) सम्बन्ध पाये जाने से (तडितः) वायु के (अधि) अनन्तर (वरुणः) वरुण लोक का कथन है।

भाष्य—"ताडयति मिथ्याज्ञानमिति तडित् वायुः"= जिस अवस्था में मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो उसका नाम "वायु" है, और मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के अनन्तर ही श्रेष्ठता का लाभ होता है,इस प्रकार मिथ्याज्ञान की निवृत्तिरूप दशा तथा श्रेष्ठता का परस्पर कार्यकारणभाव सम्बन्ध बोधन करने के लिये वायु के अनन्तर "वरुणलोक" की प्राप्ति जाननी चाहिये।

ननु—विद्युत् रूप अर्थ को छोड़कर "तडित्" शब्द का उक्त अर्थ होने में क्या प्रमाण ? उत्तर—"आकाशस्तल्लिङ्गात्" ब्र०सू० १।१।२२ "अतएव प्राणः" ब्र०सू० १।१। २३ "शन्नोमित्रः शं वरुणः" यजु० ३६।९ इत्यादि वाक्यों में जिसप्रकार आकाश, प्राण, मित्र तथा वरुण आदि पदों से परमात्मा का ग्रहण किया जाता है इसी प्रकार प्रकृत में यौगिक शक्ति द्वारा "तडित्" पद से प्रसिद्ध बिजुलीरूप अर्थ को छोड़कर

तत्त्ववेत्ता की अवस्थाविशेष का ग्रहण किया गया है, इसलिये उक्त अर्थ में कोई बाधा नहीं ।

सं०-अब अग्नि आदि लोकों की शास्त्रसिद्ध संज्ञा कथन करते हैं:—

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥४॥

पद०-आतिवाहिकाः । तल्लिङ्गात् ।

पदा०-(आतिवाहिकाः) अग्न्यादि लोक उपासक के आतिवाहिक हैं, क्योंकि (तल्लिङ्गात्)शास्त्र से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-अर्चिरादि मार्गद्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होने वाले जीवों की अग्निलोकादि अवस्थायें शास्त्रसिद्ध होने के कारण "आतिवाहिक" कहाती हैं, क्योंकि इन्हीं अवस्थाओं के उत्तरोत्तर लाभ से जीव मोक्षपद को प्राप्त होता है और यही अवस्थायें लिङ्गशरीर की भांति मुक्त पुरुष के दिव्यशरीर कहाते हैं,जैसाकि प्रथम सूत्र के भाष्य में प्रमाण द्वारा स्पष्ट कर आये हैं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥५॥

पद०-उभयव्यामोहात् । तत्सिद्धेः ।

पदा०-(उभयव्यामोहात्) कर्मी तथा ज्ञानी दोनों के लिये अग्न्यादि लोकविशेषों की उपासना अज्ञानकरी होने से (तत्सिद्धेः) आतिवाहिक शरीर की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"अन्धं तमःप्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते । ततोभूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳬरता" यजु०४०।१२

अर्थ-प्रकृति की उपासना करने वाले अन्धकार को प्राप्त होते हैं और उनसे अधिक अन्धकार को वह प्राप्त होते हैं जो प्राकृत पदार्थों में उपासनाभाव से रत हैं, इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्रकृति के कार्य्यभूत लोक लोकान्तरों की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने वाले अज्ञानी होते हैं, इसलिये लोकलोकान्तरों की उपासना छोड़कर अग्न्यादि लोकों को जीव का आतिवाहिक दिव्यशरीर मानना ही ठीक है।

सं०-अब उक्त अर्थ को अन्य प्रकार से स्फुट करते हैं:—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥६॥

पद०-वैद्युतेन। एव। ततः। तच्छ्रुतेः।

पदा०-(ततः) शरीरत्याग के अनन्तर (वैद्युतेन) दिव्य शरीर के लाभ से (एव) ही पुरुष मुक्ति को प्राप्त होता है, क्योंकि (तच्छ्रुतेः) श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः" छां० ५।१०।२=चन्द्रलोक से विद्युत लोक को प्राप्त होकर फिर उस अवस्था से देवभाव को प्राप्त होता है, यही देवयान मार्ग है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि देहत्याग के अनन्तर मुक्त पुरुष अग्नि, वायु, वरुणादि दिव्य भावों से प्रदीप्त हुए शरीर द्वारा ब्रह्म के समान धर्मों को प्राप्त होता है।

सं०-ननु, "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" बृहदा०४।४।६=ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्मरूप होजाता है, इत्यादि वाक्यों में

ब्रह्मरूप होने का नाम मुक्ति है फिर कैसे कहा जाता है कि ब्रह्म के समान धर्मों को धारण करना ही मोक्ष है ? उत्तरः—

कार्य्यं बादरिरस्यगत्युपपत्तेः ॥ ७॥

पद०—कार्य्यं । बादरिः । अस्य । गत्युपपत्तेः ।

पदा०—(बादरिः) बादरि आचार्य्य मुक्ति को (कार्य्यं) कार्य्यरूप मानते हैं, क्योंकि ऐसा मानने से ही (अस्य) मुक्त पुरुष की (गत्युपपत्तेः) गति बनसक्ती है ।

भाष्य—बादरि आचार्य्य का कथन है कि "**ब्रह्माप्येति**" बृहदा० ४।४।६=ब्रह्म को प्राप्त होता है "**परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्**" मुं० ३।२।८=नामरूपात्मक प्रपञ्च से मुक्त हुआ विद्वान् प्रकृति से परे प्रकाशस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मप्राप्ति को मुक्ति प्रतिपादन किया है सर्वथा ब्रह्मरूप होजाना मुक्ति नहीं, और यह नियम है कि अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति होती है प्राप्त की नहीं, इस नियम के अनुसार यदि सर्वदा सर्वत्र प्राप्त ब्रह्म का नाम ही मुक्ति होता तो उक्त प्राप्ति का कदापि वर्णन न कियाजाता और नाही बृहदारण्यक वाक्य से ब्रह्म के समान धर्मों को धारण करके ब्रह्मरूप होजाना कहा जाता पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि शमदमादि साधन सम्पन्न होकर अप्राप्त ब्रह्म की प्राप्ति ही मुक्ति है और वह कर्मजन्य होने से कार्य्यरूप है जिससे नियतकाल पर्य्यन्त मुक्तिरूप

सुख को भोगकर मुक्त पुरुष पुनः संसार में जन्म धारण करते हैं, जैसाकि पीछे कई एक स्थलों में वर्णन कर आये हैं और आगे भी चतुर्थपाद में विस्तारपूर्वक वर्णन कियाजायगा, अतएव सिद्ध है कि कार्य्यरूपतया ब्रह्म सम्बन्धी धर्मों को धारण करना ही मुक्ति है स्वयं ब्रह्मरूप होजाना मुक्ति नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

पद०—विशेषितत्वात् । च ।

पदा०—(च) और (विशेषितत्वात्) विशेष कथन से भी मुक्ति का सादि होना पायाजाता है ।

भाष्य—" स एवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते " छां० ७ । १४ । २=इस प्रकार यावदायुष शमदमादि साधनों का आवर्त्तन करता हुआ मुमुक्षु पुरुष ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में विशेषरूप से मुक्ति को शमदमादि साधनोंका फल कथन किया है जिससे स्पष्ट है कि वह अनादि नित्य नहीं किन्तु सादि है ।

सं०—ननु, " ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति " इत्यादि वाक्यों में स्पष्टतया जीव ब्रह्म की एकता कथन करने से मुक्ति अनित्य नहीं होसकती ? उत्तर :—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥९॥

पद०-सामीप्यात् । तु । तद्व्यपदेशः ।

पदा०-(सामीप्यात्) ब्रह्म की समीपता से (तद्व्यपदेशः) ब्रह्मरूप होने का कथन है ।

भाष्य-" तु " शब्द आशंका की व्यावृत्ति के लिये आया है, जिसप्रकार राजा के अत्यन्त समीपवर्त्ती होने से मन्त्री को भी राजा कथन कियाजाता है इसी प्रकार ब्रह्म सम्बन्धी अपहत-पाप्मादि गुणों के धारण करने से मुक्त जीव ब्रह्म के अत्यन्त समीप होजाता है और समीप होने से ही उसको ब्रह्म कहाजाता है वस्तुतः ब्रह्मरूप होने में श्रुतिवाक्य का तात्पर्य्य नहीं, यदि ऐसा होता तो "ब्रह्मविदाप्नोति परं" तैत्ति०२।१। १=ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में भेदपूर्वक ब्रह्मप्राप्ति का निर्देश न किया जाता और नाही " ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ " श्वेता० १ । ९ में स्पष्टतया यह प्रतिपादन कियाजाता कि जीव तथा ब्रह्म दो चेतन हैं जिनमें से एक अज्ञानी और दूसरा सर्वज्ञ सबको वश में रखने वाला है, इससे सिद्ध है कि जिन वाक्यों में ब्रह्मवित् पुरुष का ब्रह्म से अभेद प्रतिपादन कियागया है उनका औपचारिक अभेद में तात्पर्य्य है, इसलिये दोनों का भेद मानना ही समीचीन है ।

सं०-ननु, ब्रह्मलोक आदि लोकों की प्राप्तिरूप मुक्ति में क्या दोष ? उत्तर :—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥१०॥

पद०-कार्यात्यये । तदध्यक्षेण । सह । अतः । परं । अभिधानात् ।

पदा०-(तदध्यक्षेण, सह) ब्रह्मलोकादि लोकों के स्वामी के साथ ही (कार्यात्यये) उक्त लोकों का नाश होने से लोकविशेष की प्राप्ति का नाम मुक्ति नहीं (अतः) इसलिये (परं) ब्रह्म की प्राप्ति ही मुक्ति है, क्योंकि (अभिधानात्) शास्त्र से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य-ब्रह्मादि लोकविशेषों के अधिष्ठाता देवों की उपासना द्वारा उन२ लोकों की प्राप्ति का नाम मुक्ति मानना इसलिये ठीक नहीं कि वह लोक प्रकृति का कार्य्य होने से अपने२ अधिष्ठातृ देवों के साथ नष्ट होजाते हैं और उनकी उपासना का निषेध भी पायाजाता है,जैसाकि पीछे "उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः" ब्र०सू०४।३।५के भाष्य में वेदमन्त्र द्वारा प्रतिपादन कर आये हैं, और दूसरी बात यह है कि " ब्रह्मविदाप्नोति परम् "तैत्ति० २।१।१इत्यादि वाक्यों में स्पष्टतया ब्रह्म की प्राप्ति को ही मुक्तिरूप से वर्णन किया गया है इसलिये लोकविशेष की कल्पना करके तदधिष्ठातृ देवों की उपासना द्वारा तत्तत् लोक की प्राप्तिरूप मुक्ति मानना निर्युक्तिक होने से आदरणीय नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में स्मृति प्रमाण कथन करते हैं :—

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

पद०—स्मृतेः । च ।

पदा०—(च) और (स्मृतेः) स्मृति से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्" मनु० १२ । १२२=स्वयंप्रकाश तथा एकाग्र बुद्धि से प्राप्त होने योग्य परमात्मा ही मुमुक्षु के लिये जानने योग्य है, इत्यादि स्मार्त्त वाक्य भी ब्रह्मप्राप्ति को ही मुक्ति कथन करते हैं लोक-विशेष की प्राप्ति को नहीं, इसलिये पौराणिकों की उक्त कल्पना ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में "जैमिनि" आचार्य्य का मत कथन करते हैं :—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥१२॥

पद०— परं । जैमिनिः । मुख्यत्वात् ।

पदा०—(मुख्यत्वात्) मुख्य होने से (परं) ब्रह्म का ही ग्रहण है (जैमिनिः) यह जैमिनि आचार्य्य का मत है ।

भाष्य—जैमिनि आचार्य्य का कथन है कि "स एतान्ब्रह्म गमयति" छां० ४ । १५ । ५=मुमुक्षु पुरुष उपासना द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म की प्राप्ति का कथन पायेजाने के कारण लोकविशेष की प्राप्ति का नाम मुक्ति नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ को अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हैं:—

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

पद०—दर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (दर्शनात्) ध्यान से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—मुमुक्षु पुरुष जिसका ध्यान करता है वह ब्रह्म है देहधारी पुरुषविशेष नहीं, जैसाकि "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" कठ० २ । १४=हे यम ! जिसको आप धर्माधर्म से भिन्न, फलप्रदाता तथा नियमन करने वाला जानते हो उसका उपदेश करो, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि धर्माधर्म के फलरूप देह को धारण करने वाले जीव से भिन्न परमात्मा ही ध्यान का विषय है जिसको जानने के लिये नचिकेता ने यम से प्रश्न किया और वही मुक्त पुरुष की प्राप्ति का विषय जानना चाहिये ।

सं०—अब कार्य्यरूप पदार्थों की उपासना का स्पष्टतया निषेध करते हैं:—

न च कार्य्ये प्रत्यभिसन्धिः ॥ १४ ॥

पद०—न । च । कार्य्ये । प्रत्यभिसन्धिः ।

पदा०—(च) और (कार्य्ये) कार्य्यरूप पदार्थों की (प्रत्यभिसन्धिः) उपासना का विधान (न) नहीं ।

भाष्य—प्रकृति के कार्य्यभूत जड़ पदार्थों की उपासना क.

विधान किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता प्रत्युत उसका स्पष्ट निषेध पाया जाता है, जैसाकि पीछे स्वयं सूत्रकार "न प्रतीके न हि सः" ब्र०सू०४।१।४ इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट कर आये हैं इसी अभिप्राय से यजु०४०।१२ में प्राकृत पदार्थों की उपासना करने वाले पुरुषों के लिये अन्धकार की प्राप्ति कथन कीगई है, जैसाकि पीछे ब्र० सू० ४।२।८ के भाष्य में लिख आये हैं, और दूसरी बात यह है कि जहां तहां उपासना प्रकरण में साकारोपासना का निषेध करते हुए स्पष्टतया परमात्मा की मूर्त्ति का निषेध किया है, जैसाकि "न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः" यजु० ३२। ३=जिसका नाम "महद्यश" है उस परमात्मा की कोई मूर्त्ति नहीं,इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट हैकि यदि किसी प्राकृत पदार्थ की उपासना अभिप्रेत होती अथवा ईश्वर को साकार मानकर उसकी उपासना में शास्त्र का तात्पर्य्य होता तो जड़ पदार्थों की उपासना करने वाले पुरुषों को अन्धकार की प्राप्ति कथन न कीजाती और नाही उक्त मंत्र से परमात्मा की प्रतिमा का निषेध किया जाता,इससे सिद्ध है कि प्राकृत पदार्थ उपासना के विषय नहीं किन्तु एकमात्र ब्रह्म ही सर्वोपरि उपास्य देव है।

सं०—अब उक्त अर्थ में "बादरायण" आचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥१५॥

पद०–अप्रतीकालम्बनान्। नयति । इति। बादरायणः । उभयथा। अदोषात्। तत्क्रतुः। च।

पदा०–(अप्रतीकालम्बनान्) प्रतीकोपासना न करने वाले (नयति) ब्रह्म को प्राप्त होते हैं (इति) ऐसा (बादरायणः) बादरायण आचार्य्य मानते हैं, क्योंकि (उभयथा, अदोषात्) ब्रह्मप्राप्ति के दोषरहित दो मार्ग हैं (च) और पुरुष जैसा करता है (तत्क्रतुः) वैसे ही फल को प्राप्त होता है।

भाष्य–बादरायण आचार्य्य का कथन है कि ब्रह्म की उपासना करने वाले ब्रह्म को और जड़पदार्थों की उपासना करने वाले जड़ बुद्धि को प्राप्त होते हैं, इसलिये जो पुरुष प्रतीकोपासना नहीं करते वही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं अन्य नहीं, और शास्त्र में ब्रह्मप्राप्ति के दो ही दोषरहित मार्ग पायेजाते हैं एक कर्मयोग दूसरा ज्ञानयोग, इन दोनों में प्रतीकोपासना किसी के अन्तर्गत नहीं, इसी अभिप्राय से गी० ३।३ में वर्णन किया है कि :—

लोकेस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

अर्थ–हे अर्जुन! शास्त्र में दो प्रकार की निष्ठा=ब्रह्मप्राप्ति की मर्यादा पाई जाती है अर्थात् योगी लोग कर्मयोग से और ज्ञानी लोग ज्ञानयोग से ब्रह्म को प्राप्त होते हैं ब्रह्मप्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं, इससे सिद्ध है कि मूर्तिपूजा को ब्रह्मप्राप्ति का साधन मानना कल्पनामात्र है।

सं०-अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हुए ब्रह्मोपासना की विशेषता कथन करते हैं :—

विशेषं च दर्शयति ॥ १६॥

पद०-विशेषं । च । दर्शयति ।

पदा०-(च) और (विशेषं, दर्शयति) शास्त्र में ब्रह्मोपासना की विशेषता पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा एव तु विजिज्ञासितव्यः" छां०७। ३। १=भूमा=ब्रह्म ही सुखरूप है उससे भिन्न जड़ प्रतीकादिकों में सुख नहीं, इसलिये वही जानने योग्य तथा उपासना करने योग्य है, इत्यादि सनत्कुमार तथा नारद के सम्वाद से स्पष्ट है कि परमात्मा की उपासना से ही सुखविशेष का लाभ होता है प्रतीकोपासना से नहीं, इसका विस्तारपूर्वक वर्णन "भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्" ब्र०सू० १।३।८ के भाष्य में कियागया है ।

इति तृतीयःपादः समाप्तः

अथ चतुर्थःपादः प्रारभ्यते

सं०-अब मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य निरूपण करने के लिये इस पाद का आरम्भ करते हुए प्रथम उसकी तद्धर्मतापत्ति कथन करते हैं :—

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥१॥

पद०-सम्पद्य । आविर्भावः । स्वेन । शब्दात् ।

पदा०-(सम्पद्य) ब्रह्म को प्राप्त होकर (स्वेन) स्वरूप से (आविर्भावः) मुक्त पुरुष की स्थिति होती है, क्योंकि (शब्दात्) श्रुति से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य-एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" छां० ८ । ३।४=देहत्याग के अनन्तर मुक्त जीव परंज्योति=ब्रह्म को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से सम्पन्न होता है अर्थात् अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त हुआ उसके समान अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करके परमानन्द को प्राप्त होता है और इसी का नाम "तद्धर्मतापत्ति" है, इससे यह भी पायागया कि ऐश्वर्यादि का लाभ ही मुक्ति में अपूर्वता है, और जो मायावादियों का कथन है कि मुक्ति में कोई अपूर्वता नहीं किन्तु नित्यप्राप्त की प्राप्ति ही मुक्ति है सो ठीक नहीं, क्योंकि कर्मसाध्य पदार्थ नित्यप्राप्त नहीं होसक्ता प्रत्युत कर्मानुष्ठान काल के उत्तर ही उसकी प्राप्ति

होती है, जैसाकि पाचक व्यापार से पाकादि क्रियाओं में देखा जाता है, और मुक्ति का कर्मसाध्य होना विस्तारपूर्वक पिछले पाद में वर्णन कर आये हैं, इसलिये उसको नित्यप्राप्त मानना ठीक नहीं, यदि शास्त्र का तात्पर्य्य मायावादियों की मुक्ति में होता तो उक्त विषयवाक्य में स्वरूपाविर्भाव को मोक्षरूप वर्णन न किया जाता और नाही उसके लिये शमदमादि साधनों का उपदेश पायाजाता, पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि एक अपूर्व अवस्था का नाम मुक्ति है जिसकी प्राप्ति साधनों द्वारा होती है ।

सं०—ननु, जब मुक्ति अवस्था में जीव अपने स्वरूप से स्थिर होता है और स्वरूप उसका नित्य प्राप्त है तो फिर मुक्ति में अपूर्वता ही क्या ? उत्तरः—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

पद०—मुक्तः । प्रतिज्ञानात् ।

पदा०—(प्रतिज्ञानात्) प्रतिज्ञा पायेजाने से (मुक्तः) मुक्त पुरुष अपूर्व सामर्थ्यवाला होता है ।

भाष्य—"एतंत्वेवतेभूयोऽनुव्याख्यास्यामि" छां०८।९।३= मैं तुमको फिर उपदेश करता हूं "य आत्मा अपहतपाप्मा विजरोमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" छा० ८।७।१=जो परमात्मा अपहतपाप्मा=पापों से रहित, विजर=जरा

वस्था से रहित, विमृत्यु=अविनाशी, विशोक=शोक से रहित, क्षुधा तथा पिपासा से रहित सत्यकाम और सत्यसंकल्प है वही अन्वेष्टव्य तथा जानने योग्य है, इत्यादि वाक्यों में आत्मविषयक प्रतिज्ञा पाये जाने से स्पष्ट है कि जिज्ञासु पुरुष जिसके जानने की इच्छा करता है उसको प्राप्त होकर उन अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करता है जो उसको प्रथम प्राप्त नहीं और उनके प्रा। करलेने से मुक्त पुरुष को अपूर्व सामर्थ्य का लाभ होता है, इसी भाव से श्रुतिवाक्य में "स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते" कहा गया है केवल स्वरूपभूत सामर्थ्य की उपलब्धि के अभिप्राय से नहीं, इसका विस्तार आगे पांचवें सूत्र के भाष्य में किया जायगा।

तात्पर्य्य यह है कि मन्दकर्मों के क्षयपूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार से अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करके ऐश्वर्य्यलाभ करना ही मुक्ति है, इसलिये अपूर्वता न होने के कारण नित्यप्राप्त की प्राप्ति को मुक्ति मानना समीचीन नहीं।

और जो स्वा० शङ्कराचार्य्य जी का कथन है कि "फलत्वप्रसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा नापूर्वोपजननापेक्षा, यदप्यभिनिष्पद्यत इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं तदपिपूर्वावस्थापेक्षं यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यत इति तद्वत्"=अमुक पुरुष अरोगी होगया है, इस वा... में जिस प्रकार रोगनिवृत्ति की अपेक्षा से अरोगी होने का कथन पाया जाता है वस्तुतः नहीं, क्योंकि रोगरहित होना

मनुष्य की स्वतःसिद्ध प्रथम अवस्था है इसी प्रकार "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" यह कथन भी बन्धनिवृत्ति की अपेक्षा से है किसी अपूर्व धर्म की प्राप्ति के अभिप्राय से नहीं, इसलिये आनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति तथा अज्ञान तत्कार्य्य दुःख की निवृत्तिरूप मोक्ष के नित्य प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि जब तुम्हारे मत में अविद्या तथा तत्कार्य्यभूत शोकमोहादि की निवृत्ति कार्य्य है फिर उसको अपूर्व न मानकर नित्य कथन करना दुराग्रह नहीं तो क्या है, यदि यह कहाजाय कि "अधिष्ठानावशेषोहि नाशः कल्पित वस्तुनः"= कल्पित पदार्थ का नाश अधिष्ठानस्वरूप ही होता है, इस नियम के अनुसार अविद्याकल्पित शोकमोहादि की निवृत्ति अधिष्ठान भूत ब्रह्म के स्वरूप से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं, क्योंकि सिद्धान्त में अभाव पदार्थ अधिकरण से भिन्न नहीं मानागया और विस्मृत हुए करकङ्कण की भांति गुरु के उपदेश द्वारा नित्यप्राप्त मोक्षरूप ब्रह्म की प्राप्ति में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं परन्तु मोक्ष को कर्मसाध्य मानकर उसके स्वरूप में अपूर्वता का लापन करना केवल साहसमात्र है ? इसका उत्तर यह है कि "तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति यज्ञेनदानेन तपसानाशकेन" बृहदा० ४ । ४ ।२२=ब्राह्मण लोग स्वाध्याय, यज्ञ, दान तथा तप आदि साधनों से ब्रह्म के जानने की इच्छा

करते हैं "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" गी० ३।२०=जनकादि तत्त्ववेत्ता वैदिककर्मों के अनुष्ठान द्वारा ही मोक्षरूप सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, इत्यादि अनेक वाक्यों में स्पष्टतया मुक्ति को कर्मसाध्य प्रतिपादन किया है और इसी अर्थ में प्रथम सूत्र के विषयवाक्यगत "अभिनिष्पद्यते" पद की सङ्गति होसक्ती है, इसलिये मुक्ति को नित्य कथन करना ठीक नहीं और करकङ्कणादि दृष्टान्तों से नित्यप्राप्त ब्रह्म की प्राप्ति कथन करना तब युक्ति युक्त होसक्ता है जब अविद्या को ब्रह्म के आश्रित मानाजाय परन्तु अविद्या के ब्रह्माश्रित होने में कोई प्रमाण वा युक्ति उपलब्ध नहीं होती, जैसाकि पीछे "भूमिका" तथा "जिज्ञासाधिकरण" में विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये हैं, दूसरी बात यह है कि "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" छान्दो०८।७।१=इस प्रकार मुमुक्षु देवयानमार्ग द्वारा अमृतपद को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में मुक्ति को नित्यप्राप्त कथन नहीं किया और नाही अभावरूप माना है, यदि मुक्ति नित्यप्राप्त होती तो उक्त वाक्य में "अमृतत्वमेति"=अमृत को प्राप्त होता है, इस पद का कदापि निवेश न किया जाता प्रत्युत "अमृतोऽस्ति"=अमृत है, ऐसा प्रयोग किया जाता, पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि मुक्ति नित्यप्राप्त नहीं, इसका विशेष विचार ब्र० सू० ४।४।११। तथा ब्र० सू०

४।४।२२ के भाष्य में किये जाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सं०-ननु, छान्दो० ८।३।४। में ज्योतिः पद से भौतिक सूर्य्यादि ज्योतियों का ही ग्रहण क्यों न किया जाय? उत्तरः—

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३॥

पद०-आत्मा। प्रकरणात्।

पदा०-(आत्मा) ज्योतिः शब्द से परमात्मा का ग्रहण है, क्योंकि (प्रकरणात्) उसी का प्रकरण पाया जाता है।

भाष्य-" परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते " छां० ८।३।४ इस वाक्य के पूर्वोत्तर प्रकरण का अनुसन्धान करने से स्पष्ट है कि यहां आत्मा का प्रकरण है किसी भौतिक पदार्थ का नहीं और उसी आत्मा की जिज्ञासा का छान्दो० ८।७।१ में वर्णन किया गया है जिसका उपयुक्त विचार प्रथमसूत्र के भाष्य में कर आये हैं और " तदेव ज्योतिषां ज्योतिः " बृहदा० ४।४।१६=वह परमात्मा ही ज्योतियों की ज्योति है, इत्यादि वाक्यों में "ज्योतिः" शब्द परमात्मा का ही वाचक होने से प्रकृत में ज्योतिः पद से परमात्मा का ही ग्रहण है सूर्य्यादि भौतिक पदार्थों का नहीं।

सं०-अब " यथा नद्यः " मुण्ड० ३।२।८ इत्यादि

अभेदबोधक वाक्यों की व्यवस्था के लिये मुक्त जीव का ब्रह्म से अविभक्त होना कथन करते हैं:—

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

पद०—अविभागेन । दृष्टत्वात् ।

पदा०—(अविभागेन) अत्यन्त समीपता के (दृष्टत्वात्) अभिप्राय से मुक्त जीव का ब्रह्म से अभेद कथन किया गया है।

भाष्य—"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तःपरात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" मुं० ३।२।८=जिस प्रकार नदियें समुद्र को प्राप्त होकर अपने नाम रूप से रहित होजाती हैं इसी प्रकार विद्वान् पुरुष नामरूपात्मक प्रपञ्च से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है अर्थात् मुक्ति अवस्था में उसका ब्रह्म से कोई भेद नहीं रहता, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" छां० ३।१४।१=यह सब कुछ ब्रह्म है, इस प्रकार शमविधि से उपासना करे "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" बृहदा० ४।४।१९=जो ब्रह्म में नानापन देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् बारम्बार जन्म धारण करता है, इत्यादि वाक्यों में जो मुक्त जीव का ब्रह्म से अभेद कथन करके भेददर्शी की निन्दा की है वह शमविधि के अभिप्राय से है जीव ब्रह्म के भेद निषेध

में तात्पर्य्य नहीं, क्योंकि अल्पज्ञ तथा अल्प शक्ति वाले जीव का सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा के साथ अभेद नहीं होसक्ता, इसी अभिप्राय से मुं० ३ । २ । ३ में वर्णन किया है कि:—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं
पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे
विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

अर्थ—जब उपासक स्वयंप्रकाश, विश्वकर्त्ता, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वोपरि परमात्मा का दर्शन करता है तब पुण्यपाप को दूर करके अविद्यारूप क्लेश से रहित होकर परमात्मा के अपहतपाप्मादि धर्मों की समता को प्राप्त होता है, यदि जीव ब्रह्म का सर्वथा भेद मिटादेने में शास्त्र का तात्पर्य्य होता तो उक्त वाक्य में ब्रह्मदर्शन के अनन्तर ब्रह्म की समता का वर्णन न किया जाता, पर अनेक स्थलों में उक्त कथन पाये जाने से सिद्ध है कि अभेदबोधक वाक्य ब्रह्म के साथ जीव के अविभाग=ब्रह्मवत् निष्पाप होने को प्रतिपादन करते हैं सर्वथा भेदाभाव को नहीं, जैसाकि:—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥
गी० १४ । २

अर्थ—हे अर्जुन ! परमात्मज्ञान का लाभ कर मेरे समान अपहतपाप्मादि धर्मों को प्राप्त होने वाले ज्ञानी पुरुष पुनः २ जन्म मरण को प्राप्त नहीं होते और नाहीं प्रलयकाल में

दुःखी होते हैं, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म की समता प्रतिपादन कीगई है, यदि दुर्जनतोषन्याय से मान भी लियाजाय कि उक्त सूत्र जीव ब्रह्म का अभेद बोधन करता है तो भी वादी की इष्टसिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि "अधिकन्तु भेदनिर्द्दे-शात्" ब्र० सू० २। २। २२ इत्यादि सूत्रों में महर्षि व्यास स्पष्टतया जीव ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करते हैं, इसलिये सूत्रस्थ अविभाग पद से ब्राह्मधर्मों की सम्पत्ति का मानना ही ठीक है।

स्मरण रहे किः—

यस्मिन्सर्वाणिभूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कःशोक एकत्वमनुपश्यतः॥

यजु० ४०। ७

अर्थ—जिस अवस्था में पुरुष निर्बीज समाधि द्वारा एकमात्र परमात्मा को देखता है उस अवस्था में कोई उसको शोक मोह नहीं रहता, इत्यादि वाक्यों से जो मायावादी जीव ब्रह्म की एकता मानते हैं वह इसलिये ठीक नहीं कि उक्त मन्त्र में तत्ववेत्ता की सर्वात्म दृष्टि को व्याप्य व्यापकभाव से वर्णन कियागया है अर्थात् ज्ञान की पराकाष्ठा प्राप्त होने पर ब्रह्मवित् पुरुष सब पदार्थों में हस्तामलकवत् परमात्मा की व्याप्ति का साक्षात्कार करता है ब्रह्म नहीं होता, इसी रीति से अन्य अभेद बोधक वाक्यों का भी आशय जानना चाहिये।

सं०-अत्र उक्त अर्थ में जैमिनि आचार्य्य का मत कथन करते हैं:—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

पद०-ब्राह्मेण । जैमिनिः । उपन्यासादिभ्यः ।

पदा०-(जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य का कथन है कि (ब्राह्मेण) ब्रह्मसम्बन्धी धर्मों के धारण करने से मुक्त पुरुष की ब्रह्म के साथ समता होजाती है, क्योंकि (उपन्यासादिभ्यः) मुक्ति प्रतिपादक वाक्यों से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य-जैमिनि आचार्य्य का यह मत है कि " निरंजनः परमं साम्यमुपैति " मुं०३ । २ । ३=पुरुष अविद्यादि क्लेशों से रहित होकर ब्रह्म के समान भावों को प्राप्त होता है, इत्यादि तद्धर्मतापत्ति प्रतिपादक वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्त पुरुष ब्रह्म की समता को प्राप्त होता हैं ब्रह्म नहीं होता ॥

सं०-अत्र उक्त अर्थ में " औडुलोमि " आचार्य्य का मत कथन करते हैं :—

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादि-त्यौडुलौमिः ॥ ६ ॥

पद०-चितितन्मात्रेण । तदात्मकत्वात् । इति । औडुलोमि।

पदा०-(चितितन्मात्रेण) चेतनता मात्र से जीव ब्रह्म की समता है, क्योंकि (तदात्मकत्वाद) इसी रूप से मुक्त पुरुष

ब्रह्म के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करता है (इति) ऐसा (औडुलोमिः) औडुलोमि आचार्य्य मानते हैं ॥

भाष्य—औडुलोमि आचार्य्य का कथन है कि चेतनता अंश में जीव ब्रह्म दोनों समान हैं और स्वरूपभूत चैतन्य से ही जीव मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करता है, इसलिये उसको ब्रह्म का स्वरूप कहाजाता है वस्तुतः एकता के अभिप्राय से नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में "बादरायण" आचार्य्य का मत कथन करते हैं :—

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

पद०—एवं । अपि । उपन्यासात् । पूर्वभावात् । अविरोधं । बादरायणः ।

पदा०—(उपन्यासात्) जैमिनि के मत में ब्रह्म के भावों को धारण करने तथा (पूर्वभावात्) औडुलोमि के मत में चेतनता मात्र से समता होने पर (अपि) भी (अविरोधं) मुक्ति प्रतिपादक वाक्यों में कोई विरोध नहीं (एवं) इसप्रकार (बादरायणः) बादरायण आचार्य्य मानते हैं ।

भाष्य—बादरायण आचार्य्य का यह मत है कि चाहे चेतनतामात्र से जीव ब्रह्म की समता कथन करें अथवा ऐश्वर्य्य लाभ से दोनों को सदृश मानें परन्तु अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण

करने से ही मुक्त जीव ब्रह्मवत् ऐश्वर्य्यवाला कहाजाता है अन्यथा नहीं, इसलिये उक्त दोनों आचार्य्यों के मत का तात्पर्य्य में कोई विरोध नहीं, केवल मुक्त पुरुष की समता के ज्ञापन करने में भेद है।

स्वामी शङ्कराचार्य्यजी इस सूत्र को इस प्रकार लापन करते हैं कि परमार्थावस्था में ब्रह्म का चिन्मात्र स्वरूप है और व्यावहारिक अवस्था में ऐश्वर्य्य का भी अविरोध है ऐसा बाद-रायण मानते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि यहां मुक्त पुरुष का प्रकरण है ब्रह्म का नहीं, यदि यह प्रकरण मायावादियों के अभिमत निर्गुण सगुण दो रूपों के बोधनार्थ होता तो "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्" ब्र० सू०३।२।११ इत्यादि सूत्रों में ब्रह्म के उभयविध लिङ्गों का निषेध न किया जाता, इससे स्पष्ट है कि यहां ब्रह्म का प्रकरण नहीं और नाही सूत्रकार को व्यावहारिक तथा पारमार्थिक भेद से दो प्रकार की अवस्था अभिप्रेत हैं, क्योंकि उक्त अवस्थाओं का सूत्रों में गन्ध भी नहीं पायाजाता, इससे सिद्ध है कि ब्रह्मवत् ऐश्वर्य्य लाभ करने के कारण मुक्त पुरुष को ब्रह्म के समान कहाजाता है वस्तुतः नहीं॥

सं०-अब मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य वर्णन करते हैं:—

सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः॥ ८॥

पद०-संकल्पात्। एव। तु। तच्छ्रुतेः।

पदा०-"तु" शब्द सिद्धान्त की दृढ़ता के लिये आया है

(संकल्पात्) संकल्प से (एव) ही मुक्त पुरुष को ऐश्वर्य्य की प्राप्ति होती है, क्योंकि (तच्छ्रुतेः) श्रुति से ऐसा ही पायाजाता है ॥

भाष्य-श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनादि साधनों के सम्यक् अनुष्ठान द्वारा जब पुरुष मुक्ति अवस्था को प्राप्त होता है तब वह ब्रह्म के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके ब्रह्मवत् होजाता है और उस अवस्था में संकल्पमात्र से ही उसको सब प्रकार का ऐश्वर्य्य उपस्थित होता है, जैसाकि :—

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्यपितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नोमहीयते ।

छान्दो० ८ । २ । १

अर्थ-जब वह पितृलोक की कामनावाला होता है तो उसके संकल्प से ही पितर उपस्थित होजाते हैं, उन पितरों से सम्पन्न होकर ऐश्वर्य्य को प्राप्त होता है, इस प्रकार कथन करके फिर उपसंहार में वर्णन किया है कि :—

यं यमन्तमभिकामोभवति यं कामं
कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्ति-
ष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ।

छान्दो० ८ । २ । १०

अर्थ-उक्त कामनाओं से अतिरिक्त जिस २ पदार्थ की कामना करता है वह उसको संकल्प से ही प्राप्त होजाते हैं

और उनसे सम्पन्न होकर ऐश्वर्य्यवान् होता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि मुक्त पुरुष महान् ऐश्वर्य्य वाला होता है।

सं०-अब उक्त अर्थ को अन्य प्रकार से स्फुट करते हैं:—

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

पद-अतः। एव। च। अनन्याधिपतिः।

पदा०-(च) और (अतः) उक्त ऐश्वर्य्य लाभ करने से (एव) ही (अनन्याधिपतिः) स्वतन्त्र होजाता है।

भाष्य-"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति" छा० ७।२५।२

अर्थ-इस प्रकार अधः ऊर्ध्वादि सब दिशाओं में परमात्मा को सर्वव्यापक रूप से देखने वाला तथा श्रौतार्थ का मनन करने वाला मुक्त पुरुष परमात्मा में रमण करता, उसी में क्रीडा करता और उसी में योगयुक्त होकर परमानन्द को भोगता हुआ स्वतन्त्र अव्याहतगति होने से स्वराट् कहलाता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्त पुरुष के ऐश्वर्य्य में किसी प्राकृत पदार्थ की बाधा नहीं, वह जब तक मुक्ति में रहता है स्वतन्त्रता से आनन्द का अनुभव करता है।

सं०-अब "बादरि" आचार्य्य के मत से मुक्त पुरुष के शरीर का अभाव कथन करते हैं:—

अभावं बादरिराहह्येवम् ॥ १० ॥

पद०–अभावं । बादरिः । आह । हि । एवम् ।

पदा०–(बादरिः) बादरि आचार्य्य मुक्ति में शरीर का (अभावं) अभाव मानते हैं (हि) क्योंकि श्रुतिवाक्यों से (एवं) ऐसा ही (आह) पाया जाता है ।

भाष्य–" बादरि " आचार्य्य का कथन है कि " अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः " छां० ८ । १२ । १=शरीर से रहित हुआ मुक्त पुरुष विषय सम्बन्धी सुख दुःखों से लिपायमान नहीं होता " मनसैतान्कामान्पश्यन् रमते " छां० ८ । १२ । ५=मन से सब कामनाओं को प्राप्त होकर रमण करता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्त पुरुष का शरीर नहीं होता वह अपने दिव्य सामर्थ्य से मुक्ति का ऐश्वर्य्य भोगता है ।

सं०–अब उक्त अर्थ में " जैमिनि " आचार्य्य का मत कथन करते हैं :—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

पद०–भावं । जैमिनिः । विकल्पामननात् ।

पदा०–(विकल्पामननात्) विकल्प के पायेजाने से (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य (भावं) मुक्ति में सूक्ष्मशरीर का भाव मानते हैं ।

भाष्य–" स एकधा भवति द्विधा भवति त्रिधा भवति " छान्दो ७ । २६ । २=मुक्त पुरुष स्वस्वरूप से एक

प्रकार का, संकल्प से दो प्रकार का और इसीप्रकार स्वसामर्थ्य से तीन प्रकार का होजाता है, इत्यादि मुक्त पुरुष के सामर्थ्य विषयक विकल्पों से स्पष्ट है कि उसके साथ सूक्ष्मशरीर तथा इन्द्रियों का सद्भाव बना रहता है, इसी अभिप्राय से " प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्" ब्र० सू० ४।२।१३ में जीव की उत्क्रान्ति का वर्णन करते हुए देवयान मार्ग द्वारा मुक्ति को प्राप्त होने वाले जीव के साथ लिङ्गशरीर की उत्क्रान्ति कथन कीगई है कि " न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति " बृह० माध्य० ४।४८=उस मुक्त पुरुष से प्राण पृथक् नहीं होते अर्थात् उसके साथ ही लिङ्गशरीर गमन करता है, यह जैमिनि आचार्य्य का मत है।

सं०-अब उक्त अर्थ में " बादरायणाचार्य्य " स्वसिद्धान्त कथन करते हैं:—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥१२॥

पद०-द्वादशाहवत् । उभयविधं । बादरायणः । अतः ।

पदा०-(बादरायणः) बादरायण आचार्य्य का मत है कि (द्वादशाहवत्) द्वादशाह याग की भांति (अतः) उक्त दोनों हेतुओं से (उभयविधं) मुक्ति में शरीर का भावाभाव है।

भाष्य-बादरायणाचार्य्य का कथन है कि जिसप्रकार एक ही द्वादशाह याग की "अहीन" तथा "सत्र" संज्ञा होती है इसी प्रकार शरीर तथा अशरीर बोधक वाक्यों से मुक्ति में शरीर का

भाव तथा अभाव दोनों होते हैं अर्थात् शुद्ध सामर्थ्ययुक्त स्वरूप के होने से शरीर का भाव और भौतिक शरीर के न होने से शरीराभाव होता है, इसलिये कोई विरोध नहीं।

सं०—ननु, शरीर तथा इन्द्रियों के अभाव काल में मुक्त पुरुष ऐश्वर्य्य का उपभोग कैसे करता है ? उत्तरः—

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

पद०—तन्वभावे। सन्ध्यवत्। उपपत्तेः।

पदा०—(तन्वभावे) शरीराभाव काल में (सन्ध्यवत्) स्वप्न की भांति (उपपत्तेः) उसका ऐश्वर्य्य उपभोग होता है।

भाष्य—जिसप्रकार स्थूल शरीर के साथ विषयों का सम्बन्ध न होने पर भी स्वप्नकाल में अनेक प्रकार का उपभोग पायाजाता है इसीप्रकार शरीर के बिना मुक्त पुरुष ऐश्वर्य्य का उपभोग करता है।

सं०—अब शरीर के भाव पक्ष में ऐश्वर्य्योपभोग सिद्धि के लिये दृष्टान्त कथन करते हैं :—

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

पद०—भावे। जाग्रद्वत्।

पदा०—(भावे) शरीर के होने काल में (जाग्रद्वत्) जाग्रत् अवस्था की भांति मुक्त पुरुष का उपभोग होता है।

सं०—ननु, अणुपरिमाण वाले जीवात्मा में ऐश्वर्य्य का उपभोगरूप महत्व नहीं होसक्ता ? उत्तर :—

प्रदीपावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

पद०-प्रदीपावेशः । तथा । हि । दर्शयति ।

पदा०-(प्रदीपावेशः) प्रदीपावेशन्याय से मुक्त पुरुष को ऐश्वर्य्यरूप महत्व का लाभ होता है, (हि) क्योंकि (तथा, दर्शयति) शास्त्र से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-जिसप्रकार एक परिच्छिन्न देश में वर्त्तमान प्रदीप का प्रकाश विस्तृत होजाता है इसीप्रकार अणुपरिमाण होने पर भी परमात्मसम्बन्धी अपहतपाप्मादि धर्मों के धारण करने से मुक्त पुरुष का अपूर्व सामर्थ्य होजाता है जिससे वह ऐश्वर्य्य भोग में अव्याहतगति होता है, जैसाकि "स एकधा भवति" छान्दो० ७।२६।२=वह कभी एक प्रकार का होता और कभी अनेक प्रकार के सामर्थ्य का आविष्कार करता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है।

सं०-ननु, "न बाह्य किञ्चन" बृहदा० ४।३।२१ इस वाक्य से स्पष्ट है कि जीवात्मा मुक्ति अवस्था में परमात्मा के आनन्द बिना किसी अन्य पदार्थ का ज्ञाता नहीं होता फिर ऐश्वर्य्य का भोक्ता कैसे ? उत्तर :—

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतंहि ॥ १६ ॥

पद०-स्वाप्ययसम्पत्त्योः । अन्यतरापेक्षम् । आविष्कृतं । हि ।

पदा०-(हि) निश्चयकरके (स्वाप्ययसम्पत्त्योः) सुषुप्ति

तथा मूर्च्छा की (अन्यतरापेक्षं) अपेक्षा से (आविष्कृतं) परमात्मज्ञान का भाव कथन किया है।

भाष्य—"प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" बृहदा० ४।३।२१=प्राज्ञ=परमात्मा के साथ मिला हुआ जीव बाह्य तथा आन्तर किसी विषय का अनुभव नहीं करता, इत्यादि वाक्यों में जो ईश्वर विषयक ज्ञान का भाव कथन किया है वह सुषुप्ति तथा मूर्च्छा की अपेक्षा से है, इसलिये उसके ऐश्वर्य्य का अभाव सिद्ध नहीं होता अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में निमग्न होजाने के कारण यहां बाह्यज्ञान के अभाव का कथन है मुक्ति अवस्था में जीव के ऐश्वर्य्याभाव के अभिप्राय से नहीं।

और जो स्वा० शङ्कराचार्य्यजी का कथन है कि यहां कैवल्य मुक्ति का वर्णन नहीं किन्तु स्वर्गादि की भान्ति ऐश्वर्य्य वाली मुक्ति का वर्णन है ? यह इसलिये ठीक नहीं कि सूत्र के किसी शब्द से उक्त आशय नहीं निकलता प्रत्युत पूर्वोत्तर सूत्रों का अनुसन्धान करने से प्रतीत होता है कि सूत्रकार को एक ही ऐश्वर्य्यभोगरूप मुक्ति अभिप्रेत है, जैसाकि पीछे बादरि आदि आचार्य्यों के मत से स्पष्ट कर आये हैं।

सं०—अब मुक्त पुरुष के ऐश्वर्य्य की मर्यादा कथन करते हैं:—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।१७।

पद०—जगद्व्यापारवर्जं। प्रकरणात्। असन्निहितत्वात्। च।

पदा०-(जगद्व्यापारवर्जम्) जगत् के उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर मुक्त पुरुष को अपने ऐश्वर्य्य में स्वतन्त्रता होती है, क्योंकि (प्रकरणात्) मुक्ति के प्रकरण से (च) और (असन्निहितत्वात्) सृष्टिप्रसङ्ग में मुक्त का नाम न होने से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य-मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य ऐसा विशाल होजाता है कि वह सब लोकलोकान्तरों में स्वच्छन्द विचरता हुआ अपने सत्यसङ्कल्प से ही शब्दादि दिव्य विषयों का उपभोग कर सक्ता है, जैसाकि "शृण्वन् श्रोत्रं भवति"=जब श्रवण करना चाहता है तब वह सङ्कल्प से ही श्रोत्र इन्द्रिय रच लेता है, इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है परन्तु इतना ऐश्वर्य्यलाभ करने पर भी जगत् की उत्पत्ति आदि का सामर्थ्य उसको नहीं होता, क्योंकि वह कर्म एकमात्र परमात्मा के स्वाभाविक ज्ञानबल से साध्य हैं और यह बात मुक्त पुरुष के प्रकरण से ऐसे ही पाई जाती है कि सृष्टि आदि की रचना के व्यापार को छोड़कर शेष ऐश्वर्य्य में मुक्त पुरुष यथाकामचार होता है, जैसाकि पीछे ब्र० सू० ४।४।१० के भाष्य में स्पष्ट कर आये हैं, दूसरी बात यह है कि जहां२ सृष्टि का प्रकरण आया है वहां परमात्मा ही सृष्टि का कर्त्ता हर्त्ता कथन कियागया है ऐश्वर्य्य प्राप्त मुक्त पुरुष नहीं, जैसाकि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" तैत्ति० ३।१इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रथम ही ब्र० सू० १।१।२ के भाष्य में स्पष्ट कर आये हैं, यदि मुक्तपुरुष के ऐश्वर्य्य में सृष्टि आदि का उत्पन्न

करना शास्त्र को अभिप्रेत होता तो एकमात्र परमात्मा को ही सृष्टि का कर्त्ता हर्त्ता प्रतिपादन न किया जाता पर किया है इससे सिद्ध है कि सृष्टि आदि व्यापार से अतिरिक्त ऐश्वर्य्य में मुक्त पुरुष स्वतन्त्र होता है।

सं०—अब उक्त अर्थ का आक्षेपपूर्वक समाधान करते हैं:—

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिमण्ड-लस्थोक्तेः ॥१८॥

पद०—प्रत्यक्षोपदेशात् । इति । चेत् । न । अधिकारिमण्डलस्थोक्तेः ।

पदा०—(प्रत्यक्षोपदेशात्) प्रत्यक्ष उपदेश पाये जाने से मुक्त का ऐश्वर्य्य निःसीम है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जाय तो (न) ठीक नहीं, क्योंकि उसका ऐश्वर्य्य (अधिकारिमण्डलस्थोक्तेः) माण्डलिक राजा की भांति कथन किया गया है।

भाष्य—"आप्नोति स्वाराज्यम्" तैत्ति० १।६।२=मुक्त पुरुष स्वाराज्य को प्राप्त होता है, "सः स्वराड् भवति" छां० ७।२५।२=वह स्वयं राजा होता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य भी ईश्वर की भांति निःसीम है? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि मुक्त पुरुष को स्वाधिकार में स्वराट् माना गया है सर्वथा ईश्वर के समान शक्तिवाला होने के अभिप्राय से नहीं अर्थात् जिसप्रकार चक्रवर्त्ती राजा के अधिकार में रहने वाले माण्डलिक राजा भी स्वाधिकार में

स्वतन्त्र होने से राजवत् सिंहासनादि उपकरणों से युक्त होते और अपनी माण्डलिक प्रजा पर वैसे ही शासन करते हैं परन्तु चक्रवर्त्ती के समान अधिकार वाले नहीं होते,' इसी प्रकार मुक्त पुरुष ब्रह्म के समान सत्यसङ्कल्पत्व, अपहतपाप्मत्व तथा सर्वगन्धत्व आदि धर्मों में स्वतन्त्रता लाभ करने पर भी सृष्टिकर्तृत्वादि धर्मों में स्वतन्त्र नहीं किन्तु वह स्वाधिकार में मुक्ति विषयक ऐश्वर्य्य के भोग से स्वराट् कहाता है, यही रीति मुक्त के ऐश्वर्य्य प्रतिपादक शेष वाक्यों के लापन में जाननी चाहिये।

सं०-अब मुक्त पुरुष तथा ईश्वर के ऐश्वर्य्य का स्पष्ट भेद कथन करते हैं:—

विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥१९॥

पद०-विकारावर्त्ति। च। तथा। हि। स्थितिं। आह।

पदा०-(च) और (विकारावर्त्ति) मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य विकार वाला होता है (हि) क्योंकि (तथा, स्थितिं, आह) शास्त्र से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयंगतो भवति" तैत्ति० २।७।१९

अर्थ-वह जीवात्मा इन्द्रियागोचर, शरीररहित, सर्वाधार तथा अभयरूप परमात्मा में प्रतिष्ठित होकर ही अभय पद को

प्राप्त होता है "रसो वै सः रस ँ ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" तैत्ति०२।७।१९=रसरूप परमात्मा के आनन्द को प्राप्त होकर ही जीव आनन्दित होता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य कर्मजन्य और परमात्मा का स्वाभाविक है जिसको प्राप्त होकर ही जीव आनन्दी होसक्ता है अन्यथा नहीं, यदि ऐसा न होता तो परमात्मा के आनन्द से जीवात्मा को आनन्दी न कहाजाता और नाही जीवात्मा की मुक्ति से पुनरावृत्ति पाई जाती, जैसाकि पीछे कई एक स्थलों में वर्णन कर आये हैं, इससे सिद्ध है कि मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य कर्मजन्य होने से विकारी तथा ईश्वर का स्वाभाविक होने से नित्य है।

सं०—अब अन्य प्रकार से ईश्वर के ऐश्वर्य्य की विशेषता वर्णन करते हैं:—

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥२०॥

पद०—दर्शयतः। च। एवं। प्रत्यक्षानुमाने।

पदा०—(च) और (प्रत्यक्षानुमाने) श्रुति स्मृति से (एवं) ईश्वर के ऐश्वर्य्य की (दर्शयतः) अधिकता पाई जाति है।

भाष्य—न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥
कठ० ५।१५

अर्थ—उस परमात्मा में सूर्य्य, चांद तथा तारागण प्रकाश

नहीं करसके और नाही विजुलियां उसमें प्रकाश कर सक्ती हैं किन्तु उस स्वयंप्रकाश परमात्मा की दीप्ति से ही यह सब चराचर जगत् प्रकाशित होता है, जैसाकि "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः"=परमात्मा के भय से वायु बहता और उसी के भय से सूर्य्य उदय होता है, "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" बृहदा० ५।८।८=हे गार्गि! इसी अक्षर परमात्मा के प्रशासना में सूर्य्य चन्द्रमा लोकयात्रा करतेहुए स्थित हैं, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि परमात्मा का ऐसा सर्वोपरि ऐश्वर्य्य है जिस के शासन में सब चराचर जगत् अपनी मर्यादा से अणुमात्र भी प्रच्युत नहीं होसक्ता, इसी अर्थ को गी० १८ । १६ में इस प्रकार स्फुट किया है कि:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

अर्थ—हे अर्जुन! ईश्वर अपनी माया=प्रकृतिरूप यंत्र से सब प्राणियों को भ्रमण कराता हुआ सबके हृदयदेश में विराजमान है, इत्यादि अनेक वाक्य ईश्वर के निरुपम ऐश्वर्य्य को वर्णन करते हैं, इससे सिद्ध है कि मुक्त होने पर भी जीव का ऐश्वर्य्य सातिशय रहने के कारण उसमें जगद्व्यापारादि का सामर्थ्य मानना ठीक नहीं ॥

सं०-अब उक्त अर्थ का उपसंहार करते हुए ईश्वरीय ऐश्वर्य्य के साथ मुक्तिरूप ऐश्वर्य्य की आंशिक समता कथन करते हैं :—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

पद०-भोगमात्रसाम्यलिङ्गात् । च ।

पदा०-(च) और (भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्) भोगमात्र में समता पायेजाने से मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य्य सातिशय है ।

भाष्य-" सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणाविपश्चिता "=मुक्त पुरुष मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के आनन्द को भोगता है, इत्यादि वाक्यों में भोगमात्र के अभिप्राय से मुक्त पुरुष के ऐश्वर्य्य की आंशिक समता प्रतिपादन कीगई है अर्थात् जिसप्रकार परमात्मा स्वरूप से आनन्दी है इसी प्रकार मुक्त पुरुष परमात्मा से ऐश्वर्य्य प्राप्त कर आनन्दी होता है, इतने अंश में मुक्त की ईश्वर के साथ समता है सृष्टिकर्तृत्वादि धर्मों में नहीं, इसलिये मुक्त जीव का ऐश्वर्य्य सातिशय और ईश्वर का निरतिशय जानना चाहिये ।

सं०-अब मुक्ति में ब्रह्मध्यान की अनावृत्ति कथन करते हैं :—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

पद०-अनावृत्तिः । शब्दात् । अनावृत्तिः । शब्दात् ।

पदा०-(अनावृत्तिः) मुक्ति में ब्रह्मध्यान की आवृत्ति नहीं होती, क्योंकि (शब्दात्) श्रुति से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-" अनावृत्ति शब्दात् " पाठ दोवार उक्त अर्थ की दृढ़ता तथा ग्रन्थ की समाप्ति के लिये आया है, " एवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्त्तते न च पुनरार्त्तते " छां० ८। १५। १

अर्थ-इस प्रकार स्वाध्याय तथा अहिंसादि कर्मों को करता हुआ मुमुक्षु पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर नियतकाल तक जन्म धारण नहीं करता, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि जो "आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" बृहदा० । ४ । ४ । ६ इस वाक्य में श्रवण तथा मननोत्तर काल में प्रत्ययावृत्तिरूप निदिध्यासन का विधान किया है उसके आवर्त्तन की मुक्ति अवस्था में आवश्यकता नहीं क्योंकि उक्त प्रत्ययावृत्तिरूप ध्यान का साध्य ब्रह्मसाक्षात्कार है उससे मुक्त पुरुष को ऐश्वर्य्य प्राप्त होगया है और फलप्राप्ति काल में साधन अपेक्षित नहीं होता, इसलिये प्रत्ययावृत्ति की आवश्यकता नहीं।

इस मर्म को न समझकर स्वा० शङ्कराचार्य्यजी कैवल्य मुक्ति से जीव के पुनः संसार में आने का निषेध करते हैं पर उनका यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि सूत्रकार ने यहां ऐश्वर्य्यरूप मुक्ति

का प्रतिपादन किया है कैवल्य मुक्ति का नहीं और नाही मुक्ति से पुनः आने का निषेध किया है, यदि सूत्रकार को उक्त स्वामीजी का अर्थ ही अभिप्रेत होता तो " विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह " ब्र० सू० ४। ४। १९ से लेकर २१ वें सूत्र पर्य्यन्त मुक्त पुरुष के ऐश्वर्य्य को विकारी=अनित्य कथन करके भोगमात्र द्वारा ईश्वर के साथ आंशिक समता प्रतिपादन न करते प्रत्युत " विकारावर्त्ति " पद के स्थान पर " विकारानावर्त्ति" पाठ की कल्पना कीजाती, पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि सूत्रों में मायावादियों की कैवल्य मुक्ति का गन्धमात्र भी नहीं पायाजाता, और दूसरी बात यह है कि :—

आब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

गी० ८। १६

अर्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्य्यन्त सब जन्मों से जीवों की पुनरावृत्ति होती है परन्तु मुझको प्राप्त होकर प्राकृत पुरुषों की भांति पुनः २ जन्म नहीं होता, इत्यादि वाक्य भी मुक्ति से जीव की पुनरावृत्ति स्पष्टतया प्रतिपादन करते हैं, यदि यह कहाजाय कि यहां कैवल्य मुक्ति का वर्णन नहीं किन्तु लोक विशेष की मुक्ति का वर्णन है तो उत्तर यह है कि यहां भी कृष्ण

जी ने कैवल्य को शेष नहीं रखा अपितु " ब्रह्मभुवन " पद से कैवल्य को ही प्रतिपादन किया है जिसके उत्तरार्द्ध से प्राकृत पुरुषों के समान पुनः जन्म का निषेध करते हुए तात्पर्य्य से मुक्ति के ऐश्वर्य्य को चिरस्थायी कथन कियागया है निरवधिक नहीं जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन " गीतायोगप्रदीपार्य्य भाष्य " में कियेजाने से यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

स्मरण रहे कि मायावादियों को अभिमत कैवल्यमुक्ति की सिद्धि के लिये सूत्रों में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है :—

(१) अविद्या से जीव का ब्रह्म होजाना (२) माया उपाधि से जगत् का रचाजाना (३) संसार का मायापरिणाम तथा चेतन का विवर्त्त होना (४) रज्जुसर्प की भांति अधिष्ठानज्ञान से मिथ्याभूत जगत् का बाध होना (५) माया का ब्रह्म में स्वाश्रय स्वविषय होकर बना रहना (६) जीव ब्रह्म के अभेद ज्ञान से मुक्ति होना (७) मुक्ति अवस्था में सब ज्ञानों का अभाव होना (८) आत्मा तथा अनात्मा में अन्योऽन्याध्यास होना, इत्यादि परन्तु " अथातो ब्रह्मजिज्ञासा " सूत्र से लेकर " अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् " इस सूत्र

पर्य्यन्त उक्त बातों का गन्धमात्र भी न पायेजाने से मायावादियों की मुक्ति कल्पनामात्र जाननी चाहिये ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे वेदान्तार्य्यभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

ब्रह्मसूत्रानुक्रमणिका

अ

आ

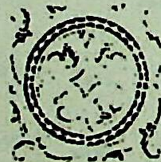
इ

ग

द

*हमारे सिद्धान्त में "तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्ते" ऐसा पाठ है।

ह



ओ३म्

भूमिकाशब्दार्थमाला ॥



पृ० ३-पं० १९-दुर्जनतोषन्याय-जिसको अपनी वात का बहुत आग्रह हो उसको दुर्जन कहते हैं, तोष नाम प्रसन्नता का है, वह उसकी वात मान लेने से होती है। और न्याय उदाहरण को कहते हैं।

पृ० १२-पं० १८-तिरोहित-ढ़के हुए को तिरोहित कहतेहैं, और ढ़कने का नाम तिरोधान है।

पृ०१४-पं०१५-घट्टकुटीप्रभातन्याय-नदी के किनारे जो महसूल लेने वाले की कुटी होती है उसको घट्टकुटी कहते हैं। जैसे कोई पुरुष महसूल के भय मे रातभर इधर उधर छिपता फिरे

और प्रातःकाल फिर उसी कुटी पर आजावे और महसूल देना पड़े, इसी को घट्टकुटीप्रभातन्याय कहते हैं । प्रकृत में यह इस प्रकार लगा कि मायावादी ने जिस भेद के भय से मायावी ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माना वही भेद फिर उस के सन्मुख आगया ।

पृ० १९–पं० २३–**अज्ञानोपहित**–अज्ञान उपाधिवाला, जिसका स्वरूप में प्रवेश न हो और वस्तु को जुदा करदे उसको उपाधि कहते हैं, जैसे घटाकाश की उपाधि घट है ।

पृ० १६–पं० २४–**अन्तःकरणावच्छिन्न**–अन्तःकरण से घिरा हुआ चेतन ।

पृ० २४–पं० १३–**उपाधि**–यहां हेतु के दोष का नाम उपाधि है । वह साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक होती है, अर्थात् जहां २ साध्य रहता है वहां २ उपाधि रहती है, और उससे भी अधिक देश में रहे उसको साध्यव्यापक कहते हैं, और जहां २ साधन रहे वहां २ उपाधि के न रहने को साधनाव्यापक कहते हैं, जैसे कोई कहे कि यह पर्वत धूम वाला है अग्निवाला होने से । इस अनुमान में आर्द्रेन्धन संयोग अर्थात् गीली लकड़ियों का संयोग उपाधि है, क्योंकि यह साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक है, साध्य धूम जहां २ है वहां २ आर्द्रेन्धन संयोग है, और साधन अग्नि जहां २ है वहां २ आर्द्रेन्धन संयोग नहीं जैसे तपे हुए लोहपिण्ड में । इस उपाधि को हेतु दोष इसलिये कहते हैं कि यह हेतु को व्यभिचारी बना देती है जैसे

उक्त अनुमान में अग्निरूप हेतु को धूमरूप साध्य का व्यभिचारी बना दिया। क्योंकि धूमरूप साध्य को छोड़कर तपेहुए लोहपिण्ड में अग्निरूप हेतु रहगया। और उपाधि में यह भी स्वभाव है कि वह जिस अनुमान में आती है वहां अपने अभाव से साध्य के अभाव का अनुमान करा देती है जैसे उक्त अनुमान में धूम साध्य था उसके अभाव को आर्द्रेन्धन संयोगरूप उपाधि के अभाव ने करा दिया। यह धूम के अभाव वाला है आर्द्रेन्धन के अभाव वाला होने से, तप्त लोहपिण्ड के समान।

प्रकृत में * "दुःखप्रागभावानधिकरणत्व" अर्थात् दुःख के प्रागभाव का आश्रय न होना उपाधि है, क्योंकि वह साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक है। "जीवोब्रह्माभिन्नः, चेतनत्वात्, ब्रह्मवत्" इस अनुमान में साध्य, ब्रह्माभेद है, वह जहां २ रहता है वहां २ दुःखप्रागभावानधिकरणत्व है जैसे ब्रह्म में ब्रह्म अभेद भी है, और दुःखप्रागभावानधिकरणता भी है इसलिये साध्य का व्यापक हुई। और चेतनत्व साधन है वह जहां २ रहता है वहां २ दुःखप्रागभावानधिकरणत्व नहीं जैसे जीव में चेतनत्व है, और उक्त उपाधि नहीं। इसलिये साधन का अव्यापक है, उपाधि के आजाने से चेतनत्व हेतु व्यभिचारी हो गया क्योंकि ब्रह्माभेद के अभाववाले जीव में भी रहगया। जीव

---

* जिसमें दुखका प्रागभाव नहो। प्रागभाव उसको कहते हैं कि जिसमें प्रथम वह वस्तु नहो और फिर होजावे, अर्थात् उसकी उत्पत्ति का स्थान हो सो ऐसा जीव है ब्रह्म नहीं। इसलिये ब्रह्म दुःख प्रागभावानधिकरण है अर्थात् उसमें कभी भी दुःख नहीं होसक्ता।

ब्रह्म के अभेद के अभाववाला इसलिये है कि उसमें ब्रह्म अभेद के व्यापक दुःखप्रागभावानधिकरणत्व का भी अभाव है, व्यापक के अभाव होने से व्याप्य का अभाव अवश्यमेव हो सक्ता है, इसलिये उक्त उपाधि के आजाने से जीवोब्रह्माभिन्नः यह अनुमान सर्वथा आभासमात्र है।

पृ० २६-पं० ९-**वृत्तिव्याप्ति**-विषयाकार बुद्धि के परिणाम विशेष का नाम वृत्ति है। उस वृत्ति का विषय को व्याप्त करलेना वृत्तिव्याप्ति कहलाती है। यह परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकार के विषयों में हुआ करती है, और जब इन्द्रिय का और अर्थ का सम्बन्ध होता है तब बुद्धि का परिणाम वृत्ति इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल कर तिस २ अर्थ के आकार को धारणकर उसके आवर्ण को भङ्ग कर देती है। आवर्ण के भङ्ग होजाने पर वह विषय वृत्तिआरूढ़ चेतन से प्रकाशित होता है जैसे यह घट है, यह पट है। इसी प्रकार अनुमान से और शब्द से तत्तद विषयाकार वृत्ति उत्पन्न होती है वह वृत्ति यद्यपि विषय देश में नहीं जाती तथापि भीतर ही विषय के आकार को धारण कर लेती है इसलिये अनुमान और शब्दप्रमाण के विषयों में वृत्तिव्याप्ति मानी गई है। सार यह निकला कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विषय को व्याप्त करना वृत्तिव्याप्ति कहलाती है।

पृ० २६–पं० ९–**फलव्याप्ति**–वृत्ति आरूढ़ चेतन का वृत्ति के विषय को प्रकाश करना फलव्याप्ति कही जाती है अर्थात् वृत्ति में फलरूप जो चेतन उसकी व्याप्ति नाम विषय को प्रकाश करना फल व्याप्ति है। जैसे घटका और नेत्रका सम्बन्ध होनेपर घटाकार बुद्धि की वृत्ति ने घट देश में जाकर घटको व्याप्त कर लिया। वृत्तिके व्याप्त करनेपर भी घट अपने स्वरूप से जड़ होने से प्रकाशित नहीं होता इसलिये वृत्ति में आरूढ़ चेतन ने उसका प्रकाश कर दिया तब "अयंघटः" यह घट है, इसप्रकार का ज्ञान हुआ। फलव्याप्ति वहां ही होती है जहां विषय प्रत्यक्ष हो, अप्रत्यक्ष विषय में फल व्याप्ति कदापि नहीं होती यह नियम है। मायावादियों के मत में ब्रह्म सन्निकृष्ट होने से प्रत्यक्ष के योग्य है वहां वृत्ति व्याप्ति और फलव्याप्ति अवश्य होनी चाहिये, परन्तु ब्रह्म, घट पटादिकों के समान स्वरूप से जड़ नहीं किन्तु स्वतः प्रकाश है, इसलिये वृत्ति आवर्ण भङ्ग के लिये है। वृत्तिव्याप्ति का स्वीकार होनेपर भी फलव्याप्ति का स्वीकार नहीं, क्योंकि जहां विषय स्वतः सिद्ध प्रकाशरूप है वहां फलव्याप्ति की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि विषय के प्रकाश के लिये ही फलव्याप्ति मानीगई है सो जड़ पदार्थों में ही फलव्याप्ति होती है ब्रह्मात्मा में नहीं। प्रकृत में दृश्यत्व हेतुका अर्थ यदि वृत्तिव्याप्ति कियाजाय तो मिथ्यात्व के अभाव वाले ब्रह्म में रह जाने से हेतु

व्यभिचारी है। और व्यभिचारी हेतु अपने साध्य की सिद्धि नहीं करसक्ता, इसलिये "प्रपञ्चोमिथ्यादृश्यत्वात् शुक्ति रजत वत्" यह अनुमान स्वयं मिथ्या होने से प्रपञ्च में मिथ्यापन सिद्ध नहीं करसक्ता, हेतुका साध्य के साथ जो नियत सम्बन्ध है उसकी परिभाषा व्याप्ति है जिस अनुमान में उपाधि आती है वह उसमें व्याप्तिको भङ्ग कर देती है अतएव उपाधि वाला हेतु व्याप्यत्व सिद्ध कहाजाता है, साध्यकी व्याप्ति जिसमें रहती है उसको व्याप्य कहते हैं, व्याप्य हेतुका धर्म जो व्याप्ति उसका नाम व्याप्यत्व है, उसकी असिद्धि व्याप्यत्वासिद्धि, और उसवाला व्याप्यत्वासिद्ध कहाजाता है।

पृ० ३७–पं० १४–वाधसामानाधिकरण्य–उसको कहते हैं कि जैसे रज्जू में जो सर्प प्रतीत होता है, फिर जब यह ज्ञान होजाता है कि यह सर्प नहीं किन्तु रज्जू ही है, इसप्रकार जहां एक वस्तु को नाश करके दूसरे के साथ मिला दियाजाता है उसको मायावादी वाधसामानाधिकरण्य कहते हैं। क्योंकि इनके मत में अभाव भी अपने आश्रय से भिन्न नहीं अर्थात् रज्जू में जो मिथ्या सर्प प्रतीत हुआ था उसका अभाव भी अपने अधिष्ठान से भिन्न कोई वस्तु नहीं किन्तु उसका स्वरूप ही है इससे यह लोग यह आशय लेते हैं कि अभाव भी ब्रह्मसे भिन्न

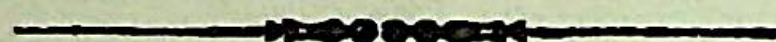
कोई वस्तु नहीं।

जहां २ मिथ्या प्रपञ्च की निवृत्ति द्वारा यह एक ब्रह्म बोधन करते हैं वहां सर्वत्र इनको बाधसमानाधिकरण इष्ट है। चेतन का आभास जो इनके मत में जीव है उसका भी ब्रह्म में अभाव कर देते हैं वहां भी बाधसमानाधिकरण ही है।

पृ० ३७–पं० १७–**मुख्यसामानाधिकरण्य**– का प्रयोग यह ऐसे स्थलों में भी करते हैं जैसेकि आरम्भणाधिकरण में सब प्रपञ्च को ब्रह्मरूप ही माना है, अर्थात् यह सब बना तना ब्रह्माण्ड ब्रह्म है, अधिकरण के अर्थ अधिष्ठानके हैं, और समान नाम एक ही हो अधिष्ठान जिसका उसका नाम समानाधिकरण है। और उसीके भावका नाम सामानाधिकरण्य है, एवं मुख्य समानाधिकरण का आशय यह निकला कि जहां दोनों पदार्थों में से किसी का नाश नहीं होता किन्तु दोनों को मिला दिया जाता है, इसलिये मुख्य समानाधिकरण कहलाता है।

पृ० ३८–पं० ९–**एकजीववाद**–जिन मायावादियों के मत में एक ही अज्ञान है उस एक अज्ञान की उपाधि वाला सारे ब्रह्माण्ड में एक ही जीव है और उसमें एक के मुक्त होजाने से सबका मुक्त होजाना और एक के बन्धन से सबके बांधे जाने का दोष आता है इसका समाधान अद्वैतवादी इसप्रकार करते है

कि जैसे स्वप्नावस्था में एक ही द्रष्टा अपनी भ्रान्ति से अनेक जीवों की कल्पना करलेता है और उनमें से किसी को मुक्त देखता है और किसी को बद्ध देखता है इसप्रकार जाग्रत् में भी अपने अज्ञान से रचे हुए नाना जीवों को देखता है वास्तव में सब संसार में जीव एकही है। यह एक जीववाद कहलाता है।



॥ वेदान्तार्य्यभाष्यशब्दार्थमाला ॥

पृ० २–पं० १–**षट्सम्पत्ति**–शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति, तितिक्षा, इन छ का नाम षट्सम्पत्ति है।

शम–मनका निरोध करना, दम–इन्द्रियों का निरोध करना, श्रद्धा–वेद और वैदिकधर्म के उपदेष्टा के वचनों को सत्य मानना, समाधान–मनमें कोई विक्षेप न होना, उपरति–मन्दकर्म और मन्द विषयों में ग्लानि, तितिक्षा–विपत्ति और सम्पत्ति में एकरस रहना, अर्थात् शीतोष्ण, भूख, प्यास, सुख, दुःख, का सहारना।

पृ० २–पं० १७–**चतुष्टयसाधन**–विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षा, इन चार साधनों का नाम साधन चतुष्टय है।

विवेक–सत्यासत्य के भेद को जानना, वैराग्य–असत्य से ग्लानि होकर सत्य के ग्रहण की अभिलाषा, मुमुक्षा–मोक्ष की इच्छा।

पृ० ३–पं० ६–**प्रमाण**–यथार्थ ज्ञानका साधन, जैसे चक्षुआदि।

पृ० ३–पं० ७–**प्रमेय**–जो प्रमाण से जाना जाय।

पृ० ४–पं० १७–**तटस्थलक्षण**–लक्ष्य के स्वरूप में प्रविष्ट न हो और उसको बोधन करे, जैसे जगत् के जन्मादिक ईश्वर के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हैं और उसको बोधन करते हैं।

पृ० २१–पं० ११–**आविर्भाव**–प्रगटहोना।

पृ० २१-पं० १२-**तिरोभाव**-छिपजाना।

पृ० २८-पं० १६-**आत्मत्वेन**-आत्मरूप से।

पृ० ११८-पं० ८-**उपाधि**-जो वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट न हो और उसको भिन्नकरदे, जैसे घट और मठ आकाश के स्वरूप में प्रविष्ट न होकर आकाश को अपने से भिन्न करदेते हैं।

पृ० १४८-पं० १-**शक्तिवृत्ति**-शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को वृत्ति कहते हैं। वह सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है (१) **साक्षात्**-जैसे गंगाशब्द और उसकेअर्थप्रवाह का। इसी साक्षात् सम्बन्ध का नाम शक्तिवृत्ति है, और इसी को **अभिधावृत्ति** कहतेहैं। और शक्ति से जो अर्थ जानाजाताहै उसीको **शक्यार्थ** और **वाच्यार्थ** भी कहते हैं। (२) **परम्परासम्बन्ध**-जैसे गंगाशब्द का तीर से। इसीसम्बन्ध का नाम **लक्षणावृत्ति** है, क्योंकि यह सम्बन्ध गंगाशब्द का अर्थ जो प्रवाह उसके द्वारा तीर से है साक्षात् नहीं। (३) **गौण**-जो गुणों के द्वारा हो। जैसे यह सिंह है, इस स्थल में गुणों से देवदत्त को सिंह कहागया। इसी सम्बन्ध का नाम **गौणीवृत्ति** है, और इसीको **उपचार** भी कहते हैं।

पृ० १८५-पं० ८-**द्व्यणुक**-परमाणुओं के मिलने से जो कार्य्य बनता है उसका नाम द्व्यणुक है।

पृ० १८५-पं० ९-**त्र्यणुक**-तीन द्व्यणुकों से मिल कर जो कार्य्य बनता है उसको त्र्यणुक कहते हैं।

पृ० १८५-पं० १९-**विषमपरिमाण**-विरुद्ध, उलटा।

क्षणिक—क्षण २ में जो बदलता है उसका नाम क्षणिक है।

अस्मत्प्रत्ययगोचर—अहं २ इसज्ञान के विषय का नाम अस्मत्प्रत्ययगोचर है—(गोचर) विषय (प्रत्यय) ज्ञान (अस्मत्) अहं को कहते हैं।

मिथ्या—जो वस्तु जिसमें तीन काल में भी न हो और किसी दोष के वश से उसमें होजाय, उसको मिथ्या कहते हैं। इसका प्रसिद्ध उदाहरण सीपी की चांदी आदि हैं।

उपचार—जो मुख्य न हो और किसी गुण के कारण ऐसा प्रयोग करदिया जाय, जैसे शूरबीरतादि गुणों के कारण मनुष्य को सिंह कहदिया जाय।

अध्यास—अध्यास नाम भ्रम का है, अपने अधिष्ठान से विषम सत्तावाली प्रतीति को अध्यास कहते हैं, जैसे शुक्ति में रजत का अध्यास होता है। यह अध्यास, अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास के भेद से दो प्रकार का होता है। ज्ञानाध्यास—उसको कहते हैं जिससे स्मृति के समान अन्य पदार्थ का अन्य रूपता करके अवभास नाम ज्ञान हो। अर्थाध्यास—दो प्रकार का है, स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास। स्वरूपाध्यास—कल्पित पदार्थों का होता है जैसे रज्जू में सर्प और सीपी में चांदी, स्वरूप के अध्यास को स्वरूपाध्यास कहते हैं। और संसर्गाध्यास—वह कहलाता है जो पूर्व विद्यमान दो पदार्थों के सम्बन्ध से अध्यास होता है, जैसेकि स्फटिक के पास पुष्प रख देने से उस पुष्प की रङ्गत स्फटिक में प्रतीत होती है,

यह संसर्गाध्यास है। अर्थ से यह आया कि जड़ और चेतन के सम्बन्ध से जड़ पदार्थ के धर्म चेतन में प्रतीत होते हैं और चेतन के धर्म जड़ में प्रतीत होते हैं, यह सब संसर्गाध्यास से हैं प्रकृत में मूर्त्ति में ब्रह्मबुद्धि मायावादियों ने इसलिये अध्यासमानी है कि उसमें ब्रह्मभाव का कोई स्तित्व नहीं केवल स्वरूपाध्यास के समान मनोरथमात्र से ब्रह्मबुद्धि है वास्तव में वह मूर्त्ति जड़ पाषाण वा कोई धातु विशेष है, वह तीनों कालों में ब्रह्म नहीं, वह अतास्मिंस्तद् बुद्धि अर्थात् मिथ्या बुद्धि है। और इसप्रकार का अध्यास इस निम्नलिखित उदाहरण से समझ में आता है जो स्वामी शं० चा० जी ने ब्र० सू० १।१।१ में अध्यास की भूमिका बांधकर यह लिखा है कि:-

"एव महं प्रत्ययिनमशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्व साक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तः करणादिष्वध्यस्यति। एव मय मनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्यय रूपः कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रवर्तकः सर्वलोक प्रत्यक्षोऽस्यानर्थहेतोः प्रहाणायाऽऽत्मैकत्व विद्या प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते" शं० भा० ब्र० सू० १।१।१ की भूमिका अर्थ—इससे पूर्व यह कथन कियागया था कि स्त्री पुत्रादिकों के व्याकुल होने से अपने आपको व्याकुल मानलेता है, जैसे इन वाहर के धर्मों को अपने आपमें अध्यास करलेता है इसीप्रकार देहके धर्मों को भी अपने आपमें

अध्यास से मानलेता है कि मैं कृश हूं, मैं गौर हूं, मैं अन्ध हूं, मैं मूक हूं। और अन्तःकरण के धर्म कि मैं सङ्कल्प करता हूं, विचार करता हूं, निश्चय करता हूं, इत्यादि धर्मों को अपने में मानलेता है। इसप्रकार अन्तःकरण का अपने में अध्यास करता है और अपना अन्तःकरण में,यह अनादि अनन्त स्वाभाविक अध्यास है, जिससे जीव कर्त्ता और भोक्ता बनता है, इस अनर्थ की निवृत्ति के लिये इनके मत में वेदान्त का आरम्भ है।

यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो सूत्रकार "अथातोब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र में अध्यास की फ़िलासफ़ी अवश्य बतलाते, पर यहां तो कुछ और ही है, और वह यह है कि ब्रह्मके जानने की इच्छा कथन करके उस ब्रह्मको सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति का कारण कथन कियागया है जो मायावादियों के मत को सर्वथा मिटादेता है वह इसप्रकार कि मायावादियों ने अपने कर्त्ता भोक्ता होनेका अध्यास मिटाना था और महर्षिव्यासने ब्रह्म को भी जगत् का कर्त्ता कथन करादिया, और यदि यह कहाजायकि ईश्वर को जगत् कर्त्तामानना भी मिथ्याज्ञान ही है तो फिर यह प्रतिज्ञा कैसे दृढ़ रही कि मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति के लिये वेदान्त का प्रारम्भ है क्योंकि यहां तो ब्रह्मको जगत् की उत्पत्ति स्थिति का कारण कथन करके उलटा और मिथ्याज्ञान का प्रचार किया। यदि यह कहाजाय कि यह तो अध्यारोप है, और अपवाद में इस सब को मिटा दिया जायगा, तो उत्तर यह है कि वह अपवाद वेदान्त सूत्रों में कहां है? जिसमें ईश्वर के ईश्वरत्व को मिटाकर भ्रमसिद्ध किया हो इत्यादि अनेक तर्कें हैं जिनसे मायावादियों के मत में अध्यास, की फ़िलासफ़ी मनोरथमात्र रह जाती है॥

अपवाद—उस आरोप कीहुई मिथ्याभूतवस्तु को मिटादेनेका नाम है। "तदैक्षतवहुस्यां" इत्यादि वाक्योंसे मायावादी जगत्का ब्रह्म में आरोप कर लेते हैं और "नेहनानास्तिकिञ्चन" इत्यादि वाक्यों से उसे मिटा देते हैं। इसी प्रकार जीव बोधक वाक्यों से जीव का आरोप कर लेते हैं और "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से उसके जीवभाव का अपवाद कर देते हैं। इसको मायावादी लोग अध्यारोप और अपवाद कहते हैं॥

प्रतीक—मूर्त्ति।

अन्वय—सम्बन्ध।

सर्वाधिष्ठान—सबका आश्रय।

अपवर्ग—मुक्ति।

अनर्थ—अविद्या।

स्वरूप—अपनारूप।

यावदायुष—सम्पूर्ण आयु पर्यन्त।

मरुमरीचि—मृगतृष्णा के जल को कहते हैं। मरु नाम रेतले स्थल काहै, और मरीचि नाम उस स्थल की किरणों का है। उन किरणों से वहां मरुस्थल में जल प्रतीत होने लगता है।

आश्रमनिबन्धन—आश्रमरूपहेतुवाली

अवस्थिति—ठहरना।

क्षति—हानि।

इयत्ता—सीमा।

परिच्छिन्न—एकदेशी।

प्रत्यावृत्ति—वार २ ध्यान करना।

लापन—लगाना।

अतिक्रमण—उल्लङ्घन करना।

हस्तामलक—हाथ पर आवलेरूपी फल के समान साक्षात्।

चार्वाक—नास्तिक जो देह को आत्मा मानते हैं, और सृष्टि को स्वाभाविक मानते हैं और ईश्वर को नहीं मानते।

अनवधिक—वेहद।

असंख्येय—जिनकी संख्या न हो।

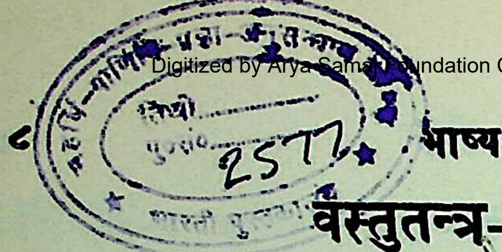
आक्षेपसङ्गति—जो पूर्वपक्ष द्वारा सिद्धान्ती पर आक्षेप करके सम्बन्ध दिखलाया जाय।

क्रमसमुच्चय—उसको कहते हैं जैसेकि अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्मों को भी क्रम से अद्वैतवादी लोग साधन मानते हैं॥

समसमुच्चय—उसको कहते हैं जहां ज्ञान और कर्म दोनों साथ २ मिलकर मुक्ति के साधन हों।

हेय—त्याग के योग्य।

अनुष्ठान—कामका करना।



वस्तुतन्त्र-जो किसी कर्म के आधीन न हो जैसी वस्तु हो वैसाही ज्ञान हो ।

कर्मसाध्य-जिसकी कर्मोंसे सिद्धि हो ।

तद्धर्मतापत्ति-तद् नाम उसके जो धर्म आपत्ति नाम उनकी प्राप्ति ।

मर्दन-नाश करना ।

संदर्भ-रचना ।

वाक्यजन्य-जो वाक्य सुनने मात्र से ज्ञान हो ।

अभिनिष्पत्ति-प्राप्ति ।



मुद्रक—जय्यद प्रेस, बल्लीमारान, दिल्ली




2577










2577

वेदान्त दर्शन